Published by Gyatputra Mahavira Jain Sangh,
Pataudi (Punjab.)

Printed by Ramchandra Yesu Shedge, Nirnaya Sagar Press,
26-28 Kolbhat Street, Bombay

समर्पण

जिनकी कृपासे मेरे मनकी चंचलता नष्ट हुई है, जिनके सदुपदेशसे मेरे अन्तःकरणमें शान्तिका सञ्चार हुआ, जिनके अद्भुत चरित्रयोगसे मुझे सम्प्रदायवादके बन्धन तोडनेका निश्चय मिला, जिनके बोधवचनोंसे अखंड आत्मसुखका मार्ग प्राप्त हुआ तथा जिनकी आज्ञासे इस ग्रन्थके लिखनेका अवसर मिला, जिनके अपार अनुग्रह वात्सल्य एवं उत्साहदानद्वारा मेरी लेखन-कलाकी ओर प्रवृत्ति हुई हैं तथा जिनका आश्रय मेरे लिये कल्पवृक्षके समान अभीष्ट फलदायक होता रहा है उन अध्यात्म-शास्त्र प्रेमी, अप्रतिबद्ध विहारैकव्रती, निष्काम परोपकारी, शांत-मुद्रा, महर्षिप्रवर, गुरुवर्य्य श्रीज्ञातपुत्र-महावीर जैन संघानुयायी श्री १०८ स्वर्गीय श्रीमज्जैनमुनि फकीरचंद्रजी महाराजाधिराजकी पवित्र स्मृतिमें अन्तःकरणकी विशुद्ध भक्तिपूर्वक वीरस्तुतिकी विवृति और हिन्दीभाषान्तर सादर समर्पित है। पुनश्च—

जिनके उदारहृदयमें अनन्य समता है, स्याद्वादसिद्धान्तका उज्वल पाडित्य है, जिनकी वाणी चन्दनसे भी अधिक शीतल है और वह मानव संसारके मनस्तापको एक दम मिटाती है, जिन्हें इष्ट और अनिष्ट पुद्गल समूहमें कभी मानसिक विचार नहीं हो पाता, जिन्हें वाह्याडम्बरसे सोलहों आने घृणा रहती है, जिनमें अहमहमिका क्रियाका नितान्त अभाव है, परहितसाधनमें जिनकी शुभप्रवृत्ति सतत जागृत है, वाडाबंदी-पक्षवाद-सम्प्रदायवाद-टोलावाद-गच्छवादकी दिवारोंको तोडकर तथा स्व-परका भेदभाव मिटाकर जिन्होंने स्वतन्त्रताका अध्यात्म मार्ग पकडा है, जो देश समाज जाति और धर्म हित अपने प्राणोंकी बाज़ी लगा देते हैं, इसके अतिरिक्त जिनमें और भी गाम्भीर्य-शौर्य्यधैर्य्यादि अनेक गुण हैं। ज्ञातपुत्र महावीर प्रभुके उन २००० साधु साध्वियोंके कर कमलोंमें वीरस्तुति प्रेम और भक्तिपूर्वक सादर समर्पित है।

ज्ञातपुत्र महावीर जैन संघका लघुतम—

पुप्फ भिक्खु

प्रार्थना

शासननायक सिद्धार्थकुलकिरीट महावीर भगवानके प्रतिपादित धर्मके ११ अंग इस समय भी विद्यमान हैं उनमें सूत्रकृताङ्ग नाम सूत्र दूसरा अंग सूत्र है, जिसके दो श्रुतस्कन्ध हैं और उसके पहले श्रुतस्कन्धका छठाँ अध्याय इस ग्रन्थकी मौलिकवस्तु यह वीरस्तुति है।

और यह सूत्र कालिकसूत्र है इसका स्वाध्याय: ३२ *असज्झाय टाल कर दिन और रातके पहले और चौथे पहरमें स्वाध्याय होता है। इस अध्यायका मूल पाठ तो अब तक कई पुस्तकोंमें छपकर प्रसिद्ध हो चुका है एवं मूल शब्दार्थ और भावार्थ सहित भी गत वर्षोंमें कई स्थानोंसे प्रकाशित हुआ है। परन्तु मैंने वीरस्तुतिकी टीका और भाषा टीका अनेक ग्रन्थोंका सन्दोहन

---

* बत्तीस असज्झाय—चार संध्या [प्रात काल १ मध्याह्नकाल २ संध्याकाल ३ मध्यरात्रि ४] लौकिक समय चार महोत्सव चार महा प्रतिपदायें [चैत्र शुक्ला १५, वदी १ आषाढ शुक्ल १५, वदी १ आश्विन शुक्ला १५, वदी १ कार्तिक शुक्ल १५, वदी प्रतिपदा १६] औदारिक शरीर सम्बन्धी १ असज्झाय [अस्थि-११ मांस १४ रुधिर १५, पडी हुई अशुचि १६ समीप वर्ती प्रज्वलित स्मशान १७ चन्द्र ग्रहण १८ सूर्यग्रहण १९ ग्राम-नगर का राजा-सेनापति-देशनायक-नगरसेठका मरण २ राज्य संग्राम २१ धर्म-स्थानमें मनुष्य २२ और तिर्यंच पंचेन्द्रियका कलेवर २३] आकाश सम्बन्धी १ असज्झाय [उल्कापात २४ दिशाओंके लाल होनेके समय २५, आकाश गर्जना २६ बिजली चमकते समय २७ निर्घात-मेघ के समान गर्जना जैसी व्यन्तरकृत ध्वनिविशेष २८ यूपक-शुक्लपक्षकी एकम-दोज और तीजके दिवस सान्ध्यसमय २९ यक्षादिप्त-अमुक अमुक दिशाओंमें अन्तर अन्तर पर बिजली जैसा प्रकाश होते समय ३ धूमिका-धूवाँ बरसते समय ३१ महिका-गर्भमासमें पडनेवाली धुंध-कोहरा ३२] रजोवृष्टि-रजःवृष्टि वर्षे तथा शरीरमेंसे रुधिर और पूय निकलते समय सूत्रोंके वांचनेके प्रतिबन्ध कालमें अस्वाध्याय जानना योग्य है। इन नियमोंके भंग करने वालेके लिये दंड प्रायश्चित्त-आदि लिखा 'निशीथसूत्रके उन्नीसवें अध्यायसे जानना चाहिये।

करके निर्माण की है । इस परिस्थिति मे मेरे अन्तेवासी **सुमित्त भिक्खु** ने यथा सभव इस पुस्तकके प्रुफ देखकर सहायता की है अत इसका नाम लिखते समय मुझे प्रसन्नता होती है

इस पुस्तकमे अज्ञताके कारण यदि कहीं भूल होगई है तथा सूत्रसिद्धा-न्तसे विरुद्ध कुछसे कुछ लिख गया हू तो उसका निश्छलिस हृदयसे **"मिथ्या दुष्कृतम्"**

वीरस्तुतिके अभ्यासिओ ! इसे भावशुद्धि पूर्वक पढिये, पठन और मननके द्वारा ज्ञातपुत्र महावीर प्रभुके समान बनिये, एव अपने हृदयसे पुरानी रुढियें एव पक्षवाद-टोलावाद-सम्प्रदायवाद-गच्छवाद-पार्टीबाजी और मतभेदका कालापाप निकाल डालिये, और समदृष्टि बनकर भारतके दासत्वको दूर कीजिये जगतको भूखेमरनेसे बचाइये, अपने धर्मगुरुओंको राग-द्वेष-ईर्ष्या एवं मत्सरताके कीचडसे निकालिये, समाजमें सच्चरित्रता और पारस्परिक सहानुभूति पैदा करनेका प्राण सचार कीजिये, मेरी अन्तिम भावना यही है ।

प्रस्तावना

अस्य चैतत्सूत्रमध्ययनं ग्रन्थार्थरत्नाकरं, श्रीवीरस्तुतिनामतोऽपि-
प्रथितं पुच्छिस्सुणमित्याद्यपि च । श्रीमत्सूत्रकृताङ्गसूत्रस्याध्ययनस्यास्य षष्ठं
यदिदं प्रपठन्ति भव्यजना: प्राभूततमा: सादरम् ॥ कण्ठेन मुमुक्षवश्च पर्व
कुर्वन्ति पठनमिदं एवं जैनसमाजेऽपि निरता: स्वाध्यायमस्य नियम् । पाठं
चास्य महत्प्रियात्प्रियतरं कुर्वन्ति प्रेमान्विता सार्धं संस्कारं पवित्रभवं यत्नाऽ-
प्यनेके मुमु: ॥ यत्राऽनन्यद[illegible]रस्य निखिलं सामर्थ्यसंवर्णनं तथास्याध्ययनमुप्य-
स्य नितरां प्रयत्नेन धार्यं भवेत् । आचार्येण सुधर्मणा विरचितं यद्वै कृते भोगिनां
श्रोतॄणामिदं निचार्य सुधियां मोदप्रमोदार्थिनाम् ॥ अध्येऽस्मिन्सुगमविस्तरवि
मुनिभिर्मोक्षप्रयायीया अपितु[illegible]स्तूपयसपाठकरम्यस्वप्रार्थमात्मरतात् । श्रीम-
देवमयस्य [illegible]
महत् ॥ सर्वोत्तम रहस्यबोधयत्ने स्वातं भवेद्बोधनं श्रीमदम्बर्मवस्य श्रीपञ्च-
वराचार्यस्य कथयाव । प्रत्येकचर्यर्स्त [illegible] निर्वं तथा प्रस्तुतं सर्व
काव्यमर्ढं समयानिपषो [illegible]स्तासकम् ॥ आचार्येण सुधर्मेण रसयुतं काव्येऽत्र
शिष्याय च [illegible] च वस्तुदेयसुधये चर्चितं प्रेमत: । अत्र चासम्या
[illegible]सयिवं तीर्थङ्करत्वं तथा मत्स्यं श्रेष्ठमत्वमेव चपलासुखाद्यत्वं पुन: ॥
श्रीगौतम-[illegible]वामधर्मयपतो वीरस्य ज्ञानं तथा चारित्रं चात्र दर्शनं च गुणपद
स्वाध्यायध्यानं मुहु: । सुत्तस्य च निरर्थितं प्रवितर्व येन प्रकारेण च तद्वचनु-
साम्यमेवमपि[illegible]मत्पाणोदरे ॥ सम्मतं प्रतिप्रेमिव्यं च महत्वं यन्माहु-
र्यथा पुरा, श्रीमत्त्रीपमदेवाख्यकरार्चा सुन्दरं चोत्तमम् । सचित्रं [illegible]
कस्तुतं तेनैव सर्व तथा [illegible]मरसामाकम् ॥
एवं योगिरम्यमनोज्ञकसुधा धारा सर्वोत्तमं दीक्षया सुखमन्वितं प्रथितं
[illegible] समर्थितम् । जैनानां च पुनां तदस्यानिदुषां स्वान्तं प्रवर्त पुना
स्वाध्याये निखिलं समन्वयमयोऽस्मेदेव [illegible]म् ॥ अर्थ निर्विघ्नात: अर्थं सिद्ध
चम धम्मस्य अध्ययनं मूलं विशेषि । इदं शिक्षमप्याल्पकलास्यया च कृतो
प्रापते पाठयस्यापदेन ॥ महा शुभभावस तेजोमयस सुवर्णसम्पदेवस चेतकृ-
तिम । अतो जीवसे तस्य प्रालोपरिज्ञानमानस संस्थापनार्थं प्रयाणम् ॥ तथाऽ-
[illegible] । तथा नृप तत्पार्थ

भावार्थकस्य, प्रबोधार्थमत्यन्तमावश्यकत्वम् । अतोऽप्यस्य मूलाशयं सम्प्रधार्य, मृहत्स्तुत्यमेतत्तथाऽध्यात्मपूर्णम् । शुभाऽध्यायजस्य यथा बुद्धिशक्तिः, समस्तं यथार्थोनुभाव च ज्ञात्वा ॥ सुसस्कारशब्देन वा भाषया च, समृद्ध कृतं तस्य मुख्योऽस्ति हेतु । तथा मातृभाषानिवद्ध प्रसिद्ध, जनानामनेकार्थतत्वप्रदीपम् ॥ तथा ज्ञापनार्थं च भावस्य तस्य, ऋजुर्वो मृदुर्वाऽस्य भाषानुवाद । तदाऽऽवश्यकत्व च तस्यैव भावं, मृदुत्वं प्रगृह्य स्फुट भासते च ॥ गुर्जरे चानुवादोऽस्य **कालीयकत्ता**निवासेन क्षेमेन्दुनाऽस्य प्रकाश । कृत श्रावकेणाथ तस्यैव तत्व, तथा सुप्रसिद्धोऽनुवाद स्वतन्त्र ॥ कदाचिज्जैनाना त्रिपुटदलवृन्दे च जनता, प्रसक्तानामेव यदि सदुपयोगश्च भवति । सदैतद्भावेन विवुधजनसेवासु निरतः, प्रकाशं सर्वत्राऽखिलविशदवोधाय कृतवान् ॥ पवित्रोऽय पाठो बहुरुचिकरो मेऽस्ति मनसा, करोमि स्वाध्याय मननपरिपूर्णेन सुखत । महानन्दस्वादो भवति करणाच्चास्य सततं, सुलब्ध सौभाग्य प्रतिदिनवितृष्णो विरमति ॥ **मुमुक्षूणां** चित्ते सुखरससुधान्ति वितनुते, मुहुर्जिज्ञासा नो बहुविषमल चास्य विरति । तदा जाता भावाखिलमतिसुपूर्तिर्निगदिता, सदैव ज्ञातव्य यतिमुनिगणैर्मुक्तिनिलयै ॥ यदाऽऽवश्यकत्वेन यस्याऽस्ति पूर्ति, प्रजाता च **संस्कारतो**ऽनेकवारम् । समर्थश्च सर्वाङ्गतो लब्धमेतत्तदाऽस्योत्तर पत्रमेतद्ददातु ॥ **अथो** पाठकाना जनानां च व्यक्तं, तथा वाचकोपर्य्यतो मुक्तमेतत् । ममाऽस्य प्रलेखेन वा ज्ञापनेन, न वाऽऽवश्यकत्वं न वा कारणत्वम् ॥ यदा पीयते चामृत स्वादवद्भिस्तदा नोच्यतेऽमर्त्यता मेऽस्ति कीदृक् । सुमिष्ट च तिक्त मदीय कियद्वा, प्रसिद्ध हि लोके रसास्वादुकत्वम् ॥ मुदा वर्णन तस्य जिह्वा करोति, स्वयं वर्णनम्यातिसेतुं विधत्ते । मया न्यायमार्गानुरोधेन चैव, स्वकीयायसी लेखनी स्थाप्यतेऽत्र ॥

भावार्थ—यह काव्य श्रीमत्सूत्रकृताङ्गसूत्रके छठवें अध्यायकी अनुपम और मौलिक वस्तु है और '**वीरस्तुति**' या '**पुच्छिस्सुणं**' के नामसे अतिप्रख्यात है। वहुतसे जैनवन्धुओंको तो यह मुखस्थ होती है, अनेक जिज्ञासु महानुभाव इसका प्रातःसाय व्यवधान रहित नित्य पाठ करते हैं, और जैन समाजमें यह पवित्र पाठ इतना अधिक प्रिय है कि इसके कई सस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।

प्रभुके अनन्तसामर्थ्यका वर्णन करना तो मानो छद्मस्थ-मानुषी शक्तिके वाहर है, और इस विषयके वर्णनकरनेमें श्रीमान् सुधर्माचार्य जैसे महान् ज्योतिर्धर और परम योगीको ही योग्य अधिकारी समझा गया है।

अपठक दृष्टिसे अध्ययनकरनेपर पाठकोंको इस अध्ययनमें कई स्थलोंपर कुछ पुनरुक्तियाँ भी प्रतीत होंगी परंतु प्रत्येक शब्द और शब्द-वाक्यों पदपदार्थ देखके वास्तविक सूक्ष्मात्मकदृष्टिसे मनन करनेपर उसका सम्पूर्ण और सर्वांग रहस्य इस प्रकार सरलतासे समझमें आता है कि पदपदार्थसमवायका मुख्य आशय प्रत्येक शब्द और अर्थमें कितना भिन्न और स्पष्ट है।

इस अध्ययनमें भगवान् सुधर्माचार्य अपने अन्तेवासी शिष्य जम्बूको यह बताते हैं कि शासननायक-चरमतीर्थंकर-जगदुद्धारक-श्रीमहावीरयोगीन्द्रपूज्यप्रभुके ज्ञान-दर्शन और चारित्र आदि गुण किस प्रकारके थे उन गुणोंकी तुलना जगत् भरकी सर्वोत्तम सारभूत वस्तुओंके साथ करके प्रमुख महत्व बताया गया है।

अध्यात्मप्रेमी महानुभावोंके सम्मुख श्रीमद्भगवतोंके परमसुन्दर और हितकर ज्ञानके साथ मिलते जुलते भाव तथा अन्यान्य अध्यात्मरसिक आचार्य और कविकोविदोंके आशयोंका भी इस विवृतिमें समन्वय किया है और जिसमें जैन तथा जैनेतर ग्रन्थोंको स्थान देते समय किसी प्रकारका भेद नहीं रक्खा है।

यह निर्विवाद और अपने आप सिद्ध है कि इस अध्ययनका मूल और विवृति दोनों ही अध्यात्मरसमें परिप्लावित हैं क्योंकि गणधरपदविराजित महाप्रभावशाली श्रीसुधर्माचार्य भगवान्की तो यह कृति है, और मनुष्यमात्रको अपने जीवनमें अपने आत्माके ऊपर अध्यात्मविषयक प्रभाव डालनेके लिये इस प्रकारके उत्तमोत्तम पाठोंको सदैव बोलते रहनेका अभ्यास रखनेकी तथा उसके रहस्यमयभावार्थको समझनेकी भी अत्यन्त आवश्यकता है, अत इसी मूल भावनाको लेकर इस महान् एवं शुभ अध्ययनको यथामति यथाशक्ति एवं यथानुक्रम संस्कृतविवृति तथा भाष्यानुवादसे समृद्ध किया है। इसका एक मुख्यकारण यह भी है कि हमें भगवान् महावीर प्रभुकी देन है और उसे उनके तत्त्वको संसारके कोने कोने तक पहुंचाकर ही पूरा किया जा सकता है। और मातृभाषामें सर्वसाधारण जनताको तत्त्वबोध और उसका अन्तर्गत सम-झानेकेलिये उसके सरलविवरण भाषान्तरकी भी बड़ी आवश्यकता है। इन्हीं भावोंको लेकर इसका गुर्जर-अनुवाद भी कलकत्ता निवासी श्रीखेमचंद भाईसे करवाया है, और उन्होंने भी इसका गुर्जरगिरामें स्वतन्त्र अनुवाद किया है। यदि कदाचित् यह विवृती जैनसमाज तथा प्राणीमात्रके लिए कुछ उपयोगी हो

सके इस भावसे प्रेरित होकर इसका प्रकाशन किया है। मुझे तो इसके प्रति-समयके स्वाध्याय और पाठसे भरपूर शांतिसुधाधाराका अव्यवच्छिन्नरूपसे आस्वादन करनेका पूर्ण सौभाग्य मिल रहा है। अत मुझे पूर्ण आशा है कि अन्यान्य मुमुक्षुमहानुभावोंको भी इसके निरन्तर पाठ तथा मननात्मक स्वाध्यायसे अवश्य शान्तरसकी प्राप्ति होगी। यद्यपि इसकी कई आवृत्तिएँ निकलकर प्रकाशित हो चुकी हैं परन्तु यह सस्करण जिस आवश्यकताकी पूर्तिमें सर्वाङ्ग सफल हुआ है इसका उत्तर पाठकगणोंके ऊपर ही छोड दिया जाता है, कहने सुनने और लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। कारण यह है कि जिस समय अमृतका पान किया जाता है उस समय वह जनताको यह नहीं कहता है कि मेरा स्वाद कैसा है? उसका वर्णनतो जिह्वा स्वय करने लगती है तथा उसकी प्रशसाके पुल वाध देती है। अत इस न्यायको लक्ष्यमे रखकर इस लोहलेखनीको विराम देता हूं॥

लघुतम—

'पुप्फ भिक्खु.

सहायक

वीरसूरिजी विद्वानों ने भिन्न भिन्न पुस्तकों का अवलोकन करके अपने अनु-भवानुसार भिन्न भिन्न प्रमाण संगृहीत किये हैं उनका नामोल्लेख इस प्रकार है।

[illegible]

इन सब पुस्तकोंके लेखक एवं अनुवादकोंका एवं सम्पादकोंके [illegible] में कभी नहीं भूल सकता। [illegible] प्रत्यक्ष या परोक्षमें भिन्न भिन्न महानुभा-वोंने प्रोत्साहन प्रेरित किया है [illegible]

[illegible]

निदर्शन

उपासकके अन्तरमें भक्तिभावका ओघ उछलने लगता है तव स्तोत्र या स्तुतिका साहित्य-सर्जन होता है, इस प्रकारकी भारतीमें कई वार अमूल्य रत्न वहकर निकल आते हैं। विवेचक इन रत्नोंका मूल्य आकने एवं समझनकेलिये लम्बे चौडे भाष्य और टीकाएँ वनाते हैं। जैन साहित्यमें तीर्थंकर-भगवान्की स्तुतिओंका साहित्य पुष्कळ प्रमाणमें पाया जाता है। यहा तक तो है कि अन्य कोई दर्शन उसकी वरावरी नहीं करसकता, यह कहदें तो कोई अत्युक्ति न होगी। समर्थ नैयायिक और वैयाकरणी भी काव्यसाहित्यमे जो कुछ अपनी प्रतिभा उंडेलनेको उद्यत हुये हैं तो वह भी स्तुतिसाहित्यका ही प्रताप है। आमका वृक्ष फलोंसे लदा हो, मञ्जरी महकती हो और वसन्तका वायु चलता हो तो कोयल परवश होकर भला पचमस्वर निकाले विना क्योंकर रह सकेगी? इसी प्रकार न्याय-दर्शन-व्याकरण या अन्यान्य कठिनसे कठिन शास्त्रोंमें पारगत समझे जानेवाले पुरुषोंके अन्तरमें किसी समर्थपुरुषके प्रति भक्तिभाव जागृति हो तो वे स्तुतिके साहित्यकी उपेक्षा कभी न कर सकेंगे। चन्द्रदर्शनसे उभरकर वढनेवाले महासागरकी भाति अन्तर भी भक्तिसे सक्षुब्ध वन जाता है। परन्तु परमपुरुषकी स्तुतिओंमें केवल काव्य अथवा साहित्यका ही अश हो यह मान्यता युक्तिसगत नहीं है। स्तुतिका रचयिता उस समय जव कि कविका आसन स्वीकार करता है परन्तु अपनी विशिष्टताको नहीं छोंडता। इसीलिये कि स्तुतिओंके साहित्यमें तत्वज्ञान अध्यात्म झलक और वुद्धिचातुर्यके अत्यद्भुत अश उसे उस समय भी प्राप्त होते हैं।

समग्र आगम-सग्रहके उपोद्घातके समान गिने जानेवाले नन्दीसूत्रमें श्रीदेव वाचक क्षमाश्रमणने मङ्गलाचरणके रूपमें जो गाथायें ग्रथन की हैं उसमें मूलमें तो श्रमण भगवान् महावीर प्रभुकी स्तुतिका ही प्राधान्य है परन्तु उसमें इतना अधिक गम्भीर अर्थ है कि आचार्यमलयागिरि रचित संस्कृत टीकारूप तालिकाको समझे विना उस स्तुतिके गंभीर अर्थकी कल्पना शायद ही किसीकी समक्षमें आयगी।

श्रीमलयगिरिने स्तुतिके श्लोकोंकी व्याख्या करते समय आप्तवाद-स्याद्वाद-आत्मवाद-प्रमाणवाद जैसे तत्वज्ञान सम्वन्धी अनेक सिद्धान्तोंको स्पष्ट कर दिखाया है।

इसी प्रकार महाकवि धनपालने भी महावीर स्तुति संस्कृतमें रची है। परन्तु उसमें विरोधाभासके अलंकारोंका ऐसा संग्रह किया है कि कोई भी रसिक आत्मा उसके रसास्वादनसे पुलकित हुये बिना न रह सकेगा।

आशय यह है कि स्तोत्रके या स्तवनके साहित्यमें कवित्वके उपरान्त अलंकार और तत्त्वज्ञानके असंख्य विषयोंके समाविष्ट करनेका एक कालमें रिवाज था। और जो श्रीसूत्रकृतांगसूत्रके छठ्ठें अध्यायमें समाई हुई वीरस्तुतिको विचारपूर्वक पढ़ेगा अवधारण करेगा उसे उसमेंसे उपासनाके रस-स्यन्दके उपरांत प्रभु महावीरके यथार्थस्वरूपका भी विचार हृदयमें आ सकेगा।

प्रकृतिके इस प्रवाहरूप शिष्टाचारात्मक नियमानुसार मुनिश्रीने भी यथासम्भव छन्दतापूर्वक संस्कृतवाणीमें टीका रचकर इस स्तुतिके मूलके साथ प्रकट किया है और जैनसाहित्यकी जैनउपासकोंकी अमाधिक सेवा की है।

जैनोंका अतिविशाल भाग वीरस्तुतिको प्रेमसे कण्ठस्थ करता है तथा आनन्दके साथ मधुरता पूर्वक पढ़नेका गौरव प्राप्त करता है। अन्यान्य स्तोत्र स्तवन और स्तुतियोंकी अपेक्षा इसमें एक प्रकारकी विशेषता है जिसके कारण यह स्तुति कण्ठस्थ रखकर इतनी लोकप्रिय और आदरको प्राप्त है। यह इसमें एक विशेषता है परन्तु वह विशेषता क्या है?

महावीरस्वामीके एक समर्थ गणधर श्रीसुधर्मास्वामी स्वयं अपने अन्तेवासी जम्बूके सम्मुख भक्तिपूर्वक गद्गद होकर वीरप्रभुका प्रताप प्रभाव और माहात्म्यका वर्णन करते हैं। श्रीसुधर्मास्वामीने अपने जीवनकी अन्य घड़ियोंमें जो कुछ देखा सुना एवं अनुभव किया है उसीका वर्णन अपने शिष्यके सामने किया है। स्तुतिको पढ़ते या सुनते समय हमें भी यही प्रतीत होता है कि सुधर्म्मास्वामी महावीर परमात्माकी महिमाका वर्णन करते समय गुप्त रीतिसे मानो यही कह रहे हैं कि "अभी बहुत कुछ शेष है अभी और बहुतसा अनिर्वचनीय है" वे प्रभुके लक्षणका कुछ भान करानेकेलिये जगत्की उत्तमोत्तम सामग्रीयोंके साथ उनकी तुलना करते हैं। मेरु पर्वत नन्दनवन चंद्रमा स्वयम्भूरमण समुद्र इनमेंसे सभी कुछ जगकी किसी भी सुन्दर वस्तुको वे नहीं भूले हैं। तथापि अन्तमें नेति-नेति कहकर मानो विराम पा रहे हैं। प्रभुके गुण अपार होनेसे उनका अन्त ही न आवेगा ऐसी सूचना करनेका आभास भी इनमेंसे मिल रहा है।

जिस वीरपरमात्माका शब्दचित्र इतना भव्य है तब उनके साक्षात् परिचयमें आनेवाले श्रीसुधर्म्मास्वामीके अन्तरमें इस स्तुतिकाव्यकी स्फुरणा हुई होगी तब उन्होंने कैसी रमणीय अन्यमनस्कताका अनुभव किया होगा। तीनलोककी उत्तमोत्तम रससामग्री भी भगवान्के सत्य स्वरूपके सन्मुख उनको तुच्छ लगती होंगी। इतनेपर भी भगवानकी पहिचान करानेके लिये वे प्रयत्न करते हैं और एक अमर स्तुतिकाव्य रचकर जगत्को सौंप देते हैं।

महावीरके भक्तोंके मनको महावीर भगवान्के यथार्थ स्वरूपकी सुन्दर और गहरी झांकी हो उसकी अपेक्षा मूल्यवान् उपादेय वस्तु और क्या हो सकती है। जैनसंघ इस स्तुतिके पठन पाठन और चिन्तनके प्रतापसे उनके सिद्धान्तोंका अनुसरण करनेके लिये भाग्यशाली हो! इतनी ही प्रार्थना करना बस है।

ज्ञातसेवक

॥ अभिप्रायः ॥

शासनप्रभुमहावीरः, सर्वज्ञस्तु जगद्गुरुः ।
तस्य सूक्तेर्मनोरम्या, सा टीका कस्य न प्रिया ॥
निखिलागमविज्ञेन, सिद्धान्तविहारिणा ।
निर्म्मिता पुष्पचन्द्रेण, सा टीका कस्य न प्रिया ॥
गीर्वाणी सैन्धवीभाषा, गुर्जरीया तथैव च ।
त्रिभाषासङ्गमो यत्र, सा टीका कस्य न प्रिया ॥
भवबन्धापहर्त्री च, सुबोधस्य दीपिका ।
शरण्या सर्वजीवानां, सा टीका कस्य न प्रिया ॥
वाच्यवाचकभावस्तु, स्फुटो यत्र विधीयते ।
स्वतिस्यादिगुणैराढ्या, सा टीका कस्य न प्रिया ॥
विबुधेभ्यो मुनीन्द्राणां चरतां शास्त्रवर्त्मसु ।
कण्ठभूषणक भाति, सा टीका कस्य न प्रिया ॥
विद्यापीठे तु संस्थाप्य, टीका पाठ्यविधायका ।
धर्म्मोन्नतिश्च कर्त्तव्या, हि पुष्करमुनेर्मतम् ॥

व्याकरण—काव्य—न्यायतीर्थ
पुष्करो मुनिः—

संसारार्णवसेतुतामुपगता सिद्धान्तचिन्तापरा,
कल्याणसाधनदर्शिकाऽस्त्वविरतं सत्यार्थिनां सर्वत ।
हिन्दी-संस्कृत-गुर्जरी प्रभृतिभिर्भाषाभिरागुम्फिता,
श्रीपुष्पेन्दुमुनीरिता विजयते वीरस्तुतेर्वृत्तिः ॥ १ ॥

ता ७-९-५९
विद्यामन्दिर
कानपुर.

पाण्डेय देवेन्द्रनाथ शास्त्री

मुणि सिरि उवज्झाय आयारामस्स सम्मइ

मए वीरत्थुइ नामा लहुवी पोत्थियं अवलोइया, सा थुइ पोत्थिया भत्ति भावेण अलकिया, पोत्थिया भत्तिभावेण विन्नत्ता, अम्भुअरसस्स प्पयाण कत्ता-जइवि कइ वाहं विसएसु मयमेयोऽत्थि किन्तु कत्तुणा भत्तिभावं अणुवमं दसिता। मम मणो अईव प्पसन्नभूओ, कत्तुणो पुणो पुणो धन्नवाय देमि। जेण अइपरीसमेण भत्तिवसेण अईव सग्गह कड्ढ, जणयाए भत्तिमग्गं पदसिया। सत्थेवि उत्त, अरिहंताइणां भत्तिभावेण जीवो तित्थयर नामगोय कम्मं निवंधइ। इयं रयणा सुंदराऽत्थि, भव्वजणाण अवस्समेव भणणिज्जो, कत्तुणा जहाठाणे अईवउवओगी उद्धरणाण पससणिज्जो सग्गह कड, तहा उत्तरज्झयणस्स तव-मग्गोऽवि उत्तं, 'गुरुभत्तिभावसुस्सूसा, विणओ एस वियाहिओ' एव वीरभत्ति वा वीरत्थुइ वि विणयरूवोऽत्थि, तहा उत्तराज्झयणस्स एगूणतीसाए अज्झयणं थूइस्स एव फल वण्णिअ जहा—"थय थुइमगलेण भंते जीवे किं जणयइ? थ० नाणदसणचरित्तवोहिलाभ जणयइ। नाणदसणचरित्तवोहिलाभसपन्ने य ण जीवे अन्तकिरिय कप्पविमाणोववत्तिग आराहण आराहेइ ॥ १४ ॥ अओ वीरत्थुइ अवस्स भणणिज्जो।

१९९६ सावणसुक्का एगादसी, सुक्कवारे,
लुहियाणा णयरे, उवज्झाय जइणमुणि

आयारामो

देहली शहर महावीर जैनभवन

ता० २७ अगस्त १९३९ ई०

शान्तस्वभावी, वैराग्यमूर्ति, विद्वान् **श्रीमज्जैनाचार्य पूज्यश्री खूबचन्दजी म०** साहबकी सम्मति —

"वीरस्तुति" नामक पुस्तक भाई पचमलालजी द्वारा पठनार्थ मिली, पुस्तक सरसरी नजरसे देखी, अहिंसाके अवतार भगवान् महावीर प्रभुकी स्तुति मूल गाथाओंके साथ हिन्दीभाषामे अच्छे ढगसे लिखी है। वर्तमान समयमे ऐसे २ शुद्ध हिन्दीभाषायुक्त धार्मिक साहित्यकी विशेष आवश्यकता है।

जैनधर्मोपदेष्टा विद्वान् मुनिश्री फूलचन्द्रजी ने **वीरस्तुति** लिखनेका स्तुत्य कार्य किया है। आशा है स्वाध्यायप्रेमी महानुभाव इस वीरस्तुति पुस्तकके स्वाध्यायसे आत्मकल्याणका लाभ अवश्य उठायगे। अस्तु।

हस्ताक्षर—**आर्य जैन सुखमुनि**

द्वितीय श्रावण शु० १३, रविवार, सं० १९९६

पुस्तक दर्शनीय है, मूलमात्र भावोंको काफी सरलताके साथ समझानेकी चेष्टा की गई है। यथा प्रसंग अन्य ग्रन्थोंके उद्धरण होनेमें पुप्फभिक्खु श्रम करते हैं यह अतिशयोक्ति न होगी। यदि मैं कहूं कि वीरस्तुतिका इतना लोकप्रिय संस्करण अभी तक कहींसे भी प्रकाशित नहीं हुआ।.... .. .. कुछ स्थल ऐसे भी हैं जहां केवल अनुवाद होकर रह गया है अन्तु तत्तत् स्थलोंपर लेखकसे हमारा 'मत' भेद है। परन्तु ये सब बातें "एको हि दोषो गुणसंनिपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः" की उक्तिके अनुसार अन्य विशेषताओंमें छुप जाती हैं। स्थानकवासी (जैन) समाजकी ओरसे ऐसी सुन्दर कृति उपस्थित करने के उपलक्ष्यमें श्रीयुत पुप्फभिक्खु बधाईके पात्र हैं।

जैनाचार्य-पूज्यश्री पृथ्वीचन्द्रजी महाराज
ता० २५ अगस्त सन् १९३९

पुस्तक काफी सुन्दर लिखी गई है बहुतसे स्थलोंपर तो व्याख्या काफी प्रभावोत्पादक हो गई है। संस्कृत हिन्दी और गुर्जर तीनों भाषाओंमें व्याख्या को रखकर लेखकने क्या विद्वान् क्या सर्वसाधारण सभीके लिये अध्ययनका मार्ग प्रशस्त कर दिया है।

श्रीयुत पुप्फभिक्खुने अन्य भी उपयोगी पुस्तकें लिखी हैं, परन्तु प्रभु महावीरके चरणोंमें उनकी यह श्रद्धाञ्जलि तो अतीव उच्च श्रेणीपर पहुंच गई है। मैं आशा करूंगा कि समाज इस कृतिको अधिकसे अधिक अपनायेगा और प्रभु वीरके गुणगान द्वारा लेखकके श्रमको सफल करता हुआ अपने जीवनको भी सफल बनायेगा॥

व्याख्यान वाचस्पति पण्डितश्री मदनलालजी म०,
ता० २५ अगस्त सन् १९३९

ग्रन्थ परमोपयोगी है, इसमें कुछ सन्देह नहीं कि मुनिजीने हर एक विषयको बड़ी गम्भीरता और साथ ही सरलतासे सुसज्जित किया है। आशा है कि ईश्वर संस्तवन प्रेमी संसार इस ग्रन्थसे महान् लाभ उठावेगा। मुनिजीका परिश्रम और विद्वत्ताबोध इस ग्रन्थके अवलोकन करनेसे अतिप्रशंसनीय प्रतीत होता है।

सम्मति प्रदाता—
"मुनि पालभिक्षु प्रेमेन्दुः"

वीरस्तुति नामकी पुस्तक देखी, लेखक मुनिश्रीने अत्यन्त परिश्रमसे तैयार कर जन समाजपर उपकार किया है। तीर्थंकरोंकी स्तुति करना आत्माको पवित्र बनाना है। तीर्थंकरोंकी स्तुतिकरते हुवे उच्चकोटिकीभावना आजाय तो तीर्थंकर जैसी आत्मा बनजाती है। अत जन समाजको सम्मति देता हू कि वीरप्रभुकी स्तुति हमेशा पढा करें। जैनाचार्य पूज्यश्री खूबचन्द्रजी महाराजका सम्प्रदायानुयायी—**आर्य जैन मुनि हीरालाल** २६–८–३९, **अबाला शहर**

साहित्याकाशभ्रमणभानु पुप्फभिक्खु रचित सस्कृत और हिन्दी भाषामें वीरस्तुतिका दर्शन किया। आपने इस उन्नतिके युगमें इस प्रकार लेखनी उठाकर जैन ससार पर ही क्या बल्के भव्यसाक्षरसृष्टिका कल्याण कार्य किया है। यह रचना रोचक और हृदयङ्गम है, मानवके आन्तरिक विचार इसका स्वाध्याय करते करते भक्तिसागरमें लहरायमान होने लगते हैं।

वीरस्तुतिके विषयमें मेरा इतना ही कहना बस है कि इसका सम्पादन विज्ञानके युगमें वैज्ञानिक ढगसे किया गया है, अत स्थानकवासी जैनसमाजके लिये यह बडे गौरवकी वस्तु है। जैन समाजके मुनि धार्मिक ग्रन्थ शास्त्र अथवा अन्यान्य ग्रन्थोंपर टीका रचना कुछ भूलसे गये थे। लोकाशाहके अनन्तर स्वतन्त्र साहित्य विकासका उत्सर्जन रुकसा गया था परन्तु पुप्फ भिक्खुने वीरस्तुतिके प्रभावसे उस कमीकी पूर्ति कर दी। हे पुप्फभिक्खु! साधुवाद!

शासन प्रेमी—**धनचन्द्र भिक्खु** ता० २८–८–३९, **इंदौर (मध्यभारत)**

अयि, असीमशेमुषिमुषितदोषा! अर्जितविद्याकोषा! धियाधीताध्याताशेषजैनमुनिप्रवरा! विदितमस्तु अत्र भवता श्रीमता, यन्मुनि पुङ्गवेन श्रीफूलचन्द्रेण रचित ममा क्रन्दनक काव्य मया सम्यक्समवलोकि, यन्निश्चित स्वस्वान्ते यदेतत्काव्यं शिक्षयति जैनमुनीन् यदीदृशेन गुरुणा भाव्य तथेदृक्षेण च शिष्येण। ये हि मुनय पूर्वमपरीक्ष्यैव शिष्यान्दीक्षयन्ति तेऽचिरादेव विकृतिं प्रयान्ति। तान् एषा मुनीन्द्ररचिता कृति सम्यगवबोधयति, ये च जिनधर्माचारप्रचरणे परित्यक्तनिजप्रयोजना सन्ति, तथा परस्परेर्ष्यामोहनिद्रया निद्रिता वर्तन्ते तेषु मातेव जागृतभावमुत्पादयतीति, नाद्यावधि केनापि जैनमुनिना स्वसप्रदायपोषकमीदृक्षं संस्कृतकाव्य विरचित दृष्टिपथमवतरति। एतद्धि न्यूनतापूरकमिति मे मति। अहो एतत्काव्यसुधारस स्वाद सन्तुष्यमाणो मेऽन्तरात्मा नान्तर्माति, नून हि एतस्य कवित्वतत्त्वमनुकरोति कालीदासादीनां कविपुङ्गवानां कविताम्। अस्मिन्सम्यगवबोधिता जैनसम्प्रदायानुसारं गुरुशिष्यव्यवस्था, तस्यामपि कवित्वसौष्ठवेन हेम्नि सौरभसन्दोह उत्पादित। नूनमेषा कृतिर्जैनसम्प्रदायानुयायिभिर्मुनिभि. समादरणीया तेषु बहूपकरिष्यतीति मनुते—

पण्डित—**हंसराजशास्त्री, व्याकरणरत्नः, साहित्याचार्यश्च,**
प्रधानाध्यापक, सस्कृतविद्यालय मलेरकोटलाराज्ये (पञ्जाब)

प्राक्कथन

श्रीमत्सूत्रकृताङ्गसूत्रके पंचम अध्यायमें 'नरकविभक्ति' का अधिकार प्रतिपादन किया गया है और वह शास्त्रप्रभु महावीर भगवान्ने स्वयं कहा है। इसके अनन्तर उनका ही चरित्र इस गुणकीर्तनविभूषित छठें अध्यायमें वर्णन किया है।

शास्त्रोपदेशकके महत्त्वसे शास्त्रका महत्त्व है इस सम्बन्धसे इस अध्ययनके उपक्रमादि चार अनुयोग होते हैं। उसमें भी उपक्रमके अन्तर्गत जो अर्थाधिकार है वह महावीर प्रभुके गुणसमूहका उत्कीर्तनरूप है। अनुयोगका दूसरा भेद निक्षेप है, जिसके दो प्रकार हैं। ओघनिष्पन्न और नामनिष्पन्न। ओघनिष्पन्न निक्षेपके रूपमें यह अध्याय और नामनिष्पन्नके रूपमें महावीर स्तुति। उसमें 'महत्' 'वीर' और 'स्तव' के निक्षेप खोजनीय हैं।

'जैसा उद्देश वैसा निर्देश' इस न्यायके अनुसार प्रथम 'महत्' शब्दका निर्णय किया जाता है। यह 'महत्' शब्द बहुल है। जैसे कि 'महाजन' बड़ा आदमी है। 'महाघोष' अधिक है। महाभय-प्राधान्य रूप है। महापुरुष सबमें बड़ा पुरुष है। ये चार अर्थ महत् शब्दके प्राधान्य अर्थमें मान्य हैं। यथा—

पाहण्णे महासद्दो दव्वे खेत्ते य काले भावेय।
वीरस्स उ निक्खेवो चउक्कओ होइ नायव्वो॥

महावीर शब्दमें महत् शब्द प्राधान्य अर्थ में है और यह नाम-स्थापना-द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव इन भेदोंसे छ प्रकारका है। इन प्राधान्योंमें नाम और स्थापनाके भेद तो सुगम ही हैं। द्रव्य प्राधान्य ज्ञ शरीर-भव्य शरीर और ज्ञ भव्य व्यतिरिक्त ये तीन भेद हैं। ज्ञ भव्य व्यतिरिक्तके सचित्त-अचित्त और मिश्र ये तीन प्रकार हैं। उनमें सचित्त भी द्विपद-चतुष्पद और अपदके भेदसे तीन तरहका है। यथा द्विपदमें तीर्थंकर चक्रवर्ती आदि, चतुष्पदमें हस्ती घोड़ा आदि और अपदमें कल्पवृक्ष अथवा प्रशस्त रूप-रस-गंध और स्पर्शमें उत्कृष्ट पुण्डरीक कमलादि पदार्थोंका प्राधान्य है।

अचित्तमें वैडूर्य आदि विविध प्रभावयुत मणियोंका प्राधान्य है। मिश्रमें विभूषित तीर्थंकरादि।

क्षेत्रमें सिद्धक्षेत्रका प्राधान्य है। धर्म-चरित्रके आश्रयसे विदेहक्षेत्र प्रधान है और उपभोगकी अपेक्षा देवकुरु आदि क्षेत्रका प्राधान्य है। काल प्राधान्य-एकान्त सुषम आदि आरक अथवा धर्मचरणके स्वीकार करने योग्य काल विशेष।

भाव प्राधान्य क्षायिकभावमें है।

अब **'वीर'** शब्दके द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव ये चार भेद निक्षेप ज्ञ शरीर भव्य शरीरको छोडकर ज्ञ भव्य व्यतिरिक्तमें द्रव्यसे वीर द्रव्यकेलिये सङ्ग्रामादिमें अद्भुतकाम करनेसे शूर पुरुष अथवा जो कुछ वीर्यवत् हो।

क्षेत्र वीर-क्षेत्रमें अद्भुत काम करनेवाला वीर होता है। अथवा जहा उसके वीरत्वकी गाथायें गाई जाती हों वह। इसी प्रकार कालके आश्रयसे भी जानना चाहिये। भाव वीर वह है जिसका आत्मा क्रोध-मान-माया और लोभ परिषह आदिसे विजित न हो। **यथा—**

पंचेंदियाणि कोहं, माणं मायं तहेव लोहं च।
दुज्जयं चेव अप्पाणं, सव्वमप्पे जिये जियं॥

भावार्थ-पांच इन्द्रियें-क्रोध-मान-माया और लोभको आत्माके लिये जीतना दुष्कर है। यदि एक आत्मा जीत लिया तो सव कुछ जीतलिया समझना चाहिये।

जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ॥

भावार्थ-जो योद्धा लाखों सुभट युक्त दुर्जय सग्रामको जीत लेता है उसकी अपेक्षा आत्माको जीतनेवाला परम जय पानेवाला योद्धा है।

इसीप्रकार श्रीमन्महावीर प्रभु अनुकूल प्रतिकूल परिषह और उपसर्गोंसे विचलित न हुये। इस अद्भुतकार्यको करसकनेके कारण वे गुणनिष्पन्न भावसे महावीर कहलाये। या द्रव्यवीर व्यतिरिक्त भववाला।

क्षेत्रवीरकी अपेक्षा वह जहा होता है अथवा जहां उसके गुणोंका कीर्तन होता है। कालसे भी यही जानना चाहिये। भाववीर नो आगमसे वीर-नामगोत्रकर्मका अनुभव कर्ता।

स्तवके सम्बन्धमें निक्षेपादि—

स्तव-स्तुति के नाम आदि चार निक्षेप हैं, जिसमें नाम और स्थापनाको पूर्ववत् जानना योग्य है। द्रव्य 'स्तव' है शरीर भव्यशरीर व्यतिरिक्त जो पांच अभिगमकी मर्यादा करके तीर्थंकर भगवानका सत्कार करना है और भाव स्तवतो जहां गुण विद्यमान हों उनका उपयोग पूर्वक कीर्तन करना है।

अब प्रथम सूत्रके संसर्ग द्वारसे सम्पूर्ण अध्यायका संबन्ध प्रतिपादन् करनेवाली गाथाका वर्णन करते हैं। यथा–

'पुच्छिस्सु जंबू जामो भग्गसुहम्मा तम्मो कहेसीय।
एव महप्पा वीरो जयमाह तहा जएज्जासि।"

भावार्थ–जम्बूस्वामीने आर्य सुधर्म्मास्वामीसे श्रीमान् महावीर प्रभुके गुणोंके सम्बन्धमें प्रश्न किया है। सुधर्म्मास्वामीने 'भगवान् ऐसे गुणोंसे युक्त थे' यह कहा और उस भगवान्ने इस प्रकार संसारको जीतनेके योग किये अतः आप भी भगवानकी तरह संसार जीतनेका प्रयत्न करें।

अधुना निक्षेपके पश्चात् सूत्रानुगममें अस्खलितादि गुणयुक्त सूत्र कहने योग्य है और वह यह है—

अह सूयगडांगसुत्तस्स वीरथुइ नाम छट्ठं अज्झयणं



पुच्छिस्सुण समणा माहणाय, आगारिणो या परतित्थिआ य। से केइ णेगंत हियं धम्ममाहु, अणेलिसं साहुसमिक्खयाए ॥ १ ॥ कहं च णाणं कह दंसणं से, सीलं कहं णायसुयस्स आसी ? जाणासि णं भिक्खु ! जहातहेणं, अहासुयं बूहि जहा णिसंतं ॥ २ ॥ खेयन्नए से कुसले महेसी, अणंतनाणीय अणंतदंसी। जसंसिणो चक्खुपहे ठियस्स, जाणाहि धम्मं च धिइं च पेहि ॥ ३ ॥ उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु, तसा य जे थावर जे य पाणा। से णिच्चणिच्चेहि समिक्ख पन्ने, दीवेव धम्मं समियं उदाहु ॥ ४ ॥ से सव्वदंसी अभिभूय नाणी, णिरामगंधे धिइमं ठियप्पा। अणुत्तरे सव्वजगंसि विज्जं, गंथा अतीते अभए अणाऊ ॥ ५ ॥ से भूइपण्णे अणिए अचारी, ओहंतरे धीरे अणंतचक्खु। अणुत्तरे तप्पइ सूरिए वा, वइरोयणिंदे व तमं पगासे ॥ ६ ॥ अणुत्तरं धम्ममिणं जिणाणं, णेया मुणी कासव आसुपण्णे। इंदेव देवाण महाणुभावे, सहस्सणेता दिविणं विसिट्ठे ॥ ७ ॥ से पण्णया अक्खयसायरे वा, महोदही वा वि अणंतपारे। अणाइले वा अकसायी मुक्के, सक्केव देवाहिवई जुईमं ॥ ८ ॥ से वीरिएणं पडिपुण्णवीरिए, सुदंसणें वा णगसव्वसेट्ठे। सुरालए वासिमुदागरे से, विरायए णेगगुणोववेए ॥ ९ ॥ सयं सहस्साण उ जोयणाणं, तिकंडगे पंडगवेजयंते। से जोयणे णवणवति सहस्से, उद्धुस्सितो हेट्ठ सहस्समेगं ॥ १० ॥ पुट्ठे णभे चिट्ठइ भूमिवट्ठिए, जं सूरिया अणुपरियट्टयंति। से हेमवण्णे बहुनंदणे य, जंसि रइं वेदयंती महिंदा ॥ ११ ॥ से पव्वए सद्दमहप्पगासे, विरायई कंचणमट्ठवण्णे। अणुत्तरे गिरिसु य पव्वदुग्गे, गिरीवरे से जलिए व भोमे ॥ १२ ॥ महीइमज्झम्मि ठिये णगिंदे, पण्णायते सूरियसुद्धलेस्से। एवं सिरीए उ स भूरिवण्णे, मणोरमे जोयइ अच्चिमाली ॥ १३ ॥ सुदंसणस्सेव जसो गिरिस्स, पवुच्चइ महतो पव्वयस्स। एतोवमे समणे णायपुत्ते, जाईजसोदंसणनाणसीले ॥ १४ ॥ गिरीवरे वा निसहाययाणं, रुयए व सेट्ठे वलयाययाणं। तओवमे से जगभूइपण्णे, मुणीण मज्झे तमुदाहु पण्णे ॥ १५ ॥ अणुत्तरं धम्ममुईरइत्ता, अणुत्तरं झाणवरं झियाइ। सुसुक्कसुक्कं अपगंडसुक्कं, संखिंदुएगंतवदातसुक्कं ॥ १६ ॥ अणुत्तरग्गं परमं महेसी, असेसकम्मं स विसोहइत्ता। सिद्धिंगते साइमणंतपत्ते, नाणेण सीलेण य दंसणेण ॥ १७ ॥ रुक्खेसु णाए जह सामली वा, जंसि रतिं वेदयती सुवण्णा। वणेसु वा नंदणमाहु सेट्ठं, नाणेण सीलेण य भूइपण्णे ॥ १८ ॥ थणियं व सद्दाण अणुत्तरे उ, चंदो व ताराण महाणुभावे। गंधेसु वा चंदणमाहु सेट्ठं, एवं मुणीणं अपडिण्णमाहु ॥ १९ ॥ जहा सयंभू उदहीण सेट्ठे, नागेसु वा धरणिंदमाहु सेट्ठं। खओदए वा रसवेजयंते, तवोवहाणे मुणि वेजयंते ॥ २० ॥ हत्थीसु एरावणमाहु णाए, सीहो मिगाणं सलिलाण गंगा। पक्खीसु वा गरुले वेणुदेवे, निव्वाणवादीणिह णायपुत्ते ॥ २१ ॥ जोहेसु णाए जह वीससेणे, पुप्फेसु वा जह अरविंदमाहु। खत्तीण सेट्ठे जह दंतवक्के, इसीण सेट्ठे तह वद्धमाणे ॥ २२ ॥ दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं, सच्चेसु वा अणवज्जं वयंति। तवेसु वा उत्तमं

बंभचेरं, लोउत्तमे समणे णायपुत्ते ॥ २३ ॥ ठिईण सेट्ठा लवसत्तमा वा सभा सुहम्मा व सभाण सेट्ठा । णिव्वाण सेट्ठा जह सव्वधम्मा ण णायपुत्ता परमत्थि णाणी ॥ २४ ॥ पुढोवमे धुणइ विगयगेही, ण सण्णिहिं कुव्वइ आसुपण्णे । तरिउं समुद्दं व महाभवोघं, अभयंकरे वीरे अणंतचक्खू ॥ २५ ॥ कोहं च माणं च तहेव मायं लोभं चउत्थं अज्झत्थदोसा, एयाणि वंता अरहा महेसी ण कुव्वइ पाव ण कारवेइ ॥ २६ ॥ किरियाकिरियं वेणइयाणुवायं अण्णाणियाणं पडियच्च ठाणं । से सव्ववायं इति वेयइत्ता, उवट्ठिए संजमदीहरायं ॥ २७ ॥ से वारिया इत्थि सराइभत्तं उवहाणवं दुक्खखयट्ठयाए । लोगं विदित्ता आरं परं च सव्वं पभू वारिय सव्ववारं ॥ २८ ॥ सोच्चा य धम्मं अरहंतभासियं, समाहियं अट्ठपओवसुद्धं । तं सद्दहाणा य जणा अणाऊ, इंदा व देवाहिव आगमिस्संति ॥ २९ ॥ त्ति बेमि ॥

सिरि वीरथुई समत्ता

अपने जैन मुनिओंसे प्रार्थना

ईस्वीसन् पहिले अपने अपने मजहब धर्मके और बड़े पुरुषोंके नामसे पुकारी जानेवाली प्रचलित ११ सम्प्रदायोंसे जैनसमाजको आज तक कुछ भी लाभ न होकर प्रत्युत अधिकाधिक हानि ही उठानी पड़ी है। पूर्वकालमें भी जब इन पन्थ और परियाग्रियोंसे कुछ लाभ और उन्नति नहीं हुई तब इस अणुबमयुग और इसकी भावनाओंमें एवं सम्प्रदायवादके मानवीय विचारोंकी इस अशान्तिकारी वैज्ञानिक-वस्तुओंसे उदासी भी आवश्यकता नहीं है। आजका वस्तुतः मनुष्य समाजमें साम्यवाद एवं आपसी प्रेमको बढ़ाना अपना मुख्य कर्तव्य समझता है किन्तु इन पन्थोंमें कुछके सिवा जैनत्व भावको बिल्कुल नहीं भाता। इसलिये इन प्रचलित सब सम्प्रदायोंको जड़-मूलसे मिटाकर एक नाम "ज्ञातपुत्र महावीर भगवान्" के किसी भी एक नामसे अपनी सम्प्रदायका परिचय देना चाहिये। जिससे जैनसमाजकी टुकड़ोंसे बिखरी हुई ज्ञातपुत्र-सम्प्रदाय और प्रेमसंगठित फिरसे एक संगम हो सके। अतः निवेदन है कि अपने बड़े पूर्वोंके भावमय ग्रन्थ मोह नाम नामको भी न रखकर महावीर भगवान्‌का नाम और उनका स्याद्वादसिद्धान्त ही सब जगह सर्वत्र प्रचलित करना चाहिये क्योंकि प्रत्येक जैनके भगवान् महावीरही देव हैं और वह सम्प्रदायवाद-पक्षपात-पदवाद-पन्थवाद-भेदभाव-जातिवाद-अधिकारवाद-उपाधिवादको जड़से मिटाकर एकता एवं सहयोग-शक्तिसे जाति-समाज और देशका उत्थान दूर करके मार्गीसमाजमें प्रेमभाव रखनेसे ही पूरी की जासकती है।

प्रार्थी—
ज्ञातपुत्र-महावीर जैन संघीय-
'पुप्फभिक्खु'

विषयानुक्रमणिका ।



ॐ

नमोत्थुणं समणस्स भगवओ णायपुत्त महावीरस्स

वीरस्तुतिः ।



हिन्दी-गुर्जरभाषान्तरसमुल्लसितया संस्कृतटीकया सनाथीकृता

मूल—

पुच्छिस्सु णं समणा माहणा य,
आगारिणो या परतित्थिआ य ।
से केइ णेगंतहियं धम्ममाहु,
अणेलिसं साहुसमिक्खयाए ॥ १ ॥

संस्कृतच्छाया—

अप्राक्षुः श्रमणा ब्राह्मणाश्च, अगारिणश्च परतीर्थिकाश्च ।
स क इत्येकान्तहितं धर्ममाह, अनीदृश साधुसमीक्षया ॥ १ ॥

अथ ज्ञातृपुत्रमहावीरजैनसंघीया–संस्कृतटीकाकर्तुर्मंगलाचरणम् ।

ध्यायं ध्यायमशेषशक्रप्रमुखाऽमर्त्याऽर्चिताङ्घ्रिद्वयं,
मोक्षश्रीपरिणीतिसम्भवमहानन्दोल्लसन्मानसम् ।
श्रीवीरप्रभुमीश्वरं तदनु च ज्ञानप्रदं श्रीगुरुं,
नामं नाममशेषभव्यमहितं श्रीफूलचन्द्रो मुनिः १

श्रीमत्सूत्रकृताङ्गमध्यविलसत्सुश्लोकवीरस्तुते-
र्भव्यानां भवबन्धभेदमनसामानन्दसंवर्द्धिनीम् ।
कुर्वेऽहं विवृतिं तदर्थगतिकृद्भाषान्तरोद्भासितां,
तेन श्रीत्रिशलात्मजोऽन्तिमजिनः प्रीयात्समाराधितः

टीका—अपारापारसंसाराम्बुधौ परिभ्रमणं कुर्वतां प्राणिनां पुण्यकादिवशभिर्यतिरतिदुर्लभं मानुष्यं, तत्राप्यार्यदेश-कुलऽऽयु-शरीर-समग्रेन्द्रियमानुकूल्यसामग्रीसंयोगो दुर्लभतरः, तत्राप्यतिदुर्लभतमा श्रीजिनधर्मप्राप्तिः । सोऽयं जगतीतले श्रीसर्वज्ञोक्तधर्मः परममङ्गलः समस्तशारीरमानसादिदुःखोच्छेदकश्चाप्यस्ति । धर्मश्चासौ चतुर्धा दान-शीलतपोभावभेदात् , तत्र चतुर्णां धर्मभेदानां मध्ये सर्वश्रेष्ठो धर्मो दान-धर्मः, सर्वेष्वपि धर्मभेदेष्वन्वयधारित्वात् । तथाहि—लौकिके लोकोत्तरे च सर्वत्र दानप्रवृत्तिर्दृश्यते, श्रीमन्तस्तीर्थङ्करा अपि प्रथम वर्षीदानं दत्वा पश्चाद्दीक्षाव्रतं गृह्णन्ति; पुनश्च शीलधर्मेऽपि दानधर्मोऽविच्छिन्न एव, यतो ब्रह्मचर्यपालनप्रभावेऽसंख्यद्वीन्द्रियाणामसंख्यसम्मूर्छिमपञ्चे-न्द्रियाणां नवलक्षगर्भजपञ्चेन्द्रियाणां च कृते प्रतिदिन मप्रमत्तेनाऽ-भयदानं दत्तम्, तच्छीलस्याऽभ्यन्तरदानमास तेन गर्भादिदुःखनाशक-त्वादेति व्यवच्छिन्नतया हि शीलेऽपि दानस्य मुख्यत्वं । तथैव तपो धर्मेऽपि दानमन्तर्भवति, यतो षड्जीवनिकायविराधनया च आहारो निष्पाद्यते, परन्तूपवासादितपसि कृते तु तेभ्योऽभयदानं भवत्य तस्मा-त्तपस्यपि दानमन्तर्भूतम् । भावधर्मे तु सुतरामेव, यत 'परमकरु-णया जीवाजीवाऽऽदिसदनपरिणतिर्भावः' तत्राऽप्यभयप्रदानद्वारा दानमेव पर्य्यवस्यति, जैनमुनयोऽपि प्रतिदिनं देशनादानं ज्ञानशिक्षादानं च ददति; अतो दानस्य त्रिष्वप्यन्तर्भावान्मुख्यतया प्रथम दानस्योपादानं

कृतम् । परं तद्भावपूर्वक हि सफलतामेति । दानादिरूपं हि धर्म्मरत्नं प्राप्य सुकुलोत्पत्तिसमस्तेन्द्रियसामग्र्याद्युपेतेनाऽनेकान्तवादरूपमार्हतदर्शनपरिज्ञाय चाशेषकर्म्मोच्छित्तयेऽवश्यं प्रयतितव्यं भव्येनेति । परन्तु कर्म्मोच्छेदश्चापि सम्यग्विवेकसव्यपेक्षोऽसावपि ह्याप्तोपदेशमन्तरेण न सुलभः, आप्तश्चात्यन्तिकादोषक्षयात्, स चार्हन्नेव, स हि श्रीज्ञातृपुत्रमहावीरचरमतीर्थंकरस्तस्य स्तुतौ कृतयत्नोऽसीति, कोविदमुख्यैरिह जगति तस्य गुणवर्णनं बहुधा कृतं परन्त्वहमपि तद्गुणवर्णनोत्कटेच्छया तरलीकृतः सम्यग्दर्शनबलेन क्षयोपशमबलेन च किञ्चिद्विवरीतुं यतिष्ये । किमनन्तमाकाशे पक्षिराजगतं सम्यगवगम्य तेनैव पथा शलभो गन्तुं न वाञ्छति ? वाञ्छत्येवैवमनया रीत्याऽहमप्यल्पज्ञप्रायः परं किञ्चिद्धि श्रीसूत्रकृताङ्गसूत्रे यज्ज्ञातृपुत्रमहावीरस्तुतिनामाध्यायस्य व्याख्यां वितनोमि, तद्वीरकृपयैव, न ममाल्पज्ञस्य माहात्म्येनेति । अथ श्रीमन्महावीरस्य प्रभोर्गुणा निगद्यन्तेऽतोऽत्र जम्बूनामधेयोऽन्तेवासी सुधर्म्माणं धर्म्माचार्यं आ=मर्यादया तद्विषयविनयरूपया चर्य्यते सेव्यन्ते जिनशासनोन्नत्यर्थोपदेशकतया तदाकाङ्क्षिभिरित्याचार्यास्तमाचार्य्यम्; उक्तंच—

सुत्तत्थविऊ लक्खणजुत्तो, गच्छस्स मेढिभूओ य,
गणतत्तिविप्पमुक्को अत्थं वाएइ आयरिया ॥ १ ॥

संस्कृतच्छाया—

सूत्रार्थविल्लक्षणयुक्तो, गच्छस्यालम्बनभूतश्च ।
गणतप्तिविप्रमुक्तः सन्नर्थं वाचयत्याचार्या इति ॥

अथवा आचारो ज्ञानाचारादिः पंचधा, आ=मर्यादया वा चारो विहार आचारस्तत्र साधवः स्वयं करणात्प्रभाषणात्प्रदर्शनाच्चेत्याचार्याः । आह च—

पंचविहं आयारं, आयरमाणा तहा पयासंता,
आयारं दंसंता, आयरिया तेण वुच्चंति ॥ १ ॥

संस्कृतच्छाया—

पञ्चविधमाचारमाचरमाणास्तथा प्रकाशयमानाः ।
आचारं दर्शयन्त आचार्यास्तेनोच्यन्त इति ॥

इति च विशेषावश्यके—

अथवा आ=ईषत् अपरिपूर्णा इत्यर्थः, चारा हेरिका ये ते आचाराः, चारकल्पा इत्यर्थः, युक्तायुक्तविभागनिरूपणनिपुणा विनेया अतस्तेषु साधवो यथावच्छास्त्रार्थोपदेशकतया इत्याचार्याः । एषामाचारोपदेशकत्वोपकारित्वात्, तमाचार्यम् । *द्वादशाङ्गशास्त्राध्यापयितारमित्यर्थः । "मन्त्रव्याख्याकृदाचार्य इत्यमर" । मोक्षमार्गोपदेष्टरि, श्रीधर्मगुरौ "इति अभिधानचिन्तामणि" । अथवा=

---

* समवायाङ्गसूत्रस्थो द्वादशाङ्गानां परिचयः संक्षिप्यात्र उद्धृतः स चैवम् ।

आचाराङ्ग—आयारेणं समणाणं निग्गंथाणं आयार-गोयर-विणय-वेणइय-ठाण-गमण-चंकमण-पमाण-जोग-जुंजण-भासा-समिति-गुत्ति-सेज्जो-वहि-भत्त-पाण-उग्गम-उप्पाय-एसणा-विसोहि-सुद्धासुद्धग्गहण-वय-नियम-तवो-वहाणसुप्पसत्थमाहिज्जइ × × × × पढमे अंगे दो सुयक्खंधा पणवीसं अज्झयणा पंचासीई उद्देसणकाला पंचासीई समुद्देसणकाला अट्ठारसपय-सहस्साइं ।

भावार्थ—समवायांगसूत्रगत द्वादशांगी वाणीका संक्षेपसे इस प्रकार परिचय उद्धृत किया जाता है ।

आचारांग—आचारांग सूत्रमें इस प्रकार के विषयों का वर्णन किया गया है यथा—श्रमण निर्ग्रन्थ सुप्रशस्त आचार, गोचर (भिक्षाविधि) विनय वैनयिक कायोत्सर्गादि सुन्दर और एकान्त स्थान विहारभूम्यादि गमन चंक्रमण अर्थात् टहलना या शारीरिक श्रम दूर करने के लिए उपाश्रयमें जगह वसति में गमन विश्रम आहारादि खाद्य पेय पदार्थों का माप स्वाध्यायादि

'स्वयमाचरते शिष्यानाचारे स्थापयत्यपि । आचिनोति हि शास्त्रार्थमाचार्यस्तेन कथ्यते' । इति कुलार्णवः । "आम्नायतत्त्वविज्ञानाच्चराचरसमानतः । यमादियोगसिद्धत्वादाचार्य इति कथ्यते" ॥ १ ॥ इति शाकरे ॥ अतोऽत्र जिनधर्म एव मन्त्रस्तस्य व्याख्याकृत्, श्रीमान् सुधर्माचार्य इति भावः । तं सुधर्म्माचार्यं प्रति श्रीमन्महावीरचरमतीर्थकृद्गुणान् पृष्टवान्, विनयेनेति शेषः "सन्मतिर्महतिर्वीरो, महावीरो-

---

नियम, नियोग, भाषा समिति, गुप्ति, शय्या, उपधि, भक्त, पान, उद्गमादि (उद्गम, उत्पाद, एषणा) दोषोंकी विशुद्धि, शुद्धाशुद्धग्रहण, व्रत, नियम, तप और उपधान ।

प्रथम सूत्र आचारांग में दो श्रुतस्कन्ध, ८५ उद्देशनकाल, ८५ समुद्देशनकाल, तथा १८००० पद संख्या है ।

सूत्रकृतः—सूअगडे ण ससमया सूइज्जति, परसमया सूइज्जन्ति, स-परसमया सूइज्जति, जीवा सूइज्जति' अजीवा सूइज्जति, जीवाजीवा सूइज्जति, लोगे सूइज्जति, अलोगे सूइज्जति, लोगालोगे सूइज्जति, सूअगडेण जीवाजीवे पुण्णपावा सवसवरनिज्जरणावधमुक्खावसाणा पयत्था सूइज्जति । × × × × × असीइस्स किरियावाइयसयस्स, चउरासीए अकिरियवाईण, सत्तट्ठीए अण्णाणियवाईण, वत्तीसाए वेणइअवाईण, तेतीस उद्देसणकाला, तेतीस समुद्देसणकाला, छत्तीस पदसहस्साइ ।

सूत्रकृतः—सूअगडाग (सूत्रकृताग) में प्ररूपित विषय इस प्रकार हैं । स्वसिद्धान्त, परसिद्धान्त, स्व-परसिद्धान्त, जीव, अजीव, जीवाजीव, लोक, अलोक, लोकालोक, जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, वध और मोक्ष तकके सब पदार्थ, इतर दर्शन मोहित नवीन संदिग्ध दीक्षितकी बुद्धिको शुद्ध करनेके लिए १८० क्रियावादी के मत ८४ अक्रिया वादीके मत, ३२ विनयवादीके मत, अज्ञानवादीके ६७ मत, सब मिलकर ३६३ अन्यदृष्टिके मतोंका परिक्षेप करके स्वसमय स्थापन,

सूत्रकृतांग सूत्रमें दो श्रुत-स्कध हैं, २३ अध्याय हैं, ३३ उद्देशन काल हैं, ३३ समुद्देशन काल हैं । ३६००० पद सख्या है ।

ऽन्त्यकाश्यप । नामान्वयो वर्धमानो, यतीर्थमिह साम्प्रतम् ।" इति धनंजयनाममालायाम् । अथाऽऽगमेऽपि भगवान् सुधर्मास्वाम्येवं गुणविशिष्टो 'नायपुत्तो महावीर इति' कथितवांश्च मां प्रतीति शेषः । एवं चासौ वर्धमानोऽर्हन् "सर्वज्ञो वीतरागोऽर्हन्, केवली धर्मचक्रभृत्" इति धनंजयः' । विशदस्य संसारस्य सांसारिकविषयसंस्पर्श· सञ्चन्दनन-

---

स्थानांगः—ठाणेणं ससमया ठाविज्जंति परसमया ठाविज्जंति ससमयपरसमया ठाविज्जंति जीवा ठाविज्जंति अजीवा ठाविज्जंति जीवाजीवा ठाविज्जंति लोगा ठाविज्जंति अलोगा ठाविज्जंति लोगालोगा ठाविज्जंति × × × × × ठाणस्स णं एगे सुयक्खंधे दस अज्झयणा एगवीसं उद्देसणकाला एगवीसं समुद्देसणकाला बावत्तरिं पयसहस्सं ।

स्थानांगः—स्थानांग सूत्र में निरूपण किए हुए ये विषय हैं । स्वसमय, परसमय स्व—परसमय जीव अजीव जीवाजीव लोक अलोक लोकालोक का स्थापन

तीसरे (स्थानांग) अंग में पांच श्रुतस्कन्ध दस अध्ययन २१ उद्देशनकाल २१ समुद्देशनकाल और ७२ पद संख्या है ।

समवायांगः—समवाएणं ससमया सूइज्जंति परसमया सूइज्जंति ससमयपरसमया सूइज्जंति समवाएणं एगाइयाणं एगट्ठाणं एगुत्तरियं परिवुड्ढिए, दुवालसंगस्स य गणिपिडगस्स पल्लवग्गे समणुगाइज्जइ, × × × × × समवाए णं एगे अज्झयणे एगे सुयक्खंधे एगे उद्देसणकाले एगे समुद्देसणकाले एगे चउयाले पयसहस्से ।

समवायाङ्गः—समवायांगमें स्वसिद्धान्त परसिद्धान्त स्व-परसिद्धान्त और एक संख्यासे लेकर अविच्छिन्नसंख्यात्मक पदार्थोंका वर्णन एकोत्तरिक परिवृद्धिपूर्वक प्रतिपादन है, अर्थात् प्रथम एकसंख्यक पदार्थोंका निरूपण करके फिर द्विसंख्यक पदार्थों का वक्तव्य है । इस क्रमसे प्रतिपादन करने के बाद द्वादशांग गणिपिटकके पर्यायोंका प्रतिपादन किया गया है । चतुर्थ समवाय (अंग) में एक अध्याय एक श्रुत स्कन्ध एक उद्देशन काल, एक समुद्देशन काल और एक लाख चवालिसहजार पद संख्या है ।

नितादेरिति यावज्जयं तिरस्क्रियां चकार। "विष्टपं भुवनं लोको जगदिति कोषः" । "परिभवः पराभवस्तिरस्क्रियेति कोषः" । अतो

व्याख्याप्रज्ञप्तिः—(भगवती) विआहेणं ससमया विआहिज्जंति, परसमया विआहिज्जति, ससमय-परसमया विआहिज्जंति, जीवा विआहिज्जति, अजीवा विआहिज्जति, जीवाजीवा विआहिज्जति, लोगे विआहिज्जंति, अलोगे विआहिज्जति, लोगालोगे विआहिज्जति, विआहे ण नाणाविहसुरनरिंदरायरिसिविविहससइअ पुच्छिआण, जिणेणं वित्थरे ण, भासिआण, दव्वगुण-खित्त-काल-पज्जव-पदेस-परिणाम-जहत्थि अभाव अणुगम-निक्खेव-णय-प्पमाण सुनिउणोवक्कम विविहप्पकारपगडपयासिआण ससारसमुद्दरुंदउत्तरणसमत्थाण, सुरवइसपूजिआण, भवियजणपयहिअयाभिनंदिआणं, तमरयविद्धंसणाण, सुदिठ्ठदीवभूअईहामतिवुद्धिवद्धमाणाण छत्तीससहस्समणूणया ण वागराणाणं दसणाओ, सुअत्थवहुविहप्पगारा, सीसहिअत्था × × × × × पचमे अगे एगे सुअक्खधे, एगे साइरेगे अज्झयणसये, दसउद्देसगसहस्साइ, दससमुद्देसगसहस्साइं, छतीस वागरणसहस्साइ, चउरासीइ पयसहस्साइ ।

व्याख्याप्रज्ञप्तिः—(भगवती) सूत्र में स्वसमय, परसमय, जीव, अजीव, जीवाजीव, लोक, अलोक, लोकालोक, इत्यादि कथनके अतिरिक्त, भिन्नभिन्न प्रकारसे देव, राजा, राजर्षि, और अनेक प्रकारके सन्दिग्घ पुरुषोंके पूछे हुए प्रश्नोंका जिनेन्द्रदेवने विस्तारपूर्वक जो उत्तर दिए हैं । और वे उत्तर द्रव्य, गुण, क्षेत्र, काल, पर्य्येव, प्रदेश और परिणाम के अनुगम, निक्षेप, नय, प्रमाण और विविध तथा सुनिपुण उपक्रम पूर्वक यथास्तिभावके प्रतिपादक हैं। जिससे लोक और अलोक दोनों प्रकाशित हैं । जो विशाल ससार समुद्रसे पार कर देनेमें समर्थ हैं। इन्द्रों द्वारा पूजित हैं, भव्य लोकोंके हृदयके अभिनन्दक हैं, अन्धकार रूप मैलके नाशक हैं। सुन्दर और दर्शनीय हैं, दीपक की तरह वस्तुका तथ्य निर्णय देने वाले हैं । ईहा, मति, और बुद्धिके वढानेवाले हैं, जिनकी सख्या ३६००० में पूर्ण होती हैं, और जो उत्तरोंके उपनिवन्धसे वहुत प्रकारके श्रुतार्थोंके समुदायरूप शिष्योंके हितार्थ गुणहस्तरूप हैं । पचम अग (भगवती) सूत्रमें एक श्रुतस्कन्ध, साधिक अति उत्तम सौ १०० अध्याय हैं। दशहजार उद्देशक, १०००० समुद्देशक, ३६००० प्रश्न और ८४००० पद सख्या है ।

वीर' संसारं यथा जितवान्, वयमपि तथैव तज्जयाय प्रयत्नं कुर्म्मः ।
भगवन्! बहुविधां नरकविभक्तिं च श्रुत्वा संसारादुद्विग्नमनसः 'कैनेयं
नरकविभक्तिः प्रतिपादिता' इति माममाक्षुरिति, पुनश्चैवं भूतो धर्म

ज्ञाता-धर्मकथांगः—नाया-धम्म-कहासु णं नायाणं नगराइं, उज्जाणाइं, वणसण्डा रायाणो अम्मापियरो समोसरणाइं, धम्मायरिया धम्मकहाओ इहलोइय-परलोइय-इड्ढिविसेसा भोग परिच्चाया पव्वज्जाओ सुयपरिग्गहा तवोवहाणाइं, परियागा संलेहणाओ भत्तपच्चक्खाणाइं, पाओवगमणाइं, देवलोगगमणाइं, सुकुलपच्चाया पुण बोहिलाभो अंतकिरियाओ य आघविज्जंति × × × × × दसु अंगे दो सुयक्खंधा एगूणवीसं अज्झयणा ते समासओ दुविहा पन्नत्ता तंजहा चरित्ता य कप्पिया य दस धम्म कहाण वग्गा तत्थणं एगमेगाए धम्म कहाए पंच पंच अक्खाइयासयाइं, एगमेगाए अक्खाइयाए पंच पंच उवक्खाइयासयाइं, एगमेगाए उवक्खाइयाए पंच पंच अक्खाइय उवक्खाइयासयाइं, एवमेव सपुव्वावरेणं अद्धुट्ठाए अक्खाइयकोडिओ भवंतीतिमक्खायाओ एगूणवीसं उद्देसणकाला एगूणवीसं समुद्देसणकाला संखेज्जाइं पयसहस्साइं, ।

ज्ञाताधर्मकथा—इस सूत्रमें उदाहरणभूत पुरुषों के नगर उद्यान वनखण्ड राजा माता पिता समवसरण धर्म्माचार्य धर्म्मकथा ऐहिक और पारलौकिक ऋद्धिविशेष भोगपरित्याग प्रव्रज्या श्रुत परिग्रह, तप उपधान पर्याय संलेखना भक्तप्रत्याख्यान पादपोपगमन देवलोकगमन फिर उत्तम कुल में अवतार, पुनर्जन्म बोधिलाभ और अन्तक्रिया इत्यादि अनेक विषयोंका कथन विस्तारसे कियागया है। छठवें ज्ञाता धर्म्मकथांगमें दो श्रुतस्कन्ध हैं जिनमें १९ अध्याय हैं वे अध्याय चरित और कल्पित भेदसे दो तरहके बताए हैं। धर्मकथाके १ वर्ग हैं। जिसमें एक-एक धर्म्म कथामें ५ — ५ आख्यायिकाएं हैं एक एक आख्यायिकामें ५ —५ उपाख्यायिकाएं हैं एक एक उपाख्यायिकामें ५ —५ आख्यायिकोपाख्यायिकाएं हैं और फिर इसी प्रकार से सर्वोपर (सबमिलकर) साढे तीन क्रोड आख्यायिकाएं हो जाती हैं। इसमें १९ उद्देशनकाल, तथा १९ समुद्देशनकाल हैं, और संख्यात लाख पद हैं, यानी ५ लाख ७६ हजार पद हैं।

संसारोत्तारणसमर्थे. केन प्रतिपादितः) इत्येतद्ब्रवो मामिति भावः । ते के इत्याकाक्षायामाह श्रमणा =साधवो निर्ग्रन्थादयः । "तपस्वी

उपासकदशांगः—उवासगदसासु ण उवासगाणं नगराइ, उज्जाणाइं, वणखडा, रायाणो, अम्मापियरो, समोसरणाइं, धम्मायरियाइ, धम्मकहाओ, इहलोअ, परलोइअइड्ढिविसेसा, उवासयाणं, सीलव्वय वेरमणगुणपच्चक्खाण, पोसहोववासपडिवज्जिआओ, सुअपरिग्गहा, तवोवहाणाइं, पडिमाओ, उवसग्गा, सलेहणा, भत्तपच्चक्खाणाइं, पाओवगमणाइ, देवलोगगमणाइ, सुकुलपच्चाया, पुणो बोहिलाभो, अतकिरिआओ, आघविज्जति, × × × × × सत्तमे अगे एगे सुअक्खधे, दशअज्झयणा, दशउद्देशणकाला, दश समुद्देशणकाला, सखेज्जाइं पयसहस्साइ ।

उपासकदशांगः—इसमें उपासकोंके (श्रावकोंके) नगर, उद्यान, वनखड, राजा, मातापिता, समवसरण, धर्माचार्य, इसलोक और परलोककी ऋद्धिविशेषका तथा श्रावकोंका शीलव्रत, विरमण, गुणव्रत, प्रत्याख्यान, पौषधोपवास, श्रुतपरिग्रह, तप, उपधान, प्रतिमा, उपसर्ग, सलेखना, भक्तप्रत्याख्यान, पादपोपगमन, देवलोकगमन, श्रेष्ठकुलजन्म, बोधिलाभ और अन्तक्रियातकका वर्णन है × × सातवें उपासकदशागमे एक श्रुतस्कन्ध, दश अध्ययन, दश उद्देशनकाल, दश समुद्देशनकाल, और सख्यातलाखपद अर्थात् ११५२००० पदोकी सख्या है ।

अन्तकृद्दशाग.—अतगडदसासु णं अतगडा ण नगराइ, उज्जाण, वणखड, राया, अम्मापिय, समोसरण, धम्मायरिय, धम्मकहा, इहलोइअ, परलोइआ, इड्ढिविसेसा, भोगपरिच्चाया, पव्वज्जाओ, सुअपरिग्गहा, तवोवहाणाइं, पडिमाओ, बहुविहाओ, खमा, अज्जव, मद्दवं, सोअ च सच्चसहिअं, सत्तरसविहोसजमो, उत्तम च बभ, अकिंचणया, तवो, किरियाओ, समिइगुत्तिओ चेव, तह अप्पमायजोगो, सज्झाय ज्झाणेण य, उत्तमाण दोण्हपि, लक्खणाइ, पत्ताणय सजम, जिअपरिसहाण, चउव्विहकम्मक्खवियम्मि, जह केवलस्स लभो, परियाओ जत्तिओ य जह पालिओ मुणिहिं, पाओवगओ जहिं, जतियाणि भत्ताणि, छेअइत्ता, अतगडो मुणिवरो, तमरयोघविमुक्को, मुक्खसुहमणंतर, च पत्ता ए ए अन्नेय एवमाइत्थ वित्थरेण परूवेइ, × × × × × अट्ठमे अगे

संयमी यमी, योगी साधुश्च तापसः । ऋषिर्यतिर्मुनिर्भिक्षु संयतः श्रमणो व्रतीति" धनञ्जय । "यतिभेदे, साधुभेदे वा, भिक्षाजीविनि, शरीरभेदे चेति शब्दस्तोममहानिधि" । "तपस्विनि, श्रमण परिव्राट्, संन्यासीति पूज्यपादाः" । जैनभिक्षुके, निर्ग्रन्थे चापि, 'श्राम्यतीति

एगे सुयक्खंधे दस अज्झयणा सत्तवग्गा दस उद्देसणकाला दस समुद्देसण काला संखेज्जाइं पयसहस्साइं,

अन्तकृद्दशांग—अन्तकृद्दशांग सूत्रमें अन्तकृत् (तीर्थंकरादि) पुरुषोंके नगर उद्यान वनखंड तथा मातापिता समवसरण धर्माचार्य धर्मकथा ऐहिक और पारलौकिक ऋद्धि, भोगपरित्याग, प्रव्रज्याग्रहण श्रुतग्रहण, तप उपधान भिक्षुप्रतिमापालन क्षमा आर्जव मार्दव सत्य सहित शौच सत्तरह प्रकारका संयम उत्तम ब्रह्मचर्य आकिंचनता तप क्रिया समिति गुप्ति, अप्रमादयोग उत्तमस्वाध्याय ध्यान और कायोत्सर्ग का स्वरूप उत्तम संयम-प्राप्ति और परिषह जीतनेवाले पुरुषोंका चारप्रकारके घातिक कर्म क्षय होने से केवलज्ञान प्राप्त करना (अनन्त चतुष्टयकी प्राप्ति) मुनि पर्यायके पालन करनेकी अवधि पादपोपगत पवित्र मुनिवर जितने भक्तों (भोजन समयों) को मिटाकर जहां अन्तकृत् हुए वह विवरण और भी मुनिगण कि जो मुक्तिके उत्तम सुखोंको प्राप्त हुए, इत्यादि इन कथन आठवें (अंतगड) अंगमें एक श्रुतस्कन्ध के ही अन्दर है इसके दस अध्ययन हैं, सात वर्ग हैं दस उद्देशन काल हैं दस समुद्देशन काल हैं, और संख्यात लाख पद हैं, अर्थात् २३ ४   पद संख्या है ।

अनुत्तरोपपातिकदशांग—अणुत्तरोववाइय दसासु णं अणुत्तरोववाइयाणं नगराइं, उज्जाणाइं, चेइयाइं, वणसंडा रायाणो अम्मापियरो समोसरणाइं धम्मायरिया धम्मकहाओ इहलोय-परलोयइड्ढिविसेसा भोगपरिच्चाया पव्वज्जाओ सुयपरिग्गहाओ तवोवहाणाइं, परियागो पडिमाओ संलेहणाओ भत्तपाण-पच्चक्खाणाइं, पाओवगमणाइं, अणुत्तरोववाए ओ सुकुल पच्चाया पुणोबोहिलाभो अंतकिरियाओ आघविज्जंति + + + + + नवमे अंगे एगे सुयक्खंधे दस अज्झयणा तिण्णि वग्गा दस उद्देसणकाला दस समुद्देसण-काला संखेज्जाइं पयसहस्साइं,

श्रमणः ।' इति "शब्दार्थचिन्तामणि" श्राम्यति परदुःखं जानातीत्यपि ।' च पुनर्ब्राह्मणाः ब्रह्मचर्याद्यनुष्ठाननिरताः । "द्विजात्यग्रजन्म, भूदेववाडवाः । विप्रश्च ब्राह्मण" इत्यमरः । ब्रह्म परमात्मानं

अनुत्तरोपपातिकः—इस सूत्रमें अनुत्तरोपपातिकोंके नगर, उद्यान, वनखड, राजा, मातापिता, समवसरण, धर्म्माचार्य, धर्म्मकथा, इत्यादिकका वर्णन है, और ऐहिक तथा पारलौकिक ऋद्धिविशेष, भोगपरित्याग, प्रव्रज्याग्रहण, श्रुतपरिग्रह, तप, उपधान, पर्य्याय, प्रतिज्ञा, सलेखना, भक्तपानप्रत्याख्यान, पादपोपगमन, श्रेष्ठकुलमें पुनर्जन्म, वोधिलाभ, अन्तक्रिया, इत्यादि विषयोंका वर्णन है । × × नवम (अनुत्तरोपपातिक) अगमें एक श्रुतस्कन्ध, दश–अध्याय, तीन वर्ग, दश उद्देशनकाल, दशसमुद्देशनकाल, संख्यातलाख पद–अर्थात् ४६०८००० पद हैं ।

प्रश्नव्याकरण—पण्हवागरणेसु अट्ठुत्तर अपसिणसयं, अट्ठुत्तरं पसिणापसिणसयं, विज्जाइसया, नागसुवण्णे हिं सर्द्धि दिव्वा सवाया आघविज्जंति, विम्हयकराणं अइसयमइ अकालदमसमतित्थकरुत्तमस्स ठिइकरणकारणाणं, दुरहिगमदुरवगाहस्स, सव्वसव्वणुसम्मअस्स, अबुदजणवोहकरस्स, पच्चक्खपच्चयकराण, पण्हाण, विविहगुणमहत्था, जिणवरप्पणीआ आघविज्जति, + + + + दसमे अगे एगे सुअक्खंधे, पणयालीसं उद्देसणकाला, पणयालीस समुद्देसणकाला, सक्खेज्जाणि पयसहस्साणि ।

प्रश्नव्याकरण—इस सूत्रमें एकसो आठ प्रश्न, १०८ अप्रश्न, १०८ प्रश्नाप्रश्न, विद्याओं का अतिशय, और नागकुमार तथा सुवर्णकुमारके साथ होने वाले दिव्य सवाद का वर्णन है । × × × दशम (प्रश्नव्याकरण) अगमें, एक श्रुतस्कन्ध, ४५ उद्देशनकाल, ४५ समुद्देशनकाल, और सख्यात लाख पद अर्थात् ९२१६००० पद सख्या है ।

विपाकश्रुत—विवागसुए णं सुक्कड–दुक्कडा ण कम्माणं फलविवागे आघविज्जति, से समासओ, दुविहे पन्नते तजहा; दुहविवागे सुहविवागे चेव, तत्थण दस दुहविवागाणि, दस सुहविवागाणि से किं तं दुहविवागाणि ? दुहविवागे सु णं दुहविवागाण नगराइं, उज्जाणाइ, वणखंडा, रायाणो, अम्मापियरो, समोसरणाइ, धम्मायरिया, धम्मकहाओ, नगरगमणाइं, ससारपबधे, दुहपरंप-

सिद्ध जानातीति ब्राह्मण । परब्रह्मणे ब्राह्मण इति शब्दस्तोममहानिधि । ब्राह्मणलक्षणानीत्थं ब्रुवन्ति वृद्धाः । यथा—

'क्षमा, तपो, दया, दान, सत्य, शौच, व्रतम् ।
विद्याविनयसम्पन्न प्रथम ब्रह्मलक्षणम् ॥ १ ॥
शान्तो दान्त सुशीलश्च, सर्वभूतहिते रत ।
क्रोधावेश न जानाति, द्वितीय ब्रह्मलक्षणम् ॥ २ ॥
निर्ममो निरहङ्कार पापत्याग करोति य ।
रागद्वेषविनिर्मुक्तस्तृतीय ब्रह्मलक्षणम् ॥ ३ ॥
परद्रव्य यथा दृष्ट्वा, पथि गेहेऽथवा वने ।
अदत्त नैव गृह्णाति, चतुर्थ ब्रह्मलक्षणम् ॥ ४ ॥
मद्यमांसमधुत्यागी—त्यक्तोदुम्बरपञ्चक ।
भुनक्ति न निशाहारं, पञ्चम ब्रह्मलक्षणम् ॥ ५ ॥

रायाणो य आघविज्जंति से तं दुहविवागाणि; से किं तं सुहविवागाणि ? सुहविवागेसुणं सुहविवागाणं नगराइं, उज्जाणाइं, वणसंडा रायाणो अम्मापियरो समोसरणाइं, धम्मायरिया धम्मकहाओ इहलोइय–परलोइय इड्ढिविसेसा भोगपरिच्चाया पव्वज्जाओ सुयपरिग्गहा तवोवहाणाइं, परियागा पडिमाओ संलेहणाओ भत्तपाणपच्चक्खाणाइं, पाओवगमणाइं, देवलोगगमणाइं, सुकुल पच्चाया पुणबोहिलाहो अंतकिरियाओ आघविज्जंति × × × × × एक्कारसमे अंगे वीसं अज्झयणा वीसं उद्देसणकाला वीसं समुद्देसणकाला संखेज्जाइं पयसहस्साइं ।

विपाकश्रुत—इसमें शुभकर्मोंका और दुष्कृत कर्मोंका फलविपाक-परिणाम बताया गया है । यह फलविपाक संक्षेपसे दो प्रकारका है । यथा दुःखविपाक और सुखविपाक । जिनके १ —१ भेद हैं । दुःखविपाकमें दुःखविपाकवालोंके नगर, उद्यान वनखंड राजा, मातापिता, समवसरण, धर्माचार्य, धर्मकथा, भवभ्रमण संसार प्रबन्ध दुःखपरम्पराका और वर्णन है ।

'कैश्चित्तु ब्राह्मणा दशधा प्रोक्तास्त एवम्'

यथा—देवो द्विजो मुनी राजा, वैश्य' शूद्रो विडालक. ।
खरो म्लेच्छश्च चाण्डालो, विप्रास्तु दशधा मताः ॥ १ ॥

देवः—एकाहारेण सन्तुष्टो, मद्यमासविवर्जित' ।
पारीणस्तत्त्वविज्ञाने, स विप्रो देव उच्यते ॥ १ ॥

द्विजः—यामिको नियमी चैव, संयमी सयतेन्द्रिय' ।
समो दमक्षमायुक्तो द्विजो विप्र स उच्यते ॥ १ ॥

मुनिः—रूक्षाऽऽहारी दिवाहारी, वनवासे रतः सदा ।
कुरुतेऽहर्निश ध्यान, स विप्रो मुनिरुच्यते ॥ १ ॥

नृपः—अश्वादिवाहनेच्छुर्यो विग्रहे चातिवर्तते ।
आरंभः शासक. शूरः, स विप्रो हि नृप स्मृत ॥ १ ॥

वैश्यः—कृषिवाणिज्यगोरक्षा, न्याय सेवा करोति य. ।
धातूना सग्रही नित्य, स विप्रो वैश्य उच्यते ॥ १ ॥

सुखविपाकमे सुखविपाकवालोंके नगर, उद्यान, वनखड, राजा, माता-पिता, समवसरण, धर्म्माचार्य, धर्म्मकथा, इसलोक परलोक सम्बन्धी ऋद्धि विशेष, भोगपरित्याग, प्रव्रज्याग्रहण, श्रुतपरिग्रह, तप, उपधान, पर्य्याय, प्रतिज्ञा, सलेखना, आहारपानीका त्याग, पादपोपगमनसस्तारक, देवलोक-गमन, सुकुलावतार, बोधिलाभ और अन्तक्रिया तकका अनुक्रमसे वर्णन है। इसमें २० अध्याय हैं। २० उद्देशनकाल हैं, २० समुद्देशनकाल हैं। और सख्यात लाख अर्थात् १, ८४, ३२००० पद सख्या है।

दृष्टिवादः-दिट्ठिवाएण, सव्वभावपरूवणया, आघविज्जति से समासओ पंच विहे पण्णत्ते, त जहा-परिकम्म, सुत्ताइ, पुव्वगय, अणुओगो, चूलिआ, ।

दृष्टिवाद—इसमें सब पदार्थों की प्ररूपणा है, और वह दृष्टिवाद परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, (पूर्व) अनुयोग और चूलिका इन भेदोंसे ५ प्रकारका कहा है।

शूद्रः—अक्षालवणकर्म चैव, विक्रय्य व्यापारमग्रकः ।
विक्रेता मधमांसानां, स विप्र शूद्र उच्यते ॥ १ ॥
बिडालः—भक्ष्याभक्ष्य न जानाति, भक्ष्य पाप करोति च ।
परस्त्रीगमन कृत्वा, बिडालः स हि प्रोच्यते ॥ १ ॥
म्लेच्छः—वापीकूपतडागानामपूर्तमभक्ष्यसंग्रहः ।
परदुःख न जानाति, विप्रो म्लेच्छ स कथ्यते ॥ १ ॥
चाण्डालः—अहिंसां नैव जानाति, सर्वदा प्राणिघातकः ।
वन दग्ध्वा कर्म कुर्यात्, विप्रश्चाण्डाल उच्यते ॥ १ ॥
खरः—शास्त्राध्ययनध्यानादिकर्मषट्कविवर्जित ।
आत्मसुखरते भोगी, खरो विप्रः स उच्यते ॥ १ ॥
वर्ज्यः—आच्छादयति परदोष, कुर्यात्स्वपापगोपनम् ।
शुन पुच्छमिव व्यर्थं, ब्रह्मकर्मविवर्जितः ॥ १ ॥
जन्मकाले भवेच्छूद्रो, वृद्धिकाले भवेद्द्विजः ।
शास्त्राभ्यासे भवेद्विप्रो, ब्रह्मविद् ब्राह्मण स्मृत ॥ १ ॥

स तथाऽऽगमो यथा—

कोहो य माणो य वहो य जेसिं,
मोस अदत्त च परिग्गह च ।
ते माहणा जाइविज्जाविहूणा,
ताइं तु खेत्ताइं सुपावयाइं ॥ १४ ॥

(संस्कृतच्छाया)

क्रोधश्च मानश्च वधश्च येषां मृषाऽदत्तं च परिग्रहं च ।
ते ब्राह्मणा जातिविद्याविहीनास्तानि तु क्षेत्राणि सुपापकानि ॥१४॥

उत्तराध्ययन अ० १२

[ब्राह्मणोचितश्रेष्ठयज्ञः]

सुसंवुडा पंचहिं संवरे हिं,
इह जीवियं अणवकंखमाणा ।
वोसट्ठकाया सुइचत्तदेहा,
महाजयं जयइ जन्नसेट्ठं ॥ ४२ ॥

सुसंवृताः पंचभिः संवरै-, रिह जीवितमनवकांक्षमाणाः ।
व्युत्सृष्टकायाः शुचित्यक्तदेहाः, महाजयं यजन्ते श्रेष्ठयज्ञम् ॥४२॥

उत्तराध्ययन अ० १२

[ब्राह्मणोचितस्नानतीर्थम्]

धम्मे हरए बम्भे संति तित्थे,
अणाविले अत्तपसन्नलेसे ।
जहिं सिणाओ विमलो विसुद्धो,
सुसीइभूओ पजहामि दोसं ॥ ४६ ॥
एयं सिणाणं कुसले हि दिट्ठं,
महासिणाणं इसिणं पसत्थं ।
जहिं सिणाया विमला विसुद्धा,
महारिसि उत्तमं ठाणं पत्ते ॥ ४७ ॥

संस्कृतच्छाया

धर्मो ह्रदो ब्रह्म शान्तितीर्थं, अनाविल आत्मप्रसन्नलेश्ये ।
यस्मिन् स्नातो विमलो विशुद्धः सुशीतीभूतः प्रजहामि दोषम् ॥४६॥
एतत्स्नानं कुशलैर्दृष्टं, महास्नानमृषीणां प्रशस्तम् ।
यस्मिन् स्नाता विमला विशुद्धा, महर्षय उत्तमं स्थानं प्राप्ताः ॥४७॥

तथाऽगारिणो=गृहवासिनः 'सदनं सद्म भवनं धिष्ण्यं वेश्माऽथ मन्दिरम्; गेहं निकेतनागारमिति' धनंजयः। आ–गृ, कर्मणि

यत् आगमुच्छतीति, प्राप्नोति वेति, आग आन्त गतावप् वेति आगारं गृहमस्यास्तीत्यागारी ते। आगारिणः क्षत्रियादयश्चेति भावः। परतीर्थिकाः परमतावलम्बिनः शाक्यादयश्चेति वा, ते सर्वेऽपि किं स्विदिति पृच्छन्ति स को योऽसावेन धर्मम्। नाना ध्यानागारमिविष्टमनालोकवान्। एवम् धारणे धातो मन्, "स्वस्व मैमस्त्रियां पुण्यमेयसी सुकृतं वृषः" इत्यमरः। 'वत्थुसहावो धम्मो' 'यतोऽभ्युदयो निःश्रेयसी स धर्मः दुर्गतौ प्रपततां प्राणिनां धारणात्धर्मं एकान्तहितमालोकवानिति। किमूत धर्ममनी दृशामतुलम्। कपोक्तवान्! साधुसमीक्षया सम्यगपेक्षि भावः ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—(समणा) भिक्षु (माहणा) ब्राह्मण (य) और (अगारिणो) अगार गृहस्थ (य) तथा (परतित्थिया) और और दैनतरमतावलम्बी (पुच्छिस्सु) पूछते कि—किन्होंने (साहुसमिक्खयाए) अच्छी तरह सामायिक समभाव (णेगंतहियं) सब प्रकारसे कल्याण और उद्धार करनेवाला (अणेलिसं) उपमा रहित (धम्मं) आत्म—धर्म (आहु) कहा है (से) वे (केइ) कौन थे ! ॥ १ ॥

भावार्थ—श्री सुधर्म्माचार्य भगवान्से उनके सदैव समीपमें रहनेवाले आयुष्मान् जंबू शिष्यने पूछा कि—हे आर्य्य! संसारसमुद्रसे पार करनेवाला एकान्त हितकारी एवं अनुपम आत्म—धर्म किसने प्रतिपादन किया है! मुझसे इस प्रकार अनेक भिक्षु—गृहस्थ एवं अन्यान्य—मतवालोंने प्रश्न किया है ॥ १ ॥

भावार्थदीपिका—इस संसारकी गहन वनमें घूमते फिरते प्राणियोंके लिए इस प्रान्तोंसे मनुष्यजन्मका मिलना अत्यन्त कठिन है इसके अतिरिक्त आर्यदेश [आर्य मोक्षम आर्य दृति, आर्य वेशभूषा आर्य पड़ोस आर्य घर बार आर्य भाषा] उत्तम कुल लम्बी आयु, आरोग्य शरीर, समस्त इन्द्रियोंकी इच्छानुकूल सामग्रियोंका संयोग मिलना तो और भी कठिन है परन्तु श्रीवीतराग भगवान्के धर्ममें प्रवृत्त होना सबसे अधिक दुर्लभ है, और जगत्के जीवोंको सर्वोत्कृष्ट धर्म ही कल्याण और मंगलमय करने वाला है। इसीसे मन जीवनके अनुपानसे शरीर और मन सम्बन्धी कर्म रोग नाश होते हैं, और यह धर्म श्रमणभगवान्वीर प्रभुने चार प्रकारका प्रतिपादन किया है। जो कि—दान शील तप और भावसे प्रशंसा प्राप्त है।

दान धर्म की विशेषता-

दानको सबसे प्रथम इसलिए कहा है कि यह दान धर्म पिछले तीन भेदोंमे भी समाया हुआ है, लोकोंमें इसलोक, तथा परलोककी अपेक्षासे दान देनेकी प्रणाली सबसे पुरानी है, श्रीमान् तीर्थंकर भगवान् सबसे पहले एक वर्ष दान देकर फिर दीक्षा लेते हैं।

शीलमें भी दान धर्मका समावेश-

शील धर्ममें भी दानधर्म ज्योंका त्यों समाया हुआ है, क्योंकि ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण करनेपर असख्य द्वीन्द्रिय, और असख्य सम्मूर्च्छिम पंचेन्द्रिय जीवोंको तथा नवलाख गर्भजपचेन्द्रिय जीवोंको ब्रह्मचर्य पालन करनेसे प्रतिवार अभयदान मिलता है। इतर शास्त्रकारोंने भी इसका वडा माहात्म्य लिखा है।*

शील व्रतको स्वीकार करके वीर्य (आत्मशक्ति) का रक्षण करता हुआ गर्भादिके जन्ममरण संबंधी कष्टोंसे मुक्त होजाता है, और मानो वह अपने को भी अभयदान देता है। *इससे स्पष्ट सिद्ध है कि शीलमें भी दान ही गर्भित है।*

तपमें भी दानधर्मका अन्तर्भाव-

शीलकी तरह तपश्चरण करनेमें भी दानधर्मकी आराधना छुपी हुई है। यह सब जानते है कि-छ कायकी विराधना (हिंसा या आरंभ) के विना भोजनका वनना असभव है। परन्तु साधक उपवासादि तप करनेपर इच्छाओंको रोकतेहुए छ कायका आरभ रोककर उस दिन अनन्त जीवोंको अभय दान देता है, अत. तप करनेसे भी दान धर्मका अनायासही पालन हो जाता है।

---

* एकरात्रोपितस्यापि, या गतिर्ब्रह्मचारिण ।
न सा क्रतुसहस्रेण, प्राप्तुं शक्या युधिष्ठिर ! ॥
(मार्कण्ड, ऋषि·)

भावार्थ—एक रात भर ब्रह्मचर्य पालन करने से भी जो उत्तम गति तथा श्रेष्ठ फल उस ब्रह्मचारी को मिलता है वह हे युधिष्ठिर! हजार यज्ञोंसे भी अप्राप्य है।

भावधर्म तो दान धर्म है ही–

भाव प्रवृत्तिको रोक कर करुणा पैदा करनेका नाम है। तथा जीव और अजीवकी आसमत्वयोगसे रक्षाकरना भाव है, वहां भी सबको मनकी दृष्टिसे अभयदान ही मिलता है। अतः प्राणीरक्षाका नाम ही भाव या भावशुद्धि है।

क्या साधु भी दान देता है?

जैन मुनि भी प्रतिदिन उपदेशदान ज्ञानदान शिक्षादान सदुपदेशरूप शिक्षा दान देकर मानव समाजपर महान् उपकार करते हैं। इसपर अनेक कभी यह भी कह देते हैं कि–साधुको अन्नदाता न कहकर स्वामी या राजाको ही अन्नदाता कहना चाहिए। साधु क्या कभी किसीको रोटी पानी दे सकता है? मगर इतना तो अवश्य समझ लेना चाहिए कि–क्या भोजन अन्न ही हो सकता है? और कोई वस्तु नहीं क्या जिससे ही तृप्ति होती है? यदि सच पूछा जाय तो आत्माकी खुराक अन्न पानी नहीं है। यह तो परवस्तु तथा शरीरको पोषण करनेवाली पौद्गलिकवस्तु है। और आत्माकी निजी खुराक तो उसका ज्ञान दर्शन चारित्र तप शम संवेग निर्वेद अनुकम्पा आस्तिक्य ही है। इस वास्तविक खुराकको प्राप्त करनेपर आत्माकी सदाके लिए तृप्ति हो जाती है। अतः पूज्य मुनिवर्य्य ज्ञान दर्शन चारित्रकी आत्मीय खुराक देनेके नाते अन्नदाता भी हो सकते हैं। और इस दानके सुन्दर धर्म मार्गके संचालक मुनि ही होते हैं क्योंकि दोनों प्रकारसे निर्ग्रन्थ हैं।

शील तप और भाव गुण रीतिसे दानमें ही छुपे हुए हैं। अत एव चारों धर्मोंमें पहले दानको प्रमुखस्थान प्राप्त है। परन्तु दान शील तप भी भावके सद्भावसे अर्थात् पवित्रभावरूपी मन्त्रस्वरूपके आनेपर सफल हो सकते हैं अन्यथा नहीं।

धर्मरत्न–

चतुर्विध अमूल्य नररत्न पाकर मोक्षफलप्राप्ति समस्त इन्द्रियादिक की अनुकूल सामग्री युक्त मानवका कर्तव्य है कि–यह अनेकान्तवादकी शैलीको समझकर जिनेन्द्रके धर्मरत्नका आश्रय पाकर आठकर्मरूप शत्रुओंको जीतनेका प्रयत्न करें।

कर्म नाश करनेकी कसौटी–

कर्मोंका नाश ज्ञान वैराग्य संयम नियम तपकी अग्निमें जलानेसे इस

प्रकार होता है जैसे अग्निमें सुवर्णका मल नाश होता है अत उपरोक्त साधनोंको साधकका कर्तव्य है कि उन्हें समझनेकेलिए सर्वज्ञप्रभुका उपदेश सुनना चाहिए। और आप्तका रहस्य जानना चाहिए। यह निस्संदेह है कि आप्त अठारह दोषों से रहित होते हैं। वे चार घनघातिक कर्म क्षय करके अनन्त चतुष्टय अर्थात् अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और वह अनन्तसुख देहावस्थामें भी प्राप्त कर सकते हैं। वे साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविकारूप चार धर्मतीर्थ स्थापन करनेके नाते तीर्थंकर कहलाते हैं। और धर्मका आद्य प्रयत्न करनेसे तथा अनन्त विभूति प्राप्त करनेपर वे असख्य देव और इन्द्रकी सेवा के योग्य होते हैं अत अर्हन् भी हैं। और इस वर्तमान अवसर्पिणी-कालके चतुर्थ-आरकमें हमारे इस भारत वर्षमें २४ अर्हन् हो गए हैं। जिनमें अन्तिम अर्हन् महावीर प्रभु हुए हैं।

वीर प्रभुकी स्तुति-

ज्ञातृपुत्र महावीर प्रभुका हमपर पूर्ण उपकार है। उनके उपकारों का भूलजाना कृतघ्नता है। उन्हें निर्वाण हुए यद्यपि २४६५ वर्ष होगए हैं तथापि उनका अनुकरण करनेके लिए उनके गुणोंका स्मरण करना, तथा उनकी स्तुति करना हमारा परम कर्तव्य है, अत आज उनकी स्तुतिरूप व्याख्या करनेकेलिए प्रयत्नशील हुआ हूं।

उनकी अनेक स्तुतिएँ और मेरा असामर्थ्य-

तत्वके अध्येताओंमें मुख्य विद्वानोंने उनके अनन्तगुणोंका अनेक उत्तम शब्दोंमें वर्णन किया है, परन्तु मैं भी अपने सम्यग्दर्शनके बलसे कुछ स्तुति करू मुझे ऐसी सूझ पैदा हुई है। यद्यपि मुझमें उन विद्वानों जैसी प्रतिभा तो नहीं, मगर मेरा उत्साह और भक्तिकी निर्भरता मुझसे बलात्कार प्रेरणा कर रही है। कारण जिस रास्तेसे गरुड अपनी चण्डगतिसे उडकर निकल गया हो क्या उसके पीछे एक छोटीसी तितलीको जानेकी इच्छा नहीं होती? अवश्य होती है।

इसी प्रकार अल्पज्ञप्राय मैं भी मानसोत्सुकता से भरपूर होकर ज्ञातपुत्र महावीर स्वामीकी स्तुति 'वीरस्तुति' सूत्रकृताग नामा सूत्रके छठवें अध्यायकी व्याख्याके बहाने अवश्य करसकता हू। मुझे आशा है कि उसमें मुझे सफलता

अवश्य प्राप्त होगी। क्योंकि मणिमें डोरा पिरोने की अपेक्षा उसका वेध करना कठिन होता है। अतः इनकी स्तुति रूप कृति तो पहलेसे ही विराजमान है किन्तु मैं तो इनकी स्तुतिरूप मणिको अपनी अनुभूत हुई बुद्धि रूप धागेके डोरेमें ही पिरोनेका सतत प्रयत्न करूंगा। और यह मेरी धनजीवकी शक्तिके कारण अधिक कठिन नहीं है। परन्तु यह सब प्रभुकी कृपा ही है। मेरी इसमें कुछ विशेषता नहीं है। क्योंकि उन्होंने २५ वर्ष पहले आत्म-कल्याण मार्ग भव्यात्माओंकेलिए परिमार्जित कर दिया है। इसमें मुझ सम अल्पमतिकी मजाल नहीं कि कुछ विशेषता पैदा कर सकूं, यह सब शक्ति उनकी ही बताई हुई तो है।

वीर प्रभु का गुण गान करते समय–
आरंभमें गुरु और शिष्यकी बातें।

अन्तिम तीर्थंकर ज्ञातनन्दन-महावीर प्रभुके गुणोंको जाननेकेलिए जिज्ञासु जम्बू थे जोकि एक सुयोग्य अन्तेवासी शिष्य थे वे वस्तुका निश्चय करनेमें सदैव सचेत रहते थे वे उनको पाकर असीम श्रद्धा और प्रतीति के साथ मनन करनेवाले महापुरुषों में से एक थे,

आचार्य और उनकी पहिचान

वे भगवान् सुधर्माचार्यकी सेवामें सदाकाल तत्पर रहते थे। सुधर्मा एक विशेष आचार्य तथा समस्त जैनसमाजके सच्चे नेता थे। वे चतुर समाजको हमेशा संपन्न और यशस्वी रखनेका पूर्णतया प्रयत्नोत्पादक उपदेश दियाकरते थे। वे स्वयं भी क्रियाशील और आचारयुक्त थे। क्योंकि जो स्वयं परिशुद्ध और गुणसमन्वित होता है वही जिज्ञासुओंको अध्यात्म-गवेषण मार्ग को पूंछ सकता है अतः वही आचार्य होनेका सर्वाधिकारी है। कहा भी है कि–"जो स्वयं और सर्वथा आत्मसेवक है, परमार्थके ज्ञानभण्डारको खोलकर जिसने समर्पित कर दिया है। भव्योंकेलिए जो (पृथ्वी की भांति) अवलम्बनभूत है, उनकी अज्ञानतिमिर नाश करनेवाला है, आत्म-तत्त्व का उपदेशक है, वही आचार्य होता है"

यह पांच प्रकारके आचारोंका पालन करता है। आपकी सेवा सेवी शिष्य भी सदाचारका अनुसरण करता है। इस प्रकारसे आचारका यथार्थतम उपदेश आचार्यके द्वारा ही मिलता है। क्योंकि—

"जो पाच प्रकारके आचारोंका स्वय समाचरण करता है, अध्यात्म-ज्ञानका प्रकाशक है, चरित्रको प्रगटमें पवित्र दृष्टिसे भावके रूपमें भर देता है, वही आचार्य होता है।"

आचार्य के छत्तीस गुण-

पाच इन्द्रियोंको वश करते हैं, नववाडविशुद्ध ब्रह्मचर्य्यका पालन करते हैं, क्रोध, मान, माया, लोभको दूर करते हैं, पांच महाव्रतोंका पालन करते हैं, पाच आचारोंका समाचरण करते हैं, पांच समिति, तीनगुप्ति इन आठ प्रवचनोंको धारण करतेहैं, ये छत्तिस-गुण उत्पन्न होनेपर आचार्यकी योग्यता आ सकती है अन्यथा नहीं।

आचार्य को चतुर गोपाल की उपमा-

चतुर ग्वाल सब पशुओंको अपनी विचारदृष्टिमें रखता है। उन्हें किसीके खेतमें नहीं घुसने देता। इसीप्रकार आचार्यभी अपने सघको अशान्ति, कुसम्प, कषाय, रूढिवाद और वैषम्यकी ओर नहीं जाने देता, समाजमें क्लेश होते ही आचार्य तुरन्त मिटा देते हैं। या भव्यात्माओंके जन्म जन्मान्तरोंके क्लेश मिटा देते हैं। उन्हें सन्मार्ग-सम्यग्दर्शनका राह सुझा देते हैं, युक्त, अयुक्त, ससार-मोक्ष, हित-अहित, धर्म-अधर्मका रहस्य भिन्न भिन्न करके समझा देनेका उपकार प्रस्तुत करते हैं।

उन्हें नमस्कार करने का प्रयोजन-

आचार विषयक उपदेश उन्हीं से प्राप्त होता है, इसलिए तीसरे पदमें उनकोभी नमस्कार किया है, क्योंकि उन्होंने चरित्रोपदेशकताद्वारा हम पर खूब प्रभाव डाला है, हम उन्हें उपकारकी दृष्टि से निरहंकार होकर नमस्कार करते हैं और द्वादशागी-शास्त्र वाणीके पूर्णपाठी तथा औरोंको पढानेका कार्य भी इन्हींके हाथ है।

आचार्य की विशेषता-

"ज्ञान, दर्शन, चरित्र, तप रूप गुप्त मन्त्रकी उत्तम शैली से ये ही व्याख्या करते हैं।

"ये मोक्ष मार्गके उपदेशक हैं।"
"शिष्योंको सदाचारमें स्थापन करते हैं।"
"शिवाके पूर्ण-स्वामी होते हैं।"
"आत्मयोग-सिद्धिका मार्ग इन्हीं से मिलता है।"

श्रीमान् सुधर्मा-आचार्य-आचार्यके समस्त गुणों से मण्डित हैं।

जम्बू अन्तेवासी का सुधर्म्माचार्य से प्रश्न।

अगाध गुणसमुद्रसम सुधर्म्माचार्यसे जिज्ञासु शिष्य जम्बूने अंतिम-तीर्थंकर भगवान् ज्ञातपुत्र-महावीरस्वामीके गुणोंका परिचय प्राप्त करनेके लिए यह पूछा कि वे प्रभु कैसे थे। धर्म-घर-नरकसे संसारमें डूबनेवाले कर्मोंका अन्त उन्होंने किस प्रकार किया। जिसमार्गका अनुसरण उन्होंने किया था यदि हम भी उसी मार्गका आश्रय लें तो हमारा प्रभुके साथ कैसे साम्य हो सकता है? नरकके दुःखोंको सुनकर जिनका मन अत्यन्त उदास हो गया है, ज्ञान और वैराग्यसे जो सम्पन्न होना चाहते हैं, वे श्रमणादि मुझसे पूछते हैं कि-संसारसे पार करनेवाला धर्म किसने प्रतिपादन किया है? संसारमें विचरण करते समय मनुष्यसे श्रमण भी यही प्रश्न करेंगे। वे श्रमण-साधु होते हैं। परिग्रह मात्रके परित्यागी हैं। निष्काम तप करते हैं। वे दूसरेके दुःख सुखको अपनी तरह समझनेके कारण वेदक भी होते हैं।

ब्राह्मण—

इसके अतिरिक्त मुझसे कई ब्राह्मण भी यही पूछेंगे। और वे ब्रह्मचर्य पालन करने से सिद्ध-परमात्माका ज्ञान-मार्ग सुननेसे परम आत्मा अपने परब्रह्मको जाननेसे ब्राह्मणके नामसे प्रसिद्ध हैं।

श्रेष्ठ पुरुषों के यथार्थ ब्राह्मण लक्षण-

जिसमें सहनशीलता निर्वैरता अहिंसकता वगैरह सब जीव पांच अनुव्रत विधा नियम सम्पन्नता है उस पुरुषमें ब्राह्मणका सच्चा लक्षण है।

जो शान्त है, इन्द्रियोंको अपने वशमें करता है पवित्र और दृढ ब्रह्मचारी है। सब प्राणियोंके हित और कल्याणमें सदैव लगा रहता है। जो कभी भी क्रोधके आवेशमें नहीं आता। यह ब्राह्मणका दूसरा लक्षण है।

जो निर्लोभी है, अभिमानसे रहित है, सर्वथा पापको त्याग-चुका है, राग, द्वेष और मोहसे मुक्त है, यह तीसरा लक्षण है।

मार्गमें, जंगलमें, या किसीके घरमें पर वस्तुको देख कर जिसका चोरी करनेको जी नहीं चाहता, चोरी करके परवस्तु नहीं लेता है वह ब्राह्मणका चतुर्थ लक्षण हैं।

जो मास, मदिरा, मधुका कभी सेवन नहीं करता है; गूलर, अंजीर आदि गले सडे कीडोंवाले फल नहीं खाता है, तथा रातको भोजन नहीं करता है, यह पांचवा लक्षण है।

किसीने ब्राह्मण के १० प्रकार भी कहे हैं।

देव, द्विज, मुनि, राजा, वैश्य, शूद्र, बिलाव, गधा, म्लेच्छ, चाण्डाल, इन भेदोंसे ब्राह्मण १० प्रकार के होते हैं।

देव–

जो एक वक्त भोजन करता है, मास, मदिरा नहीं खाता पीता, तत्व ज्ञानके पारको पहुँच गया है, वह देव ब्राह्मण है।

द्विज–

महाव्रती-नियमयुक्त-सयम पालक इन्द्रियविजेता-समतोलन वृत्ति वाला, आत्मा और मनका विजेता-क्षमा और सहिष्णु ब्राह्मण द्विज कहलाता है।

मुनि–

जो रूखा, सूखा खाकर सन्तोष कर लेता है, दिन में भोजन करता है, सदैव वनमें रहता है, दिन, रात आत्म-ध्यान में लगा रहता है। योगाभ्यासके साधनमें सलग्न है, वह मुनि-ब्राह्मण है।

नृप–

जो हाथी घोडोंपर चढ़नेकी इच्छा रखता है, समर भूमि में जाकर युद्ध करता है, अपने देशको दासत्व की शृखला से मुक्त करके स्वतन्त्रता दिलाता है। जिसे अन्यायका नाश करते दया न आती हो, न्यायसे शासन चलाता हो, साम्यवादकी स्थितिपालकतामें शूर वीर हो, जिसमें कायरता का नाम तक नहीं है। वह ब्राह्मण राजाके समान होता है।

वैश्य-

जो खेती करता है, न्याय नीतिसे व्यापार करता है, पशु पालन करता है, सदैव न्यायका पक्ष लेता है, जन समाज की सेवा में तत्पर है जो दानके अर्थ सब प्रकारके पदार्थोंका अनुकूल–आर्य वृत्ति से संग्रह करना जानता है वह ब्राह्मण वैश्यके समान है।

शूद्र-

जो लाख और तैलका क्रय विक्रय करता है, न्याय खाता है; मांस मदिरा बेचता है वह शूद्र ब्राह्मण है

बिडाल-

जिसे सत्यासत्यका ज्ञान नहीं है, जो पानी बचानेका काम करता है, परस्त्री गामी है वह ब्राह्मण बिडाल प्रकृति का है।

म्लेच्छ-

बावली कूँआ तालाबसे जो जलका पानीका व्यवहार करता हो परके आत्मसंबन्धी दुःखको न जानता हो वह म्लेच्छ ब्राह्मण है।

चाण्डाल-

जो जंगलमें आग लगा कर खेती करता है, जो हरेक जीवको मार डालता है, अहिंसा धर्म से अनभिज्ञ है, वह विप्र चाण्डाल है।

खर-

शास्त्र अध्ययन और जप तप आदि अध्यात्मीय पर कर्म करना नहीं जानता है मृतक के घर आहार करता है, उसे खर–ब्राह्मण समझना चाहिए।

अयोग्य ब्राह्मण-

जो अन्यके दोषोंको प्रगट करता है और अपने पापको छुपा देता है, वह ब्राह्मण धर्मके अयोग्य है, उसका जीवन कुत्ते की पूंछ की तरह व्यर्थ है।

ब्राह्मण–परम्परा-

जन्म कालमें वह शूद्र रहता है, शुभ वृत्ति पाकर द्विज होता है, शास्त्र अभ्यास करनेसे विप्र है, और वह अध्यात्मयोग तथा ब्रह्मज्ञान पाकर ब्राह्मण हो जाता है।

अब्राह्मण-

जो क्रोध और मान तथा प्राणि-हिंसा करता है, असत्य बोलता है, चोरी करता है, परिग्रह-तृष्णा युक्त है। वह ब्राह्मण जाति और विद्यासे हीन तथा पतित है, वही अब्राह्मण और पाप क्षेत्र कहलाता है।

ब्राह्मणोचित-सर्वश्रेष्ठ यज्ञ-

जो पांच संवर भावोंसे आस्रवद्वारा आनेवाले पापको रोकता है, जिसे जीवित रहनेकी आकांक्षा नहीं होती, जो कायोत्सर्ग द्वारा आत्म-चिंतनमें लगा रहता है, मन, वाणी तथा कायके पापविकारोंसे अलग हटकर जो सर्व्वथा पवित्र हो गया है। जिसने देहका मोह त्याग दिया है, वह महाजय पानेका उत्तम अधिकारी है, यही श्रेष्ठ यज्ञ करता है।

ब्राह्मणोचित तीर्थस्नान-

धर्मरूपी द्रह है, ब्रह्मचर्य शान्तितीर्थ है, आत्माका प्रसन्न लेश्या रूप पवित्र जल है, इसीमें स्नान करनेसे कर्मरहित और निर्म्मल होकर जन्म मरणसे मुक्त होता है। उसमें सदाके लिए अपुनरावृत्तिरूप पवित्रता आ जाती है। अध्यात्म दोषोंका सर्व्वथा अभाव तब ही होता है ॥ ४६ ॥

यह स्नान आत्मज्ञानके मर्मज्ञोंने देखा है, ऋषियोंका श्रेष्ठतम और महास्नान (महाव्रत) ही है। जिसमें स्नान करनेवाले, पवित्र और कर्मरहित, होनेवाले महर्षिगण उत्तम मोक्ष स्थानको प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार उपरोक्त लक्षणवाले ब्राह्मणोंकी तरह गृहवासी, क्षत्रियादिक तथा परमतावलम्बी भी यही पूछेंगे कि साधु और गृहस्थके भेदसे जो धर्म दो प्रकार का है वह किसने बताया है? उसका प्रणेता कौन है? जो धर्म दुर्गतिमें पडनेसे वारण करके आत्माको बचानेवाला है, समदृष्टिसे एकान्त कल्याण और हित करनेवाला है। जिसकी महिमा अतुल और अपार है। उसे किस प्रणेताने समतापूर्वक कहा है? जिसमें विषमता और पूर्वापर विरोधका नाम तक भी नहीं है ॥ १ ॥

गुजराती अनुवाद—आ संसाररूपी गहन वनमां भ्रमण करतां प्राणिओने माटे दश दृष्टान्ते दुर्लभ एवा मनुष्य जन्मनी प्राप्ति थवी अति कठण छे, तदुपरान्त आर्यदेश, [आर्यभोजन, आर्यवृत्ति, आर्यवेश, आर्यसहवास,

आर्यभाषा आर्यजीवन] उत्तम कुळ दीर्घ आयुष्य आरोग्य शरीर, समस्त इन्द्रियोने इच्छानुकूळ सामग्रीनो संयोग अने अध्यात्मिकजीवन पाळनार साधुपुरुषोनो सत्संग ए तेमाथी बहु कठण छे। पण वीतराग प्रणीत धर्ममां प्रयत्नशील बनवुं, ए तेथी बहु कठण छे। जगतना जीवोने कल्याणकर सर्वज्ञ कथित धर्मज छे जा भाव औषधिय जेवाथी शारीरिक तेमज मानसिक सर्व रोगो नाश पामे छे ते धर्म श्रमणपुंगव श्रीमहावीर प्रभुए दान शील-तप-भाव ए चार प्रकारे बताव्यो छे.

दान धर्मनी विशेषता—दानने तीर्थो प्रथम पदमां मूके कहेवामां आवेल छे के दान धर्मनो पाळनारा अने प्रकारोमां पण समावेश थएल छे जगतमां आ लोक तथा परलोकनी खातर दान देवानी प्रथाओ तीथी पुराणी छे। श्रीतीर्थंकर भगवान् तीथी पहेलां वर्षीदान आपीने पछी दीक्षा अंगीकार करे छे।

शीलमां दान धर्मनो समावेश—शील धर्ममां पण दानधर्मनो समावेश थाय छे ब्रह्मचर्य पाळवाथी दरेक वखते असंख्य बेइन्द्रिय असंख्य सम्मूर्छिमपंचेन्द्रिय तथा नव लाख पर्याप्त पंचेन्द्रिय जीवोने अभयदान मळे छे। अन्य शास्त्रकारोए पण आ शीलनुं बहु ज माहात्म्य दर्शावेल छे।

> एकरात्रोषितस्यापि या गतिर्ब्रह्मचारिणः ।
> न सा क्रतुसहस्रेण प्राप्तुं शक्या युधिष्ठिर ॥
>
> [मार्कण्ड ऋषि]

भावार्थ—एक रात्रिना पण ब्रह्मचर्य पाळवाथी जे उत्तम गति तथा श्रेष्ठ फळ ब्रह्मचारीने मळे छे ते हे युधिष्ठिर ! हजार यज्ञोथी पण मळतां नथी।

शीलव्रतनुं पालन करीने वीर्य (आत्मशक्ति) नुं रक्षण करनार धर्म जन्म मरणादि दुःखोथी मुक्त थाय छे। एटले के ते पोताने पण अभयदान आपे छे। आथी शीलमां पण दान धर्मनुं होवानुं स्पष्ट जणाय छे।

तपमां पण दानधर्मनो अन्तर्भाव—शीलथी मांडीने तपश्चर्यामां पण दानधर्मनी आराधना पुरायेली छे। आ वात सर्व कोई जाणे छे के उपवासथी विराधना [हिंसा या आरम्भ] वगर भोजन तैयार करी शकातुं नथी। परन्तु

इच्छानिरोधरूप उपवासादि तप करवाथी छकायनो आरम्भ बंध थतां ते दिवसे अनन्त जीवोने अभयदान मले छे, तेथी तप करवाथी पण दानधर्मनु अनायासे पालन थई जाय छे ।

भाव धर्म तो दानधर्म छेज–

प्रवृत्तिने रोकी करुणा राखवी तथा अप्रमत्तयोगथी जीव तथा अजीवनी रक्षा करवी, तेनु नाम भाव छे, त्या पण भावनी दृष्टिए बधाने अभयदान मळे छे, तेथी प्राणीरक्षानुं नामज भाव अथवा भावशुद्धि छे ।

शुं साधु पण दान दे छे?

हा, जैन मुनि पण हमेशा उपदेशदान, ज्ञानदान, शिक्षादान, रूढिच्छेदक दान दे छे, अने तेथी मानवसमाजपर महान् उपकार करे छे, कोई वखते लोको एम पण कहे छे, के साधुने नहि पण दानी अथवा राजानेज अन्नदाता कहेवा जोइए, साधु शु कोईने भोजन पाणी आपी शके छे? पण एटलु तो जरूर समजी लेवु जोइए के शु अनाज मात्र भोजन कहेवाय छे? बीजी कोई वस्तु नहि, तृप्ति शुं मात्र अनाजथीज थाय छे? खरी रीते आत्मानो खोराक अन्न पण नथी, ए तो पर वस्तु तथा मात्र देहनुंज पोषण करनारी पौद्गलिक वस्तु छे पण आत्मानो पोतानो खोराकतो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, शम, संवेद, निर्वेद, अनुकपा, आस्तिक्य छे । ते वास्तविक खोराकनी प्राप्तिथी आत्मानी हमेशने माटे तृप्तिज थई जाय छे । तेथी पूज्य मुनिवर ज्ञान, दर्शन चरित्ररूपी आत्मीय खोराक आपता होवाथी तेओने अन्नदाता पण कही शकाय, अने आ दानरूपी सुन्दर कार्यना सचालक मुनिज होय छे, के जे बन्ने प्रकारे निर्द्वन्द्व होय छे ।

शील तप तेमज भाव गुसरीते दानमां समायेला छे तेथी चारे धर्ममां दानने प्रथम स्थान आपवामा आवेल छे, परन्तु दान, शील, तप पण भावना सद्भावथी एटले के पवित्र भावरूपी सुदर लहर आववाथी सफल बनी शके छे, बीजी रीते नहि ।

धर्मरत्न–

चतुर्विध अमूल्य धर्मरत्न मेळवीने श्रेष्ठकुल तेमज इन्द्रियादिकनी अनुकूल सामग्री प्राप्त थयेल, मनुष्यनु कर्तव्य छे के अनेकान्तवादनी शैलीने समजीने

जिनेन्द्र कथित धर्मतत्त्वनो आश्रय अने आत्मधर्मरूपी आनन्दने मेळववाने माटे अवश्य प्रयत्न करवो जोइए ।

कर्मनाशनो उपाय–

जेवी रीते अग्निथी सुवर्णनो मेल नाश पामे छे तेवीज रीते आप वैराग्य संयम नियम तपरूपी अग्निथी कर्मोनो नाश थई जाय छे। सामान्य ए कर्तव्य छे के उपरोक्त साधनोथी समजवाने माटे तेने सर्वज्ञ प्रभुनो धर्मोपदेश उपदेश सांभळवो जोइए अने आप्त [सर्वज्ञ] कोने कहेवाय ते समजवुं जोइए।

आप्त प्रकार दोष रहित छे चार घनघाती कर्मोनो क्षय करी अनन्त चतुष्टय [अनन्तज्ञान अनन्त दर्शन अनन्त सुख अनन्त शक्ति] थी शोभे छे साधु, साध्वी श्रावक श्राविका ए चार तीर्थना स्थापक होवाथी तीर्थंकर कहेवाय छे। धर्मनी प्रवृत्ति करवाथी तेमज अनन्त विभूतिमय होवाथी तेओ अर्हन्त देव तेमज इन्द्रोथी सेववा योग्य छे। तेथी अर्हत्–पद कहेवाय छे। वर्तमान अवसर्पिणी समयना चोथा आरामां आ भारतवर्षमां २४ तीर्थंकर, एटले आप्त पुरुषो थई गयेल छे। तेमांना अन्तिम तीर्थंकर ज्ञातपुत्र महावीर प्रभु छे।

वीरप्रभुनी स्तुति–

ज्ञातपुत्र महावीर प्रभुनो आपणापर असंख्य उपकार छे। तेमना उपदेशोने सूर्ये जगतमां फेलाव्या छे तेथी जोके तेमनुं निर्वाण थया २४६५ वर्ष थई गयां छतां तेमना गुणोनुं स्मरण करवुं तथा तेमनी स्तुति करवी ए आपणुं परम कर्तव्य छे तेथी आजे हुं तेमनी स्तुतिरूप व्याख्या करवा प्रयत्नशील बन्यो छुं।

तेमनी अनेक स्तुति अने मारुं असामर्थ्य–

ग्रन्थोमां सुज्ञ विद्वानोए अनेक गुणोनुं अनेक उत्तम शब्दोमां वर्णन करेलुं छे परन्तु हुं पण पोताना सम्यग्दर्शनना पक्षथी कांइक स्तुति करुं, एवी उच्च अने पवित्र अभिलाषा प्रगट थई। जो के मारामां ते विद्वानो जेवी प्रतिभा नथी, छतां मारा उत्साह अने भक्ति मने बळात्कारे प्रेरणा करी रहेल छे, कारण के जे रीते बालक पोतानी प्रचंड शक्तिथी दरियाने पकडवा थई प्रवृत्त होय छे ते रीते तेवी भावना एक मात्र पक्षीने उडवानी इच्छा शुं नथी थती? अवश्य थाय छे।

ए रीते अल्पज्ञ प्राय हु पण मानवोचित उत्सुकताथी भरपूर बनीने 'वीरस्तुति' नामे श्रीसूत्र कृताङ्गना षष्ठम अध्यायनी व्याख्यारूपे ज्ञातपुत्र श्रीमहावीर प्रभुनी स्तुति करू छु मने आशा छे के तेमा मारी प्रसन्न भक्तिरूप सफलता जरूर थशे ।

मणिमा दोरो परोववा करता तेने वींधवु वधु कठण छे, तेमनी स्तुतिरूप कृति तो प्रथमथी ज छे पण हुं तो तेमनी स्तुतिरूप मणिमा मारी बीनअनुभवी तूटीफूटी बालभाषारूपी दोरो परोववानो सतत प्रयत्न करीश, अने ते मारी अत्यल्प भक्तिना कारणे अधिक मुश्केल नथी । पण ते बधी प्रभुनी कृपाज छे । तेमा मारी कशी विशेषता नथी । कारण के तेओश्रीए २५०० वर्ष पहेला भव्यात्माओ माटे आत्मज्ञाननो मार्ग सरल करी दीधेलो छे तेमा विशेषता उत्पन्न करवानी मारी अल्पज्ञनी कशी शक्ति नथी । आ सर्व प्रक्रिया तेमनीज बतावेली छे ।

वीरप्रभुना गुणगान करतीवखते प्रारंभमां गुरुशिष्य संवाद-

जिज्ञासु जबुस्वामी मुमुक्षु तेमज मुख्य अन्तेवासी शिष्य हता, तेओ वस्तुनो निर्णय करवामा सदा तत्पर रहेता हता । तेओ तत्वने प्राप्त करीने असीम श्रद्धा तेमज प्रतीति साथ मनन करवावाळा महापुरुषोमाना एक हता, तेओ भगवान् सुधर्माऽऽचार्यनी सेवामा सदा तत्पर रहेता हता ।

आचार्यनी ओळख-

ते वखते सुधर्मा एक विशेष आचार्य तेमज समजदार जैनसमाजना साचा नेता हता तेओ चतुरसमाजने सगठित तथा सच्चारित्रवान् बनाववानो पूर्ण प्रभावशाळी उपदेश आप्या करता हता। तेओ पोते पण विनयशील अने आचारयुक्त-हता, कारण के जे पोते विशुद्ध तेमज गुणी होय छे तेज बीजाओ माटे चारित्राकाक्षीनी अध्यात्म मनोरथमाला गुथी शके छे, तेथी आचार्यपणामाटे पूर्ण अधिकारी छे । कह्यु पण छे के "जे सूत्र तेमज अर्थना जाणकार छे, आत्माना ज्ञानलक्षणने निर्मल बनावीने जेमणे प्रकाशित करेल छे, चारे प्रकारना सघने जेओ पृथ्वीनी पेठे आधारभूत छे । सघनी अशान्तिनो नाश करे छे, आत्मतत्वनु उपदेष्टा छे, ते आचार्य होई शके" ।

तेओ पाच प्रकारना आचारोनु पोते पालन करे छे, तेमनी देखादेखीथी संघ पण सदाचारनु अनुकरण करे छे, आ रीते आचारनो यथातथ्य उपदेश आचार्य द्वाराज मळी शके छे । कारणके तेओ अध्यात्मज्ञानना प्रकाशक छे ।

आचार्यना छत्रीश गुण–

पांच इन्द्रियोने वश करे छे नव वाड विशुद्ध ब्रह्मचर्यनुं पालन करे छे । क्रोध-मान-माया-लोभ दूर करे छे । पांच महाव्रतोनुं पालन करे छे पांच आचारोनुं समाचरण करे छे पांच समिति-त्रणगुप्ति ए आठ दयां माताना प्रवचनने धारण करे छे । ए छत्रीस गुणवाळा आचार्य कही शकाय बीजा नहीं ।

आचार्यने चतुर गोपालनी उपमा–

चतुर गोपाल जेवा पशुओ पर पोतानी दृष्टि राखे छे तेमने कोईना खेतरमां दाखल थवा देतो नथी तेवीज रीते आचार्यदेव पण पोताना संघमां अशान्ति-कुसम्प-कषाय-स्वैराचार-विषमता-वगेरे थवा देता नथी होय थतां तोय आचार्य तरत तेने शमावी दे छे भव्यात्माओना जन्म जन्मान्तरोना दुःखने नसाडी दे छे तेमने सन्मार्ग–सम्यग्दर्शननो सरल रस्तो बतावे छे । योग्य-अयोग्य संसार मोक्ष हित-अहित धर्म-अधर्म-विगेरेनी समजण आपे छे । एवा आचार्यप्रभु वांदवा योग्य छे ।

आचार्यने नमस्कार करवानुं प्रयोजन–

आचार सम्बन्धी उपदेश तेओनी पासेथी मळे छे तेथी तेमने बीजा पदमां नमन करेलुं छे कारणके चारित्रोपदेशने आपणा पर तेओ प्रभाव पाडे छे आवा तेमने उपकारनी दृष्टिथी निरभिमानी बनीने नमस्कार करीए छीए । द्वादशांगी-[शास्त्र-] वगेरेना तेओ पूर्णपाठी छे तेमज बीजाओने भणाववानुं कार्य पण तेमने हाथ छे ।

आचार्यनी विशेषता–

ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप रूप शुद्ध मंत्रनी उत्तम शैली थी तेओ व्याख्या करे छे तेओ मोक्ष मार्गना उपदेशक छे शिष्योने सदाचारमां स्थिर करे छे सिद्धान्त पूर्ण ज्ञानी छे आत्म-योग-सिद्धिनो मार्ग तेमनी पासेथी प्राप्त थाय छे श्रीमद् सुधर्माचार्य आचार्योना बधा गुणोथी विराजमान हता ।

अन्तेवासी जंबूनो सुधर्माचार्यने प्रश्न–

अन्यदा गुरु सद्गुरुरत्न सुधर्माचार्यने शिष्य जंबूए अन्तिम तीर्थंकर भगवान् ज्ञातपुत्र महावीर स्वामीना गुणोनो परिचय प्राप्त करवाने माटे प्रश्न कर्यो के 'तेओ केवा हता ! ए महावीर भगवन्तीए पोताना धर्मबळथी संसारमां रक्षण-

पनारा कर्मोनो अन्त तेओए कइ रीते कर्यो ? जे मार्गनु अनुसरण तेओए कर्युं, ते मार्गनो आश्रय जो अमे लइए तो प्रभु साथे अमारू साम्य केवी रीते थई शके ? नरकना दु खो सामळीने जेमनु मन अत्यन्त उदास थई गयु छे, त्याग अने वैराग्यथी जेओ अलकृत बनवा इच्छे छे, ते श्रमणादि मने पूछे छे के "ससार रूप समुद्रथी पार उतारनार धर्मनु प्रतिपादन कोणे करेलु छे ?" ससारमा विचरता घणा श्रमणो आ प्रश्न पूछशे, ते श्रमण-साधु छे, परिग्रह ग्रन्थीने कापनारा छे, निष्काम तप करे छे, तेओ पोतानी माफक बीजाओना सुख दु ख समजे छे, तेथी ते खेदज्ञ पण होय छे।

ब्राह्मण–

तदुपरात मने कोई ब्राह्मणो पण पूछशे, ब्रह्मचर्यनु पालन करता होवाथी, सिद्ध-परमात्माना ज्ञान-मार्गनु श्रवण करता होवाथी, अन्य-आत्माओने पोताना समान जाणता होवाथी, ते ब्राह्मण नामथी प्रसिद्ध छे।

वृद्ध पुरुषोए बतावेला ब्राह्मणना लक्षणो–

जेनामा सहनशीलता, निरासक्ति, अहिंसकता, उदारता, सत्य, शौच, पाच अणुव्रत, सात शिक्षाव्रत, विद्या विनयसम्पन्नता होय छे, तेमा ब्राह्मणनुं पहेलु लक्षण छे। जे शान्त होय छे, इन्द्रियोनु दमन करे छे, पवित्र अने दृढ ब्रह्मचारी छे, बधा प्राणिओना कल्याण-कार्योमा जे हमेशा तत्पर रहे छे, जे क्रोध करता नथी, ते ब्राह्मणनु बीजु लक्षण छे। जे निर्लोभी छे, निरभिमानी छे, सर्वथा पापना त्यागी छे, राग-द्वेष अने मोहजाळथी मुक्त छे, ते त्रीजु लक्षण छे। मार्गमा, जगलमा, अथवा कोईना घरमा पर वस्तुने जोईने चोरी करवानी इच्छा सरखी जेमने नथी थती, तेमज चोरी करीने पर वस्तुनु ग्रहण जेओ करता नथी, ते ब्राह्मणनु चोथु लक्षण छे। जे मास, मदिरा, मधुनुं क्यारे पण सेवन करता नथी, गुलर-अजीर विगेरे अभक्ष्यफळ तथा गळेला-सळेला फळ खाता नथी, तथा रात्रिभोजनना त्यागी होय छे, ते पाचमु लक्षण छे।

कोईए १० प्रकारना ब्राह्मण कहेला छे–

देव, द्विज, मुनि, राजा, वैश्य, शूद्र, बिलाव, गधा, म्लेच्छ, चाण्डाल ए भेदोथी ब्राह्मण दश प्रकारना होई शके छे

देव ब्राह्मण—जे एक वखत भोजन करे छे, मास, मदिरानुं सेवन करता नथी, तत्वज्ञानना पारने पहोंची गया छे, ते देव ब्राह्मण छे।

द्विज ब्राह्मण—महाव्रती नियमयुक्त संयमसाधक इन्द्रियविजेता सन्तोषादिधारक आत्मा अने मनना विजेता क्षमावान् अने सहिष्णु छे ते द्विज ब्राह्मण छे।

मुनिब्राह्मण—जे लूखो सूको आहार लईने पण सन्तोष माने छे मात्र परिमित भोजन करे छे हमेशां वनमां रहे छे निरन्तर आत्मध्यानमां मग्न रहे छे, योगाभ्यासनी साधना करे छे ते मुनिब्राह्मण छे।

नृपब्राह्मण—

जे हाथी घोडा पर स्वारी करवानी इच्छा राखे छे रणभूमिमां जई युद्ध करे छे शत्रुओने युद्धभूमिमां गंभीरपणे मुक्त करी देशने स्वतंत्र बनावे छे धनधान्यनी प्राप्ति करवाने पण प्रयत्नशील छे न्यायथी शासन चलावे छे सम्यक्त्वनी शिक्षा-पद्धतिमां धीर छे अक्षरज्ञानो लेशमात्र जेनामां नथी ते नृपब्राह्मण होय छे।

वैश्य ब्राह्मण—जे खेती करे छे न्यायनीतिथी वेपार करे छे पशुनुं पालन करे छे हमेशां न्यायनो पक्ष ले छे जनसमाजनी सेवामां तत्पर रहे छे जे दान देवा अर्थे सर्व प्रकारनी वस्तुओनो आर्यवृत्तिथी संग्रह करवानुं जाणे छे ते वैश्य ब्राह्मण छे।

शूद्र ब्राह्मण—जे लाख लवण तेलनो वेपार करे छे न्याय रहित छे मांस मदिरा वेचे छे ते शूद्र ब्राह्मण छे।

बिलाड ब्राह्मण—जेने आत्माभिमाननुं भान नथी जे पाप कमावानुं कार्य करे छे परस्त्रीगामी छे ते ब्राह्मण बिलाड प्रकृतिनो छे।

म्लेच्छ ब्राह्मण—वाव-कूवा-तळावमांथी जे अणगळ पाणीनो उपयोग करे छे परन्तु दुर्गुणोनो जे विचार करतो नथी ते म्लेच्छ ब्राह्मण छे।

चाण्डाल ब्राह्मण—जे जंगलमां आग लगावीने खेती करे छे जे दरेक जीवने मारी नाखे छे अहिंसा धर्मथी अज्ञात छे ते चांडाल ब्राह्मण छे।

खर ब्राह्मण—शास्त्रनुं अध्ययन करतां छतां अध्यात्म-पदार्थ जाणवानुं जे जाणता नथी मिष्टभोजन करे छे ते खर ब्राह्मण छे।

अयोग्य ब्राह्मण—जे अन्यना दोषो प्रगट करे छे अने पोतानां पापोने छुपावे छे ते ब्राह्मण धर्म माटे अयोग्य छे तेनुं जीवन कुत्तानी पूंछडी माफक व्यर्थ छे।

ब्राह्मण परम्परा-

जन्मकालमा ते शूद्र होय छे, गुण वृद्धि पामीने द्विज बने छे, शास्त्राभ्यास करवाथी विप्र थाय छे, अने अध्यात्मयोग तेमज ब्रह्मज्ञान प्राप्त करीने ते ब्राह्मण थाय छे।

अब्राह्मण—जे क्रोध-मान-प्राणी हिंसा-करे छे, असत्य बोले छे, चोरी करे छे, परिग्रह राखे छे, तृष्णा युक्त छे, ते ब्राह्मण जाति अने विद्याथी हीन तथा पतित छे। अने ते पापक्षेत्र कहेवाय छे।

ब्राह्मणोचित श्रेष्ठ यज्ञ—पाच इन्द्रियोनु नियमन करनारा, जीवितव्यनी पण परवा नहि करनारा, कायोत्सर्ग द्वारा आत्मचिन्तवन करनारा, मन, वाणी, तथा कायना पाप विकारोथी दूर रहेनारा, अने कायनी आसक्तिथी रहित, एवा महापुरुषो वहारनी शुद्धिनी दरकार न करता उत्तम अने महाविजयी भावयज्ञने ज आदरे छे।

ब्राह्मणोचित तीर्थस्नान—धर्मरूपी कुड छे, ब्रह्मचर्यरूपी पुण्यतीर्थ छे, आत्मानी प्रसन्नलेश्यारूप पवित्र जळ छे, तेमा स्नान करवाथी कर्मरहित अने जन्ममरणथी मुक्त थाय छे, हमेशने माटे अपुनरावृत्तिरूप पवित्रता आवी जाय छे, दोषोनो सर्वथा अभाव त्यारेज थाय छे।

एवु स्नान आत्म कुशल पुरुषोए कर्यु छे, अने ऋषिओए तेज महास्नानने वखाण्यु छे, जेमा स्नानकरेला पवित्र महर्षिओ निर्मल थईने [कर्मरहित थईने] उत्तमस्थान (मुक्ति) ने पाम्या छे।

उपरोक्त लक्षणवाला ब्राह्मणोनी पेठे गृहस्थो, क्षत्रियो, अने परधर्मिओ पण मने पूछे छे के एकात हितकारी अने अनन्य धर्म यथास्थित कोणे कह्यो छे? ते धर्म दुर्गतिमा पडता जीवोने धरी राखे छे, बधानु एकान्त कल्याण करे छे, ते अपार महिमामय छे ॥ १ ॥

मूल

कहं च णाणं कहं दंसणं से,
सीलं कहं णायसुयस्स आसी?
जाणासि णं भिक्खु! जहातहेणं,
अहासुयं बूहि जहा णिसंतं ॥ २ ॥

संस्कृतच्छाया

कथञ्च ज्ञानं कथं दर्शनं तस्य शीलं कथं ज्ञातसुतस्याऽऽसीत् ?
जानीषे भिक्षो ! याथातथ्येन यथाश्रुतं ब्रूहि यथानिशान्तम् ॥२॥

सं० टीका—तस्यैव तस्य भगवतो ज्ञातपुत्रस्य महावीरस्यान्तिम-तीर्थंकरस्य सम्यग्ज्ञानादिगुणावाप्तये प्रश्नयन्नाह—कथं केन प्रकारेण स वीरो "वि=विशिष्टां, ई=लक्ष्मीं, राति=ददातीति स । अथवा विशेषेण ईर्ते=सकलान् पदार्थान् जानातीति वीरः, यद्वा वि=विशिष्टा इरा=वागदिव्यध्वनिरूपा, इरा=पृथ्वी–ईषत्प्राग्भारा लक्षणाऽपि यस्यासौ वीरः, अथवा वीरयति, वीर इवाचरतीति वा वीरः । वीरत्व सम्पूर्णतामासाद्य कामराज-यमराज-मोहराजान् निराकरोतीति वीरः यद्वा वि=विशिष्टा इरा गगनगमन अपुनरागतिरूप यस्यासौ वीर ।"

तस्य भगवतो, ज्ञान "हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्" "स्वाभिव्यवसायात्मक समारोपविरुद्धत्वाद्वनुमानवत्"

अथवा—

"त्रिकालगोचरानन्त-गुणपर्यायसंयुताः,
यत्र भावा स्फुरन्त्युच्चैस्तज्ज्ञानं ज्ञानिनां मतम् ।
प्रौढ्यादिकलितैर्भवैर्निर्भरं कलितं जगत्,
चिन्त्यते युगपद्यत्र, तज्ज्ञानं योगिलोचनम् ॥"

पुनश्च—

"अनेकपर्यायगुणैरुपेतं, विलोक्यते येन समस्ततत्त्वम् ।
तदिन्द्रियानिन्द्रियभेदभिन्न, ज्ञानं जिनेन्द्रैर्गदित हिताय ॥
रत्नत्रयीं रक्षति येन जीवो, विरज्यतेऽत्यन्तशरीरसौख्यात्
रुणद्धि पापं कुरुते विशुद्धिं, ज्ञानं तदिष्टं सकलार्थविद्भिः ॥

क्रोध धुनीते, विदधाति शान्ति, तनोति मैत्रीं, विहिनस्ति मोहम् ।
पुनाति चित्त, मदन लुनीते, येनेह बोध तमुशन्ति सन्तः ॥"

तथाच—

"आत्मानमात्मसंभूतं, रागादिमलवर्जितम् ।
यो जानाति भवेत्तस्य, ज्ञान निश्चयहेतुजम् ॥"

अथवा ज्ञायते सदसदनेनेति ज्ञानम् । "मोक्षे धीर्ज्ञानमित्यमरः" । अवासवान्, किंभूत भगवतो ज्ञानम् । विशेषाववोधकम्, लोकालोकाववोधक-सर्वभावग्राहक लोकालोकविषय, नात परं ज्ञानमस्ति । न च केवलज्ञानविषयात्पर किंचिदन्यज्ज्ञेयमस्ति । तत्केवलज्ञानं, केवल परिपूर्ण समग्रमसाधारणं निरपेक्ष विशुद्ध सर्वभावज्ञापकं लोकालोकविषयमनन्तपर्य्यायमित्यर्थः । शुद्धात्मोत्थसहजपरमानन्दरूपमतीन्द्रियसुख च केवलज्ञानादेवावाप्नोति । अनेन केवलज्ञानचेतनामयत्वेन केवल ज्ञातृत्वादन्येषां कर्मवन्ध वाथवा कर्मफलं च शुभाशुभं केवलज्ञानेनैव ज्ञायते, सूक्ष्मवादरं चराचरं वा पूर्णसर्वज्ञत्वमिति भावः । किंभूत तस्य दर्शन, सामान्यार्थपरिच्छेदक दर्शनावरणरहित चेति । "निर्वर्णन तु निर्ध्यान, दर्शनालोकनेक्षणमित्यमरः ।" अथवा दृशेरव्यभिचारिणी सर्वेन्द्रियानिन्द्रियार्थप्राप्तिस्तत्सम्यग्दर्शनमिति । प्रशस्त दर्शन सम्यग्दर्शनम् । सगत वा दर्शन सम्यग्दर्शनम् । वाथवा जीवादीनि तत्वानि त एवार्थास्तेषा श्रद्धान तेषु प्रत्यवधारण, तदेवं प्रशमसंवेदनिर्वेदानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं सम्यग्दर्शनम् । यस्य मोहनीयसप्तकक्षयेन दर्शन विशुद्ध तदेव सावरण केवल दर्शनं भवसम्भूतक्लेशप्राग्भारभेषजमनेन चरणज्ञानयोर्बीजं महाव्रतविशुद्धभावजीवितं भवति । एतत्सद्दर्शनरत्न मुक्तिद विश्वलोकैकभूषामणिसदृश । एवमेव

सच्छील चरित्र यमनियमरूपं "शुचौ तु चरिते शीलमित्यमरः"। स्वस्वभावेऽपि, यथाह मेदनी कोषे,—"शील स्वभावे सद्वृत्ते योगान्तरे सिते" इति । "शील स्वभावे सद्वृत्त" इत्यमरोऽपि । तत्कीदृक् । ज्ञाता क्षत्रियास्तेषां पुत्रो ज्ञातपुत्र । "राजन्यः क्षत्रियो ज्ञात इति कोष"। "णायपुत्ते विसोगे" "गच्छति णायपुत्ते भासमाए" "इत्याचाराङ्गसूत्रे नवमाध्याये" । ज्ञातपुत्रो भगवान् महावीरप्रभुरिति । तस्यासीदिति । यथैतन्मया पृष्ट तथ हे भिक्षो ! "भिक्षु परिव्राट् कर्मन्दीत्यमर"। सुधर्मस्वामिन् ! याथातथ्येन सम्यक्प्रकारेण जाना-स्यवगच्छसि । तत्कृत्स्न त्वया यथा श्रुत कर्णगोचरी [यथा सर्वं तथा] कुरु, यथा निशान्त नितरामतिशयेन शान्त शृणुयाच्येति भाव "निशान्तमित्यवधारित यथा दृष्ट तथेति केचित् ।"

अन्वयार्थ—(से) उस (णायपुत्तस्स) ज्ञातपुत्र-महावीर भगवान्‌के (णाणं) ज्ञान (कहं) कैसा था (दंसणं) दर्शन (कहं) कैसा था और (सीलं चरित्र (कहं) कैसा था [भिक्खू !] हे सुधर्मस्वामिन् ! आप [जहातहेणं अच्छे प्रकार [जाणासि] जानते हो अत एव [जहासुयं] आपने जैसा सुना है एवं [जहाणिसंतं] जैसा निर्धारण किया है उसी प्रकार [बूहि] फर्माइए ।

भावार्थ—आर्य जम्बू नामक जिज्ञासु-शिष्यने निवेदन किया कि-हे सुधर्मस्वामिन् ! गुरुवर्य ! आप सब कुछ अच्छीतरह जानते हैं अत एव कृपा करिए और यह फर्माइए कि-भगवान् ज्ञातपुत्र महावीरका ज्ञान कैसा था। उन्होंने उस सम्यग्ज्ञानको किस प्रकार प्राप्त किया ! और उनका दर्शन सामान्य प्रतिभास तथा यम-नियम और संयमादि शील-चरित्र किसमात्रिके थे ! ॥ २ ॥

भाषाटीका—मोक्ष लक्ष्मीके प्रदाता सर्वपदार्थोंके ज्ञाता जिनकी वाणी निष्कलप और अमोघ है, जो अष्टम पृथ्वी [मोक्ष] को प्राप्त कर चुके हैं और रस पूर्ण है, वीरत्व पूर्वक जिन्होंने कामराज मकरध्वज और मोहराजको जीत लिया है जिनका अभिराम ज्ञानमें विशेष गमन अर्थात् प्रवेश है यह वीर

कहलाता है। भगवान् महावीर चरमतीर्थङ्कर नाम और गुण से महावीर ही थे। उनमें ये सब उपमाएँ पाई जाती थीं।

ज्ञान—उनका ज्ञान कैसा था? क्योंकी प्रमाण ही हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार करनेमें समर्थ है, अत ज्ञानही सबसे दृढ और पुष्ट प्रमाणयुक्त होता है।

इसके अतिरिक्त ज्ञान ही वस्तुतत्व का निर्णय करताहै, इसीसे परमोपकारी ज्ञानही है, यथा—

जिसमें तीन कालके गोचर अनन्त गुण पर्याय से सयुक्त पदार्थ अतिशयके साथ प्रतिभासित होते हैं। उसको ज्ञानी जनों ने ज्ञान कहा है। यह सामान्यरूप से पूर्ण-ज्ञानका स्वरूप है। आकाश द्रव्य अनत प्रदेशी है, उसके मध्यमें असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश है, उसमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल ये अनन्त द्रव्य हैं, उनके तीन काल सम्बन्धी भिन्न भिन्न अनन्त-अनन्त पर्याय हैं। उन सबको युगपत् (एक समयमें) जाननेवाला पूर्णज्ञान आत्माका निश्चयस्वभाव है। यद्यपि कर्मके निमित्तसे उसके पाच भेद होगए हैं तथापि वह स्वभावस्थित है।

उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वभाववाले पदार्थों से यह जगत् अतिशय भरा पडा है, जिसके ज्ञान में यह एक दम प्रतिविम्बित हो वह ज्ञान परमयोगीश्वरों के लिए तो नेत्र के समान है। क्योंकि अन्य मतों में योगीप्रत्यक्ष ज्ञान को माना है, वह यथार्थ न हो कर उक्त ज्ञानही सत्यार्थ है।

इसके अतिरिक्त यहभी कहा है कि—जिसके द्वारा समस्त तत्वों को विचार सरणी से आत्मा स्फुट रूपमें देखता है, जिस तत्वमें अनन्त पर्य्याय गुण की सत्ता है, इसे सम्यक्तया जाननेके लिए ज्ञान ही हितकर और पहला साधन है। इसी ज्ञानसे आत्माको जड ससार से अलग कर डालता है।

आत्मकल्याण करनेवालोंकेलिए ज्ञानका सर्व प्रथम आराधन इसलिए अभीष्ट है कि इसके द्वारा जीव पौद्गलिक तथा शारीरिक सुखसे विरक्त हो जाता है। अपने आत्मीय गुण रत्नकी रक्षा इसीकी छत्र छायामें होती है। फिर उससे प्रवृत्ति-पाप द्वारको रोक कर आत्म शोधनमें लगजाता है।

ज्ञानकी पूर्ण मात्राके प्रभावसे क्रोधको शान्त करता है, इससे आत्मामें अपूर्व सम भावकी झाकी होती है। शान्तिके कारण सब प्राणिओंमें अभेद

उससे मैत्री भाव पैदा करनेका सामर्थ्य होजाता है। इसके अनन्तर मोह, जो कि चित्त विकारके पर्दे होता जाता है। मोहका सर्वथा नाश होनेपर चित्त निर्मल और पवित्र हो कर स्थिर होता है, पवित्र चित्तमयका आत्मदर्शन प्राप्त करता है। जिसके ज्ञान-आत्माका सूर्य होगया हो उसमें इतनी क्रियाओं-का भी समन्वयात्मक उदय हो जाता है, इससे ज्ञानी अटल सुखके पदको पानेका पूर्ण साधक बन जाता है।"

"जो आत्माको राग द्वेषसे निकालकर निश्चय हेतु बन जाता है बुद्धिमानोंने उसे भी ज्ञान कहा है।

जिससे सत् अर्थात् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यका और असत्‌का विवेक हो उठता है, उसे भी ज्ञान ही कहा है।

ज्ञान विशेष वस्तुका बोध कराता है, लोक और अलोकके पर्दे खुल जाते हैं। हथेली पर रक्खे हुए आमलेकी भाँति संसारका सब स्वरूप और परमात्म भाव जानने लगता है। यह संपूर्ण ज्ञान केवलज्ञान या ब्रह्मज्ञान है। इससे बढ़कर ज्ञानकी और कोई भूमिका नहीं है। केवल ज्ञान ही पूर्णतया है, यह ज्ञान असाधारण है निरपेक्ष और परमशुद्ध है सब पर्यायों और भावोंका ज्ञापक है। इससे लोक और परलोक अवगम्य हैं। ज्ञानसे सहज और उत्कट अनन्त आनन्द मिलता है। यही ज्ञान प्राणियोंके कर्मबन्धका समय तथा उसके शुभाशुभ परिणाम बोध कराता है। तथा सूक्ष्म-बादर, चर-अचरकी पूरी खबर रखने वाला सर्वज्ञ कहलाता है।

दर्शन–

जिसमें किसी प्रकारका व्यभिचार नहीं पाया जाता संशय विपर्यय मिथ्यात्व-या अनध्यवसाय आदि दोषों से रहित हो इन्द्रिय और मनके विषय भूत समस्त पदार्थोंकी दृष्टि-प्रधानरूप शक्तिसे अथवा संकेत बुद्धिसे जिस स्वरूपको सम्यग्दर्शन कहते हैं। तथा जीव आदि नव पदार्थोंके भावों पर श्रद्धान पूर्वक यथानुरूप धारण करना जिसमें छिन्नमस्त भाव अस्थिर वस्तुओंसे विरक्ति दिखानेवाला वैराग्य कर्म बन्धसे मुक्त होने की निरन्तर अभिलाषा शत्रु मित्रके प्रति समताको उठाकर अभय का अनुकम्पा और आन्तरिक शान्ति उदय होने पर ही प्राप्त हुआ होता है इस दृष्टिसे आस्तिक्यादि लक्षणोंका समुदाय

होता है। त्याग, वैराग्य तथा विवेक शुद्ध होनेसे वही मुक्तिका अग है। ससारके क्लेशरूपी रोगोंके भारको मिटानेमें औषध रूप सम्यग्दर्शन ही है। जोकि ज्ञान और चरित्रका बीज रूप है। इसीसे महाव्रतोंको पालन करते २ परम आत्मामें स्थिर रहनेकी भावना जागृत होती है। ज्ञानात्माओंका विश्वमें सर्वोपरि भूषण रूप है। इस श्रेष्ठ सम्यग्दर्शनसे नि सशय मोक्ष पाता है जिसके निःशकसे लगाकर प्रभावना तक आठ अग हैं।

चरित्र-

उत्तराध्ययन सूत्रके २८ वें अध्यायमें वीरप्रभुने स्वय प्रतिपादन किया है कि मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, प्रमाद और मन वचन कायके अशुद्ध विचारोंसे जो पाप कर्म बाधे गए हैं, जिनका कि शुभाशुभ फल परिवर्तन करना अपने अधिकारमें अब न रह गया है उन कर्मोंको जिस पुरुषार्थ-बलसे नष्टकरके आत्माको कषायात्मा, योगात्मासे रिक्त करदेना चरित्र कहलाता है, चरित्रसे भविष्यके लिए प्रवृति मार्गका अवरोध करके तपसे उसे अग्निमें सुवर्णकी भांति मल शोधन करता है। जिससे जन्मान्तरके कर्मोंका क्षय होनेसे सर्व दु खोंसे रहित हो जाता है।

और यह चरित्र अणुव्रत और महाव्रतके भेदसे दो प्रकारका है। जिससे अपने भावोंको कषाय रहित करनेपर मूलगुण और उत्तरगुणरूप चरित्र एक देश या सर्वथा सयम गुण प्राप्त करता है।

अत भगवान् ज्ञातनन्दन महावीरका चरित्र कैसा था ?

ज्ञातपुत्र-

वे ज्ञात-वशके क्षत्रियोके कुलमें उत्पन्न होनेसे ज्ञातपुत्र कहलाते थे। मुनि बनकर ज्ञातपुत्र कभी किसी वस्तु की वियोग दशामें शोक प्रगट न करते। ज्ञातपुत्र किसीके शरण नहीं जाते, तथा सदैव स्वावलम्बी रहते थे। उनकी भावना राग और द्वेषसे रहित-मध्यस्थ थी। वे अनुकूल, प्रतिकूल प्रसगों पर लक्ष्य न देकर सयम मार्गमें स्थिर बुद्धिसे अपनी धर्मप्रतिज्ञाओंमें सदा प्रवृत्त एव दृढ रहते थे।

अत गुरो ! मैंने उनके ज्ञान, दर्शन और चरित्रके विषयमें जो कुछ पूछा है। उसका आपने यथानुरूप अनुभव कर लिया है, अत जो कुछ सुना देखा है, वह शान्त चित्त होकर मुझसे कहिएगा ?

गुजराती अनुवाद—वीरभगवानना रत्नत्रय सम्बन्धी प्रश्नो—

मोक्षलक्ष्मीना दाता सर्व पदार्थोना ज्ञाता जेमनी वाणी अमोघ अने निष्कम्प छे जे चरम पृथ्वी मोक्षने प्राप्त करी चुक्या छे वीर रस भरपूर छे वीरताथी जेमणे कामराज मत्सुराज अने मोहराजने जीती लीधेल छे ते वीर कहेवाय छे महावीर प्रभु महावीरज हता तेमनमां आ बधी वातो हती।

प्रश्न-

तेमनुं ज्ञान केवुं हतुं ? कारणके प्रमाणज हितनी प्राप्ति अने अहितनो त्याग करवामां समर्थ छे तेथी ज्ञानज प्रमाण होई शके छे।

वळी ज्ञानज वस्तु तत्त्वनो निर्णय करावे छे तेथी ज्ञानज परम उपकारी छे।

पुन कह्युं छे के—जेमां सर्व काल गोचर अनन्तानन्त पर्याय संयुक्त पदार्थ अतिशय साथ प्रतिभासे छे तेने ज्ञानीजनो ए ज्ञान कहेल छे आ सामान्यरूपे पूर्ण ज्ञाननुं स्वरूप छे आकाशद्रव्य अनन्तप्रदेशी छे तेना मध्यमां असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश छे तेमां जीव-अजीव-पुद्गल-धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय अने काल ए अनन्तद्रव्य छे। तेना त्रण काल सम्बन्धी भिन्नभिन्न अनन्त पर्याय छे ते बधाने युगपत् [एक समयमां] जाणवावाळो पूर्णज्ञान आत्मानो निजस्वभाव छे।

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वभाववाळा पदार्थोथी आ जगत् अतिशय भर्युं पड्युं छे जे ज्ञानमां आ बधुं एकदम प्रतिबिम्बित थाय छे ते ज्ञान परम योगीश्वरोने माटे तो नेत्र समान छे।

तदुपरान्त पण कह्युं छे के—"जेनी द्वारा बधा तत्त्वोने विचार भेळवी आत्मा स्वरूपे शुद्ध छे जे तत्त्वमां अनन्त पर्याय-गुणथी सत्ता छे तेने सम्यक् प्रकारे जाणवाने माटे ज्ञानज हितकर अने प्रथम साधन छे तेनाथी आत्मा जड संसारथी अलग थई शके छे।"

आत्मानो कल्याण करवावाळाओने माटे ज्ञाननुं आराधन सौथी प्रथम एटलामाटे छे के जेनाथी जीव पौद्गलिक तेमज शारीरिक सुखथी विरक्त बनी जाय छे। जेनाथी आत्मीय सुखनी रक्षा तथा तेमां उन्नति थई शके छे। वळी तेमनी भक्ति-सत्कार ने तेओने आत्मबोधमां मदद थाय छे।

ज्ञाननी पूर्ण ताकातना प्रभावथी पाप शान्त थई जाय छे। तेनाथी आत्मामां अपूर्व समभावनी शान्ति थाय छे। शास्त्रीय कदमे नवीनसिद्धिओमां अभेदरूपे

मैत्रीभाव पेदा करवानो स्वभाव थई जाय छे । मोह अविवेक अने चित्त विकारनो पडदो तूटी जाय छे। मोहनो सर्वथा नाश थई जवाथी चित्त निर्मल अने पवित्र बनीने स्थिरता प्राप्त करे छे । पवित्र चित्तवाळो कामदेवनो नाश करे छे । जेनामा ज्ञानात्मानो उदय थएलो छे, तेनामा आटली क्रियाओनो उदय थई जाय छे, तेनाथी अटल सुखना पदने प्राप्त करावबानु ते साधन बनी जाय छे ।

जे आत्माने राग-द्वेष अने मोहमाथी बहार काढवामा निश्चय हेतुरूप छे तेने पण बुद्धिमानोए ज्ञान कहेलु छे ।

ज्ञान विशेष वस्तुनु बोधक छे, लोकालोकनु प्रगट स्वरूप समजाय छे हस्तामलकवत् ससारना सर्व स्वरूपनु तथा घटनात्मक भावनु जाणपणु थाय छे । ते सम्पूर्ण ज्ञान केवलज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान छे । तेनाथी अधिक ज्ञाननी बीजी कोई भूमिका नथी । केवल एटले पूर्णता, ते ज्ञान असाधारण, निरपेक्ष अने परम शुद्ध छे, सर्व पर्याय तेमज भावोनु ज्ञायक छे । तेनाथी लोकालोकनु ज्ञान थाय छे। तेनाथी सहज तेमज उत्कृष्ट अनन्त आनन्द मळे छे। ते ज्ञान प्राणिओना कर्मबन्धनो समय तथा तेना शुभाशुभ परिणामोनो बोध करावे छे । सूक्ष्म-बादर-चराचरनु पूर्णज्ञान सर्वज्ञने होय छे ।

दर्शन-

जेमा कोई प्रकारनो व्यभिचार नथी होतो, सशय, विपर्यय, मिथ्यात्व अथवा अनध्यवसाय आदि दोषोथी जे रहित छे, इन्द्रिय अने मनना विषयभूत सर्व पदार्थोनी दृष्टि-श्रद्धारूप प्राप्तिने सम्यग्दर्शन कहे छे, जीवादि नवतत्वना भावोपर श्रद्धानपूर्वक तेनु यथानुरूप धारण करवु, जेनाथी समता भाव अस्थिर वस्तुओनी विरक्ति रूप वैराग्य, कर्म बधथी मुक्त होवानी निरन्तर अभिलाषा, शत्रु मित्र पर अभेदरूपे अनुकम्पा, आत्मीय कर्मोनो उदय थवाथीज सुख दु ख थाय छे, ते जातना आस्तिक्यादि लक्षणोनो उदय थाय छे, त्याग-वैराग्य तथा विवेक शुद्ध थवाथी जे मुक्तिनु अग छे, ससारना क्लेश रूपी रोगोना समूहने मटाडवामा जे औषधरूप छे, ते सम्यग्दर्शन छे, ज्ञान अने चरित्रना बीजरूप छे, तेनाथी महाव्रतोनु पालन करता करता स्थिरतानी भावना जागृत थाय छे, ज्ञानीओनु विश्वमा ते सर्वोपरि भूषण छे, ते श्रेष्ठ सम्यग्दर्शनथी नि शसय मोक्षनी प्राप्ति थाय छे, तेना निश्शकथी माडीने प्रभावना सुधीना आठ अग छे ।

चारित्र–

उत्तराध्ययनना २८ मां अध्यायमां श्रीवीरप्रभुए स्वयं प्रतिपादन करेलुं छे के मिथ्यात्व अव्रत कषाय प्रमाद अने मन-वचन-कायना अशुभ योगथी जे पापकर्म बंधाएलां छे के जेना शुभाशुभ कर्मना परिवर्तन करवानी शक्ति आपणा हाथमां नथी रही ते कर्मोनो पुरुषार्थबळथी नाश करीने आत्माने अध्यात्मना अने योगाभ्यासथी अकर्म करी देवो तेनुं नाम चारित्र छे चारित्रथी भविष्यनी प्रवृत्तिमार्गनो अवरोध करीने जेम अग्निथी सुवर्णनो मेल दूर थाय छे तेम तपथी जन्मान्तरना कर्मोनो नाश करीने आत्मा सर्व दुःखोथी रहित थाय छे।

आ चारित्रना अणुव्रत तथा महाव्रत एम बे भेद छे पोताना भावोने कषायरहित करवाथी मूल गुण तथा उत्तरगुण रूप चारित्र एक देश अथवा सर्वांश संयम गुण प्राप्त करे छे।

जम्बूमुनि सुधर्माचार्यने पूछे छे के भगवान् ज्ञातपुत्र-महावीरनुं चारित्र केवुं हतुं ?

ज्ञातपुत्र–

तेओ ज्ञात् वंशना क्षत्रिय कुमारो जन्मना हतानी ज्ञातपुत्र कहेवाता हता मुनि बनीने ज्ञातपुत्र कोई वस्तुनी विशेष इच्छामां मोह नहोतो करता ज्ञातपुत्र कोईने वश न थता पण सदैव आत्मभावमां रहेता तेमथी भावना रागद्वेष रहित मध्यस्थ हती। तेओ अनुकूल प्रतिकूल प्रसंगो पर ध्यान आप्या वगर संयम मार्गमां स्थिर रहीने पोतानी धर्मप्रतिज्ञाओमां हमेशां प्रवृत्त रहेता हता।

तेथी हे आचार्य भगवन्! में तेमना ज्ञान-दर्शन अने चारित्र सम्बन्धी जे प्रश्न कर्यों छे तेनो आपे यथाउचित अनुभव प्राप्त कर्यो छे ते जेम तम सांभळ्युं होय अने जाण्युं होय ते शान्त चित्ते मने कहो।

मूल

खेयन्नए से कुसले महेसी,
अणतनाणीय अणतदसी।
जसंसिणो चक्खुपहे ठियस्स,
जाणाहि धम्म च धिइ च पेहि ॥ ३ ॥

संस्कृतच्छाया

खेदज्ञः [क्षेत्रज्ञः] स कुशलो महर्षिः,
अनन्तज्ञानी च अनन्तदर्शी ।
यशस्विनः चक्षुःपथे स्थितस्य,
जानीहि धर्मं च धृतिं च प्रेक्षस्व ॥ ३ ॥

सं० टीका—स ज्ञातनन्दन-महावीरो भगवान् चतुस्त्रिंशदतिशयसमेत', पञ्चत्रिंशद्वाणीगुणोपपेत "उप अप इत 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यमिति वार्तिकेन' पररूपत्वे उपपेत इति"। खेद संसारान्तर्वर्तिजीवाना कृतकर्मविपाकज शारीरिक मानसिक च दु ख क्लेशं, आत्मीयज्ञानेन जानातीति खेदज्ञः—सदयः। "खेदज्ञः सदयो वीर इति कोष"। त परकीयात्मदु ख विज्ञाय समस्तप्राण-भूत-जीव-सत्वाना दु खापनोदनसमर्थोपदेशदानादियुक्त इति। अथवा 'खेयन्नए' इत्यस्य 'क्षेत्रज्ञ'=इतिच्छाया तत्रायमर्थ क्षेत्रमाकाश तल्लक्षणया तन्मध्यवर्ती धर्माधर्मात्मकालपुद्गलसमूहस्तज्जनातीति क्षेत्रज्ञ। लोकालोकस्वरूपपरिज्ञातृत्वादिति। पुनश्च वा यथाऽवस्थितात्मस्वरूपपरिज्ञानादनुभवनादात्मज्ञ इत्यपि साधुरेव। अथवा क्षेत्र=शरीरं तदसारतया जानातीति (दर्शयतीति) वा, क्षेत्र स्त्रीविषयदोष तद्रमणानुरक्तज तज्ज्ञानातीति क्षेत्रज्ञ। "क्षेत्र नारीशरीरयो" रित्यमर। कुशलो=निपुण, सदसज्ज्ञानप्ररूपकत्वात्। "प्रवीणे निपुणाभिज्ञविज्ञनिष्णातशिक्षित। वैज्ञानिक कृतमुख कृती कुशल" इत्यमर। अथवा तानष्टकर्मकुशान् लुनातीति कुशल। प्राणिना कर्मोच्छित्तये निर्जरार्थाय निपुण समर्थ। "पर्याप्तिक्षेमपुण्येषु कुशल शिक्षिते त्रिष्वित्यमर"। अथवा प्राणिना भावुको भद्रकारको मङ्गलप्रद। "श्व श्रेयस शिव भद्र कल्याण मगलं शुभम्। भावुक भविक भव्य कुशलं" इत्यमरः। 'आसुपन्ने'

इति पाठान्तरं तस्यायमर्थः । आशुप्रज्ञः=आशु शीघ्रं प्रज्ञा यस्यासावा-
शुप्रज्ञः, सर्वत्र सदोपयोगत्वात् [न तु छद्मस्थः शाठ्योऽस्त्यस्य इव
विचिन्त्य जानातीति भावः । छद्मनि शाठ्येऽल्पज्ञत्वे तिष्ठतीति
छद्मस्थः । “कपटोऽस्त्री व्याजदम्भोपधयश्छद्मकैतवे, कुसृतिर्निकृतिः
शाठ्यमित्यमरः ।” छाद्यते स्वरूपमनेनेति छद्म, कपटे, छले, व्याजे,
अपदेशे, स्वरूपाच्छादने, रक्ते, नवनीते, शुक्ले, अक्षिरोगभेदे च,]
महर्षिः=महांश्चासावृषिश्चेति महर्षिरित्यत्यन्तोग्रतपश्चरणानुष्ठायित्वादनु-
कूलप्रतिकूलपरिषहोपसर्गादिसहातितितिक्षासहनाच्चेति वा, भावाकम्प्येन
सत्वानां भयापकत्वात्स्वसत्त्वानत्वान्महर्षिः । “ऋषयः सत्यवचस इत्य-
मरः” । अनन्तज्ञानी=अनन्तमवसानरहितमविनाश्यनन्तपदार्थपरिच्छे-
दकं वा विशेषार्थग्राहकं ज्ञानमस्यास्तीति अनन्तज्ञानी । एवं सामान्या-
र्थपरिच्छेदकत्वादनन्तदर्शीत्यथवा विशेषार्थज्ञानमनन्तमनवधिकमपरि
च्छिन्नमित्यर्थः सर्वज्ञतेति भावः । सामान्यार्थग्राहकदर्शनं ते द्वे अपि
यस्यानन्ते । “अनन्तोऽनवधावित्यमरः” तदेवं भूतस्य मुक्तस्य, अनन्त-
गुणसहितस्य भगवतो यशः सुरासुरनरातिशाय्यद्भुतं प्रमाणरहितं चास्ति
यस्य स यशस्वी=तस्य यशस्विनो, लोकस्य=जगतश्चक्षुःपथे=नयनमार्गे
भवनस्य केवलावस्थायां विद्यमानस्य लोकाः सूक्ष्मव्यवहितपदार्थाविर्भा-
वनेन च इत्थम्भूतस्य स्थितस्य जानीत्यवगच्छत । धर्मं संसारोद्धरणसमा-
र्थत्वाविच्छिन्नं श्रुतचारित्ररूपं । समस्ततपश्चरित्रमार्जवोत्तमक्षमादिवि-
हितात्मपुरुषार्थं वा । “धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणमिति” स्मृतिः ।

तथा च—

धारणाद्धर्ममित्याहुः, धर्मो धारयते प्रजाः,
धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः ॥

देशकालवयोवस्थाबुद्धिशक्त्यनुरूपतः
धर्मोपदेशभैषज्यं, वक्तव्य धर्मपारगैः ॥ इति वृद्धा ।

निष्प्रकम्पा चारित्राचलनस्वभाव धृतिं संयमे धैर्य्यं, अथ वा प्रतिज्ञायाः पालने दृढत्व धैर्य्यम् । "धृतिर्धारण-धैर्य्ययोरित्यमरः ।" सयमे धृतिं रतिमेतीति, तत्प्रणीता प्रेक्षस्व सम्यगवबुध्य पर्य्यालोचयेति भावः । यदि श्रमणैस्तै. सुधर्मस्वामिभि कथितस्तत्त्व भगवतो यशस्विनश्चक्षु पथे स्थितस्य धर्मं धृतिं चावबुध्यसे तथैव रीत्यास्माकं कथयेति संगति· ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—[से] भगवान् महावीर [खेयन्ने] खेद अथवा क्षेत्र–आत्माके जानने वालोंमें [कुसले] प्रवीण [महेसी] महर्षि [अणतनाणी] अनन्त–ज्ञानयुक्त [अणतदंसी] अनन्त–दर्शनसमन्वित [य] और [जससिणो] यशस्वी थे, अत अर्हन्दशामें ही भगवान्को [चक्खुपहे] आखोंके विषयरूपसे [ठियस्स] स्थित [जाणाहि] जान । (च) और (धम्म) भगवान्के प्रतिपादित धर्मको (च) और (धिइ) सयमकी दृढताको देख ।

भावार्थ—आर्य्य–सुधर्माने आर्य्यजम्बूसे प्रभुके ज्ञान–दर्शन–चरित्रके तथा यश कीर्तिके सम्बन्धमे यह वर्णन किया कि–वीरप्रभु जगत्के दु खोंको कर्मोंके फलसे पैदा होना मानते थे, क्योंकि उनको आत्मासे अलग करनेका उपदेश करते थे। आत्माके सत्–चित्–सुखात्मक स्वरूपके ज्ञाता थे। कर्मरूपी कुशाको उखाडनेमें उद्यमशील थे, महान् ऋषि थे, अनन्त–पदार्थोंको एक समयमें जाननेके कारण अनन्तज्ञानी थे, अनन्तदर्शन–केवलदर्शनसमन्वित थे, तथा अखडकीर्तियुक्त थे, इसलिए भगवान्को अर्हन्दशा मे आखोंके समान सूक्ष्म–पदार्थ दीखते थे, अत उनके कहे हुए धर्मको तथा चरित्र सम्बन्धी स्थिरताका श्रद्धायुक्त दृढविचार करो ॥ ३ ॥

भाषाटीका—ज्ञातनन्दन महावीर प्रभु शासनके पति ३४ अतिशय युक्त और ३५ वाणीके गुणोंसे अलकृत एव शोभित थे।

३४ अतिशय–

(१) केश तथा दाढी मूछ के बाल बढते नहीं या असुन्दर रीति से नहीं बढते। (२) शरीर नीरोग रहता है। (३) उनके शरीरका रुधिर तथा मांस दुग्धकी तरह सुन्दर और स्वच्छ होता है, श्वेत होता है, किसीको नहीं लगता। (४) मुखमें कमलकी सी सुगंधि रहती है पसीना अथवा दुर्गंध नहीं होती। (५) आहार और नीहारको चर्मचक्षुवाले नहीं देखते क्योंकि वे क्रियाएँ गुप्त की जाती हैं। (६) आकाश गत छत्र रहता है अर्थात् सिरों पर स्वयं अभेद रूपसे फिरते रहते हैं। (७) आकाश गत चमर कुसुम युत चारित्र रूप धर्म ऊँचा रहता है। (८) आकाश गत स्फटिकमय सिंहासन चरम १२ वां गुणस्थान शोभित है। (९) पादपीठिका सहित अजस्र तीर्थंकर नाम कर्मकी कीर्ति आकाशमें गूंजती रहती है। (१) प्रभु अशोकमय छायामें रहते हैं जहां आनेसे भारतीय शोक निवारण करते हैं। (११) मार्गमें चलते समय कांटेकी तरह तीक्ष्ण और पैने स्थानादि निर्मीत हो जाते हैं। (१२) ऋतु अर्थात् समय अनुकूल तथा धर्मकाल हो जाता है। (१३) १२ योजन तक शान्तिमय वायु चलता है। (१४) ज्ञान धारा प्रवाहित होनेसे कर्म रजका अभाव हो जाता है। (१५) भगवान् के समवसरणमें समभावका साम्राज्य छा जाता है। (१६) शब्द रूप रस गंध स्पर्शमें अनुकूलता और प्रतिकूलता रूप भावि विकृति नाश जाता रहता है। (१७) निश्चय और व्यवहार धर्म रूपी चौंर दुलते रहते हैं। (१८) प्रभा या अनन्तज्ञानप्रतिभारूप भामंडल पीठ आसन या आसनकी शोभा युक्त हैं। (१९) उनकी मधुर भाषा एक योजन तक सुनाई पडती है। (२) स्त्री पुरुष पशु, पक्षी उनकी सांकेतिक अर्ध मागधी भाषाको अपनी भाषामें समझते हैं। (२१) पहले वैरको जानेवाले लोग प्रभुकी वाणीसे न्याय लेकर निर्वैर होजाते हैं। (२२) प्रभु जहां विचरते हैं वहांसे १२५ योजन चारों ओर सात ईतियोंमेंसे कोईभी ईति (भय) नहीं होती। (२३) मनुष्य और तिर्यच आपसका जातीय द्विष भाव तथा वैर विरोध छोड देते हैं। (४) जनता में किसी प्रकार का भय नहीं होता। (२५) मारि अतिरिक्त रोग नहीं होते। (२६) अतिवृष्टि नहीं होती। (२७) अनावृष्टि नहीं होती। (२८) दुर्भिक्ष नहीं होने पाता। (२९) स्वचक्र–अपने राज्य का उपद्रव स्वर्गोत्पन्न उपद्रव नहीं होता। (३) पर चक्र–पर राज्य का प्रबल आक्रमण

विग्रहादि उपद्रव नहीं उठता। (३१) पहलेका फैला हुआ व्याधि रोगादिक नष्ट होजाता है। (३२) बलवान् दुर्बलको नहीं सताता। (३३) पुराण रोगकी उपशान्ति होजाती है। (३४) नवीन रोगका सवरण होजाता है।

३५ वाणी गुण–

(१) सुन्दर सस्कारित भाषा होती है। (२) स्वर उच्च होता है। (३) भाषा ग्रामीण और सादी होती है। (४) स्वर और भाषोच्चारणमें गम्भीरता होती है। (५) बोलते समय ध्वनि निकलती है। (६) वाणी सरस होती है। (७) राग युक्त भाषा होती है। (८) सूत्र थोडा और अर्थ अधिक होता है। (९) वाणीमें पूर्वापर विरोध नहीं होता। (१०) सन्देह रहित भिन्न २ अर्थ प्रकाशन होता है। (११) निश्शकित गुण दाता है। (१२) वाणी अकाट्य युक्ति युक्त होती है। (१३) चित्त अन्यथा न होकर स्थिर होजाता है, अत वाणी आकर्षक होती है। (१४) वाणी देश और कालसे उचित सबध रखती है। (१५) अधिक विस्तृत होकर भी अनमेल या अरुचिकर नहीं होती। (१६) जीवादि वस्तु विचारका ज्ञान कराने वाली भाषा होती है। (१७) उपदेश करते समय किसीका मर्म प्रकाश नहीं करते। (१८) भाषा पूर्वापर सापेक्ष होती है। (१९) आख्यायिकाकी तरह वाणी मनको प्रेमास्पद बना देती है। (२०) भाषा मधुर और अनादिकालकी भूख मिटाने वाली होती है। (२१) उनकी श्रद्धेय भाषा स्वय सिद्ध होती है। (२२) वस्तुका वास्तविक ज्ञान प्रकट कराती है। (२३) परनिन्दा रूप और अपनी प्रशसा रूप भाषा नहीं होती। (२३) प्रशसनीय भाषा होती है। (२५) बोलते समय अधिक कालक्षेप नहीं करते। (२६) चित्तको सन्तोष होता है। (२७) व्याख्यान मध्यम गतिका होता है। (२८) श्रोता कर्म रोगसे मुक्त हो जाता है परन्तु मनन करने पर। (२९) वाणी अनादि कालकी भ्रमणा मिटाती है। (३०) जिसका वर्णन करते हैं उसका सक्रमण उसी विशेष रूपसे करते हैं। (३१) उनकी भाषा वचनान्तर नहीं होती। (३२) पद, अर्थ अलग २ करके बोलते है। (३३) सत्व और साहस श्रोताओंका बढ जाता है। (३४) धर्मश्रवण करते हुए लोक अघाते नहीं। (३५) जीवादिक की अविच्छिन्न प्ररूपणा करते हैं।

खेदज्ञ-

संसारके प्राणियों द्वारा अर्जन किए हुए मार्मिक दुःखविपाकको जानते हैं। कर्म विपाकसे उत्पन्न शारीरिक मानसिक क्लेशोंको प्रभु स्वयं होकर जानते तथा देखते हैं। उनको दुःखोंका ज्ञान करानेके अनन्तर प्राण भूत जीव और सत्त्वकी मनस्ताग्नि दूर करनेके लिए अहिंसा एवं निस्पृह चारित्र उपदेश करके संसारमें शान्तिकी स्थिति-व्यवस्था करते हैं। अतः खेदज्ञ हैं।

क्षेत्रज्ञ-

आकाशके अनन्त प्रदेशोंमें धर्म अधर्म जीव काल और पुद्गलके अनन्त समूहको जाननेके कारण प्रभु क्षेत्रज्ञ भी हैं। क्योंकि लोक और अलोकके गुप्त और प्रगट सब भावों और विषयोंके ज्ञाता हैं। यथातथ्य स्व-स्वरूप और परस्वरूप जाननेसे आत्मज्ञ हैं। तथा इस प्रकार शरीर क्षेत्र में आत्मा या कर्म रस सार जाननेसे तथा जीवके विषम रोग और उसके शमन और अनुरूप रसमें जो दोष हैं उसे जाननेके कारण क्षेत्रज्ञ हैं।

कुशल-

सत् और असत्को अलग करके बता देते हैं, आठ प्रकारके कर्मरूपी तीक्ष्ण कुशको काटनेमें कुशल हैं। निर्वाणका पथ बतानेमें समर्थ हैं धर्मोपदेश देनेमें मंगलमय हैं अतः कुशल भी हैं।

आशुप्रज्ञ-

आपका उपयोग अनन्त होनेसे आशुप्रज्ञ हैं, परन्तु यह उपयोग छद्मस्थो-पयोग नहीं है। [यहतो कुछ देर सोच विचार करनेके पश्चात् जानता है कर्मोंके आवरणोंद्वारा आत्म-स्वरूप पर पर्दा पड जाने के कारण इस कर्म सहित संसारी आत्मा की छद्मस्थ संज्ञा है। परन्तु भगवान् तो 'वियट्ट छउमाए' इस दोषसे निवृत्त हैं]

महर्षि-

अनन्त उग्र तपरूपी अनुष्ठान करनेसे अनुकूल प्रतिकूल परिषह और उपसर्ग सहन करनेसे नाना तितिक्षाओं को सहनेसे तथा वस्तुका वास्तविक रूपमें प्रकाश करनेसे एवं अपनी उपासना करनेसे महर्षि थे।

अतीत अनागत वर्तमानका अनन्त स्वरूप जाननेकी दृष्टिसे अनन्तज्ञानी; तथा सामान्य अपेक्षा भिन्न दर्शन करनेसे अनन्तदर्शी थे।

उनके अक्षय और अतुल यश का गायन मनुष्य-असुर और देव सब मिल कर करते थे। ससारकी दो आखों द्वारा प्रत्यक्षतया सूक्ष्म और बादर पदार्थोंका ज्ञान भलिभाति करा देनेसे उनके प्रतिपादित धर्मको तथा उनकी धीरताको देख!

धर्म–

ससारके प्राणिओंका दु खोंसे उद्धार करना उसका स्वभाव है अत वह धर्म है तथा ज्ञान और क्रियाके भेदसे धर्म दो तरहका है।

"समता, तप, सन्तोष, सरलता, उत्तम क्षमा, आदिक विहित पुरुषार्थको भी धर्म कहा है।"

"मनुने धैर्य रखना, शान्ति करना, अकिंचनवृत्ति रखना, इन्द्रिय दमन करना, आत्माको बुरे विचारोंसे हटा कर पवित्र करना, आत्मदोषका निग्रह करना, बुद्धि द्वारा सत्, असत् युक्त अयुक्तका निर्णय करना, निष्पाप तथा निस्पृह सत्य बोलना, आए हुए क्रोधको निष्फल करना, यह १० प्रकारका धर्म बताया है।"

धर्मके पारको पानेवाले पुरुषोंने देश काल, अवस्था, बुद्धि, शक्ति, आदि के अनुरूपसे धर्मोपदेशको ही औषध रूप कहा है।

इसके अतिरिक्त उनकी चरित्रमें निश्चलता धीरता देख! क्योंकि वे अपनी प्रतिज्ञामें सदैव दृढ रहते थे। सयम के अतिरिक्त वे किसीमें अनुरक्त न थे॥ ३॥

गुजराती अनुवाद—ज्ञातनन्दन शासनपति महावीर प्रभु ३४ अतिशय तथा ३५ प्रकारना वाणी गुणे करी अलंकृत हता।

३४ अतिशय—(१) माथाना केश-दाढीमूछ तथा शरीरना वाळ अने नख मर्यादित होय। (२) नीरोगी अने मेल, रज आदिथी निर्लेप शरीर होय। (३) मास अने लोही गायना दूध जेवा उज्वल अने मीठा होय। (४) श्वासोच्छ्वास कमल जेवा सुगन्धित होय। (५) प्रभुना आहार अने निहार चर्मचक्षुओथी अदृश्य होय, कारणके ते क्रियाओ गुप्त करवामां आवे छे। (६) आकाशमा धर्म चक्र चाले। (७) आकाशमा छत्र रहे। (८) आकाशमा श्वेतवर चामरो विंझाय। (९) आकाशमा अत्यन्त स्वच्छ स्फटिक सिंहासन पादपीठ सहित थई आवे। (१०) आकाशमा लघुपताकाओथी परिमडित रमणीय इन्द्र

चाल प्रभुनी आगळ चाले। (११) जघन्यकइस थई आवे त्यां पचासी बीजा-ओना छेदनुं निवारण थाय। (१२) जरा पाछळना भागमां मस्तक प्रदेशे तेजोमंडळ थई आवे ते दसे दिशाओना अंधकारने दूर करे। (१३) पृथ्वी बहु सपाट अने रमणीय बनी जाय। (१४) कांटा ऊंधा थई जाय तथी मापक बहु ठंडकी निर्मीत थई जाय (१५) विपरीत ऋतु सुखस्पर्शी थई जाय समय अनुकूळ तथा वर्षे मादे योग्य थई जाय। (१६) शीतळ-सुखकर शुभ वायुथी एक योजन क्षेत्रमां वहे। अने सर्व प्रकारनी अशुचि दूर करे। (१७) सुगन्धि वृष्टि थाय तेथी आकाशथी रज अने भूमि उपरनी रेणु बेसी जाय ज्ञानधारा वरसवाथी धूमी रज दूर थई जाय। (१८) रमणीय पंचवर्णी फूल प्रगटे। (१९) अमनोज्ञ (अशुभ) शब्द-स्पर्श-रस-रूप-गन्ध उपशमे अर्थात् नाश पामे। (२०) मनोज्ञ शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध प्रगट थाय। (२१) ज्यारे प्रभुए बेठेली परिषद् भगवानना योजनातिक्रमी स्वर वडनुं श्रवण करी शके अने ते शब्दो योजन सुधी प्रिय लागे। (२२) प्रभु अर्धमागधी भाषामां धर्मदेशना आपे। (२३) आर्य अनार्य देशना मनुष्यो-पशुओ-पक्षीओ विगेरेने आ भाषा पोतानी भाषामां परिणमे ते हितकर-सुखकर-आनन्दकर अने मोक्षदायी लागे। (२४) जन्मवेर जातिवैर, शान्त थाय। (२५) भगवानने देखतां अन्य दर्शन-मताभिमानी हठ छोडी नम्र बने छे। (२६) प्रतिवादी निरुत्तर बने। (२७) प्रभु विचरे छे त्यांथी २५ योजन चारे दिशामां दुष्काळ-डंस-मच्छर विगेरेनो उपद्रव रहे नहि। (२८) महामारी मरकी प्लेग न होय। (२९) स्वचक्रनो भय नहीं थाय। (३०) परचक्रनो भय न होय। (३१) अति वृष्टि न थाय। (३२) अनावृष्टि न थाय। (३३) दुष्काल न पडे। (३४) उत्पातो अने व्याधिओ तुरत शमी जाय।

सत्यवाणीना ३५ गुण—

(१) भगवाननी वाणी संस्कार—व्याकरण युक्त होय। (२) उदात्त आवाज वाळी वाणी। (३) सारी। (४) गंभीर। (५) पडछंदा युक्त। (६) सरल। (७) उपनीत रागत्व—श्रोताओ धारे के भगवान् मने बोधीने उपदेश आपे छे। (८) महार्थ—थोडा बोलो अर्थ घणो। (९) पूर्वापर वाक्यथी अविरोधी। (१०) शिष्ट। (११) असंदिग्ध (१२) वाणीमां—अर्थमां दूषण रहित। (१३) हृदयंगमी (१४) देश कालने अनुकूळ। (१५) तत्त्वथी

यथार्थ स्वरूप दर्शक। (१६) जे सम्बन्ध चालतो होय तेनी सिद्धि पुरतुज कहेवु ते। (१७) पद वाक्यनुं परस्पर सापेक्ष पणु। (१८) इष्ट रीतिए तत्वनु कहेवु। (१९) अत्यन्त मधुर-सुखकर। (२०) परना रहस्य विगेरेने प्रकट नहि करनारी। (२१) वस्तुना अर्थ तथा धर्म सहित। (२२) अर्थनो झलकाट उठे एवा पदो सहित। (२३) पर निन्दा अने आत्मप्रशसा रहित। (२४) कहेला गुणोना योगथी प्रशंसा करवा लायक। (२५) व्याकरणना दोष रहित। (२६) श्रोताओने पोताना विषयनो जवाब मळवाथी आश्चर्य अने वैराग्य उत्पन्न करनारी। (२७) अद्भुत। (२८) अत्यन्त विलम्ब रहित। (२९) मननी भ्रान्ति तथा वाक्य बोलवानी अशक्ति विगेरे दोष रहित। (३०) सर्व सुर-असुर-नर-अने तिर्यंच पोतानी भाषामा समजे तेवी। (३१) बीजा पुरुषोनी अपेक्षाए शिष्योने विषे विशेष बुद्धिने पेदा करनारी। (३२) पदो, वाक्यो स्पष्ट रीते समजाय तेवी चोक्खी। (३३) पराक्रमवाळी अनायासे वाणी प्रकाशे जाय। (३५) कहेवा धारेला अर्थोनी सारी रीते सिद्धि थाय त्या सुधी अविच्छिन्न वाग्धाराए बोल्या जवाय तेवी।

खेदज्ञ–

ससारना प्राणिओए सचय करेला मार्मिक कर्मना दु खविपाकने तेओ जाणे छे। कर्मना परिणामे उत्पन्न शारीरिक तथा मानसिक क्लेशोने प्रभु दयार्द्र बनीने जाणे छे तेमज देखे छे। तेमनां दु खोनु ज्ञान करावावाने तथा प्राण-भूत-जीव-सत्वनी अशान्ति दूर करवाने तेओ अहिंसा-सत्य-निस्तृष्ण विगेरेनो उपदेशकरीने ससारमां शान्तिनी स्थापना करे छे। तेथी भगवान् खेदज्ञ छे।

क्षेत्रज्ञ–

आकाशना अनन्त प्रदेशोमा धर्म-अधर्म-जीव-काल अने पुद्गलना अनन्त समूहने तेओ जाणे छे। तेथी क्षेत्रज्ञ पण छे। अथवा लोक-अलोकना गुप्त अने प्रगट सर्व भाव अने विषयना ज्ञाता छे। यथातथ्य स्वस्वरूप तथा परस्वरूपना ज्ञाता होवाथी आत्मज्ञ छे। आ नश्वर शरीर क्षेत्रमां तेमना आत्माना अथवा धर्मरूप सारना जाणकार होवाथी, तेमज स्त्रीना विषय दोष अने तेमा रमण करवाथी जे दोषो उत्पन्न थाय छे, तेना पण जाणकार होवाथी तेओ क्षेत्रज्ञ छे।

कुशल–

सत्-असत्ने भिन्न भिन्न करीने बतावे छे। आठ प्रकारना कर्मरूपी तीक्ष्ण

कुशवे धर्मध्यानमां कुशळ छे। निर्ग्रन्थनो मार्ग बताववामां समर्थ छे धर्मोपदेश देवामां नैपुण्य छे।

आशुप्रज्ञ-

तेओनो उपयोग अनन्त होवाथी आशुप्रज्ञ छे। परन्तु ते उपयोग छद्मस्थोना जेवो होतो नथी। [छद्मस्थ तो थोडो समय विचारणा कर्या बाद जाणे छे। आवरण कर्माणाओ द्वारा आत्म स्वरूप पर पडदो पडवाथी कर्म सहित संसारी आत्माने छद्मस्थ कहे छे। परन्तु भगवान तो "निवृत्त छद्मस्थ" ए दोष थी मुक्त छे।

महर्षि-

अनन्त उग्र तपश्चर्या करवाथी अनुकूल प्रतिकूल परिषह तथा उपसर्ग सहन करवाथी चार प्रकारना दुःखो सहवाथी उत्कृष्टपणे मानसिक तप करवाथी उपशमथी मोक्षार्थ होवाथी तेओ महर्षि हता।

भूत-भविष्य अने वर्तमानना अनन्त काळना भावोनी अपेक्षाए तेओ अनन्तज्ञानी तथा सामान्य अर्थात् निराकार करवाथी अनन्तदर्शी हता।

तेमना अनुपम अने अतुल यशनुं गान मनुष्य-सुर-असुर विगेरे सर्वे मळीने करता हता।

लोकने चक्षुभूत एवा श्रीमहावीरदेवना परमेश्वर धर्मने तथा तेमनी धीर अने जाण अने देख।

धर्म-

संसारना प्राणिओने दुःखमांथी उद्धार करवानो तेनो स्वभाव छे। ज्ञान अने क्रिया ए बे प्रकारनो धर्म छे। क्षमा-तप-सन्तोष-सरळता-उत्तम क्षमा-विगेरेने पण धर्म कहेवामां आवे छे। धीरज राखवी-शान्तिधारण करवी-अकिंचनवृत्ति राखवी-तीव्र समय-अवसरने पारख विचारोथी, इत्यादिथी पवित्र भावनाओ-क्षायोपशमिक-बुद्धि द्वारा सत्-असत्-पुण्य-अपुण्यनो निर्णय मिथ्यात्व-विषाद-क्लेश निष्फळ करवो-एम दश प्रकारनो धर्म प्रभुए पण बताव्यो छे।

धर्म पारंगत पुरुषोए देश-काळ अवस्था-बुद्धिशक्तिने अनुरूप धर्मोपदेश आप्यो छे।

महावीरप्रभुनी चारित्रमां निश्चलता धीरता एवी के तेओ पोतानी प्रतिज्ञामां हमेश दृढ रहता हता सदैव संयममार्गे तेओ मग्न रहता।

मूल

उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु,
तसा य जे थावर जेय पाणा ।
से णिच्चणिच्चेहि समिक्ख पन्ने,
दीवेव धम्मं समियं उदाहु ॥ ४ ॥

संस्कृतच्छाया

ऊर्ध्वमधस्तिर्यक्षु दिक्षु,
त्रसाश्च ये स्थावरा ये च प्राणिनः ।
स नित्यानित्याभ्यां समीक्ष्य प्राज्ञः
दीप [द्वीप] इव धर्मं समितमुदाह ॥ ४ ॥

सं० टीका—अधुना सुधर्माचार्यस्तद्गुणान् स्फुटं प्रकटनचिकीर्षुराह—ऊर्ध्वमधस्तिर्यक्षु दिक्ष्वथवा चतुर्दशरज्वात्मके लोके ये जीवाः "शुद्धनिश्चयनयेनादिमध्यावसानवर्जितस्वपरप्रकाशकाविनश्वरनिरुपाधिशुद्धचैतन्यलक्षणनिश्चयप्राणेन यद्यपि जीवन्ति, तथाप्यशुद्धनिश्चयनयेनानादिकर्म्मबन्धवशादशुद्धद्रव्यभावप्राणैर्जीवन्तीति जीवाः । 'उपयोगमया' शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन यद्यपि सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनोपयोगमयास्तथाप्यशुद्धनयेन क्षायोपशमिकज्ञानदर्शननिवृत्तत्वाज्ज्ञानदर्शनोपयोगमया भवति । "अमूर्तय" यद्यपि व्यवहारेण मूर्तकर्म्माधीनत्वेन स्पर्शरसगन्धवर्णवत्या मूर्त्या सहितत्वान्मूर्तास्तथापि परमार्थेनामूर्तातीन्द्रियशुद्धबुद्धैकस्वभावत्वादमूर्ता । "कर्तार" यद्यपि भूतार्थनयेन निष्क्रियटङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावोऽय तथाऽप्यभूतार्थनयेन मनोवचनकायव्यापारोत्पादककर्म्मबीजसहितत्वेन शुभाशुभकर्म्मकर्तृत्वात् कर्तार । "सदेहपरिमाणा" यद्यपि निश्चयनयेन सहजशुद्धलोकाकाशप्रमितासख्येयप्रदेशास्तथापि व्यवहारेणानादिकर्म्मबन्धाधीन-

स्वेन शरीरप्रमकर्मोदयजनितोपसंहारविस्ताराधीनत्वात् प्रदादिमाजन-स्थप्रदीपवत् स्वदेहपरिमाणा । "मोक्तार" यद्यपि शुद्धद्रव्यार्थि-कनयेन रागादिविकल्पोपाधिरहितस्वात्मोत्थसुखामृतभोक्तारस्तथाऽप्य शुद्धनयेन तथाविधसुखामृतभावाच्छुभाशुभकर्मजनितसुखदुःखभोक्तृ-त्वाद्भोक्तार । "संसारस्था" यद्यपि शुद्धनिश्चयनयेन निस्संसारनि-त्यानन्दैकस्वभावास्तथाप्यशुद्धनयेन द्रव्यक्षेत्रकालभावभवपञ्चप्रकारसं-सारे तिष्ठन्तीति संसारस्था । "सिद्धा" व्यवहारेण स्वात्मोपलब्धि-लक्षणसिद्धत्वप्रतिपक्षभूतकर्मोदयेन यद्यप्यसिद्धास्तथापि निश्चयनयेना-नन्तज्ञानानन्तगुणस्वभावत्वात् सिद्धा । त एवगुणविशिष्टा जीवा । "विस्रसोर्ध्वगतिकाः ।" यद्यपि व्यवहारेण चतुर्गतिजनककर्मोदय-वशेनोर्ध्वाधस्तिर्यग्गतिस्वभावास्तथापि निश्चयेन केवलज्ञानाद्यनन्तगु-णावाप्तिलक्षणमोक्षगमनकाले विस्रसा स्वभावेनोर्ध्वगतिकाश्चेति । अत्र शुद्धाशुद्धनयद्वयविभागेन नयार्था अप्युक्ताः । आगमार्थः पुनः "अस्त्यात्माऽनादिबद्ध" इत्यादिप्रसिद्ध एव शुद्धनयाश्रितं जीवस्व-रूपमुपादेयं शेषं च हेयम् । एवंविधा जीवाश्चसन्त्युद्वेग भय माप्नु-वन्ति यद्वा चरन्ति चेतस्ततो गच्छन्तीति त्रसा । "चरिष्णु जगम चरं त्रसमिंग चराचरमित्यमर ।" ते त्रसास्तु द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रिय-भेदाच्चतुर्धा । तथा ये च स्थावराः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिभेदा-त्पञ्चधा । तिष्ठन्तीति स्थावरा भूताः सत्त्वाश्चापि, यथा च—

"प्राणा द्वित्रिचतुःप्रोक्ता भूतास्तु तरवः स्मृता ।
जीवा पञ्चेन्द्रिया प्रोक्ता शेषा सत्त्वा उदीरिता ॥"

"स्थावरो जगमेतर इत्यमर ।" एते प्राणानां धारकत्वात्प्राणिनो भवन्ति । प्राणास्तु दशधा यथा—"पंचेन्द्रियाणि त्रिविधं बल

च, ह्युच्छ्वासनिःश्वासमथान्यदायुः, प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्तास्तेषां वियोगीकरण हि हिंसा ।" एते विद्यन्ते यस्य ते प्राणिनो, जीवस्याधुना तु बाह्यप्राणधनपराक्रमत्वात् "शक्ति· प्राण पराक्रम इत्यमरः।" चार्वाकशाक्यादिमतनिराकरणेन पृथ्व्याद्येकेन्द्रियाणामपि जीवत्वमित्यावेदितम् । तान् जीवान्नित्यानित्याभ्या ध्रुवव्ययाभ्यां समीक्ष्य—ज्ञात्वा केवलज्ञानित्वात्प्रकर्षेण जानातीति प्राज्ञः । द्रव्यार्थिक—पर्यायार्थिकनयाश्रयणादावेद्येति भाव. । स ज्ञातृपुत्रो महावीरो भगवान् तत्व—पदार्थ—स्वरूपाणा ज्ञापकतया दीपवद्दीप प्रकाशकत्वात् यथार्थधर्ममाह—उक्तवान् । सम्यक्तया समतया श्रुतचरित्रात्मक धर्मं वीतरागभावेन रागद्वेषरहितत्वेन सदनुष्ठानितया चेति । परमकारुणिको हि भगवान् लोकाननुग्रहीतुमेव धर्ममावेदितवान्नतु निजोत्कर्षप्रकाशनार्थमपीति सहृदयैर्ज्ञेयम् ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—[से] उस [पन्ने] आत्मप्रज्ञ केवलज्ञानी प्रभुने [उड्ढ] ऊपर [अहेय] नीचे और [तिरिय] तिरछी [दिसासु] दिशाओंमें [जे] जो [तसा] त्रस-हिल्ने सरकनेवाले (य) और [थावर] स्थावर [पाणा] प्राणी हैं, उनको [णिच्चणिच्चेहि] नित्य और अनित्यदृष्टिसे [समिक्ख] जान कर [दीवे व] दीवेकी सदृश अथवा विश्वसागरमें डूबते जीवोंकेलिए टापूकी तरह (धम्म) धर्मको [समिय] समानभावसे [उदाहु] बताया ॥ ४ ॥

भावार्थ—आर्य्य सुधर्म फिरयों बोले कि-भगवान् महावीर त्रस और स्थावर जीवोंको जोकि-ऊपर-नीचे और इधर उधर भरे पडे हैं, सब जगह विद्यमान हैं, और जीवोंको उन्होंने पर्यायकी दृष्टिसे अनित्य और द्रव्यकी दृष्टिसे नित्य बताया है। और उनके उत्तम धर्मका उपदेश जगत्-सागरमें डूबते हुए प्राणिओंको टापूके समान सहारा देते है, और अज्ञानताके अंधेरेको मिटानेकेलिए दीवेके समान है। इस प्रवचनसे अनात्मवादका खण्डन हो जाता है

एवं दश-चतुः-प्राणों आदिसे जीव है यह सिद्ध किया है, और जैनदर्शनके प्राणभूत स्याद्वाद-सिद्धान्तका सम्यक् दिग्दर्शन कर दिखाया है ॥ ४ ॥

श्रीसुधर्माचार्य वीर प्रभुके गुणों को प्रकट करते हैं !

भाषा-टीका—सर्वज्ञ-वीर भगवान्‌ने ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक, अधोलोक के सब जीवोंका स्वरूप इस भांति वर्णन करके बताया है कि—"जीव" यद्यपि जीवत्वमात्र शुद्ध निश्चयनयसे आदि मध्य और अन्त से रहित, अपने और परके गुणोंका प्रकाशक, उपाधिरहित और शुद्ध चैतन्य (ज्ञान) रूप निश्चय प्राणसे ही जीवित है, तथापि अशुद्ध निश्चयनयसे अनादि कर्मबन्ध के वशसे जो अशुद्ध द्रव्यप्राण और भाव प्राण हैं उनसे जीवित रहने के कारण यह जीव है।

उपयोगमय—

यद्यपि शुद्धद्रव्यार्थिकनयसे परिपूर्ण तथा निर्मल ज्ञान और दर्शन ही उपयोग है इसी से जीवसंज्ञा है, तो भी अशुद्ध-नयसे क्षायोपशमिकज्ञान और दर्शनसे बना हुआ है, इस लिए ज्ञानदर्शनोपयोगमय है।

अमूर्त—

यद्यपि व्यवहारनयसे यह जीव मूर्त कर्मों के अधीन होने से स्पर्श रस गन्ध वर्णवाली मूर्तिके द्वारा रचित रहनेके कारण मूर्त है तथापि निश्चय नयसे अमूर्त इन्द्रियोंसे अगोचर, शुद्धरूप स्वभावका धारक होने से अमूर्त है।

कर्ता—

यद्यपि जीव निश्चयनयकी दृष्टिसे क्रिया रहित उपाधिरहित ज्ञानके स्वभावका धारक है। तथापि व्यवहारनयसे मन वचन तथा कायके व्यापारको उत्पन्न करनेवाले कर्मोंसे युक्त होनेके कारण शुभ और अशुभ कर्मोंका करनेवाला है, अतः कर्ता है।

स्वदेह परिमाण—

यद्यपि जीव निश्चयनयपूर्वक स्वभावसे उत्पन्न शुद्धलोकप्रमाणके समान है और असंख्य प्रदेशोंका धारक है, तथापि शरीर नाम कर्मके उदयसे उत्पन्न संकोच तथा विस्तारके अधीन होने से घटे आदि पात्रोंमें रहे हुए दीपककी तरह अपने देहके परिमाण जितना है।

भोक्ता–

यद्यपि जीव शुद्धद्रव्यार्थिक नयसे रागादिविकल्परूप उपाधियोंसे शून्य है, और अपने आत्मासे उत्पन्न हुए अमृतको भोगनेवाला है, तथापि अशुद्ध-नयसे उस सुखरूप अमृतपदार्थके अभावसे शुभ कर्म्मसे उत्पन्न सुख और अशुभ कर्मसे उत्पन्न दु खोंको भोगता है अत भोक्ता भी है।

संसारस्थ–

ससारमें स्थित रह कर अनेक पर्याय बदलता रहने के कारण ससारी है। यद्यपि जीव शुद्ध निश्चयनयसे संसार रहित है और नित्य आनन्दघन रूप एक स्वभावका धारक है तथापि अशुद्ध निश्चय नयसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भव इन भेदोंसे पाच प्रकारके ससारमें रहता है अत यह आत्मा–जीव ससारस्थ भी है।

सिद्ध—

यह आत्मा सिद्ध भी है। यथाह प्रज्ञापनायाम्—सितं बद्धं—अष्टप्रकारं कर्म्मेन्धनम्, ध्मात दग्ध जाज्वल्यमानशुक्लध्यानानलेन यैस्ते निरुक्तविधिना सिद्धा। अथवा 'षिधु गतौ' इति वचनात् सेधन्ति स्म अपुनरावृत्त्या निवृत्तिपुरीमगच्छन्, अथवा 'षिधु सराद्धौ' इति वचनात् सिद्ध्यन्ति स्म निष्ठितार्था भवन्ति स्म। अथवा "षिधूञ् शास्त्रे माङ्गल्ये च" इति वचनात् सेधन्ति स्म शास्तारोऽभूवन्, माङ्गल्य-रूपता चानुभवन्ति स्मेति सिद्धा.। अथवा सिद्धा नित्या अपर्य्यवसान-स्थितिकत्वात्, प्रख्याता वा भव्यैरुपलब्धगुणसन्दोहत्वात्, आह च,

"ध्मातं सित येन पुराणकर्म, यो वा गतो निर्वृतिसौधमूर्ध्नि;
ख्यातोऽनुशास्ता परिनिष्ठितार्थो, य सोऽस्तु सिद्ध कृतमङ्गलो मे"

अत स सिद्धो नमस्करणीयश्चैषामविप्रणाशिज्ञान-दर्शन-सुख-शक्त्यादिगुणयुक्ततया स्वविषयप्रमोदप्रकर्षोत्पादनेन भव्यानामतीवो-पकारहेतुत्वादिति।

भावार्थ—"आठ प्रकारके कर्मरूपी ईंधनको शुक्लध्यानरूपी अग्निसे जिसने जला दिया हो वह सिद्ध होता है, अथवा गत्यर्थक 'षिधु' धातुसे सिद्ध अर्थात् अपुनरावृत्ति की अपेक्षा जो निर्वृतिपुरीमें पहुंच गए हैं वह सिद्ध है; अथवा निष्पत्त्यर्थक 'षिधु' धातु द्वारा 'सिद्ध' यानी जिसने अपने अर्थको निष्पन्न किया है, और जो कृतकृत्य होगया हो वह सिद्ध है; अथवा शास्त्रार्थक और मांगल्यार्थक 'षिधू' धातुसे 'सिद्ध' यानी जो शासनकर्ता हो अथवा जो मंगलरूपके स्वरूप अनुभव कर्ता हो या जो स्वयं मंगलरूप हो वह 'सिद्ध' है; अथवा नित्य कारण जिनकी स्थिति अविनाशी है, अथवा भव्य जीवोंको जिनके गुणसमूह उपलब्ध होने से प्रसिद्धि प्राप्त हैं या जिन्होंने बांधा हुआ पुराना कर्म जला दिया है, जो निर्वृतिरूप महलके शिखरके ऊपर जा पहुंचा है, जो प्रसिद्ध है, अनुशासन करनेवाला है कृतार्थ है वह सिद्ध प्रभु हमारे लिए कृत मंगल है नमस्कार करने योग्य है इसीलिए कि—वे अविनाशी—ज्ञान दर्शन सुख शक्ति, आदिकसे युक्त हैं और समस्त आनन्दोत्सवके उत्पादक होनेसे भव्य जीवोंके ऊपर अप्रतिम उपकार करते हैं वे नमन करने योग्य हैं"। यद्यपि जीव व्यवहार नयके कारण अपनी आत्माकी प्राप्ति रूप उपरोक्त सिद्धत्व युक्त है, और उसके प्रतिपक्षी कर्मोंके उदयसे असिद्ध है, तथापि निश्चय नयसे अनन्तज्ञान और अनन्तसुख स्वभावका धारक होनेसे सिद्ध है

ऊर्ध्वगामी—

इन कहे हुए गुणोंका धारक जीव स्वभावसे ऊर्ध्वगमनकरनेवाला है, यानी व्यवहारसे चार गतियोंको पैदा करनेवाले कर्मोंके उदयसे ऊंचा नीचा तथा तिर्यक् गमन करनेवाला है, तथापि निश्चयनयसे केवलज्ञान आदि अनन्त-गुणोंकी प्राप्ति स्वरूप मोक्षमें जाने जानेके कारण स्वभावसे ऊर्ध्वगमन करने वाला है, इस प्रकार जीवका स्वरूप शुद्ध और अशुद्ध नयकी दृष्टिसे समझना चाहिये। और अनादि कालसे कर्मोंद्वारा आत्मा कर्म बंधकर संसारमें पड़ रहा है इत्यादि आगमपर ध्यान दें तो प्रसिद्ध ही है। और शुद्ध नय के आश्रित जीवका स्वरूप उपादेय यानी ग्रहण करने योग्य है और बाकी सब हेय है तथा उनके त्रस और स्थावर ये दो भेद हैं।

त्रस—

त्रस प्राणी वे हैं जो किसी के द्वारा भय पाए और क्षोभ पाकर, या

सताया जाकर अपने बचनेके लिए जो इधर उधर भाग फिर सकते हैं, जिनके दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पाच इन्द्रिय, ये चार प्रकार हैं।

स्थावर–

पृथिवी, पानी, आग, हवा, वनस्पतिके भेदसे पाच स्थावर हैं। ये अपने ऊपर आए हुए सकट से बचनेके लिए उद्यम करनेमें सर्वथा अशक्त हैं, बहुत थोडी समझ है, और जन्म मरण भी अधिक करते रहते हैं, पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु के जीव ४८ मिनिट में १२८२४ वार मर कर जन्म लेते हैं, वनस्पतिमें निगोदजीवकी अपेक्षा ६५५३६ वार जन्मते मरते हैं। हमारा एक श्वास सुखसे आता है और वे १७ वार जन्म कर मरते हैं। अत ये सब स्थावर कहलाते हैं। इन्हीं में भूत सत्व भी हैं यथा–

२–३–४ इन्द्रियवालोंको प्राणी सज्ञक जानना चाहिए। वनस्पतिकी भूत सज्ञा है। पाच इन्द्रिय वालोंको जीव सज्ञक माना है। पृथ्वी, पानी, आग, हवाको सत्व सज्ञासे पहचानते हैं। इन सब जीवोंमें १० द्रव्य प्राण होते हैं। जिनकी गणना इस भाति है।

१० द्रव्य प्राण—श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसेंद्रिय, स्पर्शेन्द्रिय, मन, वचन, काय, आयुके प्रमाणु, श्वास उच्छ्वासका लेना छोडना, इत्यादि १० प्राण हैं। यह प्राण धन सब जीवोंको अत्यन्त प्रिय है। जब इन पर मुसीबतका कुल्हाडा बजता है तब उस धनसे मोह एक दम हटा देता है। स्थावरोंमें जीव सिद्धि होनेसे चार्वाकादि का खण्डन हो जाता है। भगवान्ने इन सब जीवोंको द्रव्यकी दृष्टिसे नित्य और पर्याय की दृष्टिसे अनित्य फर्माया है। इसे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयके आश्रयसे भी समझाया है। प्रभु स्वय टापू की तरह डूबते हुए संसारी जीवोंको सहायक भूत हैं, और उनका ज्ञान तत्व-पदार्थ का पृथक् ज्ञान करानेके कारण दीपकके समान हैं। दीपककी तरह स्व-पर रूपका ज्ञान प्रकट हो जाता है। यही भगवान्का धर्म है, जिसे उन्होंने और तीर्थकरोंकी भांति समता अर्थात् तुलनात्मक दृष्टिसे कहा है। इनका धर्मोपदेश करनेका आशय लोकोंको समभाव-उपशमभाव-अहिंसाभाव तथा सत्यका स्वरूप समझाकर ससारमें परोपकारिता फैलाना या कुछ अपना उत्कर्ष प्रकट करनेका उद्देश नहीं ॥ ४ ॥

गुजराती अनुवाद—सुधर्माचार्य वीरप्रभना गुणोनु वर्णन करे छे।

एवा प्रभु श्रीवीरभगवाने ऊर्ध्वलोक अधोलोक अने तिर्यग्लोकना समस्त जीवोनुं स्वरूप आ रीते वर्णवेलुं छे।

जीव–

जो के जीव शुद्ध निश्चय नयथी आदि-मध्य अने अन्त रहित, स्व तथा पर गुण प्रकाशक, उपाधि रहित अने शुद्ध चैतन्य (ज्ञान) रूप निश्चय प्राणथी जीवित छे। तो पण अशुद्ध निश्चय नये अनादि कर्म बंधना कारणे ते अशुद्ध द्रव्य प्राण अने भाव प्राण छे तेनाथी जीवित रहेवाने कारणे जीव छे।

उपयोगमय–

जो के शुद्ध द्रव्यार्थिक नये जीव परिपूर्ण तथा निर्मल ज्ञान दर्शन मय छे तो पण अशुद्ध नये क्षायोपशमिक ज्ञान दर्शन युक्त छे तेथी जीव ज्ञानदर्शनोपयोगमयी छे।

अमूर्त–

व्यवहारनयथी आ जीव मूर्त कर्मोथी बद्ध होवा थी स्पर्श-रस-गंध-वर्ण वाळी मूर्तिथी सहित होवाना कारणे मूर्त छे। पण निश्चय नये अमूर्त इन्द्रियोथी अगोचर शुद्धरूप स्वभावनो धारक होवाथी अमूर्त छे।

कर्ता–

जीव निश्चयनये क्रिया रहित, उपाधिरहित ज्ञायकतो स्वभावनो धारक छे; पण व्यवहार नये मन–वचन–कायना व्यापारने उत्पन्न करवावाळा कर्मोथी सहित होवाना कारणे शुभाशुभ कर्मोनो कर्ता छे।

स्वदेह परिमाण—जीव निश्चय पूर्वक स्वभावथी उत्पन्न शुद्ध लोकाकाश समान छे तेमज असंख्य प्रदेशोनो धारक छे पण शरीर नामकर्मना उदये घट विगेरे पात्रमां रहेल दीवानी माफक संकोच विस्तारमय होवाना कारणे देहप्रमाण रहे छे।

भोक्ता—शुद्ध द्रव्यार्थिक नये जीव रागादि विकल्परूप उपाधिथी रहित छे तेमज निजात्मथी उत्पन्न अमृतनो भोक्ता छे पण अशुद्धनये ते सुखरूप अमृत पदार्थोना अभावे शुभकर्मोथी उत्पन्न सुख अने अशुभ कर्मोथी उत्पन्न दुःखनो भोक्ता छे।

संसारस्थ—संसारमां रहीने पर्याय बदलता रहेवाने कारणे संसारी छे, जो के शुद्ध निश्चय दृष्टिए जीव संसार रहित छे, तेमज नित्य आनंदघनरूप स्वभावनो धारक छे, तो पण अशुद्ध निश्चय नये द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-भव ए पांच प्रकारे संसारमा रहे छे, तेथी आत्मा-जीव संसारस्थ पण छे।

सिद्ध—आठ प्रकारना कर्मरूप ईंधणने शुक्लध्याननी आग वडे जेणे बाळी दीधा होय, ते सिद्ध छे, अथवा गत्यर्थक "षिध्" धातु थी सिद्ध अर्थात् अपुनरावृत्तिनी अपेक्षा जे निवृत्ति पुरीमा पहोंची गया छे, ते सिद्ध छे, अथवा निष्पत्यर्थक "षिधु" धातु थी सिद्ध एटले जेणे पोताना अर्थ निष्पन्न कर्या छे, अने जे कृतकृत्य थई गया छे, ते सिद्ध छे, अथवा शास्त्रार्थक तेमज मांगल्यार्थक 'षिधूञ्' धातुथी सिद्ध अर्थात् जे शासन कर्ता छे, अथवा जे मंगलत्वना स्वरूपना अनुभव कर्ता छे, अथवा जे स्वयं मंगलरूप छे, ते सिद्ध छे, अथवा नित्य होवाना कारणे जेनी स्थिति अविनाशी छे, अथवा भव्य जीवोमा जे गुणसमूह उपलब्ध होवाना कारणे प्रसिद्धि पामेला छे, अथवा जेणे पूर्वे बांधेला जुना कर्मो बाळी नाख्या छे, जे निवृत्ति महेलना शिखर पर विराजे छे, जे प्रसिद्ध छे, शासन कर्ता छे, कृतार्थ छे, ते सिद्ध प्रभु उदासीन रूपेण आपणा मंगलना करनार छे, नमस्कार करवा योग्य छे, एटला माटे के तेओ अविनाशी ज्ञान, दर्शन, सुख, शक्ति आदि थी, युक्त छे, अने स्वविषय आनन्दोत्कर्ष उत्पादक होवाथी भव्य जीवो पर अप्रतिम उपकार करवाने लीधे नमन करवा योग्य छे, जो के जीव व्यवहार नये पोताना आत्मानी प्राप्तिरूप उपरोक्त सिद्धत्व गुणवालो छे, ने तेना प्रतिपक्षी कर्मोना उदये असिद्ध छे, तो पण निश्चय नये अनन्तज्ञान अने अनन्तगुण स्वभावनो धारक होवाथी ते सिद्ध छे।

ऊर्ध्वगामी—उपरोक्त गुणो धारण करनार जीव स्वभावथी उर्ध्वगमन करवा वाळो छे, अने व्यवहारे चतुर्गतिमा रखडावनार कर्मोना उदयथी ऊंची, नीची तथा तिरछी दिशामा गमन करवावाळो छे, तो पण निश्चय नये केवलज्ञानादि अनन्त गुणोनी प्राप्ति स्वरूप मोक्षमा जवाना कारणे स्वभावथी ऊर्ध्वगमन करवावाळो छे, आ रीते शुद्ध अने अशुद्ध नये जीवनुं स्वरूप समजावेलु छे, अनादिकालथी कर्मबंधथी बंधाएलो आत्मा संसारमा रखडीज रह्यो छे, इत्यादि आगमथी प्रसिद्ध छे, शुद्ध नये जीवनु स्वरूप उपादेय अर्थात् ग्रहण करवा योग्य छे, अने बाकी बीजु बधु हेय छे, तेना त्रस अने स्थावर एवा बे भेद छे।

त्रस—जेने बी भय थाय, शोक पामीने अथवा सुखनी इच्छाथी पोताना स्थान छोडी ने ज्यां त्यां हरी फरी शके अथवा जावे छे ते त्रस छे तेना बेंद्रिय त्रींद्रिय चौरिंद्रिय अने पंचेंद्रिय एवा चार भेद छे;

स्थावर—पृथ्वी-पाणी-अग्नि-वायु अने वनस्पति ए पांच स्थावरना भेद छे। तेओ पोताना पर आवी पडेला दुःखोमांथी बचवानो प्रयत्न करवामां सर्वथा असक्त छे पणीज थोडी समजवाला छे जन्म-मरण घणां करे छे पृथ्वी-पाणी-अग्नि अने वायुना जीवो ४८ मिनिटमां १२८२४ वार जन्मे छे ने मरे छे वनस्पतिमां निगोदना जीवो ६५५३६ वार जन्मे मरे छे एक श्वासोश्वासमां ते एटला भव करे छे आवी रीते बधा स्थावर कहेवाय छे। आ दरेकमां जीव छे अने तेम जाणवुं छे ते जीवोनी हकीकत समजावे छे ते समजने शरीर छे अने तेम शरीरने मनुष्यना शरीर साथे जुदी जुदी रीते सरखाववामां आवे छे।

पृथ्वीकाय—जेम मनुष्यने कांइ वागेलुं होय अने घा पडेल होय ते रुझातां धीमे धीमे भराइ जाय छे तेम खोदेली खाणो पण सर्व भराइ जाय छे जेम बचपणथी मांडीने मनुष्यनुं वधवुं उत्कृष्ट असाध्य छे तेम वधवुं जाय छे तेवीज रीते मानवो-मनुष्यथी तथा वाहनोथी आवजाव थवाथी पृथ्वी पण रोज घसाय छे ते रोज वधवा पामे छे जेम बालक वधे छे तेम पर्वत पण धीमे धीमे विस्तार पामे छे माणसने कोइ पत्थरनुं होयतो माणसने ओछा थसे थवुं पडे छे त्यारे कोइ मुंबइ नगरमां पत्थर पोतानी स्थाने रहीने पोतानी चैतन्य शक्ति थी ओछाने पोतानी पासे खेंची ले छे माणसना पेटमां पथरीनो रोग थाय छे ते सचेत पत्थर होवाथी नित्य वधे छे माछलीना पेटमां रहेल मोती पण एक जातनो पत्थर छे अने ते पण नित्य वधे छे जेम माणसना शरीरमांना हाड-कामां जीव होय छे तेम पत्थरमां पण जीव होय छे।

अपकाय—जेम पक्षीना इंडामां रहेल प्रवाही पदार्थ पंचेंद्रिय पक्षीना पिंड स्वरूपे छे तेम पाणीना जीवो पण ए एकेंद्रिय जीवोना पिंड रूपे छे मनुष्य तथा तिर्यंच गर्भ कललरूपमां अवस्थामां प्रवाही पाणी रूपे होय छे तेम पाणीमां पण जीव समजाय जेम शियाळामां मनुष्यना मुखमांथी वराळ नीकळे छे तेम कुवाना पाणीमांथी पण वराळ नीकळे छे जेम शियाळामां मनुष्यनुं शरीर गरम होय छे तेम शियाळामां कुवानुं पाणी पण गरम होय छे जेम उनाळामां मनुष्यनुं शरीर शीतळ होय छे तेम उनाळामां कुवानुं पाणी पण शीतळ होय छे,

जेम मनुष्यनी प्रकृतिमा पण शरदी तथा गरमी होय छे, तेम पाणी नी•प्रकृतिमा मण शरदी तथा गरमी होय छे, जेम मनुष्यनु शरीर शियाळामा अक्डाइ जाय छे, तेम शियाळामा तळावनु पाणी पण अकडाई जइने वरफ वने छे, जेम मनुष्य वाल्यावस्था, युवावस्थाने वृद्धावस्था जेवा नवां रूप धारण करे छे, तेम पाणी पण वराळ-वरफ ने वरसाद आदि रूप धारण करे छे, जेम मनुष्यनो देह माताना गर्भमा पाके छे, तेम पाणी पण छ मास वादळामा गर्भ रूपे पाकीने वर्षानुं रूप धारण करे छे, जेम मनुष्यनो काचो गर्भ कोईक वार गळी जाय छे, तेम पाणीनो पण काचो गर्भ गळी जाय छे, जेने करा पथ्या कहेवाय छे,

तेजस्काय—जेम मनुष्य श्वासोश्वास सिवाय जीवी न शके, तेम अग्नि पण श्वासोश्वास सिवाय जीवी शक्तो नथी, जेम तावमां मनुष्यनु शरीर गरम रहे छे, तेम अग्निना जीवो पण गरम होय छे, मरण पामवाथी मनुष्यनु शरीर ठडु पडी जाय छे, तेम अग्निना जीवो पण मरी जवा थी ठडा पडी जाय छे, जेम आगीयाना शरीरमा प्रकाश होय छे, तेम अग्निना जीवोमा पण प्रकाश होय छे, जेम माणस चाले छे, तेम अग्नि पण चाले छे, एटले अग्नि फेलाइने ते आगळ वधतो जाय छे, जेम मनुष्य ऑक्सीजन [प्राणवायु] हवा ले छे, ने कार्बन [विषवायु] वहार काढे छे, तेम अग्नि पण ऑक्सीजन हवा लइने कार्वन हवा वहार काढे छे ।

वायुकाय—हवा हजारो गाऊ सुधी स्वतन्त्र रीते चाली शके छे, हवा पोताना चैतन्य बळथी मोटा विशाळ वृक्ष तथा मोटा महेलोने पाडी नाखे छे, हवा पोतानु शरीर नानामाथी मोटु वनावे छे, वर्तमानकाळमा विज्ञानिओए शोध करी छे, के हवामा थेकसस नामना सूक्ष्म जतुओ उडे छे ने ते एटला सूक्ष्म छे के, सोयनी अणी जेटला भागमां एक लाख जतुओ सुखेथी आराम पूर्वक वेसी शके छे ।

वनस्पति काय—मनुष्यनो जन्म माताना गर्भमा रहया पछी थाय छे, तेम वनस्पतिना जीवो पण पृथ्वीमाताना गर्भमा अमुक समय रहया पछी वहार नीकळे छे, जेम मनुष्यनु शरीर नित्य वधे छे, तेम वनस्पतिनु शरीर पण नित्य वधे छे, जेम मनुष्य वालावस्था-युवावस्था ने वृद्धावस्था भोगवे छे, तेम त्रणे अवस्था वनस्पति पण भोगवे छे, जेम मनुष्यना शरीरने कापवाथी लोही नीकळे छे, तेम वनस्पतिना शरीरने कापवाथी तेमांथी प्रवाही पदार्थ विविध रगना नीकळे छे,

जेम खोराक मळवाथी मनुष्यनुं शरीर पुष्ट थाय छे अने न मळवाथी सुकाई जाय छे तेम वनस्पति पण खातर तथा पाणीनो खोराक मळवाथी ज विकास पामे छे, अने तेना अभावे ते सुकाई जाय छे जेम मनुष्य श्वास ले छे तेम वनस्पति पण श्वास ले छे दिवसे कार्बन हवा चूसीने रात्रे वनस्पति ऑक्सीजन हवा बहार काढे छे जेम केटलाक मनुष्यो मांसाहारी होय छे तेम वनस्पति पण माखी-पतंग आदि नाना जीवोना उडवाने पोताना पांदडा वती पुरी दे छे आ प्रकार अने तेना द्वारा मांसाहार करे छे चन्द्रमुखी पुष्प चन्द्रमाथी खीले छे सूर्यमुखी पुष्प सूर्यनी साथे खीले छे अने तेमना अभाव थवाथी बीडाई जाय छे।

तेमां मूल-सत्त्व पण छे जेमके बे-त्रण-चार इन्द्रियवाळा जीवो प्राणी कहे-वाय छे वनस्पतिने भूत पांच इंद्रियवाळाने 'जीव' अने पृथ्वी-पाणी-अग्नि-वायुने 'सत्त्व' कहे छे ए बधा जीवोमां १ द्रव्य प्राण होय छे जेनी गणतरी नीचे मुजब थी छे।

पांच इन्द्रिय मन वचन काय आयुष्य श्वासोच्छ्वास ए दश प्राण छे, आ प्राणधन सर्व जीवोने अत्यन्त प्रिय छे।

स्थावरोमां जीव होवानुं साबित थवाथी पुष्ट कारणे चार्वाक-नास्तिक मतनुं खंडन थई जाय छे आ सर्व जीवो द्रव्य दृष्टिए नित्य अने पर्याय दृष्टिए अनित्य छे एम महावीर भगवाने फरमाव्युं छे प्रभु पोते दीप समान दृश्य संसारी जीवोने सहायक छे तेमज वस्तु तत्त्व तत्त्वनो निर्णय कराववाने कारणे दीपक समान छे दीपक समान स्वरूप-परस्वरूप ज्ञान प्रगट थई जाय छे आ भगवानतो धर्म छे के जे तेमोए तुलनात्मक दृष्टि थी कहेलो छे। धर्मोपदेश करवानो तेमनो उद्देश भोळाने समभाव-शान्ति-अहिंसा-सत्यनुं स्वरूप समजावीने परोपकार करवानो हतो पण पोतानो स्वार्थ प्रगट करवानो न हतो ॥ ४ ॥

मूल

से सव्वदंसी अभिभूय नाणी,
णिरामगंधे धिइमं ठियप्पा;
अणुत्तरे सव्वजगंसि विज्जं,
गंथा अतीते अभए अणाऊ ॥ ५ ॥

संस्कृतच्छाया

स सर्वदर्शी अभिभूय ज्ञानी, निरामगन्धो धृतिमान् स्थितात्मा ।
अनुत्तरः सर्वजगति विद्वान्, ग्रन्थादतीतोऽभयोऽनायुः ॥ ५ ॥

सं० टीका—स ज्ञातपुत्रमहावीरो भगवान् सर्वदर्शी समासीत्, किं कृत्वा, अभिभूय=यावद्द्वाविंशतिपरिषहान् तिरस्कृत्य पराजयं कृत्वेति । पुनः केवलाख्यं ज्ञानमस्यास्तीति सः । "अत इनिठनौ ।" परतीर्थाधिपाधिकत्वमावेदितमित्यनेन ॥ अथ ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्ष इति तस्य भगवतो ज्ञानं प्रदर्श्य क्रियां दर्शयितुमाह ॥ निर्गतोऽपगत आमो विशोधिकोटिरूपो गन्धो यस्मात् सोऽस्ति निरामगन्धो=मूलोत्तरगुणसमन्वितां चरित्रक्रियां कृतवान् इति । धृतिमान् स्थैर्यसम्पन्नो निश्चलतया चरित्राराधकः । स्थितात्मा=निर्मलात्मा शुक्लध्यानीति, यावदथवा स्थित्यात्मा मर्यादान्वितात्मा, यथा "संस्थातुं मर्यादा धारणा स्थितिरित्यमर ।" अशेषकर्म्मविगमात्स्थितो व्यवस्थित आत्मा यस्य स स्थितात्मा । परिणामद्वारेण विशेषणं ज्ञानक्रिययोरेतच्चेति भावः । अनुत्तर=उत्कृष्टः श्रेष्ठो नास्मादुत्तरं प्रधानं सर्वस्मिन्नपि जगति विद्यते सोऽनुत्तर । "अनुत्तर एषां विपर्य्यये श्रेष्ठ इत्यमर" । विद्वान्=सर्वहेयोपादेयज्ञेयपदार्थवेत्ता, सकलद्रव्याणां करतलामलकवत्प्रत्यक्षदर्शीति भावः । "विद्वान् विपश्चिद्दोषज्ञ सन्सुधी कोविदो बुध, धीरो मनीषी ज्ञः प्राज्ञ, इत्यमरः" । ग्रन्थादतीतो=ऽन्तर्बाह्यपरिग्रहग्रंथादतीतो रहितः, अथवा कर्मरूपाद्ग्रन्थादतिक्रान्तो रहितो निर्ग्रन्थ इत्यर्थः । प्रवृत्तिभावेऽथवा कर्म्मपर्वणोऽतीत इत्याशय । "ग्रन्थिर्नां पर्वपरुषी इत्यमर" । अभय=सप्त प्रकारकं भयं न विद्यते यस्यासावभयो भीतिरहित । "दरस्त्रासो भीतिर्भीः साध्वसं भयमित्यमर" । अनायु=नारकतिर्य्यङ्नृसुरायुरहितत्वात् । दग्धकर्म्मबीजत्वेन पुनरु-

स्यादसामावापेक्ष्यर्थ । "दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुरः । कर्मबीजे तथा दग्धे, नारोहति भवांकुर इति" ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—[से] वह [सव्वदंसी] सब कुछ देखनेवाले भगवान् [अभिभूय] क्षायोपशमिक ज्ञानोंको जीतकर [नाणी] केवलज्ञान संयुक्त, [निरामगंधे] निर्दोष चारित्र पालनेवाले [धिइमं] धीरता समन्वित [ठिअप्पा] अपने आत्म-स्वरूपमें स्थिर-रूप [सव्वजगंसि] अखिल विश्वमें [अणुत्तरे] सबसे उत्कृष्ट [विज्जं] पदार्थोंके जाननेवाले सर्वज्ञ-सर्वविषयक [गंथा] परिग्रह ग्रन्थीसे [अतीते] रहित [अभए] सात भयोंसे रहित [अणाउ] और आयु रहित थे ॥ ५ ॥

भावार्थ—भगवान् महावीर स्वामी सामान्यरूपसे पदार्थोंके जाननेवाले तथा मति-श्रुति-अवधि और मनःपर्यव इन चार क्षयोपशमजन्य ज्ञानोंको लांघ कर केवलज्ञानसंयुक्त थे, और उन्होंने यह भी बताया कि ज्ञान और चारित्रसे ही मोक्ष होता है अतः प्रभुके ज्ञानका वर्णन करके चारित्रका वर्णन करते हैं। आप स्वयं मूलगुण और उत्तरगुणोंका पूर्णतासे पालन किया तथा अनेक विघ्न बाधा और परिषह पड़नेपर भी चारित्रमें निश्चल रहे। भगवान् तीनों लोकमें सबसे श्रेष्ठ विद्वान् परिग्रह रहित निर्ग्रन्थ और सातभयसे रहित तथा सब कर्मोंसे मुक्त थे ॥५॥

भाषा-टीका—प्रभु २२ परिषह और शारीरिक मानसिक कष्ट तथा उपसर्ग एवं ज्ञानावरणीयादिक आभ्यंतरिक शत्रुओंको जीत कर केवल ज्ञानी होगए। आपने ज्ञानको प्रमुख पद देकर संसारको क्रियाका भी भान कराया। और यह सिद्ध कर दिखाया कि ज्ञान और क्रिया इन दोनोंका आश्रय लेनेसे मोक्ष है। अतः वे सर्व आमगन्ध—मूल गुण और उत्तर गुणरूपी दोषोंसे रहित थे। आपने धीरतासे चारित्रका पालन किया आत्माको शुक्लध्यानमें स्थिर किया। कर्मोंका सर्वथा नाश करनेके लिए निश्चलस्था होकर स्थित रहे, स्थिरता उनका प्रधान गुणथा। और करतल-पाकर हाथ पर धरे आमलेकी तरह सब चराचरको जान लिया। क्योंकि अन्तर और बाह्य परिग्रहसे रहित होकर सर्व ग्रन्थिका सर्वथा भेदनकर चुके थे अतः आप निर्ग्रन्थ थे। यही कारण है कि बौद्धागमिक आपको अब तक भी ज्ञातपुत्रके नामसे स्मरणमें रखते हैं। आप सर्व अभय रहकर औरोंको निर्भय बनानेके अर्थ उपदेश देते और लोकोंमें

सच्चा वीर रस पैदा करते। देव, मनुष्य, पशु और नरकके आयुके लम्बे तारोंको तोड फोड कर नष्ट कर दिया। क्योंकि जब बीजको सेक भून दिया जाता है तब उसे बोया भी जाय तब भी वह अकुर नहीं देता अर्थात् उसकी सृष्टि अगाडी नहीं बढती, इसी प्रकार कर्मबीज नष्ट होने पर ससारका अकुर अर्थात् जन्म और मरण नष्ट हो जाता है ॥ ५ ॥

गुजराती अनुवाद—२२ परिषह, शारीरिक तथा मानसिक कष्ट, रागादिक तथा ज्ञानावरणीयादिक आन्तरिक शत्रुओने जीतीने प्रभु केवलज्ञानी थया, अने ज्ञानने प्रमुख पद आपीने ससारने क्रियानु पण भान कराव्यु, अने सिद्ध करी बताव्यु के ज्ञान अने क्रियाथी मोक्ष छे, मूल तथा उत्तरगुणे दोष रहित सयमना पाळनारा, धैर्य्यवान्, सर्व कर्म नाश थवाथी स्थित आत्मवान्, सर्व जगत्ने विषे प्रधान ज्ञानवान्, बाह्य अने अभ्यन्तर परिग्रह रहित तेमज कर्म-ग्रन्थीनो सर्वथा नाश करवाथी निर्ग्रन्थ थया आ कारणे बौद्धादिक आपनु 'निग्ग-ण्ठ' (निर्ग्रन्थ) एवा नामथी स्मरण करे छे, आप सात भय रहित थया, अने बीजाओने निर्भय बनाववाने माटे उपदेश देता, अने लोकोमा साचो वीर रस पेदा करता, चार गतिना आयुष्य रहित ज्ञातृपुत्र श्रीमहावीर देव हता, कारणके ज्यारे बीजने शेकी नाखवामा आवे त्यारे तेने वाववामा आवे तो पण ते उगतु नथी, आ रीते कर्मबीजनो नाश थई जवाथी ससारना अकुर जन्म-मरण नाश पामी जाय छे।

मूल

से भूइपन्ने अणिए अचारी,
ओहंतरे धीरे अणंतचक्खु।
अणुत्तरे तप्पइ सूरिए वा,
वइरोइणिंदे व तमं पगासे ॥ ६ ॥

संस्कृतच्छाया

स भूतिप्रज्ञोऽनियतचारी, ओघंतरो धीरोऽनन्तचक्षुः।
अनुत्तरं तपति सूर्य इव, वैरोचनेन्द्र इव तमः प्रकाशः ॥ ६ ॥

सं० टीका—'से इति' । भूति शब्दो वृद्धौ, सम्पदि, ऐश्वर्ये, भस्मनि वर्तते, भूतिप्रज्ञस्त्र प्रवृद्धज्ञानोऽनन्तज्ञानवानिति, तथा च भूतौ भस्मनि कर्म्मणां भस्मसात्करण इत्यर्थः कर्म्मक्षय इति यावत् प्रज्ञा यस्य स भूतिप्रज्ञः, तथा सममात्मैश्वर्य्योद्भवान् च । "भूतिर्भस्मनि सम्पदि, इत्यमरः" । पुनस्तथा भूतिप्रज्ञो जगद्रक्षाविषयको भूतिप्रज्ञ । सर्वमगत्भूतिप्रज्ञ इत्यपि, । अनियतचारी=अप्रतिबन्धविहरमाणत्वात्, वायुरिवेतिभाव । ओघ संसारं सरीतु शीलमस्येति ओघतरः । उत्प्लवव्ययोः ओघ परम्परां तरतीति सः । "ओघो वेगे जलस्य च । वृन्दे परम्परायां च, द्रुतनृत्योपदेशयोरिति" मेदिनी । अथवा कर्म्मणामोघ समूहस्तं तरतीति स । "ओघो वृन्देऽम्भसां रय इत्यमरः" । धीर्बुद्धिस्तया राजत इति धीरः,=परिषहोपसर्गेऽक्षोभ्यो दृढो वेति धीरः । "धीरोमनीषी ज्ञः प्राज्ञ इत्यमरः ।" अनन्तस्यचक्षुर्यस्य तस्केवलज्ञानमेव तदेव चक्षुभूत सोऽनन्तचक्षुरिति । यथार्कः सूर्योऽनुत्तरमुत्कृष्ट सर्वतोऽधिकं तपति न तस्मादधिकस्तापे कश्चनास्ति, तथैव भगवानपि ज्ञानेन सर्वोत्कृष्टः । पुन कथमूतो हि सूर्यो, विशेषेण रोचनो दीप्तिमान्, प्रकाशकाधिकत्वात्, इन्द्रोऽग्नी यथा तमोऽपनीय-दूरीकृत्य प्रकाशयति, एवमसावपि भगवान्ज्ञानतमोऽपहृत्य यथावस्थितपदार्थान्प्रकाशयतीत्यर्थ । 'विरोचन इत्यत्र स्वार्थेऽणि, वैरोचन सूर्योऽग्नावग्निरिव कर्मेन्धनं ज्वालयित्वा अकर्म्मकः परिशुद्धो जात इत्यपि । "विरोचन प्रह्लादस्य तनयेऽर्केऽग्निचन्द्रयोरिति मेदिनी ।" विरोचनो रविरेवेति बहुमतम्, यथा—"तरणिस्त्वष्टो मनुर्मित्रः पूषाम्मना रविः, तिग्मः पतगो द्युमणिर्मार्तण्डोऽर्को महाधिप इनः सूर्यस्तमोघ्नास्तिमिरारिर्विरोचनः । इति धनञ्जयमा-

ममालायाम्" । "द्युमणिस्तरणिर्मित्रश्चित्रभानुर्विरोचन इत्यमर." विरोचन एव वैरोचनः सूर्य । स इव प्रकाशोऽतिप्रसिद्धो, जगद्विख्यातो ज्ञातपुत्र—महावीरप्रभुरित्यर्थः । "प्रकाशोऽतिप्रसिद्धेऽपीत्यमरः" । अथवा स. प्रभुर्ज्ञानातपने महान् इति । "प्रकाशोद्योत आतप इत्यमरः ।" ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—[से] वे भगवान् [भूइपण्णे] अत्यन्त बुद्धिमान् [अणिए अचारी] विचरते समय प्रतिबन्ध रहित [ओहतरे] संसार समुद्रसे पार होनेवाले [धीरे] धैर्य्यवान् [अणतचक्खु] अनन्तज्ञानवान् [अणुत्तर] सबसे अधिक पवित्र-श्रेष्ठ [तप्पति] तपश्चरण करनेवाले [सूरिए वा] सूर्यके समान तथा [वइरोयणिंदे व] वैरोचन नामक अग्नि के सदृश [तम] अज्ञानान्धकारको नष्ट करके [पगासे] ज्ञानद्वारा तत्वोंको प्रकाशित करते थे ॥ ६ ॥

भावार्थ—भगवान् महावीरकी प्रज्ञा संसारका मंगल कल्याण एवं रक्षा करनेवाली थी, उनका भ्रमण अप्रतिबद्ध था, क्योंकि वे सर्वथा परिग्रहसे रहित थे, उनका चारित्र संसार समुद्रसे पार करनेवाला था, परिषह-शत्रुओंका आक्रमण समान भावसे सहन करते थे, इसीसे धीर एवं धी-बुद्धिसे राजित शोभित थे, अनन्त ज्ञेय पदार्थोंके ज्ञाता थे, इसीकारण अनन्त ज्ञान सहित थे, विश्वमें सबसे अधिक तप करते थे, और जिसप्रकार सूर्य अन्धकारको नष्ट करता है अथवा वैरोचन नामक अग्निके जलनेसे अन्धकार या काष्ठका नाश होता है उसी प्रकार महावीर भगवान् भी अज्ञान अन्धकार या कर्मकाष्ठके नाशक थे ॥ ६ ॥

भाषा-टीका—वीर भगवान्का ज्ञान चौथी भूमिकासे बढकर अनन्त-वृद्धिको प्राप्त होगया। यह अनन्तज्ञानमय ऐश्वर्य सर्व्वथा घातिया कर्म्म क्षयकरनेपर ही मिला। तब संसारके लिए आप मंगलभूत और रक्षक बने तथा आपका वायुकी समान अप्रतिबद्ध विचरणथा। आपने संसारके समुद्रको पार किया। उपदेश दान देकर औरोंको भी जन्म मरणसे मुक्त कर दिया, जिससे कहा जा सकता है कि—कर्मके समौघसे आप पार हुए। परिषह और उपसर्ग सहते समय किसी प्रकारका क्षोभ न होनेसे आप धीर थे। इसीके बाद आप अनन्त चक्षुवाले कहलाए। जिस तरह सूर्य उत्कृष्ट तापसे तपता है

इसी तरह महावीर भगवान्‌का ज्ञानभी अनन्तज्ञानकी अपेक्षा सर्वोत्कृष्ट थे। उस ज्ञानसे भगवान् जगतके अज्ञानान्धकारको अपहरण करके यथार्थ रीतिसे ज्ञानका आविर्भाव-प्रकट करनेवालोंमेंसे थे। प्रभुने अग्निकी तरह कर्म रूप ईंधनको भी जलाकर अनन्त संसारकी अज्ञान आत्माओंको प्रकट रीतिसे परिशुद्ध किया। और सूर्यकी तरह भगवान् महावीर प्रभु अखिल विश्वमें अद्वितीय प्रसिद्धि प्राप्त महापुरुष थे। अविनश्वर संसारमें उनकीनो प्रभुकी ज्ञान-कान्ति ही सब ओर चमक रही थी ॥ ६ ॥

गुजराती अनुवाद—वीर परमात्माई ज्ञान चोथी भूमिकामां वधीने अनन्तपणाने प्राप्त थयु, कर्मोनो क्षय थवाथी भगवान् अनन्तज्ञानवाळा थया आरे संसारना मंगळ समान जेमज रक्षक जेओ थया वायु समान अप्रतिबंध विहारी संसार समुद्रमे तारनार भगवान् हता जीवात्मोने उपदेश दान करीने जन्म मरणथी मुक्त करावनार हता परिषह जेमज उपसर्ग सहती वखते आपने कोई पण प्रकारनो क्षोभ न थवाथी आपने वीरभगवान् अनन्तज्ञानरूप चक्षुवाळा तथा सूर्य जेम सर्वथी अधिक तपे छे तेम प्रभु ज्ञाने करी सर्वोत्तम छे विरोचन अग्नि जेम मुक्तपणाथी प्रकाश करे तथा इन्द्रनी पेठे अन्धकारने दूर करी प्रकाश करे छे तेम श्रीमहावीर देव पण अज्ञानरूप अन्धकार दूर करी प्रकाश करे छे अग्निनी माफक कर्मरूप ईंधनने बाळी अनन्त संसारना अज्ञान आत्माओने प्रकट रीते परिशुद्ध कर्या अने सूर्यनी पेठे प्रभु अखिल विश्वमां अद्वितीय प्रसिद्धिने पामेल महापुरुष हता ते विश्वोमां प्रभुनी ज्ञान-कान्ति अविनश्वर प्रसरती हती ॥ ६ ॥

मूल

अणुत्तर धम्ममिण जिणाण,
णेया मुणी कासव आसुपण्णे,
इंदेव देवाण महाणुभावे,
सहस्सणेता दिवि ण विसिट्टे ॥ ७ ॥

संस्कृतच्छाया

अनुत्तरं धर्ममिमं जिनानां, नेता मुनिः काश्यप आशुप्रज्ञः ।
इन्द्र इव देवानां महानुभावः सहस्रनेता दिवि विशिष्टः ॥ ७ ॥

सं० टीका—अनुत्तरं० इति—अनुत्तरमुत्कृष्टं प्रधान धर्म्मं जिनानामृषभादितीर्थङ्कृतां सम्बन्ध्यय 'मुनि, 'मनेरुच्चेत्युणादिसूत्रेणे प्रत्यये कृते चोपधोत्वे जाते 'मुनि'रिति सिद्ध, परन्त्वत्र लघूपधगुणादेश प्राप्तस्तथापि तपरोच्चारणासामर्थ्यात् किदित्यनुवर्तनाच्च न भवतीति भाव'। "वाच यमो मुनिरित्यमरः"। "मुनिर्भिक्षुश्च सयमीति, कोष"। श्रीज्ञातृपुत्रमहावीराख्य सुमुनि, काश्यपो=गोत्रेण, आशुप्रज्ञ'=केवलज्ञानी उत्पन्नदिव्यज्ञान इत्यर्थ। नेता,=प्रणेता चतुर्विधस्य संघस्य धर्म्मप्रणेता, चतुष्प्रकारधर्मोपदेष्टा दानशीलतपोभावभेदाद्वा। अथवा साधुसाध्वीश्राद्धश्राविकारूपचतुर्विधसंघस्य प्रभुत्वादपि नेता=नायक'। ताच्छीलिकस्तृन्। "अधिभूर्नायको नेता प्रभु परिवृढोऽधिप" इत्यमर,। धर्ममित्यत्र कर्म्मणि द्वितीयैव। ताच्छीलिकस्तृन् तद्योगे 'न लोकाव्ययनिष्ठेत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधात्। यथेन्द्रो दिवि=देवलोके=स्वर्गे महानुभावो महाप्रभाव। एवमेव याथातथ्येन सम्यक्प्रकारेण अखिलद्रव्यपदार्थनिश्चयकर्ता महावीर इति। "अनुभावः प्रभावे च सतां च मतिनिश्चय इत्यमर"। प्राकृतशैल्या णमिति वाक्यालङ्कारार्थे। सहस्रनेत्रो=विलक्षणसहस्रनयनयुक्तोऽसाविन्द्रः। विशिष्टो रूपबलवर्णादिकैर्विशिष्टो युक्तो हि प्रधानस्तथैव भगवानपि सर्व्वेभ्योऽपि विशिष्टः प्रणायको महानुभावश्चेति सर्वं पूर्ववृत्तान्त संयोज्यमिति भावः ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—[जिणाण] जिन भगवान्‌के [इण] इस [अणुत्तर] सर्व श्रेष्ट [धम्म] धर्मके [णेया] नेता [मुणि] मुनि [कासव] काश्यपगोत्रीय [महाणुभावे] महाप्रभावशाली भगवान् महावीर [दिवि] स्वर्गमें [सहस्स] हजारों [देवाण] देव समूहके [इदे व] इन्द्रके समान [विसिट्ठे] रूप और गुण आदिमें सबसे उत्तम और प्रधान [णेता] नेता अर्थात् संपूर्ण ज्ञानयुक्त ईश्वर थे ॥ ७ ॥

भावार्थ—जिसप्रकार स्वर्गके समस्त देवोंमें इन्द्र, रूप-गुण और ऐश्वर्यादि गुणोंमें प्रधान होता है उसी प्रकार महावीर भगवान् सब लोकोंमें उत्तम और प्रधान थे आदिजिन प्रमुख पहले २३ तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित धर्मके नेता-प्रचारक थे इस वचनसे उनकी भ्रमणा दूर होजाती है जो महावीर प्रभुको ही जैनधर्मका संस्थापक मानते हैं परन्तु श्रीमहावीरदेव तो जैनधर्मके आप संस्थापक न होकर उनसे पूर्व होगये २३ तीर्थंकरोंद्वारा कथित धर्मके प्रचारकमात्र थे और उस प्रभुका मोक्ष स्वरूप था ॥ ७ ॥

भाषा-टीका—वे उग्र तपस्वी मुनि उत्कृष्ट और प्रधान धर्मके सरल और आत्माके लिए उन्नत मार्ग बतानेवाले थे। वह धर्म ऋषभादि २३ तीर्थंकरके बताए हुए धर्मसे भिन्न न था । हां कुछ देशकालके अनुसार संशोधन अवश्य किया था परन्तु आप जैन धर्मके आद्य प्रवर्तक न थे [इससे वीर प्रभु जैन धर्मको फिरसे प्रचार करने वाले सिद्ध होते हैं इनसे पूर्व २३ तीर्थंकर और होगए हैं] प्रभु स्वरूप मोक्षकी विमल विभूति थे । दिव्य ज्ञानको पाकर बहु जीव संघके लिए धर्मपथ बतानेके कारणसे आप नेता भी थे । क्योंकि संयमको जानने ही तो ज्ञान दर्शन चारित्र अहिंसा तप त्याग संयम आदिमें प्रवृत्त किया था । अपनी भलाई और संसार की भलाई या कल्याणके अर्थ संयमके ज्ञान शील तप भाव ये धर्मके चार भेद बताए । तथा साधु, साध्वी श्रावक, श्राविकारूप चार प्रकारके संघको स्थापन करके अपने उनको संगठनकी परम शक्ति का तत्त्व बताया था । इन्द्र का स्वर्गके देवों पर उसके महान् होनेके कारण महाप्रभाव है इसी प्रकार पदार्थ विज्ञानका विषय प्रगट करने वाले तत्त्वज्ञोंमें महावीर प्रभु ऐश्वर्य वाले थे । संसार और मोक्ष की गुत्थीको सुलझानेमें और सारभूत तत्त्वोंको प्रगट करनेमें प्रकाशप्रकाशक थे । सात तत्त्व-नव पदार्थ—आदि महान् तथा गंभीर पदार्थों का सरल आशय वक्तामें आपने ही निपुणतासे प्रगट किया । यथा पतंगेके ५ प्रकारों की रुचि उसीमें और उसी है जिस ओर रूप की रुचि होती है । इसी तरह जिस अनेकान्त पथ पर आपकी रुचि बनी थी संसारने उसी पथ का अनुकरण किया इस अपेक्षासे आपके भी सहस्रोंश थे । सब वर्ण धर्म चौथे आदिमें आप धर्म प्रधान थे, मुनिगणरूपी सितारों में आप मुनिचन्द्ररूपी ईश्वर थे ॥ ७ ॥

गुजराती अनुवाद—आ उग्र मुनिश्रेष्ठ उत्कृष्ट धर्मनो सरल बोधक

आत्माने माटे उन्नत मार्ग बतावनार हता, ते धर्म ऋषभादि २३ तीर्थंकरोए बतावेल धर्मथी भिन्न न हतो, देश कालने अनुसार संशोधन अवश्य करेलु हतु, पण तेओ जैनधर्मना आदि प्रवर्तक न हता, ते प्रभु काश्यप गोत्रीय क्षत्रियोमांनी विमल विभूति हता, दिव्य ज्ञान प्राप्त करीने चतुर्विध संघने धर्म पथ बतावनार होवाथी तेओ नेता पण हता, कारणके संघने तेओएज ज्ञान–दर्शन-चरित्र-अहिंसा-सत्य-तप-त्याग-संयमादिमा प्रवृत्त कर्यो हतो, संसारना कल्याणार्थे तेओए संघने दान-शील-तप भाव एम धर्मना चार भेद बताव्या, साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविकारूप संघनी स्थापना करीने तेओए तेमने संगठननी परम शक्तिनु तत्व बताव्यु हतु, देवलोकने विषे इन्द्र जेम देवोमा महाप्रभावान्, हजारो देवोनो नायक अने सर्वोत्तम छे, तेम पदार्थ विज्ञाननो निश्चय प्रगट करवावाळा तत्ववेत्ताओमा महावीरप्रभु ऐश्वर्यशाळी हता, संसार अने मोक्ष तेमज सारभूत तत्वोने प्रगट करवामा प्रखर प्रकाशक हता। सात तत्व–नव पदार्थ आदि महान् तेमज गंभीर पदार्थोनो सरळ आशय निपुणताथी जनतामां तेओए प्रगट कर्यो हतो। जे तरफ इन्द्रनी दृष्टि रहे छे, तेज तरफ तेना ५०० प्रधानोनी नजर पण रहे छे, तेज रीते अनेकान्त पर तेओनी दृष्टि हती। तेज मार्गनु संसारे पण अनुसरण कर्युं। जेथी तेओ पण सहस्रनेत्र गणाया। रूप-बल-वर्ण-वीर्य विगेरेमां तेओ सर्वोत्तम हता। मुनिगणरूपी ताराओमा तेओ मुनिचन्द्ररूप ईश्वर हता ॥ ७ ॥

मूल

से पन्नया अक्खयसागरे वा,
महोदही वा वि अणंतपारे।
अणाइले वा अकसायी मुक्के,
सक्केव देवाहिवई जुईमं ॥ ८ ॥

संस्कृतच्छाया

स प्रज्ञयाऽक्षयसागरो वा, महोदधिरिव अनन्तपारः।
अनाविलो वा अकषायी मुक्तः, शक्र इव देवाधिपतिर्द्युतिमान् ॥८॥

सं० टीका—स इति, पुनरसौ भगवान् प्रज्ञयाऽक्षयोऽक्षीणज्ञानः, प्रज्ञायत अनयेति प्रज्ञा तयाऽक्षयो, ज्ञातव्येऽर्थे तस्य बुद्धिर्न प्रक्षीयते

न प्रतिहन्यते येति, "बुद्धिर्मनीषा धिषणा धीः प्रज्ञेत्यमर"। अथवा तस्य बुद्धिः केवलज्ञानाख्या सा साद्यनन्ता—साद्यपर्यवसाना कालतो, द्रव्यक्षेत्रभावापेक्षयाऽप्यनन्ता तथाऽक्षय, यथा सागरो महोदधिः स्वयम्भूरमण समुद्रः स इवानन्तपार। यथासौ विस्तीर्णो गम्भीरजलोऽक्षोभ्यस्तथैव तस्य भगवतो विस्तीर्णा प्रज्ञाऽनन्तप्रभा, स्वयम्भूरमण समुद्रादनन्तगुणितो गम्भीरोऽक्षोभ्यश्च, अनाविलोऽकलुषजलः, "कलुषोऽनच्छ आविल इत्यमर"। नाविलोऽनाविलो निर्मलस्तथैव कर्मलेशाभावादकलुषज्ञानो निर्मलज्ञान इति। न कषायी-अकषायी ज्ञानावरणीयादिकर्मबन्धनविमुक्तत्वात्। मुक्तः कर्मरहितोऽपुनरावृत्तिप्राप्तः। सर्वलोके पूज्यत्वेऽपि, निश्शेषान्तरायक्षयेऽपि निरवद्यभिक्षामात्रोपजीवित्वाद्भिक्षुः। पुनश्च स ज्ञातृपुत्रीयो महावीरो भगवान् दीप्तिमान्, शक्र इव देवाधिपतिरिव कान्तिमानिति, "शक्र इन्द्रः सुनासीरः शतक्रतुरिति धनञ्जय"। "विष्णुर्लेख्यर्षभः शक्र इत्यमर"॥ ८॥

अन्वयार्थ—[से] वे भगवान् महावीर [पन्नया] बुद्धिकी अपेक्षा अनन्तपारवाले तथा [अणाइले] पवित्र जलसे भरपूर [महोदहीवाऽवि] स्वयम्भूरमण समुद्रकी तरह [अक्खयसागरे] अक्षीण समुद्र थे तथा [अकसाए] चार कषायसे रहित [मुक्के] आठ कर्मोंसे रहित [देवाहिवइ] असंख्य देवोंके अधिपति [सक्केव] इन्द्रकी तरह [जुईमं] दीप्तिमान्-चमकीले थे ॥ ८॥

भावार्थ—भगवानकी किसी अन्य पदार्थसे उपमा न दी जा सकनेके कारण समुद्रसे ही एक देशीय उपमा दी गई है। अर्थात् जिसप्रकार स्वयंभूरमणसमुद्र अनन्तपार युक्त है उसी प्रकार भगवान् भी द्रव्य क्षेत्र-काल और भावकी अपेक्षा अनन्त ज्ञानवान् थे समुद्रके निर्मल जलके समान उनका ज्ञान भी स्वच्छ और आवरण रहित था इसी प्रकार कषायसे रहित तथा आठ कर्मोंके बंधनसे मुक्त थे जैसे इन्द्रका प्रभाव देवोंपर होता है उसी प्रकार प्रभुका प्रभाव भी प्राणीमात्र पर था ॥ ८॥

भाषा-टीका—प्रभुका ज्ञान कोष अक्षय था, क्योंकि उनकी बुद्धि भी केवलज्ञानरूपा थी। जो कि आदि-अनन्त थी। जिसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी पूर्ण अनन्तता थी। विस्तीर्ण और स्वच्छ तथा गभीर स्वयम्भूरमण समुद्र की सदृश प्रभु गभीर तथा अक्षोभ्य और पवित्र गुणोंमें उससे भी अनन्तगुण अधिक थे। आपका अनुभव, विचार तथा ज्ञान जल अनाविल—यानीं कालुष्यता—पूर्वापर विरोधरहित था, जिसमें कर्म मलका लेश कोई खोजेसे भी न पा सके। ज्ञानावरणीयादिक आठ कर्म-वन्धनसे रहित होनेके कारण आपमें कषाय कहा हो। इसीसे आप जीवन मुक्त थे। आप तीनों लोकोंके पूज्य होने पर भी निरवद्य भिक्षा लेते। आप शूरवीर शक्रेंद्रकी तरह द्युतिमान् और प्रतापी—महापुरुष थे। और यह वात विश्व विख्यात थी ॥ ८ ॥

गुजराती अनुवाद—प्रभुनो ज्ञान भण्डार अखूट हतो, कारणके तेमनी बुद्धि पण केवलज्ञान रूपे हती, जे सादि-अनन्त हती। जेम स्वयंभूरमण नामे मोटो समुद्र अनन्त—अपार अने निर्मल जलवाळो छे, तेमज प्रभु गभीर-अक्षोभ्य-अने पवित्र गुणोमा तेनाथी पण अनन्तगणा अधिक हता। तेओनुं अनुभव—विचार तथा ज्ञान जल अत्यन्त निर्मल हतु। शोधवा छता पण कर्मरूप मेल तेमा मळी शके नहि। ज्ञानावरणीयादिक कर्मवन्धनथी रहित थवाने कारणे तेओ अकषायी=कषाय रहित हता। तेथी आप जीवन्मुक्त हता, त्रिलोक पूज्य होवा छता आप निरवद्य भिक्षाए आजीविका करनार हता। देवोना स्वामी शक्रेन्द्रनी पेठे तेओ तेजस्वी तथा अनन्त प्रतापी अने महापुरुष हता ॥ ८ ॥

मूल

से वीरिएणं पडिपुण्णवीरिए,
सुदंसणे वा णगसव्वसेट्ठे।
सुरालएवासि मुदागरे से,
विरायए णेगगुणोववेए ॥ ९ ॥

संस्कृतच्छाया

स वीर्येण प्रतिपूर्णवीर्यः, सुदर्शन इव नगसर्वश्रेष्ठः।
सुरालयवासिमुदाकरः स, विराजतेऽनेकगुणोपपेत. ॥ ९ ॥

प्रतिष्ठाशालिओं में भगवान् अद्वितीय प्रभाववाले थे । जहा जीवोंको केवलज्ञान प्राप्त होता है उस जम्बूद्वीपके मध्यमें जिस प्रकार सुमेरु पर्व्वत दृढ, अचल, और श्रेष्ठ है इसी प्रकार प्रभुकी वाणी भी अनेकान्त रूप सकल श्रेष्ठ है तथा वे स्वय भी पर्व्वतकी तरह दृढ थे । सुमेरुपर्वत स्वर्गवासिओंको वडा सुहावना लगता है और हर्ष पैदा करता है इसी भान्ति प्रभु भी ज्ञान, दर्शन, सुख और शक्ति आदिक अनन्त गुणोंसे युक्त और भव्य आत्माओंके लिए अनुपम आनन्ददायक थे ॥ ९ ॥

गुजराती अनुवाद—वीर्यान्तरायनो सर्वथा नाश थवाथी भगवान् अनन्त-शक्तिमान् हता, तेमज धैर्य-शौर्य-सहिष्णुतादि शारीरिक वले करी प्रतिपूर्ण वलवान् हता । प्रतिष्ठा शालिओमां भगवान् अद्वितीय प्रभाव वाळा हता, ज्या जीवोने केवलज्ञान प्राप्त थाय छे ते जबूद्वीपमा मेरु पर्वत जेम दृढ-अचल-अने श्रेष्ठ छे, तेम भगवान् पण वीर्यादिक गुणे करी श्रेष्ठ तथा दृढ हता । मेरु पर्वत जेम स्वर्गवासी देवोने हर्ष उत्पन्न करे छे तथा अनेक गुणोए करी शोभित छे, तेमज प्रभु पण ज्ञान-दर्शन-सुख अने शक्ति आदिक अनन्त गुणोए करी शोभे छे, तेमज भव्यात्माओने आनन्द प्रद छे ॥ ९ ॥

मूल

सयं सहस्साण उ जोयणाणं,
तिकंडगे पंडगवेजयंते ।
से जोयणे णवणवति सहस्से,
उद्धुस्सितो हेट्ठ सहस्समेगं ॥ १० ॥

संस्कृतच्छाया

शतं सहस्राणां तु योजनानाम्, त्रिकण्डकः पण्डकवैजयन्तः ।
स योजने नवनवतिसहस्रे ऊर्ध्वोच्छ्रितोऽधः सहस्रमेकम् ॥१०॥

सं० टीका—पुनश्चापि मेरुवर्णनायाह, 'सयं इति,' स सुमेरुर्यो-जनसहस्राणा शतमुच्छ्रितोऽस्ति "मेरु. सुमेरुर्हेमाद्रि रत्नसानु. सुरालयः इत्यमरः ।" तथा त्रीणि कण्डकानि यस्य स त्रिकण्डक । भौमं–

आम्बूनद-वैडूर्य चेति मेखला । स किं भूत , पण्डकवैजयन्त ,=पण्ड कवन शिरसि व्यवस्थित, वैजयन्तीकल्प पताकाभूत यस्य स तथोक्त । "पताका वैजयन्ती स्यात्केतन ,ध्वजमस्त्रियामित्यमर" । असौ मेरुर्न-वनवतिसहस्रे योजने ऊर्ध्वोच्छ्रित=भूतलादुपरि मयूख उन्नतो वा "उच्चप्रांशून्नतोदग्रोच्छ्रितास्तुङ्ग" इति, "प्रांशोन्नत मयूखा समुच्छ्रिता इति चामर" । अध=भूमेरधस्तादेशो एक सहस्र योजन-मवगाढ इत्यर्थ । एकसहस्रोनलक्षयोजन पृथिवीत ऊर्ध्वं, सहस्रमेक च योजन भूमाविति भाव ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—[से] वह सुमेरु पर्वत [सर्व सहस्साण] एक लाख [जोयणाणं] योजनका है, [तिकंडगे] उसके तीन भाग हैं [पंडगवेजयंते] पाण्डुक वन जिसकी ध्वजाके समान है, तथा [नवनवते] ९९ निन्यानवे [सहस्से] हजार [जोयणे] योजन [उद्धुस्सिते] ऊंचा है, और [एगं] एक [सहस्सं] हजार योजन [हेट्ठं] भूमितलमें नीचा है ॥ १ ॥

भावार्थ—इस गाथामें भगवान्की उपमा भूत सुमेरुगिरिका वर्णन किया है, सुमेरु एक लाख योजन ऊंचा है, निन्यानवे हजार योजन जमीनसे ऊपर तथा एक हजार योजन जमीनमें है इसके तीन कंडक-भाग हैं, उन तीन कण्डकोंमें सबसे ऊपरकी कणिका पर पाण्डुक वन है । और मानो वह ध्वजाकी तरह भान पड़ता है, जिसप्रकार यह सुमेरु पर्वत तीनों लोकोंमें व्याप्त है उसी भांति भगवानके भी ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि गुण समस्त लोकालोकमें व्याप्त है ॥ १ ॥

भाषा-टीका—यह सुमेरु पर्वत ऊंचाईमें एक लाख योजन है जिसके तीन काण्ड-भाग हैं । जिनके क्रमसे भौम-जाम्बूनद-वैडूर्य नाम हैं । उस पर पण्डकवन ऊंचाईमें सबसे अधिक होनेके कारण सुन्दर ध्वजाकी तरह उसकी सुशोभाको और भी बढ़ाकर मानो चार चांद लगा रहा है । जिस मेरुकी जड़ जमीनमें १ योजन तक पाई जाती है । और यह ९९ योजन पृथ्वीके ऊपरी भागमें आकाशकी चोटीकी तरह शोभित है । इसके तीनों भाग तीनों लोकोंमें अवस्थित पाए हुए हैं । इसी तरह प्रभुके वचन किए हुए तीनों रत्न

सुमेरु की भांति विशाल और महान् हैं, तथा तीनों लोकके भव्यप्राणिओंके मन-वचन-काय योगमें समाविष्ट-ओत-प्रोत हैं ॥ १० ॥

गुजराती अनुवाद—ते मेरु पर्वत उंचाइमा एक लाख योजननो छे, तेना एक भूमिमय, वीजो सुवर्ण मय अने त्रीजो वैडूर्य रत्न मय एवा त्रण काण्ड (भाग) छे, तथा ते मेरु पर्वतनी टोच ऊपर पंडग वन ध्वजानी माफक शोभी रह्यु छे। ते मेरु पर्व्वत नवाणु हजार योजन ऊचो अने एक हजार योजन नीचे जमीनमा छे। तेना त्रणे भाग त्रणे लोकमा अवकाश प्राप्त छे। तेवीज रीते प्रभुना बतावेला ज्ञान-दर्शन-चरित्र रूपी त्रणे रत्न सुमेरुनी पेठे विशाल छे, अने त्रणे लोकना भव्योना मन-वचन-काय मा सम्पूर्ण रीतिथी समाविष्ट छे ॥ १० ॥

मूल

पुट्ठे णभे चिट्ठइ भूमिवट्ठिए,
जं सूरिया अणुपरिवट्टयंति।
से हेमवन्ने बहुनंदणे य,
जंसि रइं वेदयती महिंदा ॥ ११ ॥

संस्कृतच्छाया

स्पृष्टो नभसि तिष्ठति भूम्यवस्थितः,
यं सूर्याः अनुपरिवर्तयन्ति।
स हेमवर्णो बहुनन्दनश्च,
यस्मिन् रतिं वेदयन्ति महेन्द्राः ॥ ११ ॥

सं० टीका—स्पृष्ट सलग्नो नभस्याकाशेऽथवा नभो व्याप्य तिष्ठति स मेरु, "स्पृष्टि पृक्ताविल्यमर"। तथैव भूमिं पृथिवीं चावगाह्य स्थितः। ऊर्ध्वाधस्तिर्यक् सस्पर्शीति भाव। यथा च य मेरुं सूर्यादयो ज्योतिष्का अगारकादिग्रहा अप्यनुवर्तयन्ति यस्य पार्श्वतः परिभ्रमन्तीत्यर्थ। हेमवर्णो वा कनकाभो निष्टप्तकाञ्चनसदृशस्तथा बहूनि चत्वारि नन्दनवनानि यस्य स बहुनन्दनवन। भूमौ तु भद्रशालवन ततः पञ्चयोजनशतान्यारुह्यातिक्रम्योल्लङ्घ्य मेखलाया शैल-

नितम्बदेशो मध्यभाग इत्यर्थः । "मेखला खड्गबन्धे स्यात्काञ्ची शैलनितम्बयोरिति मेदिनीकोशः" । नन्दनवनमास्यास्ति । तथा त्रिषष्टि योजनसहस्राण्यधिकान्यतिक्रम्य सौमनसवनम् । ततः षट् त्रिंशत्सहस्राण्यारुह्योत्तम्य शिखरे पण्डकवनमिति मेरोश्चत्वारि वनानि । यस्मिन् मेरौ महेन्द्रा त्रिदशास्तस्मात् स्वर्गात्समागत्य रमणीयत्वमसम्बादिगुणेन रतिं रमणक्रीडां वेदयन्त्यनुभवन्ति । अतश्चतुर्भिर्नन्दनवनादुपेतो विविधक्रीडास्थानसमन्वितः स मेरुः ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—[से] वह सुमेरु [णभे] आकाश को [पुढे] छूकर [चिट्ठइ] ठहरा हुआ है तथा [भूमिवट्ठिए] भूमिको छूकर स्थित है, [जं] जिसकी [सूरिया] सूर्य [अणुपरिवट्टयंति] प्रदक्षिणा करते हैं, और जो [हेमवण्णे] सोनेके समान परम कान्ति युक्त है जिसमें [बहु] बहुत अर्थात् चार [नंदणे] नन्दनादि वन हैं [जंसी] तथा जिसमें [महिंदा] महेन्द्र आकर [रतिं] सुखका [वेदयंती] अनुभव करते हैं ॥ ११ ॥

भावार्थ—वह सुमेरु पर्वत ऊपरके भागमें आकाशको व्याप्त करके तथा नीचे भूमिको स्पर्श करके स्थित है इसलिए वह ऊर्ध्वलोक-अधोलोक और तिर्यक् लोकको स्पर्श करता है। ज्योतिष्क विमान उसकी प्रदक्षिणा करते हैं। उसका रंग सुवर्णकी तरह पीला है। उसके ऊपर चार वन हैं; समान भूमिमें भद्रशाल वन है उसके पांचसो योजन ऊपर नन्दन वन है, उसके बासठ हजार योजन ऊपर सौमनस वन है उससे छत्तीस हजार योजन ऊपर पाण्डुक वन है इस प्रकार वह अनेक क्रीडास्थलोंसे युक्त है, और उसमें देव तथा देवेन्द्र आकर रति-क्रीडाका अनुभव करते हैं ॥ ११ ॥

भाषा-टीका—उस सुमेरु पर्वतने ऊर्ध्व लोक-अधोलोक और मनुष्य लोक इस प्रकार तीनों लोकोंके आकाशको छू लिया है। जिसकी समीपकी जगह सूर्य चांद तथा नक्षत्र चारों ओर परिक्रमा देते रहते हैं। तब वह तपे हुए सोनेकी तरह चमचमाट करने लगता है। उसके चारों ओर के बहुतसे वनोंमें चार सुन्दर सुन्दर वन हैं। और प्रथम समतल भूमी पर भद्रशाल वन है। उस जगहसे ५ योजन ऊपर जानेसे यानी उसकी समीपकी

जगह नन्दन वन आता है। उससे ६२००० योजन ऊपर सौमनस वन है। उससे ३६००० योजन ऊपर शिखरके पास पंडकवन है। ये सुमेरुके चार सघन वन हैं। यहां पर बडे २ महेन्द्र और देव गण आकर मनोहर खेल कूद करते हैं। उसका सौन्दर्य्य निहारनेके लिए स्वर्गसे चल कर आते हैं। इसी भांति भगवान् भी सुवर्णके रंग जैसे सुन्दर हैं। इनके पास ज्ञान, दर्शन, चरित्र, तप तथा तत्व, पदार्थ, नय, निक्षेपादि चार सुन्दर विचार स्थल हैं, जिनमें आत्माका अनुपम आनन्द आता है। और इस क्रीडास्थली पर भव्य जन स्वावलम्बी होकर सहजानन्द लूटते हैं ॥ ११ ॥

गुजराती अनुवाद—ते मेरु पर्व्वत ऊर्ध्व दिशामा आकाशने स्पर्शी रह्यो छे, एटले ऊर्ध्वलोक–अधोलोक अने मनुष्यलोकने स्पर्शी रह्यो छे, जे मेरु पर्व्वतनी आसपास सूर्यप्रमुख ज्योतिषी-देवो प्रदक्षिणा करी रह्या छे। ते मेरु-पर्वत सुवर्णना जेवी कान्तिवाळो छे। तेनी चारे वाजुए घणा वनोमां चार मुख्य सुंदर वन छे। समतल भूमिपर भद्रशाल वन छे, त्याथी ५०० योजन ऊपर जता नन्दनवन आवे छे, त्यांथी ६२००० योजन ऊचे सौमनस वन छे। त्याथी ३६००० योजन ऊंचे शिखरनी पासे पडकवन छे। मेरु पर्व्वतना आ चार नन्दनवनमा मोटा इन्द्रो पण आवीने इच्छानुसार मनोहर क्रीडा करे छे। तेनु मनोमोहक सौन्दर्य जोवाने स्वर्गमा थी आवे छे। ते रीते भगवान् महावीर प्रभु पण सुवर्ण समान सुदर छे। तेमनी पासे ज्ञान-दर्शन-चरित्र तथा तप तेमज तत्व-पदार्थ-नय-निक्षेपादि चार सुन्दर विचार स्थल छे। जेमा आत्माने आनन्द आवे छे। तेमज ते क्रीडा स्थल पर भव्य जनो स्वावलम्बी वनीने सहजानन्द लूटे छे ॥ ११ ॥

मूल

से पव्वए सद्दमहप्पगासे,
विरायई कंचणमट्ठवन्ने।
अणुत्तरे गिरिसु य पव्वदुग्गे,
गिरिवरे से जलिएव्व भोमे ॥ १२ ॥

संस्कृतच्छाया

स पर्वतः शब्दमहाप्रकाशो, विराजते काञ्चनमृष्टवर्णः ।
अनुत्तरो गिरिषु च पर्वदुर्गो, गिरिवरः स ज्वलित इव भौमः ॥१२॥

स० टीका—स मेरुनामापर्वत सुदर्शनः शोभनदर्शनः सुमेरु-र्मन्दरो हेमाद्रिरित्यादिभिःशब्दैः पर्यायवाचकैर्महान् प्रकाशः प्रसिद्धि-र्मानीतः । "प्रकाशोऽतिप्रसिद्धेऽपीत्यमरः" । यद्वा, स शब्दमहा-प्रकाशो विराजते—शोभते, वा सुरासुरकिन्नरादिगन्धर्वगायनशब्दै-र्महाप्रकाशो दीप्यमानः । काञ्चनस्येव मृष्टः शुद्धो, "निर्णिक्तं शोधितं मृष्टं निःशोध्यमनवस्करमित्यमरः" । वर्णो यस्य स काञ्चनमृष्टवर्णः । अनुत्तरः प्रधानस्तथा गिरिषु पर्वतेषु मध्ये पर्वभिर्मेखलादिभिः सन्धि-भिर्वा "पर्व क्लीबं महे ग्रन्थौ, प्रस्तावे लक्षणान्तरे, दर्शे प्रतिपदो-सन्धाविति मेदिनी कोषः" । अथवा च वज्रापर्वैर्वा दुर्गो दुर्गमः, "दुर्गो मानिस्त्रो क्ली दुर्गमे त्रिष्विति मेदिनी" । सामान्यप्राणिभि-र्दुरारोहो गिरिरिति भावः । स गिरिवरः पर्वतप्रधानो मणिभिरौषधिभिश्च ज्वलितो दीप्यमानो भौम इव भगवल्लब्ध इवाथवा भूलेख इवेति भावः । "भौमः कुजे च नरके पुंसि भूमिभवे त्रिष्विति मेदिनी" ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—[से] वह [पव्वए] सुमेरु पर्वत [सद्दमहप्पगासे] अनेक शब्दोंसे गूंजता है तथा [कंचणमट्ठवण्णे] सोनेकी तरह चीके वर्णसे [विरायई] शोभा प्राप्त है, [गिरिसु] सब पर्वतोंमें वह [अणुत्तरे] सर्वश्रेष्ठ है, [पव्वदुग्गे] वह पर्वत मेखला आदिके कारण दुर्गम है, और [से] वह [गिरिवरे] सबमें प्रधान सुमेरु [भोमे व] मंगल ग्रह तथा पृथ्वीकी तरह [जलिए] कान्तियुक्त है ॥ १२ ॥

भावार्थ—अनेक प्रकार गूंजनेवाले ऊँचे पर्वत और गुफाओंमें आवाज करनेपर उससे प्रतिध्वनि हो सकती है और वह पहली अवस्थाके भी

अधिक गभीर होती है, इसीप्रकार सुमेरु पर्वत देवोंका क्रीडास्थल है और वह भी उनकी प्रतिध्वनिओंसे गूंज उठता है तथा वह गूज सबसे प्रबल है, इसी प्रकार महावीर-परमात्माकी दिव्यध्वनि सबसे प्रबल और जोरदार है, यही कारण है कि—भगवान्‌के सदुपदेशका प्रभाव अमिट और शीघ्र होता है। पर्वतके सुनहरी रंगके समान प्रभुका पीतवर्ण युक्त शरीर दर्शनीय और मनोहर था। जिसप्रकार सुमेरुपर चढना कठिन है उसीप्रकार भगवान्‌की सर्वज्ञताको जीतना भी दुष्कर है ॥ १२ ॥

भाषा-टीका—वह सुमेरु पर्व्वत अधिराज है, दर्शनमें सौन्दर्य्यशाली है। बुद्धिमान् अच्छी २ शब्दोपमाएँ देकर प्रख्यात कर चुके हैं। जिसपर गान्धर्वोंका मनोमोहक गायन होता है, सोनेसें लीप पोत कर मानो अभी शुद्ध किया गया है इसीसे सब पर्व्वतों में उसे प्रधानता दी गई है, उसकी उचाई और अधिक सन्धियोंके कारण उसपर मनुष्योंको पैरोंसे चढना सांस तोडने जैसा है। अत सामान्य प्राणी उसे चढ कर पार नहीं पासकते। इसी लिए उसे प्रधानता दी गई है। उस पर मणिमाणिक्य जैसे बहुमूल्य रत्न और कई अलौकिक जडी बूटिया मंगलग्रह की तरह चमकती हैं। इसी भांति वीर भगवान्‌का दर्शन अनेकान्त है, परम सुन्दर है। जिसकी अकाट्य तर्कमयता प्रसिद्ध है। जिसकी गौतम जैसे दार्शनिकोंने प्रशसा की है। उस दर्शनका सुन्दर वर्ण अर्थात् शब्दों में निर्माण हुआ है। तथा वह सब दर्शनोंमें प्रधान है। साधारण तथा अनुभव शून्य मानवोंके लिए अगम्य और दुरारोह है। जिनकी २८ लब्धिरूप औषधिओंकी चमक विलक्षण है। जो धर्मकी प्रभावनारूप आरोग्यता प्रदानकरनेके अर्थ काममें लाई जाती हैं। इसीसे दुराग्रहरूपी रोग शान्त होते है ॥ १२ ॥

गुजराती अनुवाद—वळी ते मेरु पर्व्वत मदर १, मेरु २, मनोरम ३, सुदर्शन ४, स्वयंप्रभ ५, गिरिराज ६, रत्नोच्चय ७, तिलकोपम ८, लोकमध्य ९, लोकनालि १०, राम ११, सूर्यावर्त १२, सूर्यचरण १३, उत्तम १४, दिशादि १५ और अवतम १६, ए सोळ नामे करी महा प्रकाश (प्रसिद्ध) वान् थई शोभे छे। जेना पर गान्धर्वोना मनोमोहक गायनो थाय छे। सुवर्णनी पेठे शुद्ध वर्णवाळो सर्व पर्वतोमा प्रधान छे। तेनी उचाई अने अधिक सधिओने लीधे मनुष्योने माटे तेना पर चढवुं पण अशक्य छे। वळी ते गिरिराज मणि

अने औपपत्तिकोए करी देदीप्यमान छे तेम रीते वीर भगवाननुं अनेकान्त दर्शन परम सुंदर अने मनोहर छे। जेनी अनन्त तर्कमयता प्रसिद्ध छे। जेनी गौतम जेवा दार्शनिकोए पण प्रशंसा करेली छे। ते दर्शननुं सुन्दर रूपे अर्थात् शब्दोमां निर्माण थएलुं छे। तथा ते सर्व दर्शनोमां प्रधान अने सर्वोत्तम छे। साधारण तथा अद्भुत अल्प मनुष्योने माटे अगम्य तथा अति दुरारोह छे। जेवी १८ अभिमत औषधिओथी चमक सहुथी विलक्षण छे। के जे धर्मनी प्रमाणता करवामां उपयोगमां आवमां आवे छे। जेमनी दुरमाट तेम मनुष्यनी मा चडीने शान्त नहीं थाय छे ॥ १२ ॥

मूल

मही‌इ मज्झमि ठिते णगिंदे,
पन्नायते सूरियसुद्धलेस्से;
एव सिरीए उ स भूरिवण्णे,
मणोरमे जोयइ अच्चिमाली ॥ १३ ॥

संस्कृतच्छाया

मह्यां मध्ये स्थितो नगेन्द्रः प्रज्ञायते सूर्यशुद्धलेश्यः।
एवं श्रिया तु स भूरिवर्णः, मनोरमो द्योतयत्यर्चिमाली ॥१३॥

सं० टीका—मह्यां मध्यदेशेऽन्तर्भागे यो जम्बूद्वीपस्तस्यापि बहु-मध्यमदेशे स नगेन्द्रः स्थितः। पुनश्च सौमनस, विद्युत्प्रभ, गन्धमा-दन, माल्यवद्वंशपर्वतचतुष्टयोपशोभिते समभूभागे दशसहस्रयोजन-विस्तीर्णः, शिरसि सहस्रमेकमपश्चादपि दशसहस्राणि भवति योजनानि योऽनेकदेशमार्गैर्वत्सभिर्मार्गैरभिकानि विस्तीर्णश्चत्वारिंशद्योजनोच्छ्रि-तचूलोपशोभितो नगेन्द्रः पर्वतप्रधानो मेरुः। स पर्वतस्या जगति सूर्य-वच्छुद्धलेश्यो निर्मलकान्तिः सूर्यसमप्रभ इति। एवमनन्तरोक्तया श्रिया तु सम्यग्विशिष्टतरया कान्त्या स मेरुर्भूरिवर्णोऽनेकवर्णोऽनेकरंगगुणोपेतः

"वर्णो द्विजादौ शुक्लादावित्यमर." वीरपक्षे भूरि=प्रभूतं बहुलं "प्रचुरं प्रभूतं प्राज्यं मदभ्र बहुलं बहु, पुरुहूः पुरुभूयिष्ठं, स्फारं भूयश्च भूरि चेत्यमरः"। वर्ण परिस्तोमो यस्य स भूरिवर्ण, दीर्घसिंहासनस्य प्रवेणीति। "प्रवेण्यास्तरणं वर्ण परिस्तोमः कुथो द्वयोरित्यमरः"। अथवा भूरिः स्वर्ण काञ्चनं तस्येव वर्णो (कान्तिः) यस्य स तथा। "स्वर्णेऽपि भूरीत्यमरः"। अथवा भूरिर्बहुलो, वर्णःस्तुतिर्यस्य स तथा। "स्तुतिर्वर्णे तु वाऽक्षर इत्यमरः"। "वर्णः स्तुतौ ना इति मेदिनी"। अथ किं भूत. स मेरुर्मनोरमश्चारु शोभनः, "सुन्दरं रुचिरं चारु, सुषम साधुशोभनम्, कान्त मनोरममित्यमर."। एवमेव वीरोऽप्येवं विधो जगति मनोरमः। पुनश्च=अर्चि.किरणस्तस्य माला विद्यते यस्य सोऽर्चिमाली सूर्य इव द्योतयति दिश इति शेष। "दीधितिर्भानुरुस्त्रोंऽशुर्गभस्तिः किरण. कर.। पादो रुचिर्मरीचिर्मा तेजोर्चिरिति घनंजय." ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ—[महीइ] पृथ्वीके [मज्झम्मि] बीचमें [ठिये] स्थित [णगिंदे] पर्वतोंमें प्रधान सुमेरु [पन्नायते] लोकमें उत्कृष्ट रूपसे जाना जाता है, तथा [सूरियसुद्धलेस्से] सूर्यके सदृश शुद्ध तेजवाला [एव] इसी भातिकी [सिरीए] लक्ष्मीसे [उ] अधिकाधिक [भूरिवण्णे] विचित्र रत्नोंसे शोभित रहनेके कारण नानावर्ण युक्त और [मणोरमे] मनको मोहित करने वाले [अच्चिमाली] सूर्यकी तरह [जोयइ] दशों दिशाओंको प्रकाशित करता है ॥ १३ ॥

भावार्थ—रत्नप्रभा पृथ्वीके मध्यभागमें जम्बू द्वीप है, और इसके बीचमें सब पर्वतोंमें प्रधान सुमेरु पर्वत है, यद्यपि सुमेरु पर्वत दोनों धातृ खण्ड और दोनों पुष्करार्द्ध द्वीपमें भी हैं, किन्तु उनकी उचाई ८५ हजार योजन ही है, और जम्बूद्वीपके मध्यभागस्थ सुमेरु एक लाख योजन ऊचा है, अतः यह सबमें प्रधान गिनाजाता है। इसी प्रकार ऋषि-मुनि और महात्माओंमें महावीर प्रधान थे, सुमेरु पर सूर्यकी कान्ति पडने पर जैसे वह चमकने लगता है वैसे ही

अपगतस्य शरीरे भी प्रभावशाली था वैसे आत्मस्वरूपके धारक थे भगवान्‌का शरीर स्वर्ण प्रकाशित था तथा औरोंके ज्ञान का प्रकाश भी देता था ॥ १३ ॥

भाषा-टीका—पृथ्वीके बिचके प्रदेशमें जम्बूद्वीपके मध्यभागमें यह मेरु पर्वत समस्त पहाड़ोंके राजाकी तरह स्थित है। सोमनस विद्युत्प्रभ गन्धमादन माल्यवान्त इन चार दाढ़ापर्वतोंसे यह बड़ा मनोहर लगता है, यह पृथ्वीके सम भाग में दशहजार योजन विस्तीर्ण है, ग्यारह १ हजार योजन पर एक १ हजार योजन घट कर शिखर पर एक हजार योजन रह जाता है। यह जगत्‌में सूर्यकी तरह शुद्ध कान्ति और निर्मल आकृति युक्त है। और जिसमें अनेक बहु मूल्य धातु और रत्नराशि पाए जाते हैं।

वीर प्रभुमें—सोनेकी तरह जिनके शरीरकी चमक दमक है। जिनके गुण चांदकी तरह चमक हैं। जिनकी स्तुतियें महती हैं। जिन्हें अपुनरावृत्ति रूप अमर—मोक्ष प्राप्त है। जिनका सर्वदा अनन्त सुख रहता है। सुमेरुकी तरह मनोरम हैं जो सूर्यकी किरणोंकी तरह तेजस्वी हैं ॥ १३ ॥

गुजराती अनुवाद—पृथ्वीना मध्य भागमां सर्व पर्वतोमां इन्द्र मेरु पर्वत सूर्यनी पेठे शुद्ध कान्ति अने निर्मळ आकृतिवाळो छे। सोमनस विद्युत्प्रभ गन्धमादन माल्यवान ए चार दाढ़ाओथी पर्वत बहु सुन्दर देखाय छे। ते पृथ्वीना समभागमां १ योजन पहोळो छे। अग्यार अग्यार हजार योजन पर एक एक हजार योजन घटतां शिखर पर एक हजार योजन पहोळो छे। तेमां अनेक बहुमूल्य धातुओ एवं रत्नो मळी आवे छे। वीर प्रभु—

सुवर्णसमान जेमना शरीरनी शोभा छे जेमना गुणो चन्द्रमानी पेठे चमक छे। जेमने अपुनरावृत्तिरूप अमर—मोक्ष प्राप्त करेल छे, जेमनो सर्वदा अनन्त सुख रहेल छे। सुमेरु नी पेठे जे मनोहर छे जे सूर्यना किरण समान तेजस्वी छे ॥ १३ ॥

मूल

सुदसणस्सेव जसो गिरिस्स,
पवुच्चई महतो पव्वयस्स ।
एतोवमे समणे नायपुत्ते,
जाईजसोदसणनाणसीले ॥ १४ ॥

संस्कृतच्छाया

सुदर्शनस्येव यशो गिरेः, प्रोच्यते महतः पर्व्वतस्य ।
एतदुपमः श्रमणो ज्ञातपुत्रो, जातियशोदर्शनज्ञानशीलः ॥ १४॥

सं० टीका—भगवतो वीरस्यैतद्यश. कीर्तनं महतः पर्वतस्य सुदर्शनस्य मेरोर्गिरिरिव प्रोच्यते, महत. पर्व्वतस्यैतदुपम एततुल्यः । साम्प्रतमेतदेव भगवति दार्ष्टान्तिके योज्यते । एषः=अनन्तरोक्तमेरुगिरिरित्यर्थ', उपमा=उपमानं सादृश्यप्रतियोगी यस्य स एतदुपमः । कः । श्राम्यति=तपस्यतीति श्रमणः । तपोनिष्टप्तदेहो ज्ञातपुत्रः श्रीमहावीरप्रभुर्जात्या="जातिर्जातं च सामान्यमित्यमरः ।" यशसा=कीर्त्या "यशः कीर्ति. समज्ञाचेत्यमरः ।" सकलदर्शनज्ञानचरित्रवतांमध्ये श्रेष्ठ. प्रधानः । जात्यादीनां कृतद्वन्द्वानामतिशायने 'अर्श आदित्वादच्' प्रत्ययविधानेनाक्षरघटना विधेयेति भाव. ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—[महतो] महान् [पव्वयस्स] पर्वत [सुदसणस्सेव] सुदर्शन [गिरिस्स] मेरु पर्वतका [जसो] यश कीर्ति जैसे प्रतिपादित है उसीप्रकार [पवुच्चइ] भगवान्‌की कीर्ति करते हैं [एतोवमे] पूर्वकथित उपमासे अलकृत [समणे] श्रमण [नायपुत्ते] ज्ञातपुत्र-महावीर भगवान् [जाइजसोदसणनाणसीले] जाति, यश, दर्शन, ज्ञान और शीलमे सर्वश्रेष्ठ थे ॥ १४ ॥

भावार्थ—भगवान्‌की एक देशीय उपमा तो सुमेरु पर्वतसे दीगई, और इसी प्रसगको लेकर सुमेरुका यशोगायन कियाहै, और अब फिर उपमेयका—भगवान् महावीरका वर्णन करते हैं। वे ज्ञात वशके क्षत्रिय कुलमें उत्पन्न भगवान समस्त जातिवालोंमें और अखिल यशस्वियोंमें, समस्त ज्ञानियोंमे तथा दर्शनवालोंमें और सब चरित्रनिष्ठोंमें श्रेष्ठ थे ॥ १४ ॥

भाषा-टीका—भगवान् वीरका यश सुमेरुकी सदृश महान् था, यह उपमा उनके ही ऊपर भलि भाति घटती है। वे श्रमण थे, तपसे शरीरको सोनेकी तरह तपा डाला था, ज्ञात वशके क्षत्रिय पुत्र थे। जिनकी जाति—यश कीर्ति—समस्त ज्ञान, दर्शन और चरित्र समन्वित है। श्रेष्ठतर तथा प्रधानतर है ॥१४॥

गुजराती अनुवाद—जेमकार लांबामां निषध पर्वत अने वलयाकार पर्वतोमां रुचक पर्वत श्रेष्ठ छे, ते ज प्रमाणे जगतमां मुनिओमां महावीर श्रेष्ठ छे।

मूल

गिरिवरे वा निसहाऽऽययाणं,
रुयए व सेट्ठे वलयायताणं।
तओवमे से जगभूइपन्ने,
मुणीण मज्झे तमुदाहु पण्णे ॥ १५ ॥

संस्कृतच्छाया

गिरिवरो वा निषध आयतानां रुचको वा श्रेष्ठो वलयायतानाम्।
तदुपमः स जगद्भूतिप्रज्ञः मुनीनां मध्ये तमुदाहुः प्रज्ञाः ॥ १५ ॥

सं॰ टीका—दृष्टान्तद्वारेण पुनरप्याह, निषधः—तन्नामा पर्वतो यथा गिरिवराणामायतानां=दीर्घाणां, "दीर्घमायतमित्यमर" । मध्ये, जम्बूद्वीपेऽन्येषु वा द्वीपेष्वपेक्षया दैर्घ्येण श्रेष्ठ उत्तम । पुनश्च वलयायतानां कटकायतानां मध्ये "आवापक पारिहार्य्य कटको वलयोऽस्त्रियाम्" इत्यमरः । रुचक पर्वत श्रेष्ठोऽन्येभ्यो वलयाकारत्वेनेति भाव । हि रुचको द्वीपान्तर्वर्तिमानुषोत्तरगिरिरिव वृत्तायतो वर्तुलस्तथ, "वर्तुलं निस्तलं वृत्तमित्यमर" । असंख्येययोजनपरिक्षेपेण परिधिनेति । तथा स वीरोऽपि तदुपम । यथा आयतवृत्ताभ्यां मधनस्येति। तथैव भगवानपि जगति संसारे भूतिप्रज्ञ प्रभूतज्ञानपरिज्ञया श्रेष्ठ इत्यर्थ । परमुनीनामपेक्षया प्रकर्षेण जानातीति प्रज्ञ सर्वज्ञश्चेति । तथैव तत्स्वरूपविद्—आहु उदाहृतवन्त कथितवन्त ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ—[वा] जैसे [निसह] निषध पर्वत [आययाणं] लम्बे पर्वतोंमें [गिरिवरे] श्रेष्ठ पर्वत है, तथा [व] जैसे [रुयए] रुचक पर्वत [वलयायताणं] गोलाकार पर्वतोंमें [सेट्ठे] श्रेष्ठ है, [तओवमे] इसी तरह

[से] भगवान् महावीर भी [जगभूईपन्ने] ससारमें प्रभूतप्रज्ञा—अनन्त ज्ञान-युक्त हैं। अत [पन्ने] प्रकृष्ट ज्ञानवालोंने [त] उन्हें [मुणीण] सब मुनिराजोंके [मज्झे] बीचमें [उदाहु] उत्कृष्ट कहा है ॥ १५ ॥

भावार्थ—हरिवर्ष क्षेत्रके पर्वतका नाम निषध पर्वत है, वह लम्बाईमें सबसे बडा है, तथा रुचक नामका पर्वत गोलाईमें अद्वितीय है जिसके समान अन्य दूसरा नहीं है। उसी प्रकार भगवान् महावीर भी ज्ञानमें अद्वितीय थे, उनके समान पूर्णज्ञानी उस समय कोई और नहीं था, अत एव बुद्धिमान् अन्य दार्शनिकोंने उनको उत्कृष्ट कहा है ॥ १५ ॥

भाषा-टीका—निषध पर्व्वत सब लम्बे पहाडोंमें श्रेष्ठ है, चूडीकी तरह गोल पहाडोंमें रुचक पर्व्वत सर्वाधिक सुन्दर है, इसी तरह वीरप्रभु भी जगत्में भूतिप्रज्ञ-अध्यात्म विद्यामें अद्वितीय है। और वह अन्य मुनिओंकी अपेक्षासे है। उनके स्वरूपको जाननेवालोंने यथार्थतया कहा है कि वह सर्व्वज्ञ हैं ॥१५॥

गुजराती अनुवाद—लांबा पर्वतोमा निषध नामक पर्वत मोटो छे। गोलाकार पर्वतोमा रुचक पर्वत श्रेष्ठ छे। ते उपमाए श्रीमहावीर शासनदेव जगत्मा प्रज्ञाए करी श्रेष्ठ कह्या छे, अध्यात्म विद्यामा अद्वितीय अने सर्वमान्य छे। तथा सर्व्व मुनिओने विषे प्रज्ञावन्त कह्या छे। तेमना स्वरूपने जाणवावाळा-ओए यथार्थज कह्यु छे के तेओ सर्वज्ञ छे ॥ १५ ॥

मूल

अणुत्तरं धम्ममुईरइत्ता,
अणुत्तरं ज्झाणवरं झियाई।
सुसुक्कसुक्कं अपगंडसुक्कं,
संखिंदुएगंतवदातसुक्कं ॥ १६ ॥

संस्कृतच्छाया

अनुत्तरं धर्ममुदीर्य्य, अनुत्तर ध्यानवरं ध्यायति।
सुशुक्लशुक्लमपगण्डशुक्लं, शङ्खेन्द्वेकान्तावदातशुक्लम् ॥ १६ ॥

सं० टीका—अनुत्तरं प्रधानमुत्कृष्ट धर्ममुत्पावस्येनेरयित्वा= कथयित्वा प्रकाश्य च, "प्रोक्ते प्रेरिते, क्षिप्त इति शब्दार्थचिन्ता-

मपि ।" यथानुत्तरमेतदनुत्तमं ध्यानवरं श्रेष्ठध्यानं च ध्यायति, उत्पन्नकेवलज्ञानो भगवान् मनोवाक्काययोगनिरोधकाले सूक्ष्मं काययोगं निरुन्धन् शुक्लध्यानस्य तृतीयं भेदं सूक्ष्मक्रियमप्रतिपातस्यं तथा च चतुर्थं निरुद्धयोगं शुक्लध्यानमेव व्युपरतक्रियमनिवृत्तास्यं च ध्यायन्स्वसदेव दर्शयति, सुष्ठु भवस्य शुक्लमच्छं ध्यानं विशुद्धलेश्यं शुक्ललेश्यं* यथाऽपगतं गतमपक्रान्तं दोषमलकलङ्कं यस्य तदपगतमलं, यदि

---

* किम्पलसीभ्योस्यरम्भ पुण्यपापे यथा क्रमम्। स लेश्येत्युच्यते परिविर्निभा प्रभ्यमानतः ॥ प्रकृतिर्यामिनी लेश्या कषायोदयरञ्जिता। भावतो द्रव्यतो द्रव्यलेश्या योगमयी मता ॥ कृष्णा नीलाऽथ कापोती पीता पद्मा सिता स्मृता। लेश्या षड्भिः सदा तासां ग्रह्यते प्राणी जन्मभिः ॥ योगपरिणतिर्लेश्या कषायकलुषिता तोऽधीनाम्। तीव्रतरो मन्दलेश्यादिकस्त्वागमप्रवरम्। कपोती भवति तीव्रो नीला तीव्रतरो मिथः। कृष्णा तीव्रतमो लेश्या परिणामः शरीरिणाम्। पीता निवेदितः मन्दः पद्मा मन्दतरो बुधैः। शुक्ला मन्दतमस्तासां वृद्धिः स्वस्थानषड्विधी ॥ निर्विकल्पकमनोवृत्तेषु भावा शात्वोपलक्षणो। तत्रैवं परिणामे भावलेश्या प्रकार्तितम्॥ षट्पदं चतुर्थं निःशेषविवसविवरः प्रमादिषु। इत्या गुणेषु षट्स्वेव लेश्या निर्लेश्यमिष्यम् ॥ रागद्वेषग्रहाविष्टो दुर्गहो दुष्टमानसः। क्रोधमानादिभिस्तीव्रैर्ग्रस्तोऽनन्तानुबन्धिभिः ॥ निर्दयो निरनुक्रोशो मद्यमांसादिलम्पटः। सर्वदा कदनासक्तः कृष्णलेश्यान्वितो जनः। कोपी मानी मायी लोभी रागी द्वेषी मोही शोकी हिंसः क्रूरश्चण्डश्चोरो मूर्खः स्तब्धः स्पर्धकारी। निद्रालुः कामुको मन्दः कृत्याकृत्यविचारकः। महारम्भो महामूर्च्छो नीललेश्यो निगद्यते ॥ शोकभीमत्सरासूयापरनिन्दापरायणः। प्रशंसति सदात्मानं स्तूयमानः प्रहृष्यति। वृद्धिहानी न जानाति न मूढः कार्यमन्तरम्, सर्वप्रमाणसंपन्नः समरेषु मुदते मियम्। स्तौति यो नितरां दत्ते रणे मर्तुमपीहते। परकीयरणोऽमोदी पुत्रः कापोतलेश्यया ॥ समदर्शिनिविष्टो वित्ताविशिनिविष्टः सदा सदा दक्षः पीतलेश्यो महामनाः। शुचिर्दानरतो भद्रो विनीतात्मा प्रियंवदः साधुपूजोद्यतः साधुः पद्मलेश्यो भवत्ययम्। निर्निदानोऽनहंकारः पक्षपातोज्झितोऽशठः रागद्वेषपराचीनः शुक्ललेश्यः स्थिराशयः। देवाः पद्म तथा शुक्ला कैश्चिदिव प्रवाहितः। संवेगसुलभं मासा कर्मेन प्रतिपद्यते ॥

वा *गंडमुदकफेनं बुद्बुदं तद्वन्निर्मलं चेति, निर्दोषार्जुनसुवर्णवच्छुक्लम्, तथा च शंखेन्दुवदेकान्तावदातं शुभ्रं शुक्लं शुक्लध्यानोत्तरं भेदद्वय ध्यायतीति भावः। "गण्ड' कपोले, पिटके, दोषजनके, जलबुद्बुदे, इति शब्दार्थचिन्तामणि'" ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ—[अणुत्तर] सबसे उत्तम [धम्म] धर्मको [उईरइत्ता] कहकर भगवान् [अणुत्तर] प्रधान [झाणवर] व्युपरत-क्रिया-निवृत्ति नामक ध्यानको [झियाइ] चिन्तवन करते हैं, अर्थात् [सुसुक्कसुक्क] उत्तम श्वेतवर्णकी तरह शुक्लनामक श्रेष्ठ और पवित्र ध्यान जोकि-[अपगंडसुक्क] अर्जुन संज्ञक सुवर्णकी तरह अथवा जलके फेनकी तरह या [संखिंदु एगंतऽवदातसुक्क] शंख और चन्द्रमाकी तरह एकान्त सफेद है उसका भगवान्ने ध्यान किया ॥ १६ ॥

भावार्थ—भगवान् महावीरने ऐसे धर्मका पूर्ण उपदेश किया है, जोकि समस्त धर्मोमें प्रधान है तथा शुक्लध्यानको धारण किया, वह शुक्लध्यान अर्जुन नामक सुवर्णके समान और जलके फेनकी तरह तथा शखकी तरह और चन्द्रमाके समान स्वच्छ है। भगवान् सूक्ष्मकाययोगका निरोध करते हुए शुक्लध्यानके तीसरा भेद-सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामक ध्यानका विषय चिन्तवन करते हैं, तथा फिर जब योगका निरोध करते हैं तब व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामक चतुर्थ शुक्लध्यानके विषयको धारण करते हैं ॥ १६ ॥

अत्रोदाहरण यथा—

वैरिग्रामविघाताय, केपि षट्पुरुषा पुरा। चलिता समुदायेन, तेष्वेक इदमब्रवीत् ॥ १ ॥ सर्व्वं हन्तव्यमेवात्र, द्विपद वा चतुष्पदम् ॥ अन्य प्राह मनुष्याणां वधोऽस्तु पशुमि किमु?—॥ २ ॥ तृतीय प्राह हन्तव्या नरा एव नहि स्त्रियः ॥ तूर्य्येणाभाणि हन्यता, पुरुषेष्वपि सायुधा ॥ ३ ॥ पञ्चमोऽप्याह ये घ्नन्ति ते वध्या सायुधेष्वपि, षष्ठस्त्वाह विना शत्रून्, घात कार्य्यो न कस्यचित् ॥४॥ इति भिन्न मनस्तेषामभूल्लेश्याविशेषत । ता कृष्णनीलकापोत, तेज पद्मसिताभिधाः ॥ ५ ॥ तदेव तारतम्येन, विशुद्धपरिणामत । येन सर्व्वे रिपुभ्योऽन्ये, रक्षिता- स हि सत्तम ॥ ६ ॥

* गडो फोटे कपोलम्पि" इत्यभिधानप्पदीपिका।

भाषा-टीका—जिसमें राग द्वेष नाश हो और ज्ञान पूर्वक उत्तम वैराग्य संयम स्वाभिमान सहानुभूति आदि गुण पाए जायें तथा मानव जीवनको उन्नत बनानेकेलिए और संसारमें उत्कृष्ट धर्मोंको प्रकट करनेके लिए प्रभुने उपदेश दिया जो कि—अभेद रूपमें था और वह सर्व प्राणी मात्रके लिए कहा था। इसी आत्मोन्नति सिद्धिकेलिए उत्कृष्ट ध्यानका आश्रय लिया; उस ध्यानके प्रभाव प्रतापसे उस पावन पुरुषको पूर्ण स्वरूप केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ। इसके अनन्तर भी मन वचन, कायके योगोंका निरोधन करनेके समयमें सूक्ष्मकाययोगको रोककर शुक्लध्यानके तीसरे पदको प्राप्त करना आरम्भ किया; जिस स्थितिमें मन और वचनके व्यापारको रोक दिया जाता है तथा काययोगका भी आधा भाग रुक जाता है। यह शुक्लध्यानका तीसरा चरण तेरहवें गुणस्थानवर्ती अन्तिम सूक्ष्म क्रिया रूप होजाता है।

और जिस स्थितिमें मन, वचन कायकी सम्पूर्णतया रूप निवृत्ति होती है वह शुक्लध्यानका चौथा पाद है। अर्थात् कर्मरहित केवलज्ञानरूपी सूर्यके प्रकाशित प्रभाव करनेवाले सर्वज्ञ भगवान् जब अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयु बाकी रह जाता है तब सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति नामक शुक्लध्यानके योग्य बन जाते हैं उस समयकी चेष्टा अचिन्त्य होती है, बादरकाययोगमें स्थिति करके बादरवचनयोग और बादरमनोयोगको वे सूक्ष्मतम करते हैं पुनः भगवान् काययोगके अतिरिक्त वचनयोग मनोयोगकी स्थिति करके बादरकाययोगोपशम करते हैं तत्पश्चात् सूक्ष्मकाययोगमें स्थिति करके क्षणमात्रमें उसी समय वचनयोग और मनोयोग इन दोनोंका सम्यक् प्रकारसे निग्रह करते हैं, तब वह सूक्ष्म क्रिया ध्यानको यथावत् ध्यानके करने योग्य बना देती है, और वे वहां एक सूक्ष्म काययोगमें स्थित होकर उसका ध्यान करते हैं। इस तरह प्रभुका यह सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति ध्यान है।

और अयोग गुणस्थानके उपान्त्य अर्थात् अंत समयके प्रथम क्षणमें देव-गतिके द्विचरमी कर्मोंकी प्रतिपक्षक कर्मोंकी प्रकृतियें शीघ्रमेव नष्ट होजाती हैं। भगवान् अयोगी परमेष्ठीको उसी अयोगगुणस्थानके अन्तिम समयमें तत्काल शुभ और निर्मल "समुच्छिन्न क्रिया" नामक चौथा शुक्ल ध्यान प्राप्त हो जाता है।

भगवत्स्तुति यह प्रकाश और शुक्लसे भी अधिक शुक्लध्यान है। केवलज्ञानी होते महान् शुक्लेश्य हैं। "जिस आत्मामें पुण्य पापको छिन्न करके जब अपने

जैसा बनालेती है अत उसे लेश्या कहते हैं," वह दो तरहकी है। प्रवृत्ति और यौगिकी ये दो भेद है । प्रवृत्ति कषायके रंगमें रंग लेती है । भावसे असत् परिणति या परपरिणति रूपा है। योग, अविरति, मिथ्यात्व, कषाय, जन्म, कर्म्म संस्कारोंसे भावलेश्या होती है। जोकि पाप और आस्रवका कारण हैं।"

कापोती तीव्र भाव है, नीला तीव्रतर और कृष्णा तीव्रतम भाव है, यह अशुद्ध विचारोंका क्रम है। पीता उस पापकी मन्दताका नाम है, पद्मा मन्दतर है, शुक्ला मन्दतमको कहते हैं, अशुभ भावलेश्या निर्म्मलताका नाश करती है, शुभभावलेश्या कर्म्म कालिमाको प्रध्वस कर देती है। अन्तिम लेश्या सहजानन्द निर्लेश्य पद देनेमें निमित्त भूत है।

कृष्णलेश्या–

आत्मा इस दुर्भावके फदमें पड कर राग, द्वेषके ग्रहसे ग्रसा जाता है, परपरिणति और जड पूजाका दुराग्रह इसीसे आता है, मन दुष्ट और म्लान रहता है, अनन्तानुबन्धीके तीव्र क्रोध, मान, माया, लोभ कषायसे ग्रसित होता है, सदैव भावोंमें निर्दयता बनी रहती है निकल नहीं जाती, यह पापका समाचरण करके उसका कभी पछतावा नहीं करता, यह मास मदिराका लम्पट होता है, कुत्सित कर्म्ममें आसक्ति बनी रहती है। इन लक्षणोंसे समन्वित मनुष्य कृष्णलेश्यायुक्त समझना चाहिए।

नीललेश्या–

जिसमें क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह, शोक हो। नृशंसता, क्रूरता, हिंसकता रहती हो, चाण्डाल वृत्ति हो, चोर, मूर्ख, स्तब्ध, औरोंका तिरस्कार करता हो, नीन्दकी अधिकता, कामुकता, मन्दबुद्धि, जडता तथा सत्–असत्में अविवेकी हो, महा आरम्भ, महामूर्च्छा–मोह हो तो समझो कि—इसमें नीललेश्या है।

कापोतीलेश्या–

शोक, भय, ईर्षा, मत्सरभाव, औरोंकी निन्दा, अपनी प्रशंसा करना, कोई अपनी स्तुति करे तो प्रसन्न होना, हानिलाभको न जानना स्व और परमें विपर्यय विवेचना हो, अहकार-ग्रह ग्रस्त हो, अच्छी, बुरी सब प्रकारकी क्रियाएँ कर डालता हो, अपनी प्रशसा सुनकर अन्यको सर्व्वस्व तक अर्पण कर डालता हो, लडाईमें मरनेकी इच्छा रखता हो, अन्यकी यश. कीर्तिका नाश कर डालता हो, इन लक्षणोंसे कापोतीलेश्या समझनी चाहिए।

तेजोलेश्या-

यह पुरुष सम्यग्दृष्टि होता है, अभिमानतामें हेय नहीं रखता औरोंके कल्याण और अहितको सोचता है, अपने बुद्धि बलसे पुण्य और अपुण्यका ज्ञान कर लेता है, किसी अन्यकी शोचनीय दशा पर उसे दया आजाती है, धर्मानुरागी पूर्ण और अनिन्द्य व्यवहार है, ये पीतलेश्याके लक्षण हैं।

पद्मलेश्या

कर्मोंकी निर्जरा करके पवित्र होनेकी प्रबल इच्छा हो सुपात्रोंमें सात्विक दान वितरण करके सत्यानन्द सहाय्य हो जिसका अन्तर और बाह्य प्रसन्न मृदु और सरल हो आत्मामें सदैव विनय और ममत्व रहती हो अनुमोदन प्रेमसे आदर करता हो आत्म ज्ञानको उदयमें लाया ही जिसका चेतन्य हो सचरित्र पालक साधु हो तो समझो कि इसमें मोहित शुद्ध किया है, यह पद्मलेश्याका लक्षण है।

शुक्ललेश्या

अभिमानका लेश तक न हो अपने चारित्रका फल मांगनेकी अभिलाषाके निदान न करता हो पक्षपातका सर्वथा अभाव हो सम्यग्ज्ञानकी पूर्णता हो रागद्वेषका अत्यन्ताभाव हो समाधि और आध्यात्मिकतामें स्थायी भाव हो अविनश्वर हो ये लक्षण शुक्ललेश्याके हैं।

तेजोलेश्या पद्म और शुक्ल ये तीन प्रशस्त लेश्या हैं, अपने संयमको उत्तम रीतिसे बढानेमें सहायक हैं,

इन्हें उदाहरणसे समझाते हैं

चोरोंका एक समुदाय किसी ग्रामको लूट कर भाग गया तब उन चोरोंके कोषकी उनसे वापस लेनेकी इच्छासे उनके समुदायको वेष्टित बनाकर चले जा रहे थे उनमें छः आदमी क्रमश २ छः प्रकृतिके थे। रास्तेमें क्रमसे, २ पहले थे यह कहा कि—

[१] हम सब यहां जाकर सारे ग्रामके लोगोंको मार देंगे उनकी पड़ी हुई निशानी तकको भी न छोड़ेंगे।

[२] दूसरेने कहा हम उनके पशु पक्षियोंको कुछ न कहेंगे।

[३] उनकी स्त्रियोंको कुछभी कष्ट न देंगे। क्योंकि चोरोंमें बहु बेचारिएं अपने जैसी ही होती हैं।

[४] पुरुषोंमें भी उनको मारना चाहिए जिनके हाथोंमें शस्त्र हों, निश्शस्त्र शत्रुका मारना नीतिविरुद्ध है।

[५] उसी शस्त्र-धारीको मारा जायगा जो हम पर आक्रमण करेगा,

[६] शत्रुको छोडकर भूलकर भी किसी निरपराधके ऊपर हाथ न डाला जाय।

इस प्रकार भिन्न २ विचार भिन्न २ लेश्याओंके द्वारा होते हैं, अनुक्रमसे पवित्रविचारों द्वारा जो कर्मरूपी शत्रुके अतिरिक्त अन्य सबकी रक्षाकरता हो वही नरपुंगव सबमें प्रधान और उत्तम है।

इसी प्रकार भगवान् वीर प्रभुका भी शुक्लेश्या युक्त ध्यान है, जिसमें निर्दोष आत्म द्रव्य अर्थात् आत्माका अन्तरंग भाव स्वच्छ है। जिनका पवित्रध्यान चन्द्रमा और शखकी तरह उज्वलवर्ण है, इस प्रकारके शुक्लध्यानका उपदेश ससारकी आत्माओंके हितार्थ प्रभुने स्वय किया है ॥ १६ ॥

गुजराती अनुवाद—जेमां राग द्वेषनो त्याग होय, एवा ज्ञानपूर्वक त्याग, वैराग्य, सयम, स्वाभिमान, सहानुभूति विगेरे गुणो होय, एवो धर्म मानव जीवनने उन्नत बनाववा माटे ससारमा सर्वोत्कृष्ट गणाय छे ते धर्मने प्रगट करवाने माटे प्रभुए उपदेश आप्यो के जे अभेद रूपे हतो। वळी ते धर्म प्राणिमात्रने माटे कहेलो हतो। तेनी सिद्धिने माटे तेओए उत्कृष्ट ध्याननो आश्रय लीधो। तेना फल स्वरूपे तेमने केवलज्ञान प्राप्त थयु। ते पछी पण मन, वचन, कायना योगोनुं निरुधन करवाना समये सूक्ष्म काय योगने रोकीने शुक्लध्याननो त्रीजो पायो प्राप्त करवानो आरम्भ कर्यो, जे स्थितिमा मन-वचनना व्यापारोने रोकी देवामा आवेछे, तथा काय योगनो पण अर्धो भाग रोकाई जाय छे। आ शुक्लध्याननो त्रीजो पायो तेरमे गुणस्थाने वर्तता जीवोने होय छे। अने जे स्थितिमा मन वचन कायनी अप्रतिपातिरूप निवृत्तिथई जाय छे ते शुक्लध्याननो चोथो पायो छे।

कर्मरहित केवलज्ञानरूपी सूर्यथी पदार्थोनो प्रकाश करवावाला सर्वज्ञ भगवाननुं ज्यारे अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयुष्य बाकी रही जाय छे, त्यारे सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति नामे शुक्ल ध्यानने तेओ योग्य बनी जाय छे ते समयनी स्थिति अचिन्त्य होय छे। बादरकाय योगमां स्थिति करीने बादर वचनयोग अने बादर मनोयोगने ते सूक्ष्मतम करे छे। वळी भगवान् काययोग सिवाय वचनयोग, मनोयोगनी स्थिति सूक्ष्म करीने बादर काययोग पण सूक्ष्म करे छे। ते पछी सूक्ष्मकाययोगमा स्थिति करीने क्षणमात्रमा तेज समये वचनयोग अने मनोयोग

ए योगोनो सम्यक् प्रकारे निग्रह करे छे। त्यारे ते सूक्ष्म क्रिया ध्यानने समान ध्यान करवा योग्य बनावी ले छे। अने ते सर्व एक सूक्ष्म काययोगमां स्थिति करीने तेनुं ध्यान करे छे। आ रीते प्रभुनुं आ "सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति" ध्यान छे।

अयोग गुणस्थानना उपान्त्य अर्थात् अन्त्यसमयना प्रथम समये वेदनीयादिकनी मुक्तिरूपी लक्ष्मीने प्रतिबन्धक कर्मोनी प्रकृतिओ शीघ्र क्षय थती जाय छे अन-न्तर अयोगी परमेष्ठीने ते अयोग नामना गुणस्थानना उपान्त्य समये साक्षात् रूप अने निर्मल "समुच्छिन्नक्रिया" नामे शुक्लध्याननो चोथो पायो प्रगट थाय छे।

ते भगवान् प्रधान धर्म प्रभावीने प्रधान-उज्ज्वलमां उज्ज्वल दोष रहित उज्ज्वल शंख अने चन्द्रमाथी पैठे एकान्त निर्मल सर्वध्यानमां सर्वोत्तम एवुं शुक्ल ध्यान ध्याय छे।

लेश्यानी दृष्टिए पण तेमनी महान् शुक्ललेश्या छे।

आत्मामां पुण्य पापने लिप्त करीने पोताना जेवो बनावी-दे तेने लेश्या कहे छे ते बे प्रकारनी होय छे। ते भावित अने यौगिकी होय छे। भावित कषायना रंगमां रंगी रहे छे। भावथी असत् परिणति तथा पर परिणतिरूप छे। योग-अवि-रति-मिथ्यात्व-कषाय-प्रमादजन्य कर्मोदयथी भावलेश्या होय छे। जे जे पाप अने आत्मानुं कारण छे।

कषायोनी तीव्र भाव छे तीव्र तीव्रतर अने कृष्ण तीव्रतम भाव छे। आ आधुनिक विचारोनो क्रम छे। पीत पापथी मन्दतानुं भाव छे पद्म मन्दतर अने शुक्ल मन्दतममां कही छे। अशुभ भाव-लेश्या आत्मानी निर्मलतानो घात करे छे शुभ भावलेश्या कर्ममैलनो नाश करे छे अन्तिम लेश्या सहजानन्द-निर्मलीपण अपावनारमां निमित्तभूत छे।

कृष्णलेश्या–

आ दुर्भावनाना फंदमां फसीने जीवने राग-द्वेषमय भावनी प्रधान छे पर जीवोनी अने गुरुजनपूजा-धर्मपूजाओ दुराग्रह तेना थी करे छे मन दुष्ट अने व्यसन रहे छे अनन्तानुबन्धीय तीव्र क्रोध-मान-माया-लोभथी घेरायेलो होय छे सामाओमां पण निर्दयता करी नथी पाप कर्म करीने तेनो कदी पश्चात्ताप करतो नथी। क्रोध वधारे क्रोधी होय छे कुकर्मोमां आसक्त होय छे। आ वर्णनो वाळो मनुष्य 'कृष्णलेश्या' वाळो जाणवो।

नीललेश्या-

जेनामा क्रोध-मान-माया-लोभ-राग-द्वेष-मोह-शोक-भय-जुगुप्सा होय, नृशंसता क्रूरता-हिंसकता होय, चाण्डालवृत्ति होय, चोर-मूर्ख-स्तब्ध होय, बीजाओनो तिरस्कार करतो होय, निद्रानी अधिकता-कामासक्ति-मद बुद्धि-जडता होय, सत् असत्मा अविवेकी होय, महाआरम्भ-महामूर्च्छा=मोह होय, आ लक्षणो वाळो जीव नीललेश्या वाळो जाणवो ।

कापोती लेश्या-

शोक-भय-ईर्षा-मत्सर-अन्यनी निन्दा, पोतानी प्रशसा तथा पोतानी कोई प्रशसा करे तो प्रसन्न थवु, आत्माना हानि लाभने न समजे, स्व परमा विपर्यय बुद्धि होय, अहंकारग्रस्त-सारी नरसी सर्व प्रकारनी क्रियाओ करी वेसे, पोतानी स्तुति सामळीने सर्वस्व पण आपी दे, लडाईमा मरवानी इच्छा राखे । आ लक्षणो वाळो जीव कापोती लेश्या वाळो समजवो ।

तेजोलेश्या-

आ लेश्यावाळो समदृष्टि होय छे, अधिक मात्रामा द्वेष नथी करतो, अन्यना कल्याण अकल्याणनो विचार करे छे । पोताना बुद्धिबलथी युक्त अयुक्तनु ज्ञान विचारे छे । कोई अन्यनी शोचनीय दशा पर तेने दया आवे छे । चातुर्यतापूर्ण तेमज अनिंद्य व्यापार होय छे । आ पीतलेश्याना लक्षण छे ।

पद्मलेश्या-

कर्मनी निर्जरा करीने पवित्र तथा कर्मरहित बनवानी इच्छा होय । सुपात्रे दान दईने सहजानन्द लूटे। आन्तर तेमज बाह्य व्यवहार जेनो अत्यन्त मृदु अने सरल होय । आत्मामा हमेशा विनय अने नम्रता होय । शत्रुपर पण प्रेम राखे । आत्मज्ञान प्राप्तिनो जेनो ध्येय होय । सच्चरित्र पालक साधक होय, नीति युक्त क्रियावन्त होय । आ पद्मलेश्या वाळाना लक्षणो छे ।

शुक्ललेश्या-

अभिमान लेशमात्र पण न होय, पोताना चरित्रनु फळ मागवानी अभिलाषारूप निदान न करे, निष्पक्षपाती होय, सम्यक् ज्ञाननी पूर्णता होय, राग द्वेषनो अत्यन्त अभाव होय, समाधि तेमज अध्यात्मिकतामा स्थिर होय, आस्तिक्य होय, आ लक्षणो शुक्ललेश्याना जाणवा ।

वीर

तेजो पद्मा अने शुक्ल ए त्रण प्रशस्त लेश्या छे अने क्रमे करीने संक्षेपने उत्त-रोत्तरे धर्मध्यानमां सहायरूप छे।

लेश्याओने उदाहरणथी समजावे छे—

चोरोनो एक समुदाय कोई गामने लूंटीने आव्यो गयो त्यारे ते गामना लोको तेओ पाछळ लेवानी इच्छाए संगठित बनीने आव्या जाय छे। ते मां छ माणसो जुदी जुदी छ प्रकृति ना हता रस्तामां चालता चालता परस्पर कह्युं के—

(१) आपणे बधा जई जईने मारवा गामना लोकोनो नाश करी नाखीए, तेमना पालेलां पक्षिओने पण नहि छोडीए।

(२) बीजाए कह्युंके आपणे तेमना पशु पक्षिओने कंई ईजा नहि करिए।

(३) त्रीजाए कह्युं के आपणे तेमनी स्त्रीओने कोई पण जातनुं दुःख नहि आपिए। कारणके अन्यनी बहु दीकरीओ आपणी बहु दीकरीओ जेवी छे।

(४) चोथाए कह्युंके पुरुषोमां पण जेना हाथमां शस्त्र होय तेनेज मारवा जोइए, निःशस्त्र शत्रुने मारवा नीति विरुद्ध छे।

(५) पांचमाए कह्युं के शस्त्रधारिओमां पण जेओ आपणा पर आक्रमण करे तेनेज मारवा।

(६) छठ्ठाए कह्युंके शत्रु सिवाय भूलथी पण कोई निरपराधीने न मारवा।

आ रीते जुदा जुदा विचारो जुदी जुदी लेश्याओ द्वारा थाय छे। अनुक्रमे पवित्र विचारो द्वारा जे कर्मरूपी शत्रु सिवाय बीजा बधानी रक्षा करे ते सर्व धर्ममां प्रधान अने उत्तम छे।

आ रीते भगवान् वीरप्रभुनुं पण शुक्ललेश्या युक्त ध्यान छे। जेमां आत्माना अन्तरंग भाव स्पष्ट होय छे तेमनुं पवित्र ध्यान शंखनी पेठे उज्ज्वल वर्णेलुं छे। आ रीते जगत् जीवोना हितार्थे शुक्लध्याननो उपदेश पण वीर प्रभुश्रीए करेल छे १६

मूल

अणुत्तरग्ग परम महेसी,
असेसकम्म स विसोहइत्ता।
सिद्धिं गते साइमणतपत्ते,
नाणेण सीलेण य दसणेण ॥ १७॥

(संस्कृतच्छाया)

अनुत्तराग्र्यां परमां महर्षिः, अशेषकर्म्म स विशोध्य ।
सिद्धिं गतः साद्यनन्तप्राप्तः, ज्ञानेन शीलेन च दर्शनेन ॥ १७ ॥

सं० टीका—तथा चासौ भगवान् शैलेस्यवस्थाऽऽपादितशुक्लध्यानस्य चतुर्थभेदानन्तरं साद्यपर्यवसाना सिद्धिं मोक्षं । "योग्यभेदेऽन्तर्धाने मोक्ष इति शब्दस्तोममहानिधिः" । "मोक्खो, निरोधो, निब्बाण, दीयो, तण्हक्खयो, परं, । ताण, लेणं, अरूवं च, सन्तं, सच्च, मनालय । असखत, सिव, अमत, सुदुद्दस्सं, परायण, सरण, अनीतिक, तथा । अनासव, धुव, अनिदस्सना, कता, अपलोकित, निपुण, अनन्त, अक्खरं, दुक्खक्खयो अव्यापज्झ च, विवट्ट, खेम, केवल; । अपवग्गो, विरागो, च, पणीत, अच्चुत, पद । योगक्खेमो, पार पि, मुत्ति, सन्ति, विसुद्धि, यो । विमुत्य,ऽसंखताधातु, सुद्धि, निब्बुतियो (सियु)" इत्यभिधानप्पदीपिका । "मोक्षस्तु मुक्तिपाटलिमोचने" इति मेदिनी" । गतिं मोक्षगतिं या पञ्चमी ता प्राप्त. । सिद्धिगतिमेव विशिनष्टि, अनुत्तरा चासौ सर्व्वोत्तमत्वात्, अग्र्या च लोकाग्रभागे व्यवस्थितत्वादनुत्तराऽग्र्या ता परमा प्रधाना गतिं चेति । महर्षि=रसावत्यन्तोग्रतपो विशेषो वा सर्व्वज्ञ । "महर्षि. सर्व्वज्ञेषु, विद्यासम्प्रदायप्रवर्तकेषु चेति, शब्दार्थचिन्तामणि." । "महेसी, च विनायको, समन्तचक्खु, सब्बञ्ञु, इत्यभिधानप्पदीपिका" । निष्टप्तदेहत्वादशेष कर्म्म ज्ञानावरणादिक विशोध्यापनीय दूरीकृत्य च विशिष्टेन ज्ञानेन दर्शनेन शीलेन क्षायिकेण ता सिद्धि गतिं प्राप्त इति, ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ—[स] वे [महेसी] महर्षि भगवान् [असेसकम्म] सब कर्मोको [विसोहइत्ता] भलिभाति क्षय करके [अणुत्तरग्ग] सब प्रकारसे प्रधान

लोकके अग्रभागमें [गते] जा विराजे [अनन्तम्] और आदि-अनन्त तथा [परमं] उत्कृष्ट [सिद्धि] मोक्षको [ज्ञानेन] ज्ञान [शीलेन] चरित्र [च] और [दंसणे] दर्शनके द्वारा प्राप्त हुए ॥ १७ ॥

भावार्थ—भगवानने क्षायिकज्ञान क्षायिकदर्शन और क्षायिकचरित्र द्वारा सर्वोत्तम लोकाग्रभागमें धारण करनेवाली मुक्तिको समस्त कर्मोंका अन्त करके पाया यह मुक्ति सादि अनन्त है कई लोग मोक्षसे वापिस आना मानते हैं; किन्तु यह युक्ति संगत नहीं है, क्योंकि संसारमें जबतकके राग-द्वेष-क्रोध-मान-मायादि विकार हैं, वहांतक वे विकारहैं वहांतक मोक्ष नहीं और मुक्तावस्थामें कोई विकार नहीं है। अतः विकार रहित आत्मा संसारमें क्योंकर पुनरावर्तन कर सकता है? यदि उसमें रागादिक सद्भाव मानाजाय तो वह मोक्ष नहीं यदि मोक्ष होनेपर पुण्य अवतरित होते हों तो वहभी ठीक नहीं क्योंकि विकारोंको विकारही पैदा कर सकते हैं जब मुक्तावस्था निर्विकार है तो विकारकी उत्पत्ति क्योंकर हो सकती है॥१७॥

भाषा-टीका—भगवान् शैलेशी अवस्थासे शुक्लध्यानके चतुर्थ भेदको पानेके अनन्तर आदि अनन्त मोक्षरूप अपुनरावृत्ति धाममें जा विराजे। लोकके अग्रभागमें व्यवस्थित होनेसे वह परमप्रधान है जहां उस सर्वज्ञ-महर्षि ने वेदनीय तपसे तथा कर ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मोंका विशोधन करके (वह भी अपने निजी पुरुषार्थ से) फिर ज्ञान दर्शन चरित्र के द्वारा सिद्धि गति-मोक्षको पाया।

आकाश जैसे अनन्त है उस पूर्ण लोकालोकाकाशमें सिद्ध परमात्माका ज्ञान घनीभूत होकर भरा पड़ा है। उस सिद्धावस्थाके होने पर वे सिद्ध उनका भय भ्रान्ति राग द्वेष पीड़ा संशयसे रहित हो जाते हैं। तथा शोक मोह, जरा, जन्म मरण आदि भी नहीं रहते हैं। क्षुधा तृषा खेद भय उन्माद, मूर्च्छा मत्सर का भी अत्यन्ताभाव है। इनकि आत्मामें अब पराधीनता भी नहीं है, उनका आत्म वैभव वचनातीत है। सिद्ध भगवान् शरीर रहित हैं, इन्द्रिय रहित हैं विषम संकल्प नहीं हैं, अनन्तवीर्यत्व प्राप्त हैं, अपने स्वभावसे कभी स्खलित नहीं होते। सहज और नित्य आनन्दसे आनन्द रूप हैं। जिनके गुणमें कभी विकार नहीं होता है। परमपद में विराजित हैं ज्ञानके प्रकाशसे प्रकाशित हैं। परिपूर्ण स्वरूप संसारकी प्रपञ्चसे रहित हैं एवं जिनको अब कुछ भी करना बाकी नहीं है अक्षय स्थिति है, आत्म प्रदेशों की क्रियासे रहित हैं। स्वगुण हैं,

तृष्णा रहित हैं, सदा तीन लोकके शिखर पर विराजित हैं। अनुपमेय हैं, आकाश और काल कि तरह प्रभु अनन्त हैं, और वचन अगोचर हैं ॥ १७ ॥

गुजराती अनुवाद—भगवान् शैलेशी अवस्थाथी शुक्लध्याननना चोथा भेदने प्राप्त कर्या पछी आदि अनन्त मोक्षरूप अपुनरावृत्ति स्थानमा जइ विराज्या, ते मोटा ऋषीश्वर [महावीर देव] समस्त कर्म खपावीने पोतानाज पुरुषार्थथी ज्ञान, दर्शन, चरित्रे करी, सर्वोत्तम लोकने अग्र भागे उत्कृष्ट सिद्धगतिने पाम्या।

आकाश अनन्त छे, ते पूर्ण लोकालोक-आकाशमा सिद्ध-परमात्मानु ज्ञान भर्युं पड्यु छे, ते सिद्धावस्थामा निद्रा, तन्द्रा, भय, भ्रान्ति, राग, द्वेप, पीडा, सशय नथी, शोक-मोह-जन्म-जरा-मरणादि पण नथी, क्षुधा-तृषा-खेद-मद-उन्माद-मूर्छा-मत्सरनो अत्यन्त अभाव छे, तेमनो आत्मा अगुरु लघुत्व गुणने प्राप्त थयो छे, तेमनो आत्मवैभव कल्पनातीत छे, सिद्ध भगवान् शरीर-इन्द्रिय-सकल्प विकल्पथी रहित छे, अनन्त वीर्यवान् छे, स्व-स्वभावथी कदी पण स्खलित थता नथी, सहजानन्द प्राप्त छे, निराबाध सुखवाळा छे, परम पदमा विराजमान छे, ज्ञान-प्रकाशथी प्रकाशित छे, सदैव नित्य-परिपूर्ण छे, सनातन छे, ससारना प्रपचोथी रहित छे, कृतकृत्य छे, अचल छे, अरुज छे, अक्षय छे, आत्मप्रदेशोनी क्रियाथी रहित छे, सन्तृप्त छे, तृष्णा रहित छे, त्रणलोकना अग्रभागे विराजे छे, अनुपमेय छे, आकाश अने कालनी पेठे प्रभु अनन्त छे, तेमज वचनातीत छे ॥ १७ ॥

मूल

रुक्खेसु णाते जह सामली वा,
जस्सि रइं वेययंती सुवण्णा।
वणेसु वा णंदणमाहु सेट्ठं,
नाणेण सीलेण य भूतिपन्ने ॥ १८ ॥

संस्कृतच्छाया

वृक्षेषु ज्ञातो यथा शाल्मली वा, यस्मिन् रतिं वेदयन्ति सुपर्णाः।
वनेषु वा नन्दनमाहुः श्रेष्ठं, ज्ञानेन शीलेन च भूतिप्रज्ञः ॥ १८ ॥

सं० टीका—पुनरपि वीरस्य स्तुतिं दृष्टान्तद्वारेणाह, वृक्षेषु मध्ये यथा ज्ञातः प्रसिद्धो देवकुरुव्यवस्थितः शाल्मलीवृक्ष., स च सुवर्ण-

पतिदेवानां क्रीडास्थानम्, "शाल्मले शाल्मलीवृक्ष इति हैम" । यस्मिन् वृक्षे व्यवस्थिता अन्यतश्चागत्य सुपर्णा=भुवनपतिविशेषा देवा रतिं=रममाणा रतिं रमणं क्रीडां वेदयन्त्यनुभवन्तीति । वनेषु मध्ये नन्दनं=देवानां क्रीडास्थानं श्रेष्ठम् यथाहं "नन्दनं, मिस्सकं, चित्तलता, फारुसकं, वना इच्चभिधानप्पदीपिका" । एवं भगवान् वीरोऽपि केन ज्ञानेन समस्तपदार्थाविर्भावकेन शीलेन=चारित्रेण यथाख्यातेन समासेन सहजधर्म्मविशेषेण सद्गुणेन साधुचरित्रेण प्रधानस्तथा भूति-प्रज्ञ=प्रभूतज्ञानोऽनन्तज्ञानो भगवान् इति भाव ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ—[वह] जैसे [रुक्खेसु] वृक्षोंमें [सामली] शाल्मली वृक्ष [वा] तथा [वणेसु] वनोंमें [णंदणं] नन्दनवन [सेट्ठं] श्रेष्ठ [आहु] कहा जाता है [जस्सिं] जिसमें कि [सुवन्ना] सुवर्ण-कुमार नामक भुवनवासी देव [रतिं] आराम क्रीडाका [वेदयंती] अनुभव करते हैं उसी प्रकार भगवान् [नाणेण] ज्ञानसे [य] और [सीलेण] चरित्रसे श्रेष्ठ तथा [भूइपन्ने] प्रभूत ज्ञानवाले [आहु] कहलाते थे ॥ १८ ॥

भावार्थ—वृक्षोंमें सेमलवृक्ष सुंदर उत्तम तथा पुष्ट होता है, यह एक पृथ्वीकायिक और स्थिर है । तथा संसारके समस्त वनोंमें नन्दनवन सबसे उत्तम है, क्योंकि अधिक देवोंके स्थानोंमें रहनेवाले तथा बाहरसे आनेवाले सुवर्णकुमार आदिके भुवनवासी देव आनन्दसे आमोदप्रमोदसे अनेकप्रकारका विलास करते हैं, उसीप्रकार भगवान् महावीर प्रभु भी सबमें उत्तम थे कारण उस समय प्रभुके गुणावलेमें उनके ज्ञान और चरित्रकी बराबरी करनेवाला कोई भी व्यक्ति न था इसीलिए सेमल और नन्दनवनकी उपमा देकर भगवानकी स्तुति की गई है ॥१८॥

भाषा टीका—शाल्मली वृक्षकी शीतल छाया होनेसे वह सब वृक्षोंमें श्रेष्ठ है, और यह सुवर्णादि देवोंका क्रीडा स्थल है, । वनोंमें जिसप्रकार नन्दनवन उत्तम वन है उसी प्रकार भगवान् महावीर प्रभु भी केवलज्ञानके कारण श्रेष्ठ है, जिससे सर्वपदार्थोंका सही प्रकाश आविर्भाव है । ज्ञानके साथ साथ उनमें यथाख्यात चरित्रमें भी पूर्णश्रेष्ठता प्राप्त है । क्योंकि आत्माका सहज सम्यक् समन्वित गुण है ॥ १८ ॥

गुजराती अनुवाद—शीतल छाया होवाने लीधे शाल्मली वृक्ष सर्व वृक्षोथी श्रेष्ठ छे, ते भुवनवासी देवोनु क्रीडा स्थान छे, वनोमा जेम नन्दनवन श्रेष्ठ छे, तेमज भगवान् महावीर पण केवलज्ञाने करी सर्वोत्तम छे, जेनाथी सर्व पदार्थोनो प्रत्यक्ष आविर्भाव तेमने थाय छे, ज्ञाननी साथे यथाख्यात चरित्रमा पण तेओ श्रेष्ठ छे के जे आत्मानो सहज स्वभाव छे ॥ १८ ॥

मूल

थणियं व सद्दाण अणुत्तरे उ,
चंदो व ताराण महाणुभावे ।
गंधेसु वा चंदणमाहु सेट्ठं,
एवं मुणीणं अपडिन्नमाहु ॥ १९ ॥

संस्कृतच्छाया

स्तनितं वा शब्दानामनुत्तरं तु, चन्द्रो वा ताराणां महानुभावः ।
गन्धेषु वा चन्दनमाहुः श्रेष्ठम्, एवं मुनीनामप्रतिज्ञमाहुः ॥ १९ ॥

सं० टीका—यथा च शब्दाना मध्ये स्तनित मेघगर्जितं "स्तनित गर्जित मेघनिर्घोषो रसितादि चेत्यमर"। तदनुत्तरं प्रधानं तुशब्दो विशेषणार्थः, आह च, "समुच्चयेऽवधारणे, नियोगे, प्रशंसाया, उक्तशकानिवृत्तौ, पादपूरणे, विशेषणार्थे चेति कोषः"। तथा च तारकाणा=नक्षत्रगणाना मध्ये चन्द्रो महानुभाव, "नक्खत्त, जोतिं, भं, तारा, (अपुमे) तारको इत्यभिधानप्पदीपिका"। सकलरजोनिवृत्तिकारिण्या कान्त्या मनोरमः श्रेष्ठ । गन्धेषु चेति गुणगुणिनोरभेदान्मतुव्लोपाद्वा, गन्धवत्सु मध्ये यथा चदन मलयज गोशीर्षकाख्यं "चन्न (नित्थिय) गधसारो मलयजो (प्यथ)" "गोसीसं तलप्पण्णिक, (पुमे वा) हरिचदन" "इत्यभिधानप्यदीपिका"। मलयजं मलयपर्वतादौ-जायते तद् वा तज्ज्ञाः श्रेष्ठमाहु । एवं मुनीनां महर्षीणां च मध्ये भगवन्त । पुनश्च नास्य प्रतिज्ञा इहलोकपरलोकाना शसिनी

विषय इत्यप्रतिज्ञ, इहलोकपरलोकाशंसारहितप्रतिज्ञस्तमेवंभूतं महावीरम् श्रेष्ठमाहुरिति ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ—[व] जैसे [थणियं] मेघकी गर्जना [सद्दाण] शब्दोंमें [अणुत्तरे उ] प्रधान है—सबसे बढकर है, और [व] जैसे [चंदो] चन्द्रमा [ताराण] सब तारोंमें [महाणुभावे] उज्ज्वल और मनोहर है, [वा] इसीप्रकार [गंधेसु] सब सुगन्धित पदार्थोंमें [चंदणं] चन्दनको [सेट्ठं] उत्तम [आहु] कहा है [एवं] इसी प्रकार भगवान्‌को भी [मुणीणं] सब मुनिओंमें [अपडिण्णं] इस लोक और परलोककी प्रतिज्ञा-कामनासे विरत [आहु] कहा है ॥ १९ ॥

भावार्थ—जैसे सब शब्दोंमें मेघकी गर्जनाका शब्द बड़ा प्रबल होता है, उसके सब शब्द उससे नीची कक्षामें हैं तथा सब नक्षत्र मण्डलमें चांद सबमें उज्ज्वल और सुन्दर है, और समस्त सुगन्धित पदार्थोंमें मलयज चन्दन सुरभि और उत्तम है, उसी प्रकार समस्त मुनिओंमें भगवान् महावीर उस समय सबमें प्रधान थे क्योंकि उनमें आत्माके सिवा इसलोक और परलोक संबंधी किसी भी विषयकी कामना न थी ॥ १९ ॥

भाषा-टीका—शब्दोंमें मेघकी गर्जनाका शब्द सबसे बड़ा होता है अपरिमेय तारों और नक्षत्रोंमें चंद्रमा तेजस्वी शीतल और महानुभाव है सुगन्ध वस्तुओंमें मलयाचलका गोशीर्ष चन्दन श्रेष्ठ होता है। इसी प्रकार मुनि महर्षिगणोंमें भगवान् सबमें विलक्षण श्रेष्ठतापूर्ण थे। उनकी सब प्रतिज्ञाएँ इस लोक और परलोक सम्बन्धी विषयाभिलाषाओंसे रहित थीं ॥ १९ ॥

गुजराती अनुवाद—शब्दोमां जेम मेघनो गर्जनानो शब्द, ताराओने विषे जेम चन्द्रमा अने सुगंधीओमां जेम गोशीर्ष चन्दन श्रेष्ठ छे तेम मुनि महर्षिगणोमां भगवान् श्रीमहावीर श्रेष्ठ छे तेमनी सर्व प्रतिज्ञाओ आ लोक अने परलोक सम्बन्धीनी कांक्षा रहित छे ॥ १९ ॥

मूल

जहा सयम्भू उदहीण सेट्ठे,
नागेसु वा धरणिंदमाहु सेट्ठे।
खोओदए वा रस वेजयंते,
तवोवहाणे मुणि वेजयंते ॥ २० ॥

संस्कृतच्छाया

यथा स्वयम्भूरुदधीनां श्रेष्ठः, नागेषु वा धरणेन्द्रमाहु श्रेष्ठम् ।
क्षोदोदकं वा रसं वैजयन्त', तप उपधानेन मुनिर्वैजयन्त' ॥ २० ॥

सं० टीका—यथा स्वय भवतीति स्वयमुवो देवास्तत्रागत्य रमन्त इति, स्वयमूरमणस्तदेवोदधि समुद्राणा मध्ये यथा स्वयमूरमण समुद्र समस्तद्वीपसागरपर्य्यन्तवर्ती श्रेष्ठ प्रधानो महत्तर' । नागेषु च भुवन-पतिविशेषेषु मध्ये धरणेन्द्र नागानामिन्द्र यथा श्रेष्ठमाहुः । तथेक्षुरस इवोदक जल यस्य स इक्षुरसोदक, स यथा रसमाश्रित्येति वृद्धा, वैजयन्त प्रधान । स्वगुणै समुद्राणा पताकेवोपरि स्वयमूर्धरणेन्द्रो रसश्च प्रधान समन्वितस्तथैव तप उपधानेन विशिष्टतपोविशेषेण मनुते जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनिर्भगवान् वैजयन्त प्रधान समस्तलोकस्य महातपसा वैजयन्तीव सर्वोपरिव्यवस्थित. ॥ २० ॥

अन्वयार्थ—[जहा] जैसे [सयभू] स्वयभूरमण समुद्र [उदहीण] सव समुद्रोंमें [सेट्ठे] श्रेष्ट है [वा] तथा [धरणिंद] धरणेन्द्र [नागेसु] नागकुमार जातिके भवनवासी देवोंमें [सेट्ठ] अच्छे हैं [वा] और [खो ओदए] इक्षुरस [रसवेजयते] सव रसोंमें मुख्य है, उसी प्रकार [तवोवहाणे] उत्तम तपके तपने-वालोंमें [मुनि] भगवान्‌को [वेजयते] उत्तम [आहु] कहते हैं ॥ २० ॥

भावार्थ—सव समुद्रोंमें स्वयभूरमण प्रधान है, क्योंकि वहा अनेक प्रकारके देव आकर क्रीडा करते हैं, तथा अपने चित्तको प्रसन्न करते हैं, उसी प्रकार सव ऋषि-मुनिओंमे भगवान् सर्वोत्तम थे, क्योंकि वे अज्ञात विषयोंका विशेष ज्ञान कराकर लोगोंका चित्त सन्तुष्ट करते थे । तथा नागकुमार-भुवनपतिओंमें धरणेन्द्र प्रधान है अथवा समस्त रसोंमें इक्षुरस अच्छा है उसी प्रकार भगवान् भी सवमें अच्छे थे ॥ २० ॥

भाषा-टीका—ससार भरके समुद्रोंमें स्वयम्भूरमण समुद्र सवमें प्रधान है, जिसके तटपर देवगण वायुसेवन करने आते हैं । भुवनपति देवोंमें, धरणेन्द्र देवराज प्रधान है । मीठे और सरस पदार्थोंमें ईक्षुका रसे

कान्तिकर और सात्त्विक वस्तु है इसी प्रकार विक्षेप तपसे जगतकी तीनों अवस्थाओंके नित्य और परिवर्तन शील भावनेमावोंमें मुनि-भगवान् महावीर प्रभु श्रीकृष्णकी तरह समस्त लोकमें महान् तपसे तप कर निकले हुए कुंदनकी तरह सुशोभित थे ॥ १ ॥

गुजराती अनुवाद—सर्व समुद्रोमां स्वयंभूरमण समुद्र मोटो छे जेम कांठा पर देवताओ आनुसेवन करवाने आवे छे भुवनपति देवोमां धरणेन्द्र देवराज प्रधान छे मीठा अने सरस पदार्थोमां शेरडीना रस कान्तिकर तेमज मीठ तथा सात्त्विक छे तेवीज रीते तप उपधानथी जगतनी त्रण जगनी अवस्थाओने नित्य तेमज परिवर्तनशील भावधाराओमां मुनींद्र श्री भगवान् महावीर प्रभु समस्त लोकमां शुद्ध कुन्दननी माफक सुशोभित छे ॥ २ ॥

मूल

हत्थीसु एरावणमाहु णाए,
सीहो मिगाण सलिलाण गंगा।
पक्खीसु वा गरुले वेणुदेवो,
णिव्वाणवादीणिह णायपुत्ते ॥ २१ ॥

(संस्कृतच्छाया)

हस्तिष्वैरावणमाहुर्ज्ञातं सिंहो मृगाणां सलिलानां गङ्गा।
पक्षिषु वा गरुडमान् वेणुदेवो निर्वाणवादिनामिह ज्ञातपुत्रः॥२१॥

सं० टीका—हस्तिषु=करिवरेषु मध्ये, मयैरावतः=शक्रवाहनं ज्ञातं प्रसिद्ध "ऐरावतोऽभ्रमातङ्गैरावणाभ्रमुवल्लभाः इत्यमरः"। "कुञ्जरो, वारणो हत्थीत्यभिधानप्पदीपिका"। इयानसमूह वा प्रधानमाहुर्ज्ञाः, अथवा हस्त इव रत्नम् सत्त्वमस्तीति हस्ती तेषु हस्तिषु, "हत्थो पाणिम्हि, रतने, गणे, सोण्डाय, मन्तरे, इति अभिधानप्पदीपिका"। ऐरावतो नागरंगस्तद्वृक्षोमनीय । अथवा इरा नागस्तोयवत्तस्मान्नम् ऐरावत इवेति । अथवा कृतवन्तस्तु हस्तिषु हि ऐरावतो भारंगो नारंगसदृशः

सुगन्धितरससमन्वितत्वात्। "ऐरावतो नागरंगो नादेयी भूमिजम्बुका इत्यमरः"। तथा मृगाणां हरिणादिवन्यजन्तूनां मध्ये यथा सिंहः केसरी, तथा भरतापेक्षया। सलिलानां नदीनां यथा गंगाजलं प्रधानभावमनुभवति नैर्मल्यत्वात्। पक्षिषु=पतत्रिषु यथा गरुत्मान् वेणुदेवाऽपरनामाप्राधान्येन व्यवस्थितः कथितः। एवं निर्वाणं सिद्धक्षेत्राख्यं कर्म्मणामत्यन्ताभावलक्षणं वा स्वरूपतस्तदुपायप्राप्तिर्हेतुतो वा वादितुं शीलं येषां ते तथा, तेषां मध्ये ज्ञाताः क्षत्रियास्तत्पुत्रोऽपत्यं ज्ञातपुत्रः श्रीमन्महावीरप्रभुरेव प्रधान इति, यथावस्थितनिर्वाणत्वादिति भावः ॥२१॥

अन्वयार्थ—जैसे [हत्थीसु] सब हाथिओंमें [एरावण] ऐरावत हाथी [णाय] प्रधान है [मिगाण] पशुओंमें [सीहो] सिंह जैसे प्रधान हैं, [सलिलाण] पानीकी जातिमें [गगा] महागंगाका पानी निर्मलतामें प्रधान है [वा] और [पक्खीसु] उड़नेवाले पक्षिओंमें [वेणुदेवे] वेणुदेव नामक [गरुले] गरुड पक्षी प्रधान है, उसी प्रकार [इह] समस्त संसारमें [निव्वाणवादीण] मोक्षके माननेवालोंके अन्तर्गत [णायपुत्ते] ज्ञातपुत्रमहावीरस्वामीको प्रधान [आहु] कहते थे ॥ २१ ॥

भावार्थ—ऐरावत हाथी सब हाथियोंमें प्रधान है, उसका सुन्दर श्वेतरंग है, श्रीवृद्धि करता है, जब भगवान् गर्भमें आये थे तबसे ही महाराजा सिद्धार्थके घर श्रीवृद्धि हुई थी जिससे प्रभुका नाम वर्धमान रक्खा गया था, अतः सब हाथियोंमें ऐरावत हाथीके समान, पशुओंमें सिंहके सदृश, जलोंमें महागंगाके पानीकी तरह और पक्षिओंमें गरुड पक्षीकी भांति भगवान् समस्त मोक्षवादिओंमें प्रमुख थे, क्योंकि भगवान्ने ही मोक्षका यथार्थ स्वरूप और उसका उपाय तथा मार्ग बताया था ॥ २१ ॥

भाषा-टीका—जैसे ऊंचे तथा सुन्दर हाथियोंमें ऐरावत हाथी निष्कलंक और अच्छा होता है, और वह इन्द्रकी सवारीके काम आनेवाली सुन्दर वस्तु है। इसी प्रकार प्रभु भी ज्ञान दर्शन, चरित्ररूप जो तीन रत्न हैं उनमें हाथीकी तरह ऊंचे हैं। या वे तीनों रत्न आत्माको नरंगीकी तरह मनोहर और उपादेय हैं, अथवा हस्ती नाम बादलका भी है, अथवा जिनकी अमोघ वाणीकी वर्षा

ऐरावतकी तरह उच्च कोटिके हैं। अथवा हाथमें जिस प्रकार नारंगी सुन्दर लगती है उसी तरह प्रभु भी जगती-तल पर नारंगीकी तरह भव्य प्राणियोंके हृदयोंमें सुन्दर लगते हैं। हरिण्यादिक पशुओं जीवोंमें सिंह बलिष्ठ होता है, इसी तरह भरत क्षेत्रकी अपेक्षा मानवसृष्टिमें वीर प्रभु सिंहकी तरह पराक्रम-बलसे बलवान् थे जैसे सब प्रकारके जलोंमें गंगाजल अनेक औषधियोंसे मिश्रित होनेके कारण निर्मल है, ऐसे ही प्रभु भी कर्म्म-लेपसे अलिप्त होनेसे अत्यन्त स्वच्छ हैं। और पक्षियोंमें गरुड़ समक्ष वैनुदेव प्रधान है, इसी प्रकार निर्म्माण अर्थात् जो सिद्धक्षेत्र है जहां कर्म्म-मलका अत्यन्त अभाव है उसका स्वरूप बतानेमें तथा उसके पानेके उपाय बतानेमें ज्ञातपुत्र महावीर प्रभु सर्वोपरि हैं। उनका निर्वाण सबसे उच्चकोटिका और अनुपम है ॥ २१ ॥

गुजराती अनुवाद—जेम ऊंचा तथा सुन्दर हाथियोमां ऐरावत हाथी निष्कलंक अने उत्तम छे केमके तेनापर इन्द्र सवारी करे छे अथवा ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप जे त्रण रत्नो छे तेमां प्रभु पण हाथीनी पेठे बेऊंचा छे अथवा ते रत्नत्रय मनोहर तथा उपादेय छे अथवा हस्तिना अर्थ मादळ पण थाय छे जेमनी वाणी अमोघ वाणी छे अने ऐरावत हाथीनी पेठे उच्च कोटिनी छे अथवा जेम नारंगी हाथमां सुंदर लागे छे तेम प्रभु पण भूतल पर नारंगीनी जेम भव्य प्राणीओना स्वच्छ हृदयने सुंदर लागे छे मृगादिक जनावरोमां सिंह बलिष्ठ होय छे, तेम भरतक्षेत्रनी अपेक्षाए मानव सृष्टिमां श्रीवीरप्रभु कर्मरूप मृगोने पीछवा माटे सिंह समान पराक्रममां बलवान छे अनेक प्रकारनी औषधि-युक्त होवाने लीधे गंगाजळ सर्व जळमां निर्मळ छे तेमज प्रभु पण कर्म लेपथी अलिप्त होवाने लीधे अत्यन्त विशुद्ध छे, पक्षिओने विषे गरुड [वैनुदेव] प्रधान छे तेवीज रीते निर्वाण (सिद्ध) क्षेत्र के ज्यां कर्ममळनो अत्यन्त अभाव छे तेनुं स्वरूप बतावबामां तथा तेनी प्राप्तिनो उपाय बतावबामां ज्ञातपुत्र महावीर प्रभु सर्वोपरि छे ॥२१॥

मूल

जोहेसु णाए जह वीससेणे,
पुप्फेसु वा जह अरविंदमाहु।
खत्तीणसेट्ठे जह दंतवक्के,
इसीण सेट्ठे तह वद्धमाणे ॥ २२ ॥

संस्कृतच्छाया

योधेषु ज्ञातो यथा विश्वसेनः,
पुष्पेषु वा यथाऽरविन्दमाहुः ।
क्षत्रियाणां श्रेष्ठो यथा दान्तवाक्यः,
ऋषीणा श्रेष्ठस्तथा वर्द्धमान. ॥ २२ ॥

सं० टीका—योद्धेषु वीरपुरुषेषु भटेषु मध्ये ज्ञातो विदितो दृष्टान्तभूतो वा विश्वा—सेना हस्त्यश्वरथपदातिप्रभृतिचतुरंगबलसमेता (इति वृद्धा) यस्य स विश्वसेनश्चार्द्धचक्रवर्ती तथाऽसौ प्रधानः । "विष्वक्शेनो जनार्दन" इत्यमरः इत्यनेन विश्वसेन'शब्द. विष्वक्से-नस्यापभ्रंशोऽपिभवितुमर्हतीत्याधुनीका मता । पुष्पेषु च "स्त्रियः सुमनस पुष्प प्रसून कुसुम सुममित्यमर' ।" तन्मध्ये यथाऽरविन्दं महोत्पलकमल "वा पुसि पद्म नलिनमरविन्द महोत्पलमित्यमरः ।" प्रधानमाहुस्तथा क्षतात् रिपुकृतखण्डान्नष्टकर्म्मणस्त्रायन्त इति क्षत्रिया "राजञ्ञो, खत्तियो, खत्तं, मुद्धाभिसित्त, बाहुजा इत्यभिधानप्पदी-पिका ।" "राजा तु खत्तिये वुत्तो नरनाहे पभुम्हि च" इत्यभि-धानप्पदीपिका ।" राजानोऽपि तेषा मध्ये दान्ता उपशान्ता यस्य वाक्येनैव शत्रवस्स दान्तवाक्यश्चक्रवर्ती "सब्बभुम्मो चक्कवत्ती इत्यभिधानप्पदीपिका ।" यथा चासौ श्रेष्ठ प्रधानस्तदेवममुना प्रकारेण बहून् दृष्टान्तान् प्रशस्तान् अनुकूलान् प्रदर्श्याधुना भगवन्तं महावीरजिनवरेन्द्र दार्ष्टान्तिक स्वनामग्राहमाह । तथैव ऋषीणां "तापसो तु इसी (रितो) इत्यभिधानप्पदीपिका ।" मध्ये श्रीमद्वर्ध-मानोऽन्तिमतीर्थंकरो महावीरस्वामी श्रेष्ठ' ॥ २२ ॥

अन्वयार्थ—[जह] जैसे [जोहेसु] योद्धाओंमें [वीससेणे] कृष्ण-वासुदेव [णाए] प्रधान है [वा] और [पुप्फेसु] फूलोंमें [अरविंद] सहस्रदलकमल सुगन्धित होता है तथा [जह] जैसे [खत्तीण] क्षत्रियोंमें [दंतवक्के] चक्रवर्ती [सेट्ठे] प्रधान है [तह] उसी प्रकार [इसीण] ऋषियोंमें [वद्धमाणे] भगवान् वर्धमान [सेट्ठे] प्रधान [आहु] कहलाते थे ॥ २२ ॥

भावार्थ—कृष्ण-वासुदेवसे बढ़कर अन्य कोई योद्धा नहीं है, अरविन्द फूलोंमें कमल श्रेष्ठ होता है, समस्त भूमिके क्षत्रियोंमें चक्रवर्ती मुख्य कहलाता है, उसी भांति भगवान्-महावीर उस समयके सब ऋषि-मुनियोंमें सर्वश्रेष्ठ थे ॥ २२ ॥

भाषा-टीका—सबसे वीरोंमें पुष्प्ल हाथी घोड़े रथ पैदल आदि चतुरंगीसेना आदिसम्पन्न योद्धा अर्द्धचक्री वासुदेव कृष्ण प्रधान होता है। फूलोंमें हजार पंखुड़ियोंवाला अरविंद नामक कमल श्रेष्ठ है। सताए गए हैं मनुष्य जिससे कि-शत्रुओंसे इनसके टुकड़ों टुकड़े कर डाले हैं। तथा उन (कर्मों रूपी) शत्रुओंसे जो सुरक्षित रखनेवाला हो वही क्षत्रिय होता है। उन्हींमें धीतिमान् राजा कहा जाता है। सबमें उपशान्त गुण प्रधान होता है जिसके कथन मात्रसे शत्रु शिथिल पड़ जाते हैं वही चक्रवर्ती भी होता है अत एव वह सबमें मुख्य है। इसी प्रकार इन सुन्दर दृष्टान्तोंसे शिवपर अनायासमें ही मनमा प्राप्त हो ऐसे वे हमारे परम पवित्र वर्धमानस्वामी अन्तिम जिन-भगवान् सब ऋषियुनियोंमें श्रेष्ठ थे ॥ २२ ॥

गुजराती अनुवाद—योद्धाओमां गज-अश्व-रथ-पायदल ए चतुरंगी सेनानो अधिपति अर्ध चक्रवर्ती वासुदेवरूपण सर्वोत्तम छे फूलोमां हजार पांखडीवालुं अरविंद कमल श्रेष्ठ छे शत्रु (कर्मरूपी शत्रु) थी रक्षा करनार क्षत्रिय कहेवाय छे तेमे धीतिमान् राजा कहे छे तेमामां उपशान्त रस प्रधान होय छे जेना कथन मात्र थी शत्रु शिथिल थई जाय छे ते चक्रवर्तीज होय छे ते सर्वोत्तम छे तेवीज रीते आवा सुन्दर-दृष्टान्तो जेना पर कही शके ते अमारा परम पवित्र पतित पावन जगदुद्धारक वर्धमान भगवान् अन्तिम जिन सर्व ऋषिओमां श्रेष्ठ छे ॥ २२ ॥

मूल

दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं,
सच्चेसु वा अणवज्जं वयंति ।
तवेसु वा उत्तमबंभचेरं,
लोगुत्तमे समणे णायपुत्ते ॥ २३ ॥

संस्कृतच्छाया

दानानां श्रेष्ठं अभयप्रदानं सत्येषु चाऽनवद्यं वदन्ति ।
तपस्सु चोत्तमं ब्रह्मचर्यं लोकोत्तमः श्रमणो ज्ञातपुत्रः ॥ २३ ॥

सं० टीका—तथा च स्वपरानुग्रहार्थमर्थिने दीयत इति दानं, अथवा स्व-स्वत्वनिवृत्तिपूर्वक परस्वत्वोपादानं दान, यद्वा श्रद्धा भक्तिस्तया परिग्रहममत्वत्यागभावेन कर्म्मनिर्जराऽर्थं चानुकम्पया यद्दीयते तद्दान,* तच्चतुर्धा वाऽनेकधा, परन्तु तेषा दानाना मध्ये प्राणिनां जीवानां

---

* तुष्टिश्रद्धाविनयभजना लुब्धता क्षान्तिसत्वप्राणत्राणव्यवसितगुणज्ञान-कालज्ञताढ्य । दानाशक्तिर्जननमृतिमिश्चास्तिको मत्सरेर्ष्यो, दक्षात्मा यो भवति स नरो दातृमुख्यो जिनोक्त ॥ कालेऽन्नस्य क्षुधमवहितो दित्समानो विधूत्य, नो भोक्तर्व्यं प्रथममतिथेर्यस्मदा तिष्ठतीति । तस्याप्राप्तावपि गतमल पुण्यराशिं श्रयन्त, त दातार जिनपतिमते मुख्यमाहुर्जिनेन्द्रा ॥ सर्व्वाभीष्टा बुधजननुता धर्मकामार्थमोक्षा, सत्सख्याना वितरणपरा दु खविध्वमदक्षा । लब्धु शक्या जगति नयतो जीवितव्य विनैव, तद्दानेन ध्रुवमसुभृता किं न दत्त ततोऽत्र ॥ कृत्याकृत्ये कलयति यतः कामकोपौ लुनीते, धर्मे श्रद्धा रचयति परा पापबुद्धिं धुनीते। अक्षार्थेभ्यो विरमति रजो हन्ति चित्त पुनीते । तद्दातव्य भवति विदुषा शास्त्रमत्र व्रतिभ्य ॥ भार्य्या-भ्रातृस्वजनतनयान्यन्निमित्त त्यजन्ति, प्रज्ञासत्वव्रतसमितयो यद्विना यान्ति नाशम् । क्षुद्दु खेन ग्लपितवपुषो भुजते च त्वभक्ष, तद्दातव्य भवति विदुषा सयतायान्न-शुद्धम् ॥ सम्यग् विद्याशमदमतपोध्यानमौनव्रताढ्य, श्रेयोहेतुर्गतरुजि तनौ जायते येन सर्वम् । तत्साधूना व्यथितवपुषा तीव्ररोगप्रपञ्चैस्तद्रक्षार्थं वितरत जना प्राशु-कान्यौषधानि ॥ सावद्यत्वान्महदपि फल नो विधातु समर्थ, कन्यास्वर्णद्विपहयध-रागोमहिष्यादिदानम् । त्यक्त्वा दद्याज्जिनमतदयाभेषजाहारदान, भूत्वाऽप्यल्पं विपुलफलदं दोषमुक्त वियुक्तम् ॥ नीतिश्रीतिश्रुतिमतिधृतिज्योतिभक्तिप्रतीति, प्रीति-ज्ञातिस्मृतिरतियतिख्यातिशक्तिप्रगीति । यस्माद्देही जगति लभते नो विना भोजनेन तस्माद्दान स्युरिह ददता ता समस्ता प्रशस्ता ॥ दर्पोद्रेकव्यसनमथनक्रोधयुद्ध-प्रबाधा धापारम्भक्षितिहतधिया जायते तन्निमित्तम् । यत्सगृह्य श्रयति विषयान् दु खित यत्स्वय स्याद्यद्दु खाद्य प्रभवति न तच्छ्लाघ्यतेऽत्र प्रदेयम् ॥ साधू रत्नत्रि-तयनिरतो जायते निर्जिताक्षो, धर्म्मं दत्ते व्यपगतमल सर्व्वकल्याणमूलम् । राग-द्वेषप्रभृतिमथन यद्गृहीत्वा विधत्ते, तद्दातव्य भवति विदुषा देयमिष्ट तदेव ॥ धर्म्मध्यानव्रतसमितिभृत्सयतश्चारु पात्र, व्यावृत्तात्माव्रसहननत श्रावको मध्यमं स्यु । सम्यग्दृष्टिर्व्रतविरहित श्रावक स्याज्जघन्यमेव त्रेधा जिनपतिमते पात्रमाहुः

"सव्वे जीवा वि इच्छन्ति जीविउं न मरिज्जिउं" इति जीवो जीवितु मिच्छतीत्युक्तत्वाज्जीवितार्थिनां याऽभयदानं प्राणकारित्वाच्च श्रेष्ठं ।

भुजङ्ग ॥ यो जीवानां परमकरुण सत्यवाक्सत्यभोगी क्षेमाधीनशमितविषयासक्तचित्त स्थिरात्मा; ऐषा मन्त्राद्युपरमसमता सम्यगेषा निर्भिताशी वस्तु पाने सकलवि-मर्शुं बममार्गुर्मिनेन्द्रा ॥ महलोके निपतति यथावेकमर्थं रसेन प्रत्याहारं सत्य-मयुतं नाति नानाविधिसिवम् । तदवर्गं सम्यक्त्वमलं प्राप्यमत्पेति मत्वा देवे सर्वं समभ्यमयत्वं संस्तवाहं यतीयम् ॥ यथाचिरं गच्छति सकलं त्रिभुवने यदेऽस्मत्सि-च्चकायनिर्दिष्टमहितं जायते दुष्प्रमयम् । आयामश्रेयं गच्छति सिद्धे तस्य यावं न याति तदवतं निगदतपरी केवलं ध्वंसमेति ॥ सम्यक्त्वीसमस्तनिरहिता अभयकोमा-विषन्तो नानारम्भप्रवृत्तिमगतो ये महामन्त्रतपाः । ते यावद कवसमयुपत्ते एव्वितं सन्ति यावन्नाद्य कोऽपि न हि जन्तीभिरवार्यन्ते स्नेहमम्बा ॥ सेवानन्यमसंविध-मनात् वीतं वीर्यं यथोर्ध्वं चले सर्वं विपुलममलं व्यासंसमरणोपार्थ। इदं पाने गुणयति तथा सन्मुखं यस्य समभीतो भवति हि यन्ने सर्वकर्मप्रविहिता ॥ मानाद्यु कम्पसमन्विपुलपापविनोऽप्रमितेन्द्रा कर्मारातिप्रकम्पनपरं यस्ततो वैसमो-क्षम् । मुक्त्यागमतां विपरविपर्यां कर्मनिर्माणनेच्छा इत्यादर्वं प्रयुक्तमस्य दैव-तस्यापि विधाय ॥ यस्य यस्य विपयमपरं पीतवं गुणपद्भिः पाने तस्मिन् एव मुखपदे वेवमाधारभूत ॥ यो यो मुक्ते विततिं यन्ने विपमनेऽप्यसमे देवाय्यास सम्पमपविता कथितो मानवेन ॥ तीर्थङ्करः कथितजितयोग्यताङ्कविहाराच्च, सविधभीतुकमकमलप्रीतिविर्धितस्य । यतो वीरः स्थिरतरमन विनयधारस्य समागमी भोगी भवति मतिनां वेपमीतिप्रवाही । कर्मारण्यं दहति विपिनमध्य कल्पवित्रु व्यालसमश्नीनि यतिः गुरुकल्पामितपरिमाविं । तत्वात्समस्यमपरद्युगप मामेति पूर्वं सम्यानं विमलितमलं ध्यानेन मर्से ॥ यस्य मोक्ष मधुरमधुरः सर्वसत्वानुकम्पी कर्तोभयो मधुरवचनो धर्मरूपातिशायी; यथारूपा युगम-मध्ये देवतीर्थाधिरुपो, मन यावे भवरूपमसतो यावदेव्वस्य दायाद ॥ येभ्योवाक-प्रचारनिरागीर्विंरविधवनुभावः कर्मक्षीणप्रमादसमिर्वापितं यो स यमनः । आत्म-स्वामाः परमपुण्ड्रं यावद् यीपपतं यस्य यो विमलपुण्यस्य ज्ञानवनितानुकूल ॥ इत्या इतं विपमनाधिक धर्मनिष्ठयानात् भुक्त्वा भोगाविकरणाले स्थिरमरीसमेया भवत्यस्ये परमसुवितमयं विधाय इत्या कर्मा स्थिरतरीयं मुक्तिसौख्यं प्रयाति ॥

यतः

"यथा मम प्रिया· प्राणास्तथाऽन्यस्यापि देहिनः ।
इति मत्वा न कर्तव्यो, घोरप्राणिवधो बुधैः ॥"

अन्यच्च—

"अहिंसा परमो धर्म्मो, हिंसा सर्वत्र निन्दिता"

इति श्लोकमर्धमभ्यस्य स्वमनसि सदैव दयैव धारणीया, यदि कोऽपि लोभावेशेन रसनातृप्तये धनार्जनाशया विजयाभिलषेण च आमोदप्रमोदार्थं जन्तून्निहन्यात्तदा तेषा नरकपतनमवश्यं भावि । पातञ्जल्योगदर्शनादावपि चाहिंसायामेव प्रमुखत्वम्, यथाह—

"अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्य्यापरिग्रहा यमा·"

अहिंसा—सत्यमित्यादियमास्तेषा मध्येऽहिंसैव प्राथमिकी,

पुनश्च—

"वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्"

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदु-मध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ।

तथा चान्यदपि—

"अहिंसा प्रतिष्ठाया. तत्सन्निधाने वैरत्याग ।" तद्विपक्षिणी हिंसा तस्य लक्षण यथा—

"प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा"

प्रमत्तो यः कायवाङ्मनोयोगै. प्राणव्यपरोपण करोति सा हिंसा । हिंसा, मारणं, प्राणातिपातः, प्राणवधो, देहान्तरसङ्क्रामणं, प्राणव्यपरोपणमित्यनर्थान्तरम् । न हिंसाऽहिंसा । इति तत्वार्थसूत्रम्, तथा च योगसूत्रस्य व्यासकृतभाष्येऽपि 'तत्राऽहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामभिद्रोहः ।'

तथैव याज्ञवल्क्यसंहितायाम्—

"कर्मणा मनसा वाचा, सर्वभूतेषु सर्वदा,
अक्लेशजननं मोक्षमहिंसत्वेन योगिभिः ।"

तस्यां स्मृतावाचाराध्याये—

"अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
दानं दया दमः शान्तिः, सर्वेषां धर्मसाधनम् ॥

"मा हिंसीः पुरुषं जगदिति" यजुर्वेदसंहितायां षोडशोऽध्याय-
स्तृतीयमन्त्रः ।

मा हिंस्यात् सर्वभूतानीति 'शतपथे' ।

तथा च मनुः—पंचमाध्याये

"योऽहिंसकानि भूतानि, हिनस्त्यात्महितेच्छया,
स जीवंश्च मृतश्चैव, न कचित्सुखमेधते" ॥ ४५ ॥

पुनश्च मनुः—

"धृति क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
अहिंसा सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥"

तथा च महाभारते—

"अहिंसा परमो धर्मो हिंसाऽधर्मस्तथाविधः ।
सत्यं तेऽहं प्रवक्ष्यामि, यो धर्मः सत्यवादिनाम् ॥"

धर्मिवचनानामुत्कृष्टं प्राथमिकं धर्मन्त्वहिंसैवेति यथा—

"अहिंसा परमो धर्मस्तथाऽहिंसा परो दमः ।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः ॥"
"अहिंसा परमो यज्ञस्तथाऽहिंसा परं फलम् ।
अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम् ॥"

"सर्वयज्ञेषु वा दानं, सर्वतीर्थेषु वा स्नुतम् ।
सर्वदानफलं वापि, नैव तुल्यमहिंसया ॥"

तथाहि नियमसारे—

कुलजोणिजीवमग्गण-ठाणाइसु जाणऊण जीवाणं ।
तस्सारभनियत्तणपरिणामो होइ पढमवद ॥ ५६ ॥
कुलयोनिजीवमार्गणास्थानेषु ज्ञात्वा जीवानाम् ।
तस्यारंभनिवृत्तिपरिणामो भवति प्रथमव्रतम् ॥ ५६ ॥

कुलविकल्पो योनिविकल्पश्च जीवमार्गणस्थानविकल्पाश्च प्रागेव प्रतिपादितास्तत्रैव तेषा भेदान् बुध्वा तद्रक्षापरिणतिरेव भवत्यहिंसा । तेषां मृतिर्भवतु वा न वा, प्रयत्नपरिणाममन्तरेण सावद्यपरिहारो नास्ति । अतः प्रयत्नपरेऽहिंसाव्रत भवतीति ।

तथा चोक्तं श्रीसमन्तभद्रस्वामिना—

"अहिंसा भूतानां जगति विदित ब्रह्म परमं,
न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ ।
ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभय,
भवानेवात्याक्षीन्न हि विकृतिवेषोपधिरत' ॥"

मुनीनामहिंसा सर्वथा पालनीया-हिंसायाः फलं दुष्परिणामात्मकं परिजानीहि यथा—

"पगुकुष्ठिकुणित्वादि, दृष्ट्वा हिंसाफल सुधीः ।
निरागस्त्रसजन्तूना, हिंसा सकल्पतस्त्यजेत् ॥"
"आत्मवत्सर्वभूतेषु, सुखदु खे प्रियाप्रिये,
चिन्तयन्नात्मनोऽनिष्टां, हिंसामन्यस्य नाचरेत् ।"

यदाहुर्लौकिका अपि।

"श्रूयतां धर्मसर्वस्वं, श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि, परेषां न समाचरेत्॥"

राज्यादधिकं प्राणाः प्रियाः। यथा—

"प्राणी प्राणितलोभेन, यो राज्यमपि मुञ्चति।
तद्वधोत्थमघं सर्वोर्वीदानेऽपि न शाम्यति॥"

"मार्य्यमाणस्य हेमाद्रिं, राज्यं वाऽथ प्रयच्छतु।
तदनिष्टं परित्यज्य, जीवो जीवितुमिच्छति॥"

"दीर्घ्यमाणः कुशेनापि, यः स्वाङ्गे हन्त, दूयते।
निर्मन्तून् स कथं जन्तूनन्तयेन्निशितायुधैः॥"

तथोक्तं—

"रसातलं यातु यदत्र पौरुषं, क्व नीतिरेषाऽशरणो ह्यदोषवान्।
निहन्यते यद्बलिनातिदुर्बलो, हहा महाकष्टमराजकं जगत्॥"

पुनश्च—"म्रियस्वेत्युच्यमानोऽपि, देही भवति दुःखितः।
मार्य्यमाणः प्रहरणैर्दारुणैः स कथं भवेत्॥"

पुनरपि हिंसकाभिन्दति—

"कुणिर्वरं वरं पङ्गुरशरीरी वरं पुमान्।
अपि सम्पूर्णसर्वाङ्गो, न तु हिंसा परायणः॥"

स्वार्थिकी हिंसाऽपि हानीया, यथा—

'हिंसा विघ्नाय जायेत, विघ्नशान्त्यै कृताऽपि हि।
कुलाचारधियाऽप्येषा, कृता कुलविनाशिनी॥"

'अपि वंशक्रमायातां, यस्तु हिंसां परित्यजेत्।
स श्रेष्ठः सुलस इव, कालसौकरिकात्मजः॥"

॥ हिंसां कुर्वन्न विशोधयति निजात्मानम् ॥

"दमो देवगुरूपास्तिर्दानमध्ययनं तपः ।
सर्वमप्येतदफलं, हिंसा चेन्न परित्यजेत् ॥"

॥ शास्त्रे सूक्ष्महिंसां धर्मार्थं प्ररूपकोऽपि कुशास्त्रः ॥

"विश्वस्तो मुग्धधीर्लोकः, पात्यते नरकावनौ ।
अहो नृशंसैर्लोभान्धैर्हिंसाशास्त्रोपदेशकैः ॥"

अहिंसामाहात्म्यम्—

"मातेव सर्वभूतानामहिंसा हितकारिणी ।
अहिंसैव हि संसारमरावमृतसारिणिः ॥"

"अहिंसा दुःखदावाग्निप्रावृषेण्यघनावली ।
भवभ्रमिरुगार्तानामहिंसा परमौषधिः ॥"

अस्याः फलम्

"दीर्घमायुः परं रूपमारोग्य श्लाघनीयता ।
अहिंसायाः फलं सर्वं, किमन्यत्कामदैव सा ॥"

अत्रान्तरे—

हेमाद्रिः पर्वतानां हरिरमृतभुजा चक्रवर्ती नराणा,
शीतांशुर्ज्योतिषा स्वस्तरुरवनिरुहां चण्डरोचिर्ग्रहाणाम् ॥
सिन्धुस्तोयाशयाना जिनपतिरसुरामर्त्यमर्त्याधिपानां,
यद्वत्तद्वद्व्रतानामधिपतिपदवीं यात्यहिंसा किमन्यत् ॥

अत एव प्राणवियोगानुकूलो व्यापारो हिंसा सर्वशास्त्रे निषिद्धैव । जैनैरपि प्राणिनामतिपातो दुःख प्राणातिपातो विरतिरूपः सर्वतः साधूना, देशतः श्रावकाणा चेति भावः । जीवानां जीवनवल्लभत्वाद्यथाऽऽह—

"दीयते म्रियमाणस्य, कोटिर्जीवितमेव वा,
धनकोटिं परित्यज्य, जीवो जीवितुमिच्छति ॥"

अत्राभयदानप्रदानप्राधान्यस्थापनार्थमुदाहरणं चेदम् । वसन्तपुरेऽरिदमननामा राजाऽऽसीत् स कदाचित्प्रासादस्थो हि चतुर्वधूसमेतश्च क्रीडति स्म । ताभिरपि सततकर्मभिर्निर्भरं प्रमोदमिश्रिता वरो लब्ध । पुनश्च राज्ञीभी राज्ञि स वरो न्यासीकृत । एकदा कश्चिच्चौरो रक्तस्रग्रक्तकरवीरकुसुममालो रक्तपरिधान मध्य-वध्यडिण्डिमो राजमार्गेण नीयमान राजपत्नीभिर्दृष्टो नृपेण सह वप्र च पृष्ट, 'किमनेनाकारी'ति तदैकेन राजपुरुषेणावेदितं, यथानेन पर-द्रव्यापहारेण राजविरुद्धं धर्मविरुद्धं च कर्म कृतं तस्य परिणामस्वरूपो राज्ञा प्राणदण्डो दत्तमास्ते, ततस्तन्नाम्य एकया महत्या राज्ञ्या नृप-पार्श्वे पूर्वदत्तो वरो याचित एकदिन चौरोऽस्य मोच्यो, यथाऽहमुप-करोमीति । वरं प्राप्य च मोचनादिना स्वागतं कृत्वा सर्वसम्पत्सह-स्नानादिमिस्तुष्टीकृत स । द्वितीयदिने द्वितीयया लक्षधने सत्कृत । तृती-यया कोटिमिते स्वागतीकृत । चतुर्थ्या तु राजानुमत्याऽभयपर-क्षित । अभयवचन श्रावितममयदानेन सत्कृतश्चाप्युपहस्यतु । त्वयास्य किं दत्तम् । त्वयोक्तं मया यद्दत्तं तत्ताभिरपि न दत्तं । एवं तासां पारस्परिकेऽधिकोपकारविषये विवादे न्यायार्थं राज्ञाऽऽकारितस्तस्करो राज्ञोपगम्य कस्युपकारस्य पृष्टं, तदा ताभिरावेदितं, अस्माकं मध्ये केनाधिकमुपकृतम् । राजा च एव चोर आहूत पृष्टमेति यथा त्वया-कस्या उपकारोऽमानित । तेनाऽप्यानि, 'चतुर्थ्या मात्राऽभयं दापयित्वा निर्भय कृत । अतस्तस्या बहूपकारं मन्ये,' सर्वासामासां मध्येऽभय-दानस्य प्राधान्यात् ।

तथा च सत्येषु वाक्येषु यदनवद्यं पापरहितं परपीडाऽनुत्पादकं वचन तच्छ्रेष्ठ वदन्ति । यथाह दशवैकालिके—

"तहेव काणं काणेति, पडगं पंडगं ति वा
वाहिय वावि रोगित्ति, तेण चोरेति नो वए ।"

तथा च मनुः ।

"सत्य ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियं तन्नानृत ब्रूयादिति" ।

एवमेव तत्वार्थसूत्रे—

असदभिधानमनृतम् ॥ ९ ॥ ७ ॥

असदिति सद्भावप्रतिषेधोऽर्थान्तरं गर्हा च । तत्र सद्भावप्रतिषेधो नाम सद्भूतनिन्हवोऽभूतोद्भावन च । तद्यथा नास्त्यात्मा, नास्तिपरलोक', इत्यादि भूतनिन्हव' । श्यामाकतण्डुलमात्रोऽयमात्मा अंगुष्ठपर्वमात्रोऽयमात्मा, आदित्यवर्णो, निष्क्रिय इत्येवमाद्यमभूतोद्भावनम् । अर्थान्तरं यो गा ब्रवीत्यश्वमश्वं च गामिति । गर्हेति हिंसापारुष्यपैशुन्यादियुक्त वचः सत्यमपि गर्हितमनृतमेवास्तीति भावः ।

एतन्मध्य एतत्प्रमाणानि—यथा—

"क्रोधलोभमदद्वेषरागमोहादि कारणै, असत्यस्य परित्यागः सत्याणुव्रतमुच्यते ।" "हासकर्कशपैशुन्यनिष्ठुरादिवचो मुच. । द्वितीयाणुव्रतं पूतं, लभते देहिनः स्थितिम् ॥"

"यद्वदन्ति शठा धर्म्मं, यन्म्लेच्छेष्वपि निन्दितम् ।
वर्जनीय त्रिधा वाक्यमसत्य तद्धितोद्यतै ॥"

पुनर्यत्रासत्यप्रसंगः समजनि तत्र मौनं कार्यं परमसत्यं न वाच्यं, यथा हि सागारधर्मामृते—

"आवश्यके मलक्षेपे, पापकार्ये च शान्तिवत्,
मौनं कुर्वीत सर्वदा, भूयो वाग्दोषविच्छिदे ।"

मौनमाहात्म्यं यथा—

"सन्तोषं भाव्यते तेन, वैराग्यं तेन दर्श्यते ।
संयमः पोष्यते तेन, मौनं येन विधीयते ॥"

"लौल्यत्यागात्तपोवृद्धिरभिमानस्य रक्षणम् ।
ततश्च समवाप्नोति, मनः सिद्धिं जगत्त्रये ॥"

"वाणी मनोरमा तस्य, शास्त्रसन्दर्भगर्भिता ।
आदेया जायते येन, क्रियते मौनमुज्ज्वलम् ॥"

"पदानि यानि विद्यन्ते, वन्दनीयानि कोविदैः ।
सर्वाणि तानि लभ्यन्ते, प्राणिना मौनकारिणा ॥"

"न सार्वकालिके मौने, निर्वाहस्यास्ति रक्षक ।
तथोक्तम् परं प्राज्ञैः, किंचनापि विधीयते ॥"

तस्याशुभतरक्षणार्थमाह—

"कन्यागोक्ष्मालीककूटसाक्ष्यन्यासापलापकम् ।
स्यात्सत्याणुव्रती सत्यमपि स्वान्यापदे त्यजन् ॥"

नियमसारेऽप्युक्तम्—

"रागेण वा दोसेण वा मोहेण वा मोससासऽपरिणामं ।
जो पजहदि साहु सया विदियवयं होइ तस्सेव" ॥ ५७ ॥

{ रागेण वा द्वेषेण वा मृषाभाषा परिणामं ।
{ यः प्रजहाति साधुः सदा द्वितीयव्रतं भवति तस्यैव }

अत्र मृषापरिणामः सत्यप्रतिपक्षः, स च रागेण वा द्वेषेण वा

मोहेन वा जायते तदा यः साधुः आसन्नभव्यजीवस्तं परिणामं परित्यजति तस्यैव द्वितीयं व्रतं भवतीति ।

"व्यक्तिव्यक्त सत्यमुच्चैर्जपन् यः । स्वर्गस्त्रीणां भूरिभोगैकभाक् स्यात् ॥
अस्मिन् पूज्यः सर्वदा सर्वसद्भिः, सत्यात्सत्यं चान्यदस्ति व्रतं किम् ॥"

अलीकफलमुपदर्शयति यथा—

"मन्मनत्व काहलत्व, मूकत्व मुखरोगिताम् ।
वीक्ष्यासत्यफलं कन्यालीकाद्यसत्यमुत्सृजेत् ॥"

"मूकाजडाश्च विकला, वाग्घीना वाग्जुगुप्सिताः ।
पूतिगन्धमुखाश्चैव, जायन्तेऽनृतभाषिणः ॥"

पुनश्च प्रतिषेधमाह—

"सर्वलोकविरुद्ध यद्यद्विश्वसितघातकम् ।
यद्विपक्षश्च पुण्यस्य, न वदेत्तदसूनृतम् ॥"

पुनश्च—

"असत्यतो लघीयस्त्वमसत्याद्वचनीयता ।
अधोगतिरसत्याच्च, तदसत्य परित्यजेत् ॥"

"असत्यवचन प्राज्ञः, प्रमादेनापि नो वदेत् ।
श्रेयासि येन भज्यन्ते, वात्ययेव महाद्रुमाः ॥"

॥ यदाहुर्महर्षयः सय्यम्भवाः, दशवैकालिके ॥

"अइअम्मि य कालम्मि, पच्चुप्पण्णमणागए,
जमट्ठं तु न जाणेज्जा, एवमेयं ति णो वए ।"

{अतीते च काले, प्रत्युत्पन्नमनागते,
यमर्थं तु न जानीयात्, 'एवमेतत्' इति नो वदेत् ।}

"भइअम्मि य कालम्मि, पच्चुप्पण्णमणागए ।
जत्थ संका भवे त तु, एवमेअं ति णो वए ।"
"अतीते च काले, प्रत्युत्पन्नमनागते, ॥
यत्र शङ्का भवेत्तत्तु, 'एवमेतद्' इति नो वदेत् ॥"
{अइअम्मि य कालम्मि, पच्चुप्पन्नमणागए
{निस्संकिअं भवे ज तु, एवमेअं तु निद्दिसे । }
"अतीते च काले, प्रत्युत्पन्नमनागते ॥
निश्शङ्कितं भवेद्यत्तु, 'एवमेतद्' तु निर्दिशेत् ॥"

पुनरप्यैहिकान् दोषानाह—

"असत्यवचनाद्वैरविषादाप्रत्ययादयः ।
प्रादुःषन्ति न के दोषा , कुपथ्याद्व्याधयो यथा ॥"
"निगोदेष्वपि तिर्यक्षु, तथा नरकवासिषु ।
उत्पद्यन्ते मृषावादप्रसादेन शरीरिणः ॥"
"असत्यादपि मृषावादाद्रौरवादिषु संभवः ।
अन्यथा वदतां जैनीं, वाचं त्वहह का गतिः ॥"
"ज्ञानचारित्रयोर्मूलं, सत्यमेव वदन्ति ये ।
धात्री पवित्री क्रियते, तेषां चरणरेणुभिः ॥"
अलीकं ये न भाषन्ते, सत्यव्रतमहाधनाः ।
नापराद्धुमलं तेभ्यो, भूतप्रेतोरगादयः ॥"
"शिखी मुण्डी जटी नग्नश्चीवरी यस्तपस्यति ।
सोऽपि मिथ्या यदि ब्रूते, निन्द्यः स्यादन्त्यजादपि ॥"
'एकत्रासत्यजं पापं, पापं निश्शेषमन्यत ।
द्वयोस्तुलाविधृतयोराद्यमेवातिरिच्यते ॥"

"पारदारिकदस्यूनामस्ति काचित्प्रतिक्रिया ।
असत्यवादिनः पुंस', प्रतीकारो न विद्यते ॥"
"कुर्वन्ति देवा अपि पक्षपात, नरेश्वराः शासनमुद्वहन्ति ।
शीती भवन्ति ज्वलनादयो यत्तत् सत्यवाचां फलमामनन्ति ॥"

तथा च ज्ञानार्णवेऽप्याह—

"य सयमधुरां धत्ते, धैर्यमालम्ब्य संयमी,
स पालयति यत्नेन, वाग्वने सत्यपादपम् ।"
"अहिंसाव्रतरक्षार्थं, यमजात जिनैर्मतम् ।
नारोहति परा कोटिं, तदेवासत्यदूषितम् ॥"
"असत्यमपि तत्सत्य, यत्सत्वाशसक वच ।
सावद्यं यच्च पुष्णाति, तत्सत्यमपि निन्दितम् ॥"
"अनेकजन्मक्लेशाना, शुद्ध्यर्थं यस्तपस्यति ।
सर्वं सत्वहित शश्वत्स ब्रूते सूनृत वच ॥"
"सूनृतं करुणाक्रान्तमविरुद्धमनाकुलम् ।
अग्राम्यं गौरवाश्लिष्टं, वचः शास्त्रे प्रशस्यते ॥"
"मौनमेव हित पुंसा, शश्वत्सर्वार्थसिद्धये ।
वचो वाचि प्रियं तथ्य, सर्वसत्वोपकारि यत् ॥"
"असद्वदनवल्मीके, विशाला विषसर्प्पिणी,
उद्वेजयति वागेव, जगदन्तर्विषोल्बणा ॥"
"पृष्टैरपि न वक्तव्यं, न श्रोतव्य कथंचन ।
वचः शङ्काकुलं पापं, दोषाढ्यं चाभिसूयकम् ॥"
"मर्म्मच्छेदि मनःशल्यं, च्युतस्थैर्यं विरोधकम् ।
निर्दय च वचस्त्याज्य, प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥"

"धर्मनाशे क्रियाध्वंसे, सुसिद्धान्तार्थविप्लवे ।
अपृष्टैरपि वक्तव्यं तत्स्वरूपप्रकाशने ॥"
"या मुर्मोदयत्येव, विभ्रान्त्या कणयोजनम् ।
विरम विषगुम्फम्, साऽसत्य पवनी न गी ॥"
"न तथा चन्दनं चन्द्रो, मणयो मालतीस्रजः ।
कुर्वन्ति निर्वृतिं पुंसां, यथा वाणी श्रुतिप्रिया ॥"
"अपि दावानलप्लुष्टं, शाद्वलं जायते वनम् ।
न लोकः सुचिरेणापि, जिह्वानलकदर्थितः ॥"
"सतां विश्वासभूमीनां, सत्यशीलावलम्बिनाम् ।
चरणस्पर्शमात्रेण, विशुध्यति धरातलम् ॥"
"नृजन्मन्यपि यः सत्यप्रतिज्ञाप्रच्युतोऽधम ।
स केन कर्मणा पश्चाज्जन्मपङ्काद्विमोक्ष्यति ॥"
"खण्डितानां विरूपाणां, दुर्विधानां च रोगिणाम् ।
कुलजात्यादिहीनानां, सत्यमेकं विभूषणम् ॥"
"न हि लोकेऽपि संसर्गमसत्यमलिनैः सह ।
कश्चित्करोति पुण्यात्मा, दुरितोत्सुककर्मका ॥"
"सुतस्वजनदारादिनिमित्तं तु कृतेऽथवा ।
आत्मार्थे न वचोऽसत्यं वाच्यं प्राणात्ययेऽपि च ॥"
इत्यादिप्रमाणैः सत्यमनवद्यं पापरहितमेव श्रेष्ठम् ॥

(अथ ब्रह्मचर्यमाह—)

तपस्सु चेच्छया निरोधव्यापारेषु प्रवचनप्रकारेषु मध्ये सर्वेषोत्तम गणविषमपतर्मेगुणपेत ब्रह्मचर्यं प्रधानं भवति । कमनीयकामिनी मनोहराङ्गनिरीक्षणद्वारेण समुत्पन्नतिरस्कौतुहलकचित्तसम्भ्रमपरित्यागेनमनसा

स्ववेदोदयाभिधाननोकषायतीव्रोदयेन सजातमैथुनसंज्ञापरित्यागलक्षण-शुभपरिणामेन च ब्रह्मचर्य्यं श्रेष्ठ भवति सर्वेषु तपस्स्विति भावः ।

आह च—

"भवति तनुविभूतिः कामिनीनां विभूतिं, स्मरसि मनसि कामिंस्त्वं तदा मद्वचः किम्; सहजपरमतत्वं स्वस्वरूपं विहाय व्रजसि विपुलमोहं हेतुना केन चित्तम् ।"

॥ अब्रह्म दोषा यथा— ॥

"सन्तापरूपो मोहाङ्गसादतृष्णानुबन्धकृत् ।
स्त्रीसम्भोगस्तथाप्येष, सुखं चेत्का ज्वरेऽक्षमा ॥"

॥ परदाररतौ सुखाभावः, अनायुष्यकारित्वं च ॥ यथा—

"न हीदृशमनायुष्य, लोके किञ्चन विद्यते ।
यादृश पुरुषस्येह, परदाराभिमर्शनम् ॥"

अथ ब्रह्मचर्य्यमाहात्म्यमाह—

"स्वस्त्रीमात्रेऽपि सन्तुष्टो, नेच्छेद्योऽन्याः स्त्रिय सदा ।
सोऽप्यद्भुतप्रभाव स्यात्किं वर्ण्यं वर्णिनः पुनः ॥"

॥ ब्रह्मचारिणीं सतीं दृष्टान्तेन स्पष्टयति— ॥

"रूपैश्वर्य्यकलावर्य्यमपि सीतेव रावणम् ।
परपूरुषमुज्झन्ती, स्त्री सुरैरपि पूज्यते ॥"

अन्यच्च तत्वार्थसूत्रे—

स्त्रीमैथुनमब्रह्म— ॥ ११–७

स्त्रीपुंसयोर्मिथुनभावो मिथुनकर्म्म वा मैथुनं,

तदब्रह्म—

अन्यत्रापि—

"मातृस्वसृसुतातुल्या, निरीक्ष्य परयोषित ।
स्वकलत्रेण यस्तोषश्चतुर्थं तदणुव्रतम् ॥"

"दुःखानां निधिरन्यस्त्री, सुखानां मस्म्यानलः ।
व्याधिवद्भूलवत्याज्या, कृरत सा नरोत्तमै ॥"

"स्वभर्तारं परित्यज्य, या परं याति निस्त्रपा ।
विश्वासं भजते तस्यां, कथमन्य स्वयोषिति ॥"

"किं सुखं लभते मर्त्यः सेवमानः परस्त्रियम् ।
केवलं कर्म बध्नाति, श्वभ्रभूम्यादिकारणम् ॥"

यतः—

"विन्दन्ति परमं ब्रह्म, यत्समालम्ब्य योगिन ।
तद्व्रत ब्रह्मचर्यं स्याद्धीरधौरेयगोचरम् ॥"

"एकमेव व्रतं श्लाघ्यं, ब्रह्मचर्यं जगत्त्रये ।
यद्विशुद्धिं समापन्ना पूज्यन्ते पूजितैरपि ॥"

तन्मते दशधा मैथुनम्—

"आद्य शरीरसंस्कारो, द्वितीय वृष्यसेवनम्,
तौर्यत्रिकं तृतीयं स्यात्, संसर्गस्तुर्यमिष्यते ।
योषिद्विषयसंकल्पः, पञ्चम परिकीर्तितम् ।
तदङ्गवीक्षण षष्ठ, संस्कारः सप्तम मतम् ॥"

"पूर्वानुभोगसम्भोगस्मरणं स्यात्तदष्टमम् । ...
नवम भाविनीचिन्ता दशम वस्तिमोक्षणम् ॥"

किम्पाकफलसंभोगसन्निभं तद्धि मैथुनम् ।
आपातमात्ररम्यं स्याद्विपाकेऽत्यन्तभीतिदम् ॥"

"विरज्य कामभोगेषु, ये ब्रह्म समुपासते ।
एते दश महा दोषास्तैस्त्याज्या भावशुद्धये ॥"
"सिक्तोऽप्यम्बुधरव्रातै., प्लावितोऽप्यम्बुराशिभि· ।
न हि त्यजति सन्तापं, कामवह्निप्रदीपितः ॥"
"मूले ज्येष्ठस्य मध्याह्ने, व्यभ्रे नभसि भास्करः ।
न प्लोषति तथा लोकं, यथा दीप्तः स्मरानल· ॥"
"हृदि ज्वलति कामाग्निः, पूर्वमेव शरीरिणाम् ।
भस्मसात्कुरुते पश्चादङ्गोपाङ्गानि निर्दयः ॥"
भोगिदंष्टस्य जायन्ते, वेगाः सप्तैव देहिनः ।
"स्मरभोगीन्द्रदंष्टाना दश स्युस्ते भयानका· ॥"

इमे ते दश—यथा—

"प्रथमे जायते चिन्ता, द्वितीये द्रष्टुमिच्छति ।
तृतीये दीर्घनिश्वासाश्चतुर्थे भजते ज्वरम् ॥"
"पंचमे दह्यते गात्र, षष्ठे भक्त न रोचते ।
सप्तमे स्यान्महामूर्च्छा, उन्मत्तत्वमथाष्टमे ॥"
"नवमे प्राणसन्देहो, दशमे मुच्यतेऽसुभिः ।
एतैर्वेगैः समाक्रान्तो, जीवस्तत्त्व न पश्यति ॥"
"नासने शयने याने, स्वजने भोजने स्थितिम् ।
क्षणमात्रमपि प्राणी, प्राप्नोति स्मरशल्यत ॥"
"दक्षो मूढ. क्षमी क्षुद्र , शूरो भीरुर्लघुर्गुरु ।
तीक्ष्णः कुण्ठो वशी भ्रष्टो, जनः स्यात्स्मरवञ्चितः ॥"
"यदि प्राप्त त्वया मूढ !, नृत्व जन्मोघ्रसङ्क्रमात् ।
तदा तत्कुरु येनेयं, स्मरज्वाला विलीयते ॥"

इदानीमामुष्मिकमैहिकं चाब्रह्मफलमुपदर्श्य गृहस्थोचितं पुनरपि ब्रह्मचर्यमतमाह—

"यद्यशक्तमिन्द्रियच्छेद, वीक्ष्याऽब्रह्मफलं सुधी ।
भवेत्स्वदारसन्तुष्टोऽन्यदारान् वा विवर्जयेत् ॥"

"रम्यमापातमात्रे यत्परिणामेऽतिदारुणम् ।
किम्पाकफलसंकाशं, तत्कः सेवेत मैथुनम् ॥"

"यद्यपि निषेव्यमाणा, मनसः परितुष्टिकारका विषयाः ।
किम्पाकफलादनवद्भवन्ति पश्चादतिदुरन्ताः ॥"

"कम्पः स्वेदः श्रमो मूर्च्छा, भ्रमिर्ग्लानिर्बलक्षयः ।
राजयक्ष्मादिरोगाश्च, भवेयुर्मैथुनोत्थिताः ॥"

"योनियन्त्रसमुत्पन्नाः, सुसूक्ष्मा जन्तुराशयः ।
पीड्यमाना विपद्यन्ते, यत्र तन्मैथुनं त्यजेत् ॥"

योनौ जन्तुसद्भाव वात्स्यायनः कामशास्त्रकारोऽप्याह ।

वात्स्यायनश्लोको यथा—

"रक्तजाः कृमयः सूक्ष्मा, मृदुमध्याधिशक्तयः ।
जन्मवर्त्मसु कण्डूतिं, जनयन्ति तथाविधाम् ॥"

कामज्वरचिकित्सार्थमौषधमिव मैथुनसेवनमिति यो मन्येत तं प्रत्याह—

"स्त्रीसम्भोगेन यः कामज्वरं प्रतिचिकीर्षति ।
स हुताशं घृताहुत्या, विध्यापयितुमिच्छति ॥"

इतर अप्याहुः—

"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव, भूय एवाभिवर्धते ॥"

॥ स्त्रियाऽपि परपुरुषो भुजग इव त्याज्यः ॥

"ऐश्वर्य्ये राजराजोऽपि रूपे मीनध्वजोऽपि यः ।
सीतया रावण इव, त्याज्यो नार्य्या नरः परः ॥"

पुनश्च—"प्राणभूत चरित्रस्य, परब्रह्मैककारणम् ।
समाचरन् ब्रह्मचर्यं, पूजितैरपि पूज्यते ॥"

यतः—"चिरायुषः सुसंस्थाना, दृढसंहनना नराः ।
तेजस्विनो महावीर्य्या, भवेयुर्ब्रह्मचर्य्यत ॥"

एतैर्ज्ञायते ब्रह्मचर्यमाहात्म्यम् ॥

तथैव सर्वलोकोत्तमरूपसम्पदा सर्वातिशायिन्या क्षायकज्ञानदर्शन-शीलैर्ज्ञातपुत्रो ज्ञातनन्दनोऽन्तिमजिनः श्रमण प्रधानः ॥ यतो भगवतो महावीरस्य बहूनि नामानि सन्ति । **यथा**—

"समणे भगवं महावीरे नाते, नातपुत्ते, नातकुलनिवत्ते, विदेहदिन्ने, विदेहजच्चे, समणे भगवं महावीरे, कासवगोत्ते, अम्मा. पियुसंतिए वद्धमाणे, सह सम्मुदिए समणे, भीमभयभेरवं ओरालं अचेलय परिसहं सहइत्तिकट्टु देवेहि से नाम कयं **समणे भगवं महावीरे** ॥ श्रीआचाराङ्गसूत्रम्–११, १५, १६–१७

"एव से उदाहु अणुत्तरनाणी, अणुत्तरदसी अणुत्तरणाणदसणधरे अरहा णायपुत्ते भगवं, वेसालिए वियाहिए" ।

(श्री सूयगडागसूत्रम् १–२)

भगवतो महावीरस्य ज्ञातवंशो यथाऽऽह सिद्धान्ते ।

"छव्विहा कुलारिया मणुस्सा प० त० उग्गा, भोगा, राइण्णा, इक्खागा, णाता, कोरव्वा" ॥ (श्री ठाणाग सूत्रम् ४९७)

"जात्यार्या, इक्ष्वाकवो, विदेहा, हरयोऽम्बाष्ठा, ज्ञाता कुरवो, बुबुनाला, उग्रा, भोगा, राजन्या इत्येवमादय क्षत्रिया आर्यकुलोद्भवा" ॥

(तत्त्वार्थसूत्रम् ३–१५)

ज्ञातखण्डोद्यानोऽपि ज्ञातवंशस्य परिचयमावहे, यथा—

"बाहिया य 'णायसंडे' आपुच्छिऊण णायए सव्वे ।
दिवसे मुहुत्तसेसे कुमारगाम समणुपत्तो ॥"

(आवश्यकचूर्णि पृ० २६७)

पुनश्च—

"उत्तरखत्तियकुण्डपुरसंनिवेसस्स मज्झंमज्झेणं निगच्छइ २ त्ता जेणेव 'णायसंडे' उज्जाणे तेणेव उवागच्छइ महावीरे लोय करेइ ।" (श्री आचारांगसूत्र २ १५-८)

श्रीहेमचन्द्राचार्योऽपि परिशिष्टपर्वणि ज्ञातनन्दनमिति शब्दप्रयोग कृत्वा नमस्करोति, यथा—

कल्याणपादपारामं, श्रुतगङ्गाहिमाचलम्,
विश्वाम्भोजरविं देवं, वन्दे श्रीज्ञातनन्दनम् ॥

इत्यादिप्रमाणैर्भगवान् महावीरो ज्ञातवंशसमुत्पन्नवान् ।

अन्वयार्थ—जैसे [दाणाण] दान-धर्ममें [अभयप्पयाणं] अभयदान [सेट्ठं] श्रेष्ठ है, [वा] और [सच्चेसु] सत्योंमें [अणवज्जं] पाप रहित-दूसरोंको पीड़ा न देनेवाला सत्य-वचन [वा] और [तवेसु] सब तपोंमें [बंभचेरं] ब्रह्मचर्यको [उत्तम] उत्तम [वयंति] कहा है, इसी प्रकार [समणे] श्रमण [णायपुत्ते] ज्ञात-पुत्र-महावीर [लोगुत्तमे] लोकमें] श्रेष्ठ थे ॥ २१ ॥

भावार्थ—जो परके हितकेलिए किसीपदार्थका निष्काम अर्पण करना दान है, दान अनेक प्रकारका होनेपर भी 'अभयदान' सब दानोंमें उत्तम है

इसी प्रकार सत्य भी अनेक प्रकारका है, तथापि दूसरेको जिस सत्यसे पीडा न हो ऐसा सत्य-प्रियसत्य उस सत्यसे अच्छा है जिससे दूसरोंको पीडा हो, और सब तपोंमे ब्रह्मचर्य तप सर्वोत्कृष्ट है, उसी प्रकार भगवान्-महावीर भी लोकमें सर्वोत्तम थे ॥ २३ ॥

भाषा-टीका—अपनी और औरोंकी उन्नति तथा भलाईके लिए जो परोपकारकी दृष्टिसे दिया जाय उसे दान कहते हैं। या अपने अधिकारको वस्तु-मेसे हटा कर जिस वस्तु पर किसी अन्यको अधिकार देदेना भी दान कहा जा सकता है। परन्तु यहा तो श्रद्धा और प्रतीति के साथ भक्ति भाव पूर्वक, परिग्रहका ममत्व भाव छोडकर कर्मोकी निर्जराके लिए अनुकम्पासे तथा मन, वचन कायकी शुद्धिसे फलकी इच्छा न रख कर दाता जिस पात्रमें कुछ पवित्र वस्तु देता है उसीका नाम दान है।

और वह अन्नदान, औषधदान, ज्ञानदान, अभयदानके भेदसे चार प्रकारका है। परन्तु उन सबमें प्राणियोंका भय हटा कर उन्हें सर्वथा निर्भय करदेना ही सर्व्वोत्तम दान अभयदान माना गया है। क्योंकि आत्मामें दश प्राण होने से प्राणी कहलाता है। जीवित रहनेकी इच्छा या जीवित रहना ही इसका स्वभाव रहनेसे इनकी 'जीव सज्ञा' है। दशप्राण 'द्रव्य प्राण' है और 'भाव प्राण' अनन्त चतुष्टय कहलाते हैं, वास्तवमें यह जीव तीनों कालमें इन्हीं प्राणोंसे जीवित रहता है। अत सब जीव जीवित रहनेकी इच्छा रखते हैं मरना कोई नहीं चाहता, किसीको मरना अभीष्ट नहीं है। अत जीवित रहनेके अभिलाषुओंको 'अभय' दान देकर उनका सब प्रकारसे रक्षण करना मनुष्यका श्रेष्ठतम कर्तव्य है।

कहा भी है कि—"जिस प्रकार मुझे अपने प्राण प्रिय हैं उसी प्रकार अन्य देह धारियोंको भी अपना जीवन प्रिय है। स्वर्गका निवासी इन्द्र और विष्टेका कीडा, महलमें रहने वाला राजा और झोंपडीमे रहने वाला गरीब लकडहारा समान जीवन चाहते हैं। यह समझ कर किसी भी प्राणीके 'मन' नामक प्राणको भी कष्ट न देना चाहिए।"

"क्योंकि अहिंसा परम धर्म है, हिंसा सब जगह पर निन्दित की गई है, यह स्वयको प्रिय न होने के कारण औरों को भी अप्रिय है। क्योंकि अपनी और औरों की मनोदशामें कोई अन्तर नहीं है। अत चतुर मनुष्य अपने मनमें

सदैव यही भाव रखता है कि—किसी भी तरह जगत् के जीवोंका कल्याण मंगल या भलाई करूं, परोपकारमें लगे रह कर औरों को भी लगानेका प्रयत्न करूं। अपनेमें दोषमात्रका लेश तक न रख कर औरों को भी निर्दोष बनानेका उत्तम प्रयत्न करूं। अनन्तके अनन्त सुखसे सुखी बन कर औरों को भी सुख के स्थान पर ले जाऊं"

परन्तु यदि कोई प्राणी इन भावोंके विपरीत चल कर क्रोध या द्वेष वश कर, जबानकी लालसाके पाशमें फँसकर, धन कमानेकी इच्छासे या कामदेवपे विजय पानेकी आशासे अपने मनको बहलानेकी गरजसे निरपराध और दीन जीवों को मार डालता है तब इस पाप दोष से युक्त होकर उस समय या बादमें वो नरक(दुःख)में अवश्य जाना पड़ता है। इसी सिद्धान्तको सब प्रकारके महापुरुषोंने स्वीकारा है। सब ने अन्य लेकर इसको एक कोटिमें अपेक्षा प्रचार किया है। महर्षि 'पतंजलि' ने तो इसको ही यम पद दिया है। पांच यमोंमें जीव रक्षा सबसे पहला यम है।

'किसीने क्रोध लोभ मोहके वश होकर हिंसा करने कराने अनुमोदन करनेको निषेध किया है। इस पापका परिणाम उनके मतमें अनन्त दुःख का बताया गया है।"

"यहाँ अहिंसाकी प्रशंसा यहां तक की गई है कि अध्यात्मवादियोंसे वैर भाव तक त्यागदेना चाहिए। साधक तब ही अहिंसाका साधन कर सकता है।

श्रीमदुमास्वामीने भी तत्त्वार्थसूत्रमें यही कहा है कि जो कोई भी जीव प्रमाद अर्थात् असावधानता युक्त होकर कायजोग वचनजोग और मनोजोगके द्वारा प्राणोंका 'अतिपात' या व्यपरोपण करता है, उसको 'हिंसा' कहते हैं। हिंसा करना मारना प्राणोंका अतिपात—घात अथवा वियोग करना प्राणोंका वध करना जीव-जन्तुको आघात करके देहान्तरको संक्रम करा देना भवान्तर-जन्मान्तरको पहुँचा देना और प्राणोंका व्यपरोपण करना इन सब शब्दोंका एक ही मान है।

"यदि कोई जीव प्रमादी अर्थात् मद, विषय कषाय निद्रा विकथाके वश होकर ऐसा कार्य करता है, अपने या परके प्राणोंका 'व्यपरोपण' करनेमें प्रवृत्त होता है, तब वह हिंसक हिंसाके दोषका भागी समझा जाता है। परन्तु प्रमाद छोड़ कर यद्यपि कर्मचारीके चरणादिके निमित्तसे यदि किसी जीवका वध होजाय

तव वह उस दोषका भागी नहीं समझा जाता। क्योंकि इस लक्षणमें प्रमादका योग मुख्य रूपसे बताया है और अप्रमत्त अवस्थाका नाम 'अहिंसा' है।

इसके अतिरिक्त योग सूत्रके व्यास कृत भाष्यमें भी अहिंसाका लक्षण बाधते समय उन्होंने बताया है कि—सर्व्वदा सब प्रकारके जीवोंसे कभी द्रोहका न करना 'अहिंसा' है।

याज्ञवल्क्यस्मृतिमें—योगी जनोंने मनवचन काय से किसीको क्लेश न पहुचाना 'अहिंसा' कहा है।

"अहिंसा, सत्यबोलना, परवस्तुको विना आज्ञा न लेना, आत्माको पवित्र बनाना, इन्द्रियोंका वश करना, दान देना, दया करना, मनो विकारोंके प्रवाहको दमना, शान्त रहना, इन सबको धर्म साधन बताया है।"

यजुर्वेद—यहा भी यही उपदेश दिया है कि—"हे पुरुष! तू जगत् के किसी भी प्राणीकी हिंसा मत कर 'मित्रस्याह चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे, १८—३ अपनी आखोंसे सबको मित्रकी दृष्टिसे देख शत्रुकी सी दृष्टि किसी पर मत डाल।"

मनुका पांचवॉ अध्याय—"जो मनुष्य अपने कल्याणकी तो इच्छा प्रगट करता है परन्तु प्राण, भूत, जीवोंकी हिंसा कर डालता है, वह जीव अपनी इस जीवित दशामें और मर कर परलोकमें कभी भी सुख न पायगा।"

दशधर्म—"धैर्यरखना, शातिकरना, आत्माको पापसे विरक्त करना, चोरी न करना, आन्तरिक पवित्रता रखना, इन्द्रियोंको वशमे रखना, सत्य बोलना, क्रोध न करना, अहिंसाका पालन करना, इस प्रकार धर्मके दश लक्षण कहे हैं। जिनमें अहिंसाको भी स्थान प्राप्त है।"

महाभारत—"मैं यह सत्य कहता हू कि—सत्यवादियोंका धर्म अहिंसा है और यही सब धर्मोंमें प्रधान है, तथा हिंसा करना अधर्म और पाप है।"

अहिंसा वचनामृत—"अहिंसा परम धर्म है, अहिंसा उत्कृष्ट दमन है, अहिंसा उत्कृष्ट दान है, अहिंसा प्रधान तप है, अहिंसा परम यज्ञ है, अहिंसा परम फल है, अहिंसा परम मित्र है, अहिंसा उत्कृष्ट सुख है।"

"सब प्रकारके यज्ञोंमें अनेक प्रकारके दान करना, सब तीर्थोंमें अनेक स्तुतिएँ गाना, सब दानोंका फल या परिणाम अहिंसासे बढ कर नहीं है। अर्थात् वे कर्म्म अहिंसाकी बराबरी नहीं कर सकते।"

नियमसार—"कुलस्थान ! योनिस्थान जीवसमासस्थान मार्गणा स्थान इत्यादि भेदोंको भली भांति जान कर जीव रक्षा करनेके भावको 'अहिंसा' कहते हैं। जीवोंकी मृत्यु होती है या नहीं इस प्रकारके विचारमें लगे हुए परिणामके सुधारके बिना पाप हिंसा रूप क्रियाका त्याग होना कठिन है, अतः इस रक्षाके प्रकारमें अपना 'अहिंसा' है।"

समन्तभद्राचार्य कहते हैं कि—"जगत् में इसे सब जानते हैं कि अहिंसा परमब्रह्म है, अर्थात् आत्माकी वीतरागता ही अहिंसा है, जहां वीतरागता है, वहीं आत्मा का शुद्ध स्वरूप है, जिस आश्रमके चरित्रमें अणुमात्र भी आरंभ नहीं है वहीं यह पूर्ण अहिंसा प्राप्त होती है। मतलब यह है कि आदर्श पुरुषोंका चारित्र रूप आचरण ही अहिंसा है, अत अहिंसाकी सिद्धिके लिए ही परम दयालु प्रभुने आरंभ और परिग्रहको त्याग किया। प्रभु विकार हीन वेष और परिग्रहमें अनुरक्त नहीं थे। क्योंकि जहां परिग्रहकी आसक्ति नहीं है वहां ही ऊंचे दर्जेका अहिंसा धर्म है। 'जिनधर्म की जय' इसी लिए बोलते हैं कि—इसमें पूर्ण अहिंसा' का पालन किया जाता है। यही सब जीवोंका वध करनेवालेके विचारोंको जड़ मूलसे हटानेका कारण है। तथा 'जैन धर्म' का एकेन्द्रिय स्थावर जीवोंके नाना प्रकारके होनेवाले वधसे यह बिल्कुल दूर है और यह सुन्दर सुखसे भरपूर समुद्रके समान अगाध है।"

"मुनियोंका कर्तव्य है कि वे सर्वथा अहिंसाका पालन करें क्योंकि हिंसाका परिणाम दुःखदायक है, जिसे महापुरुषोंने महान् अनुभवसे बताया है। जिनके ये अनुभवगत हैं।"

"वीरसे स्पष्ट है शरीरकी चमड़ीको छेद कर छेद बाहर उसमें कण है, खून भरे हुए हैं, और भी अनेक रोगोंसे भरा है। इसे देख कर समझ लेना चाहिए कि कहीं यह कारण दुःख अन्य प्राणियोंकी हिंसा करनेमें मुख्यता पता है अतः चतुर पुरुषका यह कर्तव्य है कि—निरपराधजीवोंकी संकल्पमात्रसे कभी 'हिंसा' न करे।"

"सुख-दुःखमें अपने दुःखमें दुःख अनुभवमें अपनी आत्माकी तरह अन्य आत्माओंको समझ कर कभी किसीका हिंसा रूप अनिष्ट न करे।"

लोकोंका यह मन्तव्य है कि—"धर्मका सम्पूर्ण अर्थ सुन कर उसे मनमें विवेक रख कर उसका निर्णय पूर्वक यह सार है कि जब दूसरे अपने

प्रतिकूल कुछ अच्छा नहीं प्रतीत होता है, तब औरों को उनके प्रतिकूल आचरण कब इष्ट है।"

"सबको अपने प्राण ही प्रिय हैं, राज्य नहीं"-"प्राणी अपने प्राणोंकी रक्षाके लोभमें राज्य को भी तृणकी तरह छोड देता है। अत एव किसीके प्राणोंका नाश करनेसे जो पाप होता है वह समस्त पृथ्वी दान कर देनेसे भी दूर नहीं होता।"

"मरनेवालेको चाहे राज्य भी प्रदान करो, या सुवर्ण का पहाड अर्पण करदो, परन्तु जीवनके सन्मुख वे वस्तुएँ उसे कुछ भी अच्छी नहीं लगतीं, इसी लिए वह उन सब को छोड कर जीवित रहनेकी 'अपील' करता है।"

पीडा-"जरासा काटा पैर में लग जाता है, मगर वह सारे अंगों में भारी पीडा उत्पन्न कर देता है, परन्तु जो निरपराध जीवोंको तीक्ष्ण शस्त्रसे मौतके घाट उतार देता है, उस मरनेवालेके दुःखका क्या ठिकाना है। उसे तो अवश्य अनिर्वचनीय वेदना होती है।"

"यह कहा की नीति है जो अशरण, निरपराध, दुर्बल प्राणी बलवान् के द्वारा मारा जाता है, हाय! हमें तो कष्ट के साथ कहना पडता है कि-जगत् में अराजकता छा गई है, अब यहा न्यायको कहा स्थान रह गया है।"

"यदि कोई किसीके कानोंको यह सुनादे कि तू मरजा! तब सुननेवाला यह सुनते ही काप उठता है, शरीर भयभीत और दुःखी हो जाता है। जो पैने और कठोर शस्त्रसे किसीको मारने लगता है तब उसकी क्या दशा होती होगी। उसके दुःखका अनुभव सिवाय उसके भला और कौन कर सकता है।"

"हाथका कट जाना अच्छा है, विना पैर रहना भी कुछ बुरा नहीं, मगर सम्पूर्ण शरीरके अंगोंको पाकर हिंसा करनेवाला पुरुष सर्वथा निकम्मा है, अर्थात् वह किसी कामका नहीं है।"

मतलब साधने की हिंसा भी हानिकर है-"विघ्नकी शान्तिके लिए की गई हिंसा भी विघ्नके लिए ही होगी। बहुतसे यह कह डालते हैं कि-हमारे कुलका यही 'आचार' चला आता है, मगर वह कुछ कुलकी भलाईके लिए नहीं है, वह तो कुल नाश के लिए ही होगा, शान्तिके लिए नहीं। अपने वंशमें चली आनेवाली कुलक्रमागत हिंसाको जो भी प्राणी छोड कर शुद्ध हो

जाता है वह जैसे सूर पर्वतोंके प्रभु 'सुमेरु' की तरह सब मनुष्योंमें पवित्र और श्रेष्ठ गिना जाता है।"

"जो इन्द्रियोंको तो वश रखना चाहता है, तथा देव और गुरु की यथोचित सेवा करता है, तथा दान पुण्य भी देता है, उसको पढ़ कर पढ़ाता भी है, तप भी करता है, परन्तु वराकी भी हिंसाको यदि धर्म मान्यताएँ कर देता है तब तो उपरोक्त सबकी सब क्रियाएँ निष्फल हैं, अतः सिद्ध हुआकि धर्मके नाम पर की गई हिंसा भयंकर पापकारिणी है।"

"जिस शास्त्रमें धर्मका नाम लेकर हिंसा करनेका उपदेश किया हो वह शास्त्र न होकर कुशास्त्र समझा जाना चाहिए अर्थात् वह शस्त्र है शास्त्र नहीं।"

'यह कितना आश्चर्य है कि–मनुष्य जब कि मार देनेवाले लोभमग्न होकर पथ भ्रष्ट होजाने वाले हिंसा विधायक शास्त्र बनाकर, तथा पाप करनेका उपदेश देकर लोगोंको मूर्ख बना रहे हैं, अन्य विपाकी बनाकर मांसो भरके ठूंसें जा रहे हैं।"

अहिंसाका माहात्म्य–"अहिंसा माता की तरह सबकी पालिका और हितकारिणी है। अहिंसा ही मनुष्योंके मनमें अमृतका संचार करनेवाली है। अहिंसा दुःखरूपी दावानलको बुझानेमें अमोघ और प्रधान मेघ है, संसार भ्रमण नामी जन्म मरणके रोगसे पीड़ितोंके लिए तो आरोग्यता देनेमें उत्तम औषधि है।"

अहिंसाका फल– 'लम्बी आयु, उत्तम और सुन्दर रूप नीरोगता, संसारमें निर्मल यश कीर्ति इत्यादि सामग्रियें अहिंसा पालन करनेके फलस्वरूप ही तो मिली हैं। अधिक क्या कहा जाय अहिंसा सब मनोरथ पूर्ण करनेवाली है।"

किसीने ठीक ही कहा है कि– 'पहाड़ोंमें सुमेरु अमृत पीने वालोंमें देवता मनुष्योंमें चक्रवर्ती ज्योतिष् चक्रमें चांद, वैद्य दवा देनेवालोंमें धन्वन्तर ग्रह नक्षत्रोंमें सूर्य जलाशयोंमें समुद्र, सुर–असुर–मनुष्य तथा चक्रवर्तियोंमें वीतराग के चरणकी तरह सब व्रतोंमें 'अहिंसा' को सबमें बड़प्पन तथा प्रधानता प्राप्त है। अर्थात् इससे बढ़ कर और बड़ा व्रत क्या हो सकता है।"

निष्कर्ष–इन सब बातोंका मीमांसा करनेसे यह अर्थ सिद्ध हो जाता है कि–हिंसा सब शास्त्रोंमें वर्जित है, जैनोंने तो इसका नाम प्राणातिपात रखा है,

जिस का आशय यह होता है कि-किसी के एक-प्राणको भी निरर्थक न दुखाना चाहिए। साधु मुनिराज इसका सम्पूर्ण अग पालन करते है। और गृहस्थ जन इसका एक भाग ही निभा सकते हैं क्योंकि सबको अपना जीवन सब वस्तुओं से अधिक प्रिय है।

जैसे कहा है कि-"यदि मरनेवालेको यह कहा जाय कि-तुम सोनेके 'एक क्रोड सिक्के' लेकर हमें अपनी जान मारनेकेलिए कहदो, तव वह धनके ढेरको छोडकर जीवित रहनेकी आशा प्रगट करेगा। क्योंकि जान देदेनेपर उसकेलिए धन किस कामका है। अत सवको अपना जीवन प्रिय है। इस लिए सब दानोंमें अभय दान श्रेष्ठ है।"

अभयदान पर उदाहरण-"अरिदमन वसन्तपुरका राजा है, वह अपनी चार रानियोंसे नित्य रग रलिया करता है। एक दिन उन रानिओंने गाना, वजाना, नाचना आरंभ किया, राजा उनकी गान्धर्व विद्या पर लट्टू होगया और बोला कि आज तुम जो कुछ मांगोगी वही दूगा। रानिओंने कहा कि इस समय तो हमें किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं है, कालान्तरमें माग लेंगी, अव हमारा वर अपने पास जमा कर लीजिए, राजाने कहा अच्छा।"

एक वार रानियोंने एक चोरको देखा कि जिसे लाल कपडे, और जूतोंका हार पहिना कर वध्य भूमि ले जाया जा रहा है। रानियोंके साथ राजा भी महल पर टहल रहा था, देखकर उन्होंने पूछा कि प्राणनाथ! इसने क्या अपराध किया है। राजाने उसी समय एक सिपाहीको बुलाकर पुछवाया, उसने कहा कि पृथ्वीनाथ! इसने चोरी जैसा अकार्य करके राज और धर्मके विरुद्ध कार्य किया है, अत. आपनेही तो इसको 'प्राणदण्ड' पानेकी आज्ञा दी है।

यह सुनकर उनमें से एक रानी ने कहा कि प्राणवल्लभ! आप मेरा 'वर' यह दें कि इसे एक दिनके लिये न मारें जिससे मैं इस पर कुछ उपकार कर सकूं। राजाने कहा "तथास्तु"

रानीने उसे महलमें लिवा कर कहा तुझे आजके लिए वचा दिया है, अतः आज खा पी और मौज कर। यह कह उसका खूब अन्न और वस्त्रसे स्वागत किया, सवेरा होने पर उसे एक हजार दीनार देकर अपने महलसे विदाकर दिया।

इसी प्रकार दूसरी और तीसरी रानीने भी एक एक दिन रक्खा और क्रमसे एक लाख और एक क्रोड सोनेके सिक्कोंका पारितोषिक दिया।

मगर चौथी रानीने उसे कुछ भी न देकर उसका वह अपराध राजासे कह कर क्षमा करा दिया। तब यह सुन कर तीनोंने कहा कि इसे तूने क्या दिया है? चौथी रानीने कहा कि मैंने इसे वह वस्तु दी है, जिसे तुम सब मिल कर स्वप्नमें भी नहीं दे सकीं। यह सुनकर वे सब क्रुद्ध होकर उसके गले पड़ गईं और बोलीं कि हमने तो उसे करोड़पति बनादिया है और तुम कहती हो कि हमने इसपर तुमसे किंचित् उपकार भी नहीं किया। चौथीने कहा कि धनसे भी अधिक सबको अपने प्राण प्यारे होते हैं। मैंने इसे प्राणदान दिला कर सदाके लिए सुखी बना दिया है। अब इसे मरनेका भय नहीं है जिससे मैंने सबसे बड़ा उपकारका कार्य किया है। यदि मेरे कहेका विश्वास न हो तो राजासे इसका न्याय कराना चाहिए। इतना कहनेके बाद राजाको तुरन्त महलमें बुलवाया गया और रानियोंका यह मुकदमा सुन कर राजाने चोरको बुलाया और पूछा कि भाई! सच कह तू किस रानीका अधिक उपकार मानता है।

उसने नम्रतासे सिर झुका कर कहा कि—यों तो सबने मुझ पर भारी उपकार किया है, मगर चौथी रानीका सबसे अधिक उपकार मानता हूं, क्योंकि उसने अभयदान दिलवाया है। तीनों रानियोंने करोड़ोंका धन भी दिया और एक एक दिन मरनेसे भी बचाया मगर मुझे तो सदैव यही भय बना रहता था कि धनका क्या करूंगा जब कि कल मर जाना है। मगर चौथी रानीने मुझे सदाके लिए मौतके संकटसे बचाया है। अतः मैं यावज्जीवन धर्मध्यानके लिए निर्भय हूं। अतः इस उपकारको अपने धनका पुरस्कार देकर भी नहीं चुकाया जा सकता। क्योंकि सब दानोंमें अभयदान प्रधानतम है।

सत्योंमें भाषा सत्य है—इसी प्रकार सब वचनोंमें निरवद्य पापरहित, दूसरेको पीड़ाको हटानेवाली भाषा सर्वोत्तम है। क्योंकि काना, नपुंसक, रोगी चोरादिके नामसे पुकारनेपर भी उसके मनको आघात पहुंचता है।

मनुका मत—"सत्य प्रिय और अन्यके मनके अनुकूल वचन बोले अप्रिय और अप्रिय सत्य कभी मत बोलो।"

असत्य—असत् शब्दके तीन अर्थ हैं सद्भावका प्रतिषेध और अर्थान्तर तथा पर्राहनिन्दा। वस्तुके सद्रूपका अपलाप करनेको सद्भावका प्रतिषेध कहते हैं। यह दो प्रकारका है। भूत पदार्थका निषेधरूप—असद्भूत पदार्थका

निरूपण। जैसे "नास्ति आत्मा" आत्मा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं हैं, अथवा "नास्ति परलोक", परलोक-मरणके बाद जीवका अन्य भव धारण करना वास्तविक नहीं है। इत्यादिक भूतनिन्हव है। क्योंकि इससे सद्भूत पदार्थका अपलाप होता है। आत्माका परलोकमें भवान्तर धारण करना वास्तविक सिद्ध पदार्थ है। युक्तियुक्त और अनुभवगम्य है। इसका निषेध करना सद्भूतका अपलापनामक मिथ्या वचन है। आत्माको श्यामाकतण्डुल-सामक्के चावल की तरह छोटे प्रमाणमें बताना, अथवा अगूठेके पोरवे के बराबर समझना, या यह कहना कि-आदित्य वर्ण है, निष्क्रिय है, इत्यादि सब वचन अभूतोद्भावन नामक असत्य वचन है। क्योंकि इस तरहके वचनों द्वारा आत्माका जो वास्तविक स्वरूप नहीं है, उसका उल्लेख किया जाता है।

अर्थान्तर शब्दका अर्थ है भिन्न अर्थको सूचित करना, जो पदार्थ है उसको दूसरा पदार्थ ही बताना-वास्तविक न कहना अर्थान्तर है। जैसे कोई गौको कहे कि यह घोडा है, अथवा घोडेको कहे कि यह गौ है, इस तरह के वचनको अर्थान्तर नामक असत्य कहते हैं।

गर्हा नाम निन्दा करनेका है, अत जितने भी निन्द्य वचन हैं वे सब-गर्हित नामके असत्य वचन समझने चाहिए। जैसे कि-'इसको मार डालो' या 'मरजा' 'इसे कसाईको देदो,' इत्यादि हिंसा विधायक वचन बोलना, तथा मर्म-भेदी-मन दुखानेवाले अपशब्द कहना, गाली देना, कठोर वचन कहना, परुष-रूक्ष शब्दोंका प्रयोग करना, एव पैशून्य किसी की चुगली करना, आदि गर्हित वचन कहलाते हैं। यदि वे गर्हित वाक्य कदापि सत्य भी हों तथापि असत्य माने जाते हैं। क्योंकि वे निन्द्य हैं। तथा प्रमादयुक्त जीवके वचन भी असत्य समझे जाते हैं। प्रमाद पूर्वक कहे जाने वाले वचन असत्य होते हैं। और प्रमाद को छोडकर कहे गए असत्य वचन भी सत्य हो सकते हैं, जैसे किसी रोगी बालकको पताशेमें दवा रख कर देते हैं और कहते हैं कि-ले यह पताशा है।

सत् शब्दके दो अर्थ होते हैं, विद्यमान और प्रशसा। अत एव असत् शब्दसे अविद्यमान और अप्रशस्तता ये दोनों ही अर्थ लेने चाहिए। सद्भूत-निन्हव असद्भूतोद्भावन और अर्थान्तर ये अविद्यमान अर्थको सूचित करनेवाले होनेसे असत्य हैं। और जो गर्हित वचन है वे अप्रशस्त होनेसे असत्य हैं, तथा प्रमादका सम्बन्ध भी दोनों ही स्थानों पर पाया जाता है।

इसके अतिरिक्त असत्य की विवक्षा होने पर कषाय अवश्य निमित्त बन जाता है, कषायवश उत्तम आमेपर असत्यका प्रयोग अवश्य किया जाता है। अतः क्रोध-लोभ-मान-राग-द्वेष-मोहादिके कारणसे असत्य बोलनेका त्याग करना सत्यानुव्रत कहलाता है।

इसीमें कठोर शब्द का प्रयोग करते समय चुगली करते समय अप्रिय वचन कहते समय, प्रायः असत्य अवश्य अनिवार्य हो जाता है, और ऐसे वाणीको भाषा रियायत उस समय प्राप्त होती है जब दूसरा अनुव्रत स्वीकार कर लिया जा सके।

किसी ने कहा है कि—जिसे मूकता के कारण धर्म के मार्गसे पुष्ट रहता है, और जो म्लेच्छोंमें भी निन्द्य समझा जाता है, उस असत्य को मन, वचन-कायसे त्याग देना ही उचित है, यदि किसको सत्यवादीकी अभिलाषा है तो असत्य न कह कर मौनको स्वीकार करले। क्योंकि इतने स्थानों पर सब मौन भाव मानते हैं,

जैसे—"प्रतिक्रमण करते समय मलमूत्र त्यागते वक्त, पापके कार्योंको सोचते समय निरन्तर मौन रख लेवे क्योंकि मौन कर लेनेसे वाणीके दोषोंका नाश हो जाता है। 'मौनसे क्लेश नष्ट होता है, सन्तोष भाव जाग्रत हो जाता है, वैराग्यका प्रवर्तन होता है संयमकी पुष्टि हो जाती है।' 'विवेक बाद लोकमेंसे ही उनकी वृद्धि होती है। अभिमानकी रक्षा होजाती है, समस्त भावोंसे मनकी सिद्धि हो जाती है।' 'वाणी मनोरम्य बनजाती है, आदेय होकर प्रशंसा पात्र बन जाता है, मौन रखने वालेके धारणानुकूल सम्पत्ति होती हैं। परन्तु मौन देख और अवसर विचार कर करना चाहिए। यदि कहीं बोलनेसे संसारको लाभ और मर्यादा कायम हो तो वहां चुप न रहना चाहिए। —अमर वाणी सदा सत्यवती होनी चाहिए।

गृहस्थके लिए त्याज्य असत्य क्या है? 'पारस को कन्या, गाय, पृथ्वी के सम्बन्धमें असत्य कुछ भी न कहना चाहिए, न ही उसे कभी झूठी गवाही देनी चाहिए, कभी किसी की धरोहर-थाती बटोर मार कर उसे धोखा न देना चाहिए, इन पांच बातोंको ध्यानमें रखने वाला सत्याणुव्रती है। यदि अपने या अन्यके ऊपर उस सत्यसे आपत्ति आ सकती हो तो उस समय सत्य न कह कर मौन कर लेना उचित है।"

"और जो साधु-सज्जन पुरुष राग, द्वेष और मोहसे असत्य बोलनेके परिणामको जब छोडता है, तब ही दूसरा सत्याणुव्रत होता है, क्योंकि असत्य बोलनेका भाव सत्य भावसे विपरित होता है, और यह असत्य भाव राग भावसे; द्वेष भावसे और मोह भावसे जीवमे पैदा होता है, अर्थात् यह मनुष्य इष्टे पदार्थोंमें व विषयोमें राग द्वारा उनकी प्राप्ति और रक्षाके लिए असत्य कहता है, वह अनिष्ट पदार्थोंमें वा विषयोंमें द्वेषपूर्वक उनके दूर होनेके लिए या उनका सम्बन्ध न पानेके लिए असत्य कहता है, अथवा मिथ्या बुद्धिसे ससारमें मोहके कारण उस मिथ्या भावकी रक्षाके अर्थ असत्य बोलता है, जो कोई निकट भव्य जीव साधु पुरुष इस प्रकारके असत्य बोलनेके परिणामोंको त्याग देता है उसी में सत्य व्रतकी योग्यता आती है।"

"जो सत्यभावके रगमें रग कर प्रगटमें सत्यका व्यवहार करता है वह सज्जनोंद्वारा आदरणीय होता है, यह बात इस लिए सर्व्वथा सत्य है कि सत्य से बढ कर अन्य दूसरा कोई व्रत नहीं।"

असत्य बोलने का निकृष्ट परिणाम-"झूठ बोलनेवाला गूंगा बनता है, या उसे मूकगति का जीव बनना पडता है। वह स्पष्ट नहीं बोल सकता। किसीको उसकी सुन्दर सम्मति भी प्रिय नहीं लगती। मुखरोगसे पीडित रहता है। ये सब झूठ बोलनेके दुष्परिणाम जान कर कन्यादिके विषयमें असत्य कभी न बोलना चाहिए।" "झूठ बोलने वाले, मूर्ख, विकलाग, वाणीहीन रह जाते हैं। उनकी बातें सुन कर लोकों को घृणा हो उठती है। और उनके मुखसे दुर्गंध आया करती है।" "जो सर्वलोक से विरुद्ध है, जिस वाणीसे विश्वासघात हो जाता है, जो पुण्यका प्रतिपक्षी है वह ऐसा वाक्य कभी न कहे।" "जो झूठ बोलता है उसमें तुच्छता आजाती है, अपने आपको ठग लेता है, अधोगतिगामी होता है, अत झूठ वर्जनीय है।" "झूठ प्रमादसे भी न बोलना चाहिए, क्योंकि कल्याणकार्यरूपी वृक्ष असत्यकी आंधीसे गिर जाते हैं।" "भूत, भविष्यत्, वर्तमानकी बातोंको यदि पूर्णतया न जानता हो तो न कहे, कि इस तरह होगा।" "तीनों कालकी बातोंमें शका हो तो उसे न कहे।" "यदि तीनों कालकी बातें बिलकुल निश्शक हैं तब उन्हें लोकोंमें उपदेशके रूपमें सुना सकता है।" "असत्य बोलनेसे वैर विरोध बढ जाते हैं, पोल खुल जाने पर पछतावा होता है,

और उस पर विचार नहीं करता, परमात्म [illegible] हो जाता है। [illegible] लगनेकी तरह न जाने क्या? [illegible]-दोष इसे मनुष्यमें आ जाते हैं।" "[illegible] बोलनेवाला व्यक्ति निगोद और पशु योनिमें जन्म लेकर मरता रहता है।" "चोरी या अपराध प्रयोग करनेवाला भी नरकमें [illegible] होता है।"

[illegible] हृदय में (परिग्रह मूल तो सदा ही बताया है [illegible] [illegible] पृथ्वी [illegible] हो जाती है।" "जो पदार्थ [illegible] बोलते हैं [illegible] [illegible] कुछ भी नहीं [illegible]।" [illegible] [illegible] [illegible] भी [illegible] बोलता है [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]।" "एक तरफ तो [illegible] दूसरी ओर [illegible] [illegible] दोनों [illegible] भी [illegible] [illegible]।" [illegible] और [illegible] हो सकता है [illegible] [illegible] नहीं। [illegible] भी [illegible] है [illegible] पर [illegible] नहीं [illegible] क्योंकि [illegible] है।"

"[illegible] [illegible] [illegible] है [illegible] कुछ [illegible] [illegible] है। [illegible] कहा है कि "जो [illegible] बुद्धि [illegible] [illegible] है [illegible] बुद्धि [illegible] [illegible] है।" "[illegible] [illegible] [illegible] है [illegible] है।"

[illegible] है [illegible] है [illegible] है [illegible] [illegible] है।" "[illegible] [illegible] [illegible]

इसी भाति स्त्रीका भी परमधर्म है कि-पर पुरुष चाहे रूपमें, ऐश्वर्य्यमें, कलामें कितना भी वढा चढा क्यों न हो, उसे जहरका पुतला समझ कर त्याग देना चाहिए जिस प्रकार सीताने रावणको छोड दिया था । वही स्त्री देवोंसे पूजित होती है जिसने मैथुनके विकार को जीता है ।

मैथुन नाम जोडे का है, प्रकृतिमे स्त्री पुरुषका ही जोडा समझा जाता है, दोनोंका परस्पर सयोग या सभोगके लिए जो भावविशेष उत्पन्न होता है अथवा दोनों मिलकर जो सभोग क्रिया करते हैं उसको मैथुन कहते हैं, और उस मैथुनको 'अब्रह्म' कहते हैं । इसमें भी प्रमत्तयोगका सम्वन्ध है, क्योंकि उस अभिप्रायसे जो भी क्रिया की जायगी, फिर चाहे वह परस्पर दो पुरुष या दो स्त्री ही मिल कर क्यों न करें, अथवा अनग क्रीडा आदि ही क्यों न हो वह सव अब्रह्म है, और जो प्रमादको छोडकर क्रिया करते हैं उसको मैथुन नहीं कहते । जैसे कि पिता भाई आदि पुत्री भग्नि आदिको जव गोदमें लेकर प्यार करते हैं तव वह अब्रह्म नहीं कहला सकता, क्योंकि उनमें 'प्रमत्त-योग' नहीं है । इस प्रमत्तयोगकी यदि एक अशमें निवृत्ति की जाय तो वह ब्रह्मचर्याणुव्रत कहलाता है । जैसे कहा है—

"माता वहन वेटीकी तरह परस्त्रीको जानता हुआ जो अपनी विवाहिता स्त्रीमे ही सन्तोष करता है, वह चौथा अणुव्रत कहलाता है ।" "उत्तम पुरुष परस्त्रीको व्याधि और दुखके समान समझ कर दूरसे ही छोड देते हैं, क्योंकि परस्त्री सदैव दु खोंका घर है, और सुखोंका नाश करनेके लिए प्रलयकी आग जैसी सिद्ध हुई है ।" "जो स्त्री अपने पतिको छोड कर परपुरुषमें रमण करने चली जाती है, उसे परले सिरेकी निर्लज्ज समझना चाहिए । जव इस आचरणसे अपनी स्त्रीका भी विश्वास नहीं है तव परस्त्रीका किस वात पर विश्वास किया जा सकता है ।" "परस्त्रीका सेवन करके पुरुष क्या सुख पाता है । केवल नरक निगोदमें रुलनेके अतिरिक्त और कुछ नहीं । अत मनुष्योंको 'ब्रह्मचर्य्य' व्रतका पालन करना चाहिए ।" "इस व्रतका आश्रय—लेकर योगीजन परब्रह्म परमात्माका और अपना स्वरूप अभेदरूपसे जान लेते हैं । उसीका अनुभव करते हैं, और इसे धीर वीर पुरुष ही धारण करनेमें समर्थ हैं । अल्पसत्ववाले, शीलरहित, इन्द्रियोंके दास, दुर्वल पुरुषतो इसका स्वप्नमें भी समाचरण नहीं करसकते, क्योंकि यह ब्रह्मचर्य्य असिधारा महाव्रत है ।"

भी न हो दरिद्री और रोगी हो कुल जाति वर्णसे हीन हो तब क्या हुआ उसका भूषण सत्य है, सत्यसे पवित्र और सुखी है। उनकी शोभा सत्यसे है।" 'जो पुरुष असत्यसे मलिन हैं उनके साथ पाप रूपी कालिमाके भयसे कोई भी धर्मिष्ठ पुरुष सपनेमें भी उसका साक्षात्कार नहीं करता।' 'झूठेकी संपत्तिसे उसकेको भी कलङ्क लेना पड़ता है।" पुत्र स्वजन भी धन और मित्रोंके जाने या विमुख होनेपर अथवा प्राण जाने पर भी झूठ नहीं बोलना चाहिए।"

इत्यादि धर्मशास्त्रोंके पीछे जो पाप रहित और श्रेष्ठ सत्य बोलता है, वही जगत्में प्रधानपुरुष है।

इसकी तरह तप प्रकारके तपोंमें अर्थात् जिन तपोंसे इच्छाओंका रोकना अनिवार्य है वे तप ११ प्रकारके कहलाते हैं, उनमें उत्तम और सब जिन मत मुनिसे शुरू किया गया ब्रह्मचर्य नामक तप उत्तम है।

सुन्दर स्त्रियोंके मनोहर अंगोंको देख कर उनसे क्रीड़ा करनेकी जिसके चित्तमें इच्छा नहीं होती है उसको स्वप देवोंसे अथवा वेद नामक कषायके तीव्र उदयसे मैथुन सेवनकी इच्छाका सर्वथा ब्रह्मचर्य है, उसे स्पष्ट करनेके लिए सत्पुरुष कहते हैं कि हे कामी पुरुष! अनुपम सहज परम सत्स्वरूप, निजस्वरूपको छोड़ कर अति सुन्दर स्त्रियोंके शरीर आदि विभूतिको मनमें क्यों याद करता है और उनके मोहमें किस लिए फँसा पड़ता है।

अब्रह्मचर्य के दोष—स्त्री सम्भोगसे सन्ताप पैदा होता है, चित्त भटकता है काम ज्वर फैल जाता है स्त्रियोंको बनाकर मोहको बढ़ाता है। शरीर शिथिल होता है। तृष्णामें बहता जाता है अतः अर्थलाभमें और ज्वरमें कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता। और इन दोषोंको जान कर भी यदि कोई सर्वथा शीलव्रत पालन न कर सके तो गृहस्थका कर्तव्य है कि विवाहित पत्नीमें अवश्य सन्तोष पैदा करे। क्योंकि इस प्रतिज्ञामें भी अनेक तरह की इच्छाओंका मर्दन कर देता है।

कहा भी है कि—अपनी स्त्री मात्रमें सन्तोष करनेके अनन्तर जो अन्य स्त्री मात्रकी कभी इच्छा तक भी नहीं करता है उसमें भी सुदर्शन सेठ की तरह अद्भुत प्रभाव पैदा हो जाता है तब ब्रह्मचारीके प्रभावकी प्रशंसा क्यों कर की जा सकती है, क्योंकि यह तो अपवर्ग है।

इसी भांति स्त्रीका भी परमधर्म है कि–पर पुरुष चाहे रूपमें, ऐश्वर्य्यमें, कलामें कितना भी बढा चढा क्यों न हो, उसे जहरका पुतला समझ कर त्याग देना चाहिए जिस प्रकार सीताने रावणको छोड दिया था। वही स्त्री देवोंसे पूजित होती है जिसने मैथुनके विकार को जीता है।

मैथुन नाम जोडे का है, प्रकृतिमे स्त्री पुरुषका ही जोडा समझा जाता है, दोनोंका परस्पर सयोग या समोगके लिए जो भावविशेष उत्पन्न होता है अथवा दोनों मिलकर जो सभोग किया करते हैं उसको मैथुन कहते हैं, और उस मैथुनको 'अब्रह्म' कहते हैं। इसमें भी प्रमत्तयोगका सम्बन्ध है, क्योंकि उस अभिप्रायसे जो भी क्रिया की जायगी, फिर चाहे वह परस्पर दो पुरुष या दो स्त्री ही मिल कर क्यों न करें, अथवा अनंग क्रीडा आदि ही क्यों न हो वह सब अब्रह्म है, और जो प्रमादको छोडकर क्रिया करते हैं उसको मैथुन नहीं कहते। जैसे कि पिता भाई आदि पुत्री भगि आदिको जब गोदमें लेकर प्यार करते हैं तब वह अब्रह्म नहीं कहला सकता, क्योंकि उनमें 'प्रमत्त-योग' नहीं है। इस प्रमत्तयोगकी यदि एक अशमे निवृत्ति की जाय तो वह ब्रह्मचर्याणुव्रत कहलाता है। जैसे कहा है—

"माता बहन बेटीकी तरह परस्त्रीको जानता हुआ जो अपनी विवाहिता स्त्रीमें ही सन्तोष करता है, वह चौथा अणुव्रत कहलाता है।" "उत्तम पुरुष परस्त्रीको व्याधि और दुखके समान समझ कर दूरसे ही छोड देते हैं, क्योंकि परस्त्री सदैव दु खोंका घर है, और सुखोंका नाश करनेके लिए प्रलयकी आग जैसी सिद्ध हुई है।" "जो स्त्री अपने पतिको छोड कर परपुरुषमें रमण करने चली जाती है, उसे परले सिरेकी निर्लज्ज समझना चाहिए। जब इस आचरणसे अपनी स्त्रीका भी विश्वास नहीं है तब परस्त्रीका किस बात पर विश्वास किया जा सकता है।" "परस्त्रीका सेवन करके पुरुष क्या सुख पाता है। केवल नरक निगोदमें रुलनेके अतिरिक्त और कुछ नहीं। अत मनुष्योंको 'ब्रह्मचर्य्य' व्रतका पालन करना चाहिए।" "इस व्रतका आश्रय–लेकर योगीजन परब्रह्म परमात्माका और अपना स्वरूप अभेदरूपसे जान लेते हैं। उसीका अनुभव करते हैं, और इसे धीर वीर पुरुष ही धारण करनेमें समर्थ हैं। अल्पसत्ववाले, शीलरहित, इन्द्रियोंके दास, दुर्बल पुरुषतो इसका स्वप्नमें भी समाचरण नहीं करसकते, क्योंकि यह ब्रह्मचर्य्य असिधारा महाव्रत है।"

इन तीनों भुवनोंमें ब्रह्मचर्य नामक व्रत ही प्रशंसनीय है जो इसे निर्मलभावोंसे पालते हैं वे पूज्य पुरुषों द्वारा भी पूजित होते हैं। "जो ब्रह्मचर्य पालनमें अनुरक्त रहते हैं वे दस प्रकारके मैथुनोंका सर्वथा त्याग कर देते हैं। जैसे—

(१) शरीरका संस्कार-शृंगारादिकरना। (२) पुष्ट रसका सेवन करना। (३) गाना-बजाना-देखना-सुनना। (४) स्त्रीका संसर्ग करना। (५) स्त्रीमें किसी प्रकारका संकल्प-विचार करना। (६) स्त्रीके अंग उपांगोंको देखना। (७) उसे देखनेका संस्कार बनाए रखना। (८) पूर्व कृत भोगोंका पुनः स्मरण करना (९) भविष्यके लिए भोगनेकी चिन्तवना करनी। (१०) शुक्र (वीर्य)का क्षरण कर देना।

ये दस भेद मैथुनके हैं ब्रह्मचारीके लिए ये सर्वथा त्याज्य हैं।

'जिस प्रकार किम्पाकफल (इन्द्रायण फल) देखने सूंघनेमें रमणीय है परन्तु विपाक होनेसे तो तत्काल जीवका नाश कर डालता है। इसी भांति यह मैथुन भी कुछ काल पर्यन्त रमणीक और सुन्दर तथा सुखदायक प्रतीत होते हैं, परन्तु विपाक समय यानी अन्त समयमें बहुत ही भयावह प्रतीत होते हैं।" "जो पुरुष काम और भोगोंमें विरक्त होकर सदा ब्रह्मचर्यका सेवन करते हैं उनको आत्मशुद्धिके लिए दस प्रकारका मैथुन त्याग देना चाहिए। क्योंकि इन दोषोंके आगे विष मात्रोंमें विषैलापन नहीं आता। उत्तम भाव—ही कामके वेगको रोक सकता है।"

कहा भी है कि—"सर्पसे डसे गए प्राणीके सात वेग होते हैं परन्तु कामरूपी सर्पके द्वारा डसे गए जीवोंके दस भयानक और बड़े वेग होते हैं वे ये हैं।"

कामके उद्दीपनसे पहले पहल चिन्तामें गिर जाता है कि उसका सम्पर्क क्योंकर हो दूसरे वेगमें उसे देखनेकी इच्छा हो जाती है, ३ दीर्घ निश्वास लेकर छोड़ता है, और कहता है कि हाय उसे देख भी न सका ४ ज्वर हो जाता है, ताप बढ़ जाता है, ५ बिना ही आगके शरीर जलने लगता है, ६ भोजन नहीं रुचता ७ महा मूर्च्छा हो जाती है, कुछ भी चेत नहीं पड़ता। ८ उन्मत्त यानी पागल सा बन जाता है, व्यर्थ बात बकने लगता है, ९ प्राणों का रखना दूभर हो जाता है तथा उसे यह संदेह हो जाता है कि मैं अब जीवित नहीं रहूंगा। और दसवां वेग ऐसा आता है कि जिससे

वह मर भी जाता है, इनमें व्याप्त होकर यह जीव यथार्थ तत्व अर्थात् वस्तु स्वरूप को नहीं देखता। जब लोकव्यवहार ही का ज्ञान विदा हो जाता है तब परमार्थका ज्ञान क्यों कर हो सकता है। क्योंकि सब बातोंमें वह बिल्लकुल अस्थिर बन जाता है।

"जिसको कामरूपी काटा चुभता है वह प्राणी बैठने, सोने, चलने, फिरने, भोजन करनेमें तथा स्वजन पुरुषोंमें क्षण भर भी स्थिरताको प्राप्त नहीं होता। अर्थात् सब अवस्थाओंमें डिगमिगाया रहता है।" "कामसे ठगा जाकर मनुष्य चतुर होकर भी मूर्ख बन जाता है, क्षमाशील-क्रोधी हो जाता है, शूर वीर कायर बन जाता है, बडप्पनसे गिर कर छोटा रह जाता है, उद्यमी पुरुष आलसी बन जाता है। और जितेन्द्रिय भ्रष्ट हो जाता है।" अत मूर्खता न करके मनुष्यको मनुष्य जन्म सार्थक बनानेके लिए ब्रह्मचर्य्य पालन करना चाहिए। क्योंकि तपोंमें उत्तम ब्रह्मचर्य ही तप है।"

कदाचारका परिणाम—बैलके नपुसक बनानेकी क्रिया देखकर, लपटका राजा द्वारा इन्द्रिय छेदन देख कर, सुधीको कुशील त्याग कर स्वदार सन्तोप व्रत लेकर परदारका त्याग कर देना योग्य है।" "मैथुनका सेवन किंपाकफलकी तरह आरंभमें अच्छा लगता है परन्तु परिणाममें दारुण कष्ट होता है।" "शरीरमें कम्प, पसीना, थकान या शिथिलता, चक्कर आना, घृणा होना, पौरुषेयका क्षय, तपदिक क्षय-आदि रोग मैथुन सेवनसे होजाते हैं।" "योनि-यन्त्रमें असख्य जीवराशीकी उत्पत्ति हो जाती है, और मैथुन करते समय वे जीवित नहीं रह सकते।"

वात्स्यायनका मत है कि—"रक्तमें कीडे हो जाते हैं, वे जीव सूक्ष्म होते हैं, और सम्पर्कके समय मर जाते हैं।"

मैथुन सेवनसे काम ज्वर घट नहीं सकता—"अग्निमें घी डालकर अग्निको बुझानेकी वृथाकी चेष्टाकी तरह स्त्रीसयोगसे काम ज्वर कभी शान्त नहीं हो सकता। अत स्त्रिएँ भी पर पुरुपको सर्पके समान समझकर उन्हें त्याग दें।" क्योंकि—

"ऐश्वर्य्यमें चाहे इन्द्रके समान हो और सुन्दरतामें कामदेवका अवतार हो तब भी सच्चारियोंकी दृष्टि में सीताने रावण का जिस प्रकार त्यागकिया इसी प्रकार पर पुरुष त्याज्य हैं।"

ब्रह्मचर्यसे ही पूजता है—ब्रह्मचर्य सर्वश्रेष्ठ व्रत है, परमपदके पानेमें निमित्तरूप है जो ब्रह्मचर्यका समाचरण करते हैं, वे पूज्य पुरुषोंद्वारा पूजित होते हैं।

ब्रह्मचर्यका फल—बड़ी आयु, सुडौल शरीर, शरीरकी दृढ़तर रचना, शरीर पर विलक्षण तेज महान् शक्ति यशः कीर्ति संसारमें मान मर्यादा, प्रतिष्ठापात्रता ये सब ब्रह्मचर्यसे प्राप्त होते हैं।

इसी प्रकार सब लोकोंकी उत्तम रूप सम्पदा पाकर तथा सर्वातिशायी क्षायिक ज्ञान दर्शन वीर्यशाली पुरुषोंमें ज्ञात वंश में जन्म प्राप्त अन्तिम निर्ग्रन्थ श्रमणमहात्माओंमें प्रधानतम थे।

महावीरके नाम—श्रमण भगवान् महावीर प्रभुके वर्धमान विदेहदिन्न ज्ञातपुत्र काश्यप वैशालिक महावीर सन्मति श्रमण भगवान् इत्यादि अनेक नाम थे। ये सब नाम उनकी भिन्न भिन्न अवस्थाके सूचक हैं। क्योंकि भगवान् महावीर स्वामीका जीवन सांसारिक अवस्था और साधक अवस्थामें विभक्त है। वर्धमान विदेहदिन्न (महावीर प्रभुकी माताका नाम विदेहदिन्ना भी था विदेहा ति वा विदेहदिन्ना ति वा पियकारिणी ति वा—(आचारांग २–१५ ११)। त्रिशला माता विदेहमें जन्मी थीं इसलिये उनका नाम विदेहदिन्ना था। अतः माताके इसी नाम पर महावीर प्रभुका मातृपक्षका नाम भी विदेहदिन्न पड़ गया था) ज्ञातपुत्र काश्यप और वैशालिक ये ६ नाम उनकी सांसारिक अवस्थाको बता रहे हैं। महावीर, सन्मति और श्रमणभगवान् ये तीन नाम उन्होंने साधक अवस्थामें अपने आत्मवीर्यादि गुणोंसे प्राप्त किए हैं, 'वर्धमान' पिताके पक्षका नाम था और विदेहदिन्न मातृपक्षका नाम था। ज्ञातपुत्र यह 'वंश' सम्बन्धी नाम था काश्यप 'गोत्र' का नाम था और 'वैशालिक' जन्मस्थानके सम्बन्धका अर्थसूचक नाम है तथा महावीर नाम उनके आत्म वीर्यका सन्मति उनके आत्म ज्ञानका और 'श्रमणभगवान्' नाम श्रमण संस्कृतिके तारतम्यमें सर्वोपरि रूपक अर्थसूचक नाम है ॥ ११ ॥

ज्ञातपुत्र—उपर्युक्त सब नामोंमें भगवान् महावीरके 'ज्ञातपुत्र' नामके विषयमें हमको विचार करना है, यह 'ज्ञातपुत्र' नाम उनके वंशका सूचक है, यह नाम वैदिकधर्म और बौद्धधर्ममें और २ जगह भी है।

भगवान् महावीर का 'श्री आचारांग' और 'कल्पसूत्र' आदि सूत्रोंमें उनके जीवन चरितके अनुसार उनका जन्म क्षत्रियकुण्ड ग्राममें 'ज्ञातवंशीय' और 'काश्यपगोत्रीय' सिद्धार्थ क्षत्रिय राजाके घर त्रिशला क्षत्रियाणीकी कुक्षिसे हुआ था।

यह ज्ञातृवंश उस समयके प्रसिद्ध इक्ष्वाकु, आदि क्षत्रियोंके विशाल कुलोंकी तरह प्रसिद्ध 'वंश' समझा जाता था। इस ज्ञातृवंशके क्षत्रिय प्रायः 'ज्ञातृक' के नामसे पहचाने जाते थे। और उनके इस 'ज्ञातृ' कुलके सम्बन्धसे उनके नगरों के बाहर बनाए हुए खंड-उद्यानों के नाम भी 'ज्ञातृखंड' के नामसे प्रसिद्ध थे। भगवान् महावीर प्रभुने 'कुण्डग्राम' के समीपवर्ती 'ज्ञातृखंड' नामक बागमें दीक्षा ली थी। शास्त्र वचन तो इसकी खूब ही पुष्टि करता है।

जिनागममें 'ज्ञातृपुत्र' का प्रतिशब्द 'नायपुत्त' या 'नातपुत्त' के रूपमें और बुद्धागममें 'नाथपुत्त' या 'नाटपुत्त' के रूपमें जिस शब्दप्रयोगका उल्लेख देखनेमें आता है, वह भगवान् महावीर के 'ज्ञातृवंश' का ही अर्थसूचक नाम है, इसे मान लेनेमें हमको उपरोक्त कारण मिलते हैं, **'नायपुत्त'** या **'नातपुत्त'** में दोनों नाम संस्कृत में **'ज्ञातृपुत्र'** शब्दके ही प्राकृत रूप हैं, और **'नाथपुत्त'** या **'नाटपुत्त'** ये दोनों नाम भी इसी शब्दके 'पाली' रूप हैं। प्राकृत में **'त'** को **'य'** और पाली में **'त'** को **'थ'** और **'थ'** को **'ट'** भी साधारणतया हो जाता है। दिगम्बर सूत्रोंमें **'ज्ञातृपुत्र'** का **'नाथपुत्त'** इस शब्दको व्यवहृत होता देखा जाता है। इस प्रकार भाषा और भावकी दृष्टिसे देखते हुए भी ये सब अलग २ नाम मूल **'ज्ञातृपुत्र'** शब्दमें मिल जाते हैं। ये सब नाम **'ज्ञातृपुत्र'** शब्दसे बनाए गए हैं। इसमें शंका करने के लिए जरासा भी स्थान नहीं है। प्राचीन कालमें वंशके नामसे परिचय करानेकी प्रथा होनेसे भगवान् महावीर प्रभुके जीवनविषयक परिचय श्रीजिनागमोंमें और बौद्धागमोंमें **'नातपुत्त'** या **'नाथपुत्त'** शब्दसे और भगवान् महावीरके शिष्योंका परिचय **'नातपुत्तीय'** या **'नाथपुत्तीय'** शब्दसे विशेषतः दिया गया है।

श्रीजिनागमके १२ अंगोंमें छठ्वां अंग "णायधम्मकहाओ" है, उसमें उपर्युक्त आया हुआ **'णाय'** शब्द भी भगवान् महावीरका वंशवाचक "नायपुत्त" के साथ गहरा सम्बन्ध रखता है। प्राकृतमें **'न'** को **'ण'** हो जाना तो

एक साधारण नियम है। इस श्लेष का गुजराती अनुवाद भी 'भगवान् महावीरनी धर्मकथाओ, यह करनेमें आया है, इस अंगका परिचय श्रीसमवायांगसूत्रमें किया गया है, उसमें बतलाया है कि—"इस अंगमें ज्ञातओं के नगरोंका उद्यानोंका मातापिता का 'इत्यादि परिचय दिया जायगा' यह लिखा है, टीकाकारने ज्ञाताओंका उदाहरणभूत अर्थ किया है, परन्तु 'ज्ञाय' अर्थात् 'ज्ञातृवंशी' क्षत्रिय ही अर्थ पूर्वापर विचार करते हुए अधिक निकट होता है।

भगवान् महावीरका परिचय श्रीसिद्धान्तोंमें 'नायपुत्त'-'ज्ञातपुत्र' के अतिरिक्त और नामोंसे भी दिया गया है, तथापि यहां पर 'नायपुत्त' शब्द की ही विशेष प्रधानता रही है। बहुत से प्राचीनतम सूत्रोंमें भगवान् महावीर प्रभुकी गुण गाथाका सबब विशेषतः 'नायपुत्त' शब्दसे ही किया गया है—

यथा—

"न ते सन्निहिमिच्छन्ति, नायपुत्तवओरया" १८

"न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो इइ वुत्तं महेसिणो" २१

"एय च दोसं दठ्ठूण, नायपुत्तेण भासियं
सव्वाहारं न भुंजंति, निग्गंथा राइभोयणं" २६

"एयं च दोसं दठ्ठूण नायपुत्तेण भासियं,
अणुमायं पि मेहावी, मायामोसं विवज्जए" ४९

"एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी, अणुत्तरदंसी अणुत्तरनाणदंसणधरे,
अरहा नायपुत्ते भगवं वेसालिए वियाहिए" १८

भावार्थ—"जो भगवान् 'ज्ञातपुत्र' के वचनों पर पूर्ण विश्वास रखते हैं वे किसी वस्तु का संग्रह करके नहीं रखते ॥ १८ ॥

प्राणीमात्रकी रक्षा करनेवाले 'ज्ञातपुत्र' महावीर प्रभुने वस्त्र पात्रको परिग्रह न बतलाकर मूर्च्छा याने ममत्व भावको ही परिग्रह बताया है, यह महर्षियोंने कहा है। ॥ २१ ॥　　　　(दशवै० अ० ६)

'ज्ञातपुत्र' महावीर प्रभुने कहा है कि मर्य्यादामें रहनेवाले साधु इस दोषको भलिभान्ति देखकर थोडासा भी कपट पूर्वक झूठ न बोले ॥ ४९ ॥

इस दोषको देखकर निर्ग्रन्थ रात्रि भोजन छोडदे, क्योंकि 'ज्ञातपुत्र' ने इसके दोष प्रत्यक्षमें बताए हैं ।

"इस प्रकार अनुत्तरज्ञानी अनुत्तरदर्शन युक्त अर्हन् प्रभु 'ज्ञातपुत्र' महावीर विशाला नगरमें इस प्रकार व्याख्यान करते थे ॥ १८ ॥"

इन प्रमाणोंके अतिरिक्त इस अध्यायमें तो २-१४-२१-२३-२४ की गाथाओंमें प्रभुकी स्तुति 'ज्ञातपुत्र' शब्दका ही संकेत रखकर की गई है। इस तरह श्रीजिनागमके प्रमाणभूत ग्रन्थोंमें **'नायपुत्त'** या **'नातपुत्त'** को भगवान् महावीरके वंशवाची नामका उपयोग अनेक स्थलों पर पुष्कल रूपमें किया है, इन सब शब्दप्रयोगोंके उद्धरण करने की यहा जरासी आवश्यकता भी प्रतीत नहीं होती। मात्र **हेमाचार्य** ने परिशिष्टपर्व्वमें जो 'ज्ञातनन्दन' भगवान् महावीरको वंदन किया है उसीका यहां उद्धरण देकर अगाडी बढ चलेंगे ।

उन्होंने मंगलाचरणमें कहा है कि-"जो कल्याण वृक्षोंका बगीचा है, श्रुतिरूप गगाका हिमालय है, विश्वकमलके लिए सूर्यकी भांति है उस ज्ञातनन्दन महावीरको मैं नमस्कार करता हू ।"

बौद्धपिटकोंमें भगवान् महावीर का अपना उनके शिष्योंको और उनके सिद्धान्तोंका परिचय उनके वंशवाची **'नाथपुत्त'** या **'नाटपुत्त'** के शब्द-व्यवहारसे ही दियागया है। उनके श्रमण निर्ग्रन्थोंके लिए **'नाथपुत्तीय'** शब्द का उपयोग किया गया है। इस नामके अतिरिक्त भगवान् महावीरके जीवन सम्बन्धी परिचयके लिए अन्य किसी शब्दका प्रयोग किया हो यह देखने में नही आया, सिर्फ **'नाथपुत्त'** के साथ 'निग्गठ' शब्द का प्रयोग हुआ है। मगर वह शब्दतो उनकी साधु अवस्थाका सूचक है। और वह **'नाथपुत्त'** शब्दका विशेष्य न हो कर एक विशेषण है।

इससे प्राचीन कालमें 'वंशवाचक' नामसे परिचय देनेकी प्रथा स्पष्ट मानी जा सकती है। महात्मा बुद्ध भी उनके मूल नाम "सिद्धार्थ" की अपेक्षा उनके गोत्रसूचक नाम 'गौतम' के नाम से और वंशसूचक "शाक्यपुत्र" के नामसे अधिक प्रसिद्ध थे।

भगवान् महावीरका वंश 'ज्ञातृवंश' था और इस ज्ञातृवंशसे उनका 'वंशसूचक' नाम 'ज्ञातपुत्त' प्रसिद्ध हो गया जिसे हम ऊपर देख गए हैं। मगर इस वंशका आगामी चलकर कितना विकास और कितना विनाश हुआ इसका इतिहास प्रायः लुप्त है। इस लुप्तप्रायः इतिहास का शोध करना 'अत्यावश्यक' है। इस इतिहास को तलाश करने के लिए हमारे पास बौद्ध साहित्य एक अनन्य साधन है।

भगवान् 'महावीर' और 'महात्मा बुद्ध' ये दोनों एक समयके समकालीन धर्मक्रान्तिकारी महापुरुष होगए हैं। तदुपरान्त ये दोनों एक ही देशके निकटस्थ प्रान्तके निवासी राजवंशी पुरुष थे इन कारणोंको लेकर महात्मा बुद्धको एक प्रान्तसे दूसरे प्रान्तमें विहार करते हुए भगवान् महावीरकी जन्म भूमिमें आनेका और वहां भगवान् महावीरके वंश-सम्बन्धी लोगोंके साथ वार्तालाप करनेका प्रसंग प्राप्त होना यह एक स्वाभाविक बात है।

बुद्धपिटक' के 'महावग्ग' नामक सूत्रमें म. बुद्ध भगवान् महावीरकी जन्मभूमि कुण्डग्राममें और उसके पासमें ज्ञातृकों के ग्रामोंमें एवं वैशाली नगर आनेका और वहां 'निर्ग्रन्थ श्रावक' 'सिंह' सेनापतिके साथ बातचीत करनेका उल्लेख मिलता है। इस उल्लेखके आधार पर भगवान् महावीर का 'ज्ञातृवंश' और उनकी जन्मभूमिके विषयमें हमको बहुत कुछ परिचय मिलेगा। इसी कारणसे वे उल्लेख उतारने उचित प्रतीत हुए।

*अब भगवान् जहां कोटिग्राम था वहां गए, वहां भगवान् कोटिग्राम में विहार करते थे

---

* देखो विनयपिटक महावग्ग पृ. २४१–कोटिग्राम

अम्बापाली गणिकाने सुना कि भगवान् **कोटिग्राममें** आगए। अम्बापाली गणिका सुन्दर–सुन्दर (भद्र) यानोंको जुड़वा कर, सुन्दर यान पर चढ कर, सुन्दरयानों के साथ वैशालिसे निकली। और जहां वह **कोटिग्राम** था वहा चली

तब वह 'लिच्छवी' जहा **कोटिग्राम** था वहा गए।

"एक समय भगवान् बुद्ध नादिक (ज्ञातिका) के गिञ्जिकावसथमें विहार करते थे"

{ मज्झिमनिकाय पृष्ट १२७
चुल्ल-गोसिंग–सुत्तन्त
वैशाली }

कोटिग्राममें इच्छानुसार विहार कर जहा पर **वैशाली** का महावन है वहा गए, वहा भगवान् बुद्ध वैशाली महावन की **कूटागार** शाला में विहार करते थे।

उस समय बहुतसे प्रतिष्ठित 'लिच्छवि' सस्थागार–(प्रजातन्त्रसभागृह) में बैठे थे। वे सब मिलकर बुद्ध का गुण बखानते थे। धर्म का, सघ का, गुण बखानते थे, उस समय निग्गठों का श्रावक (जैनों का श्रावक) सिंह सेनापति उस सभामें बैठा था।. ... .
.. .. तब सिंह सेनापति जहा **'निग्गंठ नाथपुत्त'** थे वहा गया, जाकर **'निग्गंठ नाथपुत्त'** से बोला कि भते में .. ..

सिंह ! तुम्हारा घर दीर्घकाल से **निगठों** के लिए प्याऊ की तरह रहा है। ....
.. .. उस समय बहुतसे

निगंठ (जैन साधु) वैशाली में एक ....
. . . . चिरकालसे
यह आयुष्मान् (निगठ) बुद्ध ... .है।

'विनय पिटक' 'महावग्ग' तथा 'मज्झिम निकाय' में आए हुए इन उल्लेखोंसे हमें साफ २ मालूम हो जाता है कि 'महात्मा बुद्ध' 'महावीरस्वामी'

की जन्मभूमि 'कुण्डग्राम'–पाली भाषामें 'कोटिग्गम' में गए थे। और कुण्डग्रामके पासकी बसनेवाली वैशाली नगरीमेंसे वहाँ महात्मा–बुद्धको अम्बापाली नामक वेश्या और लिच्छवीक्षत्रिय मिलने आए थे। कोटिग्गम से म बुद्ध वहाँ 'नातिका' 'ज्ञातृक' रहते थे वहाँ गए थे। और वहाँ 'नातिका' ज्ञातृकोंके 'गिंजिकावसथ'–ईंटोंके घरमें ठहरे थे। इस स्थानके पास ही एक अम्बापालीवन नामक उद्यान भी रहा है जिसे अम्बापालीने बुद्ध और उनके संघको समर्पण कर दिया था। वहाँ से म बुद्ध वैशाली गए और वहाँ सिंह नामक सेनापति जो कि निर्ग्रन्थोंका श्रावक था उसे अपना अनुगामी बनाया सिंह सेनापति महात्मा बुद्धको मिलने जाने से पहले निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र महावीर प्रभुके पास अनुज्ञा लेने आया था। तब भगवान् महावीरने सिंह सेनापति को 'तू क्रियावादी हो कर अक्रियावादी श्रमण गौतमके पास उसे मिलने क्यों जाता है? यह कह कर न जानेकी सम्मति दी थी"। परन्तु वह अपनी इच्छानुसार श्रमण गौतमके पास गया और वह वहीं श्रमण गौतम बुद्धका अनुगामी होगया।

उपरोक्त उल्लेखसे हमारे विषयको पुष्ट करने वाली चार बातें जानने को विशेष तया मिलती हैं।

(१) बौद्धोंका 'कोटिग्गम'* ही जैनोंका कुंड ग्राम मालूम होता है, इन दोनों ग्रामोंमें शाब्दिक साम्यके अतिरिक्त उस ग्राम के पास 'ज्ञातृक'–ज्ञातृ वंशके क्षत्रियोंका निवास स्थान और वैशाली नगरीकी निकटता होनेके कारण ये दोनों वस्तुएं 'कुण्डग्राम' और वही 'कोटिग्गम' होनेकी मान्यता पुष्ट हो जाती है।

(२) कोटिग्रामके पास ज्ञातृकोंका निवासस्थान भगवान् महावीरका वंश 'ज्ञातृवंश' था यह और भी पुष्ट कर देता है, और साथ २ कुण्डग्रामके आस पास 'ज्ञातृक'–'ज्ञातृवंश' के क्षत्रियोंके वंश–'उद्यान' थे और वहाँ

* बौद्धग्रन्थोंमें कुंडग्रामका नाम कोटिग्गाम और म म को ज्ञाति पुत्रके स्थान पर नातिपुत्त लिखा है। देखो "भारतका प्राचीनराजवंश" पृष्ठ ४० के नीचेका टिप्पण।

'ज्ञातृवंशी' क्षत्रिय रहते थे। यह इस विचारको और भी दृढ कर देता है। यह "ज्ञातृक" का उल्लेख और ये 'ज्ञातृक' भ० महावीरकी जन्म जातिवाले 'ज्ञातृ' क्षत्रिय ही होंगे यह कल्पना की ओर निर्देश करता है।

(३) 'ज्ञातृ' जाति लिच्छविओंकी एक शाखा थी* इस बातकी पुष्टिके लिए भी 'वैशालीके लिच्छवी क्षत्रिय महात्मा बुद्धको मिलने आए थे' इस उल्लेखसे पता चल जाता है कि भगवान् महावीर की माता भी लिच्छवि वंशकी ही थीं और 'सिंह सेनापति' जोकि–भगवान् महावीर का श्रावक था वह भी लिच्छवि वंशका ही था। ये दोनों बातें ज्ञातृ जातिको लिच्छविओंकी शाखा का होना ही पुष्ट करती हैं।

(४) कुण्डग्रामके पास विदेहकी राजधानी वैशाली नगरी थी। इस नगरी का कुण्डग्राम एक शाखापुरके समान था। भ० महावीर प्रभुका "वैशालिक" नाम भी इस नगरके नाम से ही प्रसिद्ध था, विशाला नगरी में सिंह सेनापति नामका जो निग्रन्थ श्रावक लिच्छवी रहता था वह भगवान् महावीर की सलाहको न मानकर महात्मा बुद्धके पास गया था। इससे भी महात्मा बुद्ध वैशाली नगरमें आया था तब भगवान् महावीर प्रभु भी उसी नगरमें थे, यह स्पष्ट जान पडता है।

ऊपरके उल्लेख में जो '**ञातिका**' शब्द लिखा गया है, उस शब्दका मूल बहुतोंने '**नादिका**' भी निकाला है, और उसका अर्थ 'इस नामके जलाशयके तट पर बसा हुआ एक ग्राम' किया जाता है। मगर यह भ्रमपूर्ण है। इस प्रकार हर्मन जेकोबी‡ उसका मूल शब्द **ञातिका** ही बताता है। और वह शब्द 'ज्ञातृवंश' के क्षत्रियों का वाचक है यह कह कर समर्थन करता है।

---

* प्रसिद्ध जैन तीर्थंकर महावीरकी माता भी लिच्छवी वंश की ही थीं। देखो 'भारतका प्राचीन राजवंश पृ० ३७८ लेखक विश्वेश्वरनाथ राय।

‡ हर्मन जेकोबी की 'Sacred Books of The East' नामक ग्रन्थमालासे प्रकाशित 'आचारांग और कल्पसूत्र' नामक जैनसूत्रोंके अनुवादकी प्रस्तावना, पृष्ठ १०।

इस ज्ञातिका शब्द पर त्रिपिटकाचार्य श्रीयुत राहुलसांकृत्यायन ने इस पर विशेष प्रकाश डाला है। उसने अपनी पुरातत्त्व* नामक हिन्दी पुस्तकमें ज्ञातिका का मूल शब्द "ज्ञातिक"–ज्ञातृक बताया है। और 'ज्ञातृक' शब्द ज्ञातृवंशके क्षत्रियोंका सूचक है यह सप्रमाण बताया है। वे आगे चलकर यह भी बताते हैं कि ज्ञातृ जाति लिच्छवियोंकी शाखाथी। और वैशाली नगरीके आस पास ही रहने वालीथी। यह ज्ञातृ जाति आज भी वैशाली नगरी (जिला मुजफ्फरपुरके अन्तर्गत है, बसाढके पास) के आस पास जथरिया नामक जातिसे पहचाना जाता है, यह जथरिया शब्द भाषाकी दृष्टिसे भी 'ज्ञातृ' शब्दके साथ गहरा संबंध रखता है।

जथरिया शब्द 'ज्ञातृ' शब्दका अपभ्रंश शब्द प्रतीत होता है। 'ज्ञातृ' शब्दमेंसे जथरिया शब्दका अवतरण किस प्रकार होगया इसके विषयमें राहुलजीने भाषाकी दृष्टिसे निम्न प्रमाणसे विचार कियाहै। ज्ञातृ=जाति ज्ञातृ–ज्ञातर–जातर–जतरिया–जथरिया–जैथरियाके पोंवमें ज्ञातिक–ज्ञातृक–नतिक–नतिक–रतिक–रत्ती जिसके नामसे वर्तमान रत्ती परगना (जि० मुजफ्फरपुर) है। पुरातत्त्व ११ पृ०।

इस प्रकार 'जथरिया' शब्द 'ज्ञातृ'का अपभ्रंश है राहुलजी इस रत्ती परगनाका मूल नाम अपने उपरोक्त श्लोकमें आए हुए 'नातिका' शब्द से उत्पत्ति बताते हैं।

---

* उस समय बड़ी भारी निग्गंठोंकी परिषद (जैन साधुओंकी जमात) के साथ निगंठ नाटपुत्त (महावीर) नालन्दामें ही निवास करते थे।

---

(१) 'नाटपुत्त'–'ज्ञातृपुत्र' लिच्छवियोंकी एक शाखा थी। जो वैशाली के आस पास रहतीथी। ज्ञातृसे ही वर्तमान जथरिया शब्द बना है। महावीर और जथरिया दोनोंका गोत्र काश्यप है। आज भी जथरिया भूमिहार ब्राह्मण इस प्रदेशमें बहु संख्यामें हैं। उनका निवास रत्ती परगना भी ज्ञातृ–नती–नत्ती–रत्तीसे बना है।

१११ पृष्ठमें निगंठ पुत्तका भी उल्लेख किया है जो लि० सं० नि० ४।११८ से उद्धृत किया गया है।

इस प्रकार 'जथरिया' और उसका वर्तमान निवास '**रत्ती**' ये दोनों शब्द 'ज्ञातृ' शब्दके साथ घनिष्ट सबन्ध रखते हैं और इस सबन्धसे '**जथरिया**' 'ज्ञातृक'–ज्ञातृवशी ही हैं, और उनका प्राचीन निवास स्थान जोकि '**नादिका**' या '**नाटिका**' के नामसे पहचाना जाता था वही वर्तमान रत्ती परगना है यह राहुलजीका दृढ मन्तव्य हैं। इनके इस दृढ और पुष्ट मन्तव्यमें दूसरी यह भी युक्ति है कि–इन '**जथरियोंका**' मूल गोत्र **काश्यप** है। वही काश्यपगोत्र भगवान् महावीर और उनके ज्ञातृवशी क्षत्रियोंका भी था।

इन **जथरिया**–ज्ञातृवशी क्षत्रियोंके विषयमें सूचना करते हुए श्री राहुलजी बताते हैं कि ये '**जथरिया**' लोक वर्तमान समयमे अपनेको ब्राह्मण बताते हैं। ये दान नहीं लेते। पजाब प्रान्तमेंभी जमना नदीके किनारे बसने वाली एक जाती रहती है। वे भी दान नहीं लेते। उस देशमें उनको **तगा** कहते है। शायद यह त्यागीका अपभ्रष्ट होगया हो। हां तो इन 'जथरिया' जातिके लोकों को भूमिहार ब्राह्मण कहा जाता है। मगर और लोक इनको ब्राह्मण नहीं मानते। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि–वास्तवमे ये लोक क्षत्रिय ही हैं। इसका दूसरा कारण यह भी है कि–ये 'जथरिया' नाम सिंहान्त वाले हैं। जो क्षत्रियोंके नामके साथ आजकल पीछेसे लगाया जाताहै और इनके नामके पीछे ठाकुर शब्द भी जोडा जाता है। यह भी क्षत्रिय सूचक ही है। इस वशमें आजकल भी बहुतसे जमीनदार और राजा भी हैं। दर्भगा नरेश इसी जातिसे अलंकृत सुने जाते हैं।

बौद्धसाहित्यके उल्लेखोंसे तथा राहुलजीके कथनसे इतना अवश्य माना जा सकता है कि भगवान् महावीरका वश 'ज्ञातृवश' था। और वे ज्ञातृवंशीय क्षत्रिय कुण्डग्रामके पास रहते थे। और इन ज्ञातृवशीय क्षत्रियोंके ग्राममें महात्मा बुद्ध आए थे। वर्तमान समयमें ये ज्ञातृवशीय क्षत्रिय '**जथरिया**' के नामसे प्रसिद्ध हैं। और वे प्राय विहारप्रान्त के मुजफ्फरपुर जिलेके रत्ती नामक पर्गनेमें रहते हैं। और ये 'जथरिया' अपने नामके पीछे सिंह और ठाकुर शब्दका उपयोग भी करते है। और काश्यप गोत्र होनेसे ज्ञातृवशीय क्षत्रिय हो सकते हैं। मगर ये लोक आजकल अपनेको भूमिहार ब्राह्मण कहते हैं। वस्तुत इसके पीछे सत्य स्वरूप कहा तक छुपा हुआ है इसे शोध करके प्रकट करनेकी बडी ही आवश्यकता है, इस सत्य शोधसे भगवान् महावीर प्रभुके

प्रात-मंच और उनके जीवनके सम्यक्त्वम पाढ़ता अज्ञानान्धकार जो कि अपने आसपास फैल गया है वह अन्धकार दूर हो जायगा ॥

गुजराती अनुवाद—पोतानी जेमज अन्यनी पण रक्षा तथा अन्योने माटे जे परोपकार दृष्टिथी आपवामां आवे तेने 'दान' कहे छे अथवा वस्तुपरथी पोतानो अधिकार छोडी दईने बीजा कोईने अधिकार आपवो ते पण 'दान' कहेवाय छे परन्तु अहीं तो श्रद्धा अने प्रतीतिनी साथे भक्ति-भाव पूर्वक परिग्रह परनो ममत्व-भाव छोडीने कर्मोनी निर्जरा खातर अनुकम्पानी तथा मन-वाणी-कायनी शुद्धि सहित कल्पनी इच्छा वगर दाता जे प्रासुक अने पवित्र वस्तु आपे छे तेने 'दान' कहे छे।

ते दानना चार प्रकार—अभयदान-औषधदान-अन्नदान अने ज्ञान-दान ए दानोमां प्राणिओनो भय दूर करी तेने सर्वथा निर्भय करवा ते सर्वोत्तम दान मनाय छे। अने आ मान्यतामां एक प्रश्न छे तेथी 'प्राणी' कहेवाय छे जीवित रहेवानी इच्छा अथवा जीवित रहेवानो तेनो स्वभाव होवाथी तेनुं नाम 'जीव' पण छे अने ए दश प्राण द्रव्य प्राण छे अने ज्ञान-दर्शन-सुख-शक्ति रूप अनन्त-चतुष्टय भाव प्राण छे वास्तविक रीते जोवे आत्मामां आ प्राणोथी सदा आ जीव जीवित छे सर्व जीवो जीववानी इच्छा राखे छे मरवुं कोई इच्छतो नथी तेथी जीवित रहेवानी इच्छावालाने अभय दान आपवुं तेनुं सर्वप्रकारे रक्षण करवुं श्रेष्ठ छे। कोईने सोना किल्ली अभयदान पण आपवुं होय तो आ जीवनो मोह नहीं थाय परन्तु आत्माने अभयदान ए सहुथी पोताने जीववानुं चाहवुं राखवुं बीजा जीवोने पण जीववुं प्रिय छे ए मान सुखनी दीठुं। कोईए कह्युं पण छे के—

"जे रीते मने मारुं जीवन प्रिय छे तेमज अन्य जीवोने पण पोतानुं जीवन प्रिय छे स्वर्गमां रहेनार इन्द्र तेमज विष्टानो कीडो महेलमां वसनार भूपति तेमज झुंपडीमां रहेनार गरीब कंगाल ए दरेक जीववुं इच्छे छे तेम समजीने कोई पण प्राणीना मन माथा प्राणने पण विरोध कष्ट न देवुं जोईए"।

अहिंसा परम धर्म छे—अहिंसा-परम धर्म छे हिंसा सर्व प्रकारे निंदाय छे जे पोताने पण ज्यारे अप्रिय छे तो बीजाओने पण अवश्य अप्रिय छे कारण के पोतानी जेमज परनी सत्योपयामां भेद अन्तर नथी तेथी चतुर मनुष्योने सदा आ भावना रहे छे के कोई पण प्रकारे अपराध जीवोनुं अकल्याण

करुं। भलाई करुं, परोपकारमां हु पोते लाग्यो वळग्यो रहुं ने बीजाओने लगाडवानो प्रयत्न करुं। मारामां लेशमात्र पण दोष न रहेवा दऊं ने बीजाओने निर्दोष बनाववानो पण सतत प्रयत्न करुं। आत्माना अनन्त सुखथी सुखी बनी बीजाओने सुखना स्थान पर लई जाऊं।

जो कोई प्राणी आ भावोथी विपरीत चालीने, लोभना दास बनीने, जीमनी लालच जाळमा फसीने, द्रव्योपार्जननी इच्छाथी, लडाईमा विजय मेळववानी इच्छा थी, पोताना मनने व्हेकाववाना हेतुए, निरपराध दीन-प्राणिओनी 'हिंसा' करे छे त्यारे तेनाथी उपार्जन करेला पापथी दूषित थईने, ते स्वार्थीने नरकमा अवश्य जवु पडे छे, आ सिद्धान्त सर्व महापुरुषोंने मान्य छे, बधाए तेने उच्चकोटिए पहोंचाडवानो प्रचार कर्यो छे, महर्षि 'पतजलिए' तो तेने सर्वथी मोटु स्थान आप्यु छे, पाच यमोमा सौथी प्रथम 'यम' जीवरक्षा छे,

"क्रोध-लोभ-मोहने लीधे हिंसा करवी, करावबी, अने अनुमोदवी तेने वितर्क कहे छे, अने ते पापनु परिणाम तेमना मते अनन्त दु ख बताववामा आव्यु छे।"

कोई जग्याए तो अहिंसानी प्रशसा एटले सुधी करवामा आवी छे के प्राणिओनी साथे वैर भाव पण त्यागी देवो जोइए। त्यारेज साधक अहिंसा साधी शके छे।

श्रीमद् उमास्वामीए—तत्त्वार्थसूत्रमा कह्यु छे के "जे कोई जीव प्रमाद अर्थात् असावधानता युक्त थईने मनो योग—वचन योग अने काययोग द्वारा प्राणोनो 'अतिपात' वा 'व्यपरोपण' करे छे तेने हिंसा करवु कहे छे।

हिंसा करवी-मारवु-प्राणोनो अतिपात त्याग अथवा वियोग करवो, प्राणोनो वध करवो, जीवने कायथी अलग करवो, भवान्तर अथवा गत्यन्तरमा पहोंचाडी देवो, अगर प्राणोनु व्यपरोपण करवुं, ए बधा शब्दो एकार्थवाची छे।

जो कोई जीव प्रमादी अर्थात् मद विषय-कषाय-निद्रा अने विकथाने वश थईने एवु कार्य करे, पोताना वा परना प्राणोना व्यपरोपणमा प्रवृत्त बने, त्यारे ते हिंसक हिंसाना दोषनो भागी कहेवाय छे, प्रमादनो त्याग करीने प्रवृत्ति करवावाळाना शरीरादिकना निमित्तथी जो कोई जीवनो वध थई जाय तो ते दोषनो भागी कहेवातो नथी। एटले 'अप्रमत्त' अवस्थानुं बीजु नाम 'अहिंसा' छे।

तदुपरान्त योगशास्त्र मां ध्यानमहत्त्व मात्रमां अहिंसानी व्याख्या आ प्रमाणे करवामां आवी छे। के सर्वदा सर्वप्रकारना जीवोनी साथे कदी पण द्रोह न करवो ते अहिंसा छे।

याज्ञवल्क्य-स्मृतिमां कह्युं छे के मन वचन कायथी कोईने पण क्लेश न पहोंचाडवो ते ज अहिंसा छे।

अहिंसा-सत्य-आज्ञा विना पर वस्तु न लेवी ब्रह्मचर्यने पवित्र राखवो इन्द्रियोनुं दमन करवुं दया राखवी मनोविकारना प्रवाहने रोकवो संयमित जीवन जीववुं, ए बधाने धर्मसाधन बतावयामां आव्युं छे।

यजुर्वेद-मां पण उपदेश आपवामां आव्यो छे के-हे पुरुष! तुं कोई पण प्राणीनी हिंसा करीश नहि। "मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे' १८-२ पोतानी आंखोथी सर्वने मित्र दृष्टिए जोवा जोईए। शत्रु जेवी दृष्टि कोईना पर पण न करवी।

मनुनो पांचमो अध्याय-"जे मनुष्य पोताना सुखनी तो इच्छा करे छे परन्तु प्राण-भूत जीवोनी हिंसा करे छे ते जीव आ लोकमां अने मरीने परलोकमां क्यारे पण सुख मेळवी शकशे नहि।

दशाध्याय-"धैर्य धारण करवुं शान्ति राखवी आत्माने पापथी विरक्त बनाववो चोरी न करवी आन्तरिक पवित्रता राखवी इन्द्रियोने वश करवी सत्य बोलवुं, क्रोध न करवो अहिंसानुं पालन करवुं आरंभ अने परिग्रहने तुच्छ ए प्रकारे धर्मना दश लक्षण गणावेल छे।"

महाभारत-"आ हुं परम धर्म कहुं छुं के सत्यवादियोनो धर्म अहिंसा छे अने ते प्रधान छे अने हिंसा करवी ए अधर्म छे पाप छे।

अहिंसावचनामृत-अहिंसा परम धर्म छे अहिंसा उत्कृष्ट दमन छे अहिंसा उत्कृष्ट दान छे अहिंसा प्रधान तप छे अहिंसा परम यज्ञ छे अहिंसा परम फल छे अहिंसा परम मित्र छे अहिंसा उत्कृष्ट सुख छे अहिंसा एक उत्तम जीवन छे।

'सर्व प्रकारना यज्ञोमां अनेक प्रकारनुं दान करवुं, सर्व तीर्थमां अनेक स्तुतियो गावी सर्व दानोनुं फल अहिंसा करतां वधारे नथी एटलेके ते धर्म अहिंसानी साथे बराबरी करी शकतुं नथी।"

नियमसार–कुलस्थान, योनिस्थान, जीवसमासस्थान, मार्गणास्थान; इत्यादि भेदोने सारी रीते जाणीने जीवरक्षा करवाना भावने 'अहिंसा' कहे छे, जीवोनु मृत्यु थाय छे के नहि, ए प्रकारना विचारमा लागेला परिणाम वगर पाप–हिंसारूप क्रियानो त्याग थवो कठिन छे, तेथी ते रक्षाना प्रयत्नमा लागवु, ते 'अहिंसा' छे।

समन्तभद्राचार्यजीनुं कथन छे के–जगत्मा आ सर्व जाणे छे के 'अहिंसा परब्रह्म स्वरूप छे, अर्थात् आत्मानी पूर्ण वीतरागताज 'अहिंसा' छे। ज्या वीतरागता छे त्या आत्मानुं शुद्ध-स्वरूप छे, जे आश्रमना चरित्रमा अणुमात्र पण आरभ नथी, त्या आ 'अहिंसा' प्राप्त थाय छे। आशय ए छे के आदर्श पुरुषोनुं सुन्दर तेमज सच्चरित्र रूप आचरण 'अहिंसा' छे। तेथी अहिंसानी सिद्धिने माटेज परम दयालु प्रभुए आरम्भ परिग्रहनो त्याग कर्यो छे। प्रभु विकारशील वेश तेमज परिग्रहमा अनुरक्त नथी। कारणके ज्या परिग्रहनी आसक्ति नथी त्याज ऊचा प्रकारनी अहिंसा–धर्म छे 'जैन धर्मनी जय', ते माटे बोलवामां आवे छे के तेमां पूर्ण अहिंसानु पालन करवामा आवे छे, ते त्रस जीवोनी घात करवावाळा विचारोने जडमूलथी नाश करवानु कारण छे। तेमज पंचकायरूप एकेन्द्रिय जीवोनी घातथी पण तद्दन पर छे। अहिंसा त्रणे लोकना जीव समूहने सुख देनारी छे। तथा सुन्दर अने अक्षय सुखथी भरपूर समुद्र समान अगाध छे।

सर्वथा अहिंसानुं पालन करवु, ए मुनिओनो धर्म छे, कारणके हिंसानु परिणाम दुःख जनक छे, एम महापुरुषोए महान् अनुभवथी वताव्यु छे.।

"पगे लगडो छे, शरीरमाथी रक्त पित्त वहे छे, हाथ कपायेला छे, तेमज अन्य अनेक रोगथी भरपूर छे, तेने जोईने समजी लेवु जोइए के आवु दारुण दुःख अन्य प्राणिओनी हिंसा करवाथी तेने भोगववु पडे छे। आथी निरपराध जीवोनी सकल्पमात्रथी पण हिंसा न करवी। ए चतुर पुरुषोनु कर्तव्य छे।"

सुख दुःखमा, भला बुरामा, युक्त अयुक्तमा, पोताना जेवा अन्य आत्माओने समजीने क्यारे पण कोईनु 'हिंसारूप' अनिष्ट न करवु।

लोकोनुं मन्तव्य–लोकोनु आ मन्तव्य छे के–धर्मना संपूर्ण अगो नाभळीने, मनमा विवेक राखीने तेनो निर्णय पूर्वक आ सार छे के ज्यारे मने

मारवी प्रतिकूल थाय छे माटे सर्व जीवोने तेमने प्रतिकूल वर्तवाथी पाप लागे।

“बधाने पोतानो प्राण प्रिय छे राज्य नहि”–जीवना प्राण बचाववानी खातर दृढ मित्र बने राज्यने पण तृणनी समान छोडी दे छे तेथीज कोईना प्राणनो नाश करवाथी जे पाप थाय छे ते समस्त पृथ्वीनुं दान करवा छतां दूर थई शकतुं नथी।

मरनारने मेरु राज्य आपो के सुवर्णना पहाड अर्पण करो परन्तु जीव-तरनी पासे ते वस्तुओनो कंई हिसाब नथी। तेथी ते सर्वने छोडीने जीवता रहेवानी अपील करे छे।

“जरा कांटो पगमां वागे छे तो ते आखा शरीरमां भारे पीडा करे छे तो जे निरपराध जीवोने मोतने भारे पहोंचाडी दे छे ते मरनारना दुःखोनी वेदना अनिर्वचनीय छे।”

“असहाय निरपराध दुर्बळप्राणी बळवानना हाथे मराय छे ते क्यांनी नीति! हाय! आवी हाथे अमारे कहेवुं पडे छे के जगतमां अराजकता व्यापी गई छे आ न्यायने स्थान क्यांथी मळे जो कोई कोईने धमकावे छे ‘तुं मरी जा’ एम सांभळनार पण आ सांभळतां ज कंपी उठे छे शरीर मन-मीत थई दुःखी थई जाय छे; तो जे जीवने कठोरता पूर्वक रहेसी मारे छे त्यारे तेनी शी दशा थती हशे! तेना दुःखना अनुभव वगर तेनुं वर्णन कोण करी शके!”

“हायनुं कायदुं धारे छे पण जगतमां रहेनारां पण बंध करतां नथी पण शरीरमां सम्पूर्ण अंगोने नाश करवा छतां ‘हिंसकपुरुष’ कोई जाणतो नथी!”

त्यारे सामवायी हिंसा पण हानिकारक छे– जेनाथी शान्तिमां भले थोडी हिंसा पण जेमने मारेल मान छे। बचावो एम कही ने छे के– अमारा कुळमां आ रिवाज चाल्यो आवे छे। परन्तु ते कुळनुं गौरव नथी करी शकतो नथी। ते कुळमां मात्र मारेल मान छे शान्तिने माटे नहि। पोताना वंशमां परम्परागत चालती आवेली हिंसाने जे प्राणी छोडी दे छे अने दृढ अहिंसक बने छे ते ‘कालसूर कसाई’ ना पुत्र ‘सुलस’ नी पेठे सर्व मनुष्योमां पवित्र अने श्रेष्ठ बने छे।”

"जे इन्द्रियोने तो वशमा राखे छे, देव-गुरुनी सेवा पण करे छे, यथा शक्ति दान पण आपे छे, तत्व भणे भणावे छे, तप पण करे छे, पर्ण धर्म बुद्धिए जरा पण हिंसा करी बेसे छे त्यारे तो तेनी उपरोक्त सर्व क्रियाओ निष्फल छे, तेथी साबित थयु के धर्मना नामे करवामा आवेली हिंसा वज्रलेप समान भयंकर पापकारिणी छे।" "अने जे शास्त्रमा धर्मना नामे हिंसानो उपदेश करवामा आव्यो होय ते शास्त्र नथी पण शस्त्र समान छे।" "ए केवु आश्चर्य छे जे मनुष्य सुद्धाने मारवानो उपदेश देवावाळा, लोभान्ध बनी पथ भ्रष्ट बनवावाळा, हिंसा विधायकशास्त्र बनावीने तथा पाप करवानो उपदेश आपीने लोकोने मूर्ख बनावी रह्या छे, अन्धश्रद्धालु बनावीने मानो नरकना कुडमा नाखी रह्या छे।"

अहिंसानु माहात्म्य—"अहिंसा मातानी जेम सर्वनु पालन करनारी अने हितकारिणी छे। अहिंसाज शत्रुओना मनमा अमृतनो सचार करावनारी छे। अहिंसा दु ख रूपी दावानलने बुझाववामां अमोल अने प्रधान वर्षा छे। ससार भ्रमण अर्थात् जन्म मरणना रोगथी पीडित जीवोने आरोग्यता अर्पनारी समर्थ औपधि छे।"

अहिंसानुं फल—"दीर्घायुष्य-पवित्र अने सुन्दर रूप-नीरोगता-ससारमा निर्मल यश कीर्ति इत्यादि सामग्रीओ अहिंसा पालनथी ज मळे छे, अधिक शु कहेवुं, अहिंसा सर्व मनोरथ पूर्ण करवावाळी आदि शक्ति छे।"

कोईए ठीकज कह्यु छे के—"पर्वतोमा सुमेरु—अमृत पीनारामा देवता, मनुष्योमा चक्रवर्ती, ज्योतिष चक्रमां चन्द्र, वृक्षोमा ठंडी छाया आपनार फळदार अशोकवृक्ष, ग्रहोमां सूर्य, जळाशयोमा समुद्र, सुर असुर मनुष्य तथा चक्रवर्तिओमां वीतरागनी समान सर्व व्रतोमां पण अहिंसा व्रत सर्वोत्तम छे। ते व्रत अनुपम छे।"

निष्कर्ष—आ सर्व शास्त्रोनो विचार करता ए स्वयमेव सिद्ध थाय छे के हिंसा सर्व शास्त्रोमां वर्ज्य बतावी छे। जैनोए तो तेनु नाम 'प्राणातिपात' कह्यु छे। तेनो आशय ए छे के कोईना एक प्राणने पण निरर्थक दु ख न देवु जोइए। साधु मुनिराज तो तेनु सर्वांशे पालन करे छे। अने गृहस्थ तेनुं अमुक अंशे पालन करी शके छे।

"पोतानुं जीवन सर्व कोईने बधी वस्तुओ करतां अधिक प्रिय छे जेम कयुं छे के—"जो मरनारने एम कहेवामां आवे के हुं एक क्रोड सोनामहोर आपीने तारो जीव हरी लउं । त्यारे ते मनुष्य सघळाने छोडीने जीववानी आशा प्रगट करशे । मरनारने जीव वहालो छे तेथी मारे पण शा कामनुं ! सर्वने जीववुं वहालुं लागे छे । तेथी सर्व दानोमां अभयदान श्रेष्ठ छे ।

अभयदान पर उदाहरण—वसन्तपुरमां अरिदमन नामे राजा राज्य करतो हतो ते पोतानी चार राणीओ साथे आनंद भोगवतो । एक दिन ते राणीओए गायुं, बजाव्युं नाच कर्युं । राजा तेमनी चतुराई उपर प्रसन्न थई गयो अने बोल्यो के आजे तमे जे कंई मागशो ते हुं आपीश ।" राणीओए जवाब आप्योके अत्यारे तो अमने कोई पण वस्तुनी आवश्यकता नथी पण बीजा समय उपर मागी लईशुं अमने आपेल वरदान हमणां आप जमा राखो राजाए कयुं "बहु सारुं"

एक वार राणीओए एक चोरने जोयो के जेने लाल कपडां तथा जोडानो हार पहेरावीने वध्यभूमि तरफ लई जवामां आवतो हतो । राणीओनी साथे राजा पण महेल पर बेठेलो हतो । चोरने जोईने राणीओए राजाने पूछ्युं के प्राणनाथ ! आणे शो अपराध कर्यो छे ?" राजाए एक सिपाईने बोलावीने पूछ्युं । तेणे जवाबमां तेने कयुं के—पृथ्वीनाथ ! तेणे चोरी जेवुं राज्य तेमज धर्मविरुद्ध अधर्म कर्युं छे तेथी आपे तेने प्राणदंडनी शिक्षा फरमावी छे ।

ते सांभळीने तेमांथी एक राणीए कयुं के प्राणनाथ ! आप मने मारुं वरदान आपो के तेने एक दिवसने माटे जीवनदान आपवामां आवे के जेथी हुं तेना पर कांईक उपकार करी शकुं" राजाए कयुं "तथास्तु"

राणीए तेने महेलमां बोलावी कयुं के "तमे आजने माटे अमारा मोंघा छो माटे खा पी ने मोजमजा कर" एम कहीने स्नान करावी तेनुं आतिथ्य करवामां आव्युं । त्यार बाद तेने १ हजार आपीने विदाय करवामां आव्यो ।

ए रीते बीजी अने त्रीजी राणीए पण एक एक दिवसनुं जीवित दान दईने अनुक्रमे एक लाख अने एक क्रोड सोनामहोरोनुं दान आप्युं ।

पण चोथी राणीए तेने फक्त पाणी आप्युं उपर तेने प्राण दंडनी सजा राजानी पासे क्षमा करावी दीधी । त्यारे सांभळीने ते त्रणेए कह्युंके "एने तें शुं

आप्यु ?" चोथी राणीए कह्युं के "में तेने ए वस्तु आपी छे के जे तमे वधी मळीने स्वप्नमा पण न आपी शको" ते साभळीने ते वधी क्रोध करीने तेने गळे पडीने वोली के "अमे तेने क्रोडपति वनावी दीधो अने तु कहे छे के अमे एना पर तारा जेटलो उपकार पण नथी कर्यो!" चोथीए कह्यु के "धन थी पण अधिक प्रिय सौने पोताना प्राण होय छे।" में तेने प्राण दान अपावीने हमेशने माटे सुखी वनावी दीधो छे। हवे तेने मरवानो भय नथी रह्यो। जेथी में सौथी मोटु कार्य कर्यु छे। जो मारी आ वात पर तमने विश्वास न होय तो राजानी पासे आनो न्याय कराववो जोइए" एटली वात थया पछी राजाने महेलमा वोलाववामां आव्यो। राणीओनो मुकद्दमो साभळीने राजाए चोरने वोलाव्यो अने पूछ्यु "तु साचु कहे के कई राणीनो तु अधिक उपकार माने छे ?"

तेणे विनय पूर्वक शिर झुकावीने कह्यु के–एम तो वधीए मारा पर भारे उपकार कर्यो छे, कारण के तेणे मने अभयदान अपाव्यु छे। त्रणे राणीओए क्रोडोनु धन आप्यु अने एक एक दिवस मरतां वचाव्यो पण ए भय माथे रह्योज हतो के काले तो मरी जवानु छे, तो आ धनने शु करु ? पण चोथी राणीए मने सकटमाथी वचावी दीधो छे। जेथी हु जावजीव सुधी निर्भय वनी गयो, तेथी आ उपकारनो वदलो मारो देह अर्पीने पण नहि चुकावी शकु। "कारणके सर्व-दानोमा अभयदान श्रेष्ठ छे।"

एज प्रकारे सत्यवचनो निरवद्य-पापरहित-अन्यनी पीडा दूर करवावाळी भाषा सर्वोत्तम छे, कारण के काणा-नपुसक-रोगी-चोरादिने तेना नामे वोलाववाथी पण तेना मनने आघात पहोंचे छे।

मनुनो मत—"सत्य-प्रिय-तेमज मनने अनुकूळ वोलो, असत्य तेमज अप्रिय सत्य पण न वोलो। आ प्रसग मा असत् शब्दना जैनसिद्धान्तमा त्रण अर्थ छे। सद्भावनो प्रतिषेध, तेमज अर्थान्तर तथा गर्हा-निन्दा। वस्तुना स्वरूपना अपलापने सद्भावनो प्रतिषेध कहे छे। ते वे प्रकारे छे। सद्भूत पदार्थनो निषेध तेमज असद्भूत पदार्थनु निरूपण। जेमके "नास्ति आत्मा" अर्थात् आत्मा कोइ स्वतन्त्र पदार्थ नथी, अथवा "नास्ति परलोक" परलोक अर्थात् मरण पछी जीवने अन्य भव धारण करवो पडे, ए वास्तविक नथी, ए वगेरे भूत निन्हव छे। कारण के तेथी सद्भूत पदार्थनो अपलाप थाय छे। आत्मा तेमज परलोक-जीवनु भवान्तर धारण करवु वास्तविक रीते सिद्ध पदार्थ छे, युक्तियुक्त तेमज

"पोतानुं जीवन सर्व प्राणीने बधी वस्तुओ करतां अधिक प्रिय छे जेम कह्युं छे के– 'जो मरनारने एम कहेवामां आवे के हुं एक क्रोड सोनामहोर आपीने तारो जीव हरी लउं । त्यारे ते मनुष्य धनसमूहने छोडीने जीववानी आशा प्रगट करशे । मरणथी जीव बच्या पछी तेने माटे धन ना आपवुं ! सर्वने जीववुं वहालुं लागे छे । तेथी सर्व दानोमां अभयदान श्रेष्ठ छे ।

अभयदान पर उदाहरण–वसन्तपुरमां अरिदमन नामे राजा राज करतो हतो ते पोतानी चार राणीओ साथे आनंद भोगवतो । एक दिन ते राणीओए घणुं मजानुं नाचगान कर्युं । राजा तेमनी चतुराई जोई उपर प्रसन्न थई गयो अने बोल्यो के आजे तमे जे कंई मागशो ते हुं आपीश ।" राणीओए जवाब आप्यो के अमारे तो अमने कोई पण वस्तुनी आवश्यकता नथी पण बीजा समय उपर मागी लईशुं अमने आपेल वरदान हमणां आप जमा राखो राजाए कह्युं "बहु सारुं

एक वार राणीओए एक चोरने जोयो के तेने लाल कपडां तथा कणेरनो हार पहेरावीने वध्यभूमि तरफ लई जवामां आवतो हतो । राणीओनी साथे राजा पण महेल पर बेठो हतो । चोरने जोईने राणीओए राजाने पूछ्युं के प्राणनाथ ! आणे शो अपराध कर्यो छे ?" राजाए एक सिपाईने बोलावीने पूछ्युं । तेना जवाबमां तेणे कह्युं के–पृथ्वीनाथ ! तेणे चोरी जेवुं राज्य तेमज धर्मविरुद्ध आचरण कर्युं छे तेथी आपेज तेने प्राणदंडनी शिक्षा फरमावी छे ।

ते सांभळीने तेओमांथी एक राणीए कह्युं के प्राणवल्लभ ! आप मने मारुं वरदान आपो के तेने एक दिवसने माटे जीवनदान आपवामां आवे के जेथी हुं तेना पर कंईक उपकार करी शकुं" राजाए कह्युं 'तथास्तु"

राणीए तेने महेलमां बोलावी कह्युं के "तमे आजने माटे अमारा जीवो छे माटे खा पी ने मोज कर" एम कहीने तेना धननी तेवुं आपत करवामां आव्युं । हजार चत्ता तेने १ हजार आपीने विदाय करवामां आव्यो ।

ए रीते बीजी अने त्रीजी राणीए पण एक एक दिवसनुं जीवित दान दईने बहुमूल्ये एक लाख अने एक क्रोड सोनामहोरनुं दान आप्युं ।

पण चोथी राणीए तेने कंई पण आप्या वगर तेने प्राण दंडनी सजा राजानी पासे क्षमा करावी दीधी । त्यारे सांभळीने ते चोर बोल्यो के "एने हुं हुं

कोईए कह्यु छे के जेने मूढताने कारणे धर्म एवु नाम आपवामा आव्यु छे, वळी जेने म्लेच्छो पण निन्द्य समजे छे, ते असत्यनो मन-वचन-कायथी त्याग करवो एज योग्य छे, जो हितनी वाञ्छा होय तो असत्य न बोलता मौननो स्वीकार करवो जोइए। कारण के नीचेनी बाबतोमा सौ मौन राखे छे, जेवा के–

प्रतिक्रमण करती वखते, मलमूत्र त्यागती वखते, पाप कार्य छोडती वखते निरन्तर मौन सेववु, कारण के मौनना सेवनथी वाणीना दोषो लागता नथी।

मौनथी क्लेशनो नाश थाय छे, सन्तोष भाव आवे छे, वैराग्य आवे छे, ने सत्य अने सयमनी पुष्टि थाय छे, जीभनो स्वाद त्यजवाथी तपनी वृद्धि थाय छे, अभिमानथी बची जवाय छे, ने सत्य–समता आवे छे। वाणी मनोरमा बनी जाय छे, वचनो प्रशसा पात्र थई जाय छे, मौन सेवनार पूज्य बने छे, परन्तु देश कालनो विचार करीने मौननु सेवन करवु जोइए। जो क्याय बोलवाथी ससारने सद्बोध तेमज चरित्रनो लाभ थतो होय तो त्या मौन न रहेवु जोइए, वाणी हमेशा सत्य होवी जोइए।

गृहस्थने माटे त्याज्य असत्य–गृहस्थे कन्या-पशु-भूमि सम्बन्धी जुठु न बोलवु जोइए, खोटी साक्षी पण न देवी जोइए, तेमज कोईनी थापण ओळववी न जोइए, आ पाच बातोने ध्यानमा राखनार सत्याणुव्रती छे, जो सत्य बोलवाथी पोता-पर अथवा बीजा पर आपत्ति आवी पडे तेम होय तो त्या मौन राखवु योग्य छे।

अने साधु ज्यारे राग-द्वेष अगर मोहथी असत्य बोलवाना परिणामने छोडे छे, त्यारे बीजु सत्य व्रत कहेवाय छे। कारणके असत्य बोलवानो भाव सत्य भावथी विपरीत होय छे। अने आ असत्य भाव, राग-द्वेष के मोह भावथी जीवमा उत्पन्न थाय छे। यानी मनुष्य इष्ट पदार्थ अथवा विषयोनी प्राप्ति अथवा रक्षानी खातर राग द्वारा असत्य बोले छे, अनिष्ट पदार्थ अथवा विषयोने दूर करवाने माटे अथवा तेनो सयोग न थाय ते माटे द्वेषयुक्त असत्य बोले छे। अथवा मिथ्या बुद्धिथी ससारमा मोहने लीधे ते मिथ्याभावनी रक्षाने माटे असत्य बोले छे, जे कोई निकट भवी जीव आ प्रकारना असत्य बोलवाना परिणामने त्यागी दे छे, तेनामा सत्य व्रतनी योग्यता आवे छे। जे सत्य भावना रगथी रंगाइने प्रगट रीते सत्य व्यवहार करे छे, ते सज्जनोनो पण पूज्य बने छे, तेथी आ बात तद्दन साची छे के सत्य थी बधारे महान् बीजु कोई व्रत नथी।

अनुभवगम्य छे तेनो निषेध करवो ते सद्भूतनुं असत्य नामे मिथ्यावचन छे आत्माने श्यामाक तंदुल-सामकना चावलथी जेम मानवा प्रमाणमां बतावबो अथवा अंगुठाना वेरवा बराबर समजवो अथवा एम कहेवुं के ते रत्न समो छे। मिथ्या छे कारण एवं कथन असद्भूतोद्भावन नामे असत्यवचन छे कारणके आ आत्मा वचनो द्वारा आत्मानुं जे वास्तविक स्वरूप नथी तेनो स्वीकार करवामां आवे छे। अर्थान्तर-एकने सिध अर्थ एक पदार्थने अन्य रूपे बतावबो वास्तविक न कहेवो ते अर्थान्तर छे। जेम कोई गायने घोडो कहे, अने घोडाने गाय कहे, रमने ईश्वर कहे अने ईश्वरने पुद्गल कहे। ते-अर्थान्तर नामे असत्य कहेवाय छे।

गर्हा-एकने निन्दा करवी तेवी जेनाथी सिद्ध थवाने छे तेने बचावने गर्हित नामे असत्य वचन समजवां जोइए, जेमके 'आने मारी नाखो!" "मरी जा" अने कसाईने सोंपी दो" विगेरे हिंसामय वचन बोलवां तेमज मर्म भेदी-मनने दुःख थाय तेवा अपशब्द कहेवा पाखंडी कठोर वचन कहेवां शूद्र सन्तो वापरवा पैशुन्य-चोडीसी चुगली करवी वगेरे गर्हित वचन कहेवाय छे। जो ते गर्हित वाक्य यथार्थ सत्य पण होय छतां ते असत्य मनाय छे। कारण के ते निन्द्य छे। प्रमाद सहित बोलेला वचनो पण असत्य मनाय छे प्रमाद युक्त कहेलां वचन असत्य होय छे अने प्रमाद रहित कहेवामां आवेल असत्य वचन पण सत्य होइ शके छे जेवी रीते कोई रोगीभाइने पथ्यमां दवा राखीने आपतां कहे छे के आ पताशुं छे।

सद् शब्दना बे अर्थ थाय छे विद्यमान तेमज प्रशंस-तेथीज असत् शब्दना अविद्यमान अने अप्रशस्त ए बे अर्थ लेवा जोइए। सद्भूत-निन्हव-असद्भूतोद्भावन तथा अर्थान्तर ते अविद्यमान अर्थ प्रमाणे होवाथी असत्य छे। गर्हित वचन अप्रशस्त होवाथी असत्य छे तेमज प्रमादनो संबन्ध पण बन्नेमां रहे छे

ते सिवाय प्रमाद असत्यनुं निमित्त थाय छे। प्रमादथी बधा जातनां असत्यनो प्रयोग अवश्य करवामां आवे छे। तेथी क्रोध-मान-माया-लोभ-राग-द्वेष-मोहादिथी बीजे असत्य बोलवानो त्याग करवो तेवी शुद्ध अनुभव कहे छे।

सत्यनीमा-कठोर शब्द वापरतां-चुगली करतां-आत्मप्रशंसा करतां-असत्य शब्द बोलवानुं अनिवार्य थई जाय छे। ज्यारे मौन अनुभव सौभाग्य छे त्यारे ए वैराग्यशीलोने आत्मस्थिरता प्राप्त थाय छे।

कोईए कह्यु छे के जेने मूढताने कारणे धर्म एवु नाम आपवामां आव्यु छे, वळी जेने म्लेच्छो पण निन्ध समजे छे, ते असत्यनो मन-वचन-कायथी त्याग करवो एज योग्य छे, जो हितनी वाञ्छा होय तो असत्य न बोलता मौननो स्वीकार करवो जोइए। कारण के नीचेनी वावतोमा सौ मौन राखे छे, जेवा के-

प्रतिक्रमण करती वखते, मलमूत्र त्यागती वखते, पाप कार्य छोडती वखते निरन्तर मौन सेववु, कारण के मौनना सेवनथी वाणीना दोपो लागता नथी।

मौनथी क्लेशनो नाश थाय छे, सन्तोप भाव आवे छे, वैराग्य आवे छे, ने सत्य अने सयमनी पुष्टि थाय छे, जीभनो स्वाद त्यजवाथी तपनी वृद्धि थाय छे, अभिमानथी वची जवाय छे, ने सत्य-समता आवे छे। वाणी मनोरमा वनी जाय छे, वचनो प्रशसा पात्र थई जाय छे, मौन सेवनार पूज्य वने छे, परन्तु देश कालनो विचार करीने मौननु सेवन करवु जोइए। जो क्याय वोलवाथी ससारने सद्बोध तेमज चरित्रनो लाभ थतो होय तो त्या मौन न रहेवु जोइए, वाणी हमेशा सत्य होवी जोइए।

गृहस्थने माटे त्याज्य असत्य-गृहस्थे कन्या-पशु-भूमि सम्बन्धी जुठु न वोलवु जोइए, खोटी साक्षी पण न देवी जोइए, तेमज कोईनी थापण ओळववी न जोइए, आ पाच वातोने ध्यानमा राखनार सत्याणुव्रती छे, जो सत्य वोलवाथी पोता-पर अथवा वीजा पर आपत्ति आवी पडे तेम होय तो त्या मौन राखवु योग्य छे।

अने साधु ज्यारे राग-द्वेप अगर मोहथी असत्य वोलवाना परिणामने छोडे छे, त्यारे वीजु सत्य व्रत कहेवाय छे। कारणके असत्य वोलवानो भाव सत्य भावथी विपरीत होय छे। अने आ असत्य भाव, राग-द्वेप के मोह भावथी जीवमां उत्पन्न थाय छे। यानी मनुष्य इष्ट पदार्थ अथवा विपयोनी प्राप्ति अथवा रक्षानी खातर राग द्वारा असत्य वोले छे, अनिष्ट पदार्थ अथवा विपयोने दूर करवाने माटे अथवा तेनो सयोग न थाय ते माटे द्वेपयुक्त असत्य वोले छे। अथवा मिथ्या बुद्धिथी ससारमा मोहने लीधे ते मिथ्याभावनी रक्षाने माटे असत्य वोले छे, जे कोई निकट भवी जीव आ प्रकारना असत्य वोल्वाना परिणामने त्यागी दे छे, तेनामा सत्य व्रतनी योग्यता आवे छे। जे सत्य भावना रगथी रंगाइने प्रगट रीते सत्य व्यवहार करे छे, ते सज्जनोनो पण पूज्य वने छे, तेथी आ वात तद्दन साची छे के सत्य थी वधारे महान् वीजु कोई व्रत नथी।

— असत्य बोलवानुं निकृष्ट परिणाम—जुठुं बोलनार मरीने मूंगो थवे छे अथवा तेने मूक गतिमांथे जीव जन्तु थवे छे ते स्पष्ट बोली शकतो नथी। कोईने तेनी सम्मति पण प्रिय लागती नथी। मुख रोगथी पीडाय छे आ बधुं जुठुं बोलवानुं दुष्ट परिणाम जाणीने कन्यादि सम्बन्धी असत्य कदी पण न बोलवुं जोइए। असत्य बोलनार मूर्ख-विकलांग-काणो हीन थाय छे। तेनी वातो सांभळतां लोकोमे तिरस्कार थाय छे। अने तेना मुखमांथी दुर्गन्ध नीकळे छे। जे लोक विरुद्ध छे जेथी विश्वासघात थाय छे। जे पुण्यनुं प्रतिपक्षी छे तेवुं वचन क्यारेय पण न बोलवुं जोइए। जे जूठ बोले छे तेनाथी दुष्कृत्य थाय छे, ते पोताने उतारे छे अधोगति (नरक) मां जाय छे तेथी जूठ सदा वर्जनीय छे। जूठ मजाकथी पण न बोलवुं जोइए, कारण के हितधर्मरूपी कल्पवृक्ष असत्यरूपी आंधी थी पडी जाय छे। भूत-भविष्यत्-वर्तमाननी वातोनुं पूर्णपणे ज्ञान न होय तो 'ते काम हशे' एम न कहेवुं, जे वातमां शंका होय ते न कहेवी जो अने जाणवी वातोमां तद्दन निःशंक पणुं होय तो कहेवी। असत्य बोलवाथी वेर विरोध वधे छे पोल खुली जवाथी पकडायो जाय छे कोई तेना पर विश्वास करतुं नथी बदनामी थाय छे दुष्परिणाम सेवनथी पेढे अनेक दुःखो सहन करवानां थाय छे। जूठ बोलनार नरक-निगोद-अने पशु योनिमां जन्म मरण करे छे। कोई असत्य बोलनार पण नरक निगोदमां जाय छे। इसलिए सत्य अने वरिष्ठनुं मूळ स्थान बताव्युं छे सत्यवादीओथी धारण रखती पृथ्वी पवित्र थाय छे। जे हमेशां सत्य बोले छे तेने भूत-प्रेत-सर्प-सिंह-चोर पण कंई करी शकता नथी। माथुं मुंडावीने जटा राखीने नग्नावस्था धारण करीने साधु वेष पहेरीने अथवा तपश्चर्या करीने जे असत्य बोले छे तेने बहुत करतां पण वधु निन्द्य समजवो। एक तरफ असत्यनुं पाप अने बीजी तरफ बधा संसारनां सर्व पापो एकत्रमां मावे तो असत्यनुं पाप वधी जाय। व्यवहार तेमज व्यभिचारी लोको पासे पण प्रभावित होय छे पण असत्यवादीने माने नथी। सत्यना पक्षे देवो पण ऊभा रहे छे राज्य पण तेना पर पोतानी सत्ता नथी जमावी शकतो तेने अग्नि उपद्रव करी शकतो नथी आम सत्यनो महिमा अपार छे। समस्त योगिओए सत्यनी खूब प्रशंसा करी छे, जेमांथी प्रश्नव्याकरणसूत्रमां केटलाक वचनो आ नीचे आप्या छे। "जे संयमी मुनि धीरज पूर्वक संयमनी रक्षा करे छे ए मुनिओनाथी दुष्टो धारण करे छे ते वचनरूपी जंगलमां सत्यरूपी वृक्ष रोपे छे।"

"यम-नियमादि व्रतोनो समूह एक मात्र अहिंसानी रक्षाने माटेज कह्यो छे, अहिंसा व्रत जो असत्यथी दूषित होय तो ते उच्चपद कदी पण प्राप्त न करी शके, असत्य वचन साथे अहिंसानु पालन अशक्य छे।" "जे वचन जीवोनु हित करनारु होय ते असत्य छता सत्य छे। अने जे वचन पाप सहित हिंसा रूप कार्यनी पुष्टि करे छे, ते सत्य छता असत्य छे निन्द्य छे।" "जे साधक अनेक जन्मोना दु खोनी शान्ति अर्थे तप करे छे, ते निरन्तर सत्यज बोले छे, कारणके असत्य बोलनारने साधकपणु सभवतु नथी।" "जे वचन सत्य होय छे, करुणाथी भरपूर होय छे, अविरुद्ध होय छे, आकुलता रहित होय छे, असभ्य न होय, इन्द्रिय विकारोने पुष्ट करनार न होय, गौरव वधारनार होय, कोईने हलका पाडनारु न होय, तेज वचन शास्त्रमा प्रशसनीय गण्यु छे।" "निरन्तर मौननु सेवन कल्याणकारी थाय छे, जो बोलवानी जरूर पडे तो सत्य-प्रिय-तेमज हितकर बोलवु जोइए।" "पण दुष्ट चरित्रीना मुखमा वाणी क्रूर असत्य वाणी रूपी नागण रहे छे, के जे आखा जगतने दु खी करे छे।" "जे वात सदेह युक्त होय, पापरूप होय, दोष सहित होय, ईर्षाने वधारनारी होय, ते बीजा ना पूछवा छता पण न कहेवी।" "मर्मभेदी, मनने पीडा उपजावनार, स्थिरता नाशक, विरोध करावनार, तेमज दया रहित वचनो प्राण जाता पण न बोलवा।" "ज्या धर्मनो नाश थई रह्यो होय, चारित्रने नुकसान पहोंचतु होय, देशनी स्वतन्त्रता नाश पामती होय, समीचीन सिद्धान्तनो लोप थतो होय, त्या देश-धर्म-तेमज जातिनी उन्नति खातर वगर पूछ्ये पण विद्वानोए बोलवु जोइए, ते समये मौन धारण करवु योग्य न कहेवाय।" "जे वाणीना श्रवणथी जीवो मोह मुग्ध वनी जाय, सन्मार्ग भूली जाय, साम्प्रदायिकता अने पक्ष-पात आवी जाय, वाडाबदीमा फसावनारी ते वाणी नथी, पण सापणी छे, कारण के तेना श्रवण मात्रथीज प्राणी उत्तम मार्गने छोडी कुमार्गे जाय छे।" "मनोहर वाणी जेटलु सुख आपे छे तेटलु सुख चदन-चन्द्रमा-चन्द्रमणी-मोती-मालती वगेरे शीतल पदार्थो आपी शकता नथी।" "अग्निथी दग्ध वन क्यारेक पण लीलु वनी शके छे, पण वाणीरूपी आगथी पीडित मनुष्य कदी पण प्रफुल्ल वनी शकतो नथी।" "जे सत्य-वक्ता छे, तत्त्वना स्वरूपने समजे छे, सदाचारी छे, तेना चरण स्पर्शथी पृथ्वी पवित्र वने छे, ते लोकोज उत्तम छे, अने जे असत्य वचन बोले छे, ते नीच अने शूद्र छे।" "जे नीच पुरुष मनुष्य-

जन्म प्राप्त करीने पण असत्य बोले छे ते संसार रूपी सागरनो पार केवी रीते पामी शके ?" "जेमां वाक्-चक्षु-हाथ कपाएलां होय कान ऐमनुं नाक पण न होय वळी तेमज रोगी होय कुल-जाति अने कर्म थी हीन होय तो ठीक थयुं ! तेनुं तो भूषण सत्य छे सत्यथी पवित्र तेमज सुखी थई शके छे तेनी शोभा सत्यथी छे !" "जे पुरुष असत्य-कालिमाथी मलिन छे तेनो साथ पाप-रूपी-कादवना भयथी कोई पण धर्मिष्ठ पुरुष स्वप्नमां पण करतो नथी !" "सूर्यनी संगतिथी चांदो पण प्रकाशित थाय छे जेम मेरु सुवर्णनी संगतिथी स्वच्छ अने निर्मळ गंगाजळने पण एवुं प्रकार सहवुं पडे !" "पुत्र-कलत्र-धन-जीवन तेमज मित्रो नित्य अने न चाल्यां जाय तेमज प्राणनाश थाय छतां असत्य न बोलवुं जोइए । इत्यादि वचनामृतोनुंपान करी जे कोई पण जीव तेमज श्रेष्ठ सत्य बोले छे ते जगत् प्रधान पुरुष छे !"

तपमां श्रेष्ठ तप कयो ? सत्यथी पेठे सर्व प्रकारना इन्द्रिय निरोध तपमां नव विधि ब्रह्म-गुप्तिए गुप्त एवो ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ छे । सुन्दर स्त्रीओना मनोहर अंगोने जोईने तेनी साथे रमण करवानी जे इच्छा चित्तमां उत्पन्न थवाथी तेने माटे तेवी अथवा वैद्य नामे नो-कषायना तीव्र उदय थी मैथुन सेववानी जे इच्छा उत्पन्न थाय छे तेनो त्याग करवो ए ब्रह्मचर्य व्रत छे । तेने स्पष्ट करवा माटे सत्पुरुषो कहे छे के हे कामी-पुरुष ! अशुच्य-मल-मूत्र-पिण्ड एम भिन्न स्वरूपने जोईने अति सुन्दर स्त्रीजनोना शरीर अनित्य रूपने मननमां ला मार्ग मन करे छे अथवा तेना मोहमां शा माटे फसाय छे ।

अब्रह्मचर्यना दोष—स्त्री संयोगथी उन्माद थाय छे चित्त थई ने क्षय ज्वर उत्पन्न थईने शरीरनुं नाश करे छे हिस्टीरिया मुख्यत्वे ते छे, शरीर निःसत्व थई जाय छे । पुरुषना अंगमां पसारी पडे छे तेथी भगन्दर अने ज्वरमां बरा पण अन्तर नथी । आ दोषो जाणीने जो सर्वथा स्त्रीनुं त्याग पालन न बने तो गृहस्थे पोतानी विवाहित पत्निमां सन्तोष राखवो जोइये आ प्रतिज्ञा थी पण अनेक प्रकारथी इच्छानुं मर्दन थाय छे, वस्तु पण छे के— पत्निमां सन्तुष्ट रहेनार, अन्य स्त्री मात्रथी क्यारेय पण इच्छा न करनारमां पण सुदर्शन शेठनी पेठे अद्भुत प्रभाव उत्पन्न थाय छे तो पछी सर्वथा ब्रह्मचर्य पालनार ब्रह्मचारीना प्रभावथी तो कहवुं ज शुं ! एटले तेनी प्रधान अवस्थाने अने अकथनीय ! पर पुरुष मळे रूपमां ऐश्वर्यमां वचनमां अने तेजमां मायक

वधेलो होय, पण तेने झेरनुं पुतळु समजीने स्त्रीए जेम सीताजीए रावणने त्यागी दीधो हतो, तेम तेने त्यागी देवो जोइए, जे स्त्रीए मैथुन विकारने जीती लीधा होय ते देवोने पण पूज्य छे अने इच्छनीय छे।

मैथुन एटले शुं? मैथुन एटले जोडु, प्रकृतिमा स्त्री-पुरुषनु जोडु समजवु, बनेनो परस्परनो सयोग, अथवा सभोगने माटे जे भाव विशेष थाय छे, अथवा बने मळीने जे सभोग क्रिया करे छे, तेने मैथुन कहे छे अने तेनेज अब्रह्म कहे छे, तेमा पण प्रमत्तयोगनो सबध छे। कारणके तेने लीधे जे कई क्रिया करवामा आवे, पछी भले ते परस्पर बे पुरुष अथवा बे स्त्रीओ मळीने करती होय, अथवा अनङ्ग क्रीडा आदि कां न होय, ते सर्व अब्रह्म छे। जे प्रमत्त दशाने छोडीने क्रिया करे छे, तेने मैथुन कहेवातु नथी, जेमके पिता-भाई विगेरे पुत्री-अथवा व्हेन आदिने गोदमा लईने प्यार करे छे, ते अब्रह्म कहेवातु नथी, कारण के तेमा प्रमत्त-योग नथी। आ प्रमत्तयोगनी ओछा वत्ता अशे पण निवृत्ति करवामा आवे तो ते ब्रह्मचर्याणुव्रत कहेवाय छे। जेमके कह्यु छे के–"माता-व्हेन-पुत्री समान परस्त्रीने जाणे, ने पोतानी विवाहिता स्त्रीमा सन्तोष माने, ते चोथु अणुव्रत कहेवाय छे।" "उत्तम पुरुष परस्त्रीने व्याधि समान समजी ने दूरथीज त्यजी दे छे, कारणके परस्त्री तो सदैव दुःखोनु घर छे, अने सुखोने नाश करनार प्रलय काळनी आग समान छे।" "जे स्त्री पोताना पतिने छोडीने परपुरुष साथे रमण करेछे, तेने प्रथम पक्तिनी निर्लज्ज समजवी जोइए, ज्यारे आ प्रकारना आचरण थी पोतानी स्त्री पर पण विश्वास न रहे तो परस्त्रीनो विश्वास केम राखी शकाय?" "परस्त्रीनु सेवन करनार पुरुषने नरक निगोद मा रखडवानु रहे छे, तेमा कशु सुख तो नथी ज, तेथी मनुष्योए ब्रह्मचर्य व्रतनु पालन करवु जोईए।" "आ व्रतनु पाळन करनार योगीओ परब्रह्म परमात्मानु ज्ञान पामे तेमज स्व-स्वरूपने अमेद रूपे जाणी शके छे, तेनो अनुभव करी शके छे। तेने धीरवीर पुरुषोज धारण करी शके छे। अल्पसत्ववाळा-शीळरहित-इन्द्रियोना दास-दुर्बळ पुरुषो तो स्वप्नमा पण आनु समाचरण करी शकता नथी, कारणके ब्रह्मचर्य पण महाव्रत छे।" "त्रणे जगतमां ब्रह्मचर्य व्रत प्रशसनीय छे, जे तेनु निर्मल भाव पूर्वक पालन करे छे, ते पूज्यना पण पूज्य छे।

जे ब्रह्मचर्य पालनमा अनुरक्त छे ते दश प्रकारना मैथुननो सर्वथा त्याग करे छे।

(१) कामने शरीर शणगारवुं, (२) पुष्ट पदार्थोनुं सेवन करवुं, (३) गाणुं गावुं, जोवुं, सांभळवुं (४) स्त्री संसर्ग करवो (५) स्त्री संबंधी संकल्प विकल्प करवा (६) स्त्रीना अंग उपांग जोवा (७) तेने जोवाना विचारो करवा (८) पूर्वकृत भोगोनुं स्मरण करवुं, (९) भविष्यमां भोगोनी चिन्तवना करवी (१०) वीर्य स्खलन करवुं,

आ दश भेद मैथुनना छे ब्रह्मचारीने माटे ते सर्वथा त्याज्य छे।

"जेवी रीते किंपाक फळ देखवा-सुंघवा मां रमणीय छे पण परिणामे हालाहल झेर समान छे तेवीज रीत मैथुन पण थोडा वखत माटे रमणीय-सुंदर अने सुखदायक मालुम पडे छे परन्तु परिणामे अनन्त भवभ्रमण भोगवे छे।" "जे पुरुष कामभोगोथी विरक्त बनीने सदा ब्रह्मचर्य पाळे छे तेने मानवहित माटे दश प्रकारना मैथुननो त्याग करवो जोइए, केम के आ दोषोना त्याग कर्या वगर मानवहित-निर्मळता थती नथी आत्मा कामना वेगने रोकी शके छे, वळी पण छे के–

"सर्प करडेल माणसने सात वेग होय छे परन्तु काम रुपी सर्पथी डसायेल जीवने दश महा भयानक वेग होय छे ते नीचे मुजब छे।

(१) कामना उद्दीपनथी चिंता उत्पन्न थाय छे के काम भोगनी क्यारे प्राप्ति थशे (२) जोवाथी इच्छा उत्पन्न थाय छे अने निःश्वास मूके छे (३) अफसोस करे छे के तेने कोई पण न पमाय। (४) ज्वर आवे छे तापमान वधे छे (५) शरीर बळवा लागे छे दाह उपजे छे (६) भोजन उपर रुचि नथी रहेती (७) महा मूर्च्छा उत्पन्न थाय छे घर पण याद रहेतुं नथी (८) उन्मत्त बनी जाय छे जेम तेम बकवाद करे छे। (९) प्राण जवानी शंका रहे छे। (१०) मृत्यु पण थई जाय छे।

काम वासनाथी घेरायेलो जीव यथार्थ तत्त्व वस्तु स्वरूप समजी शकतो नथी ज्यारे लोक व्यवहारनुं ज्ञान पण नाश पामे छे त्यारे परमार्थनुं ज्ञान तो क्याथी थाय? वधी कष्टोमां तेनुं मन अस्थिर बनी जाय छे।

"जेने काम रुपी कंटक वागे छे ते बेसवामां सुवामां चालवामां फरवामां भोजन करवामां अस्थिर बनी जाय छे।" "काम वासनाथी पुरुष चतुर होवा छतां मूर्ख बनी जाय छे क्षमाशील छतां क्रोधी बने छे शूरवीर कायर बने छे महान् हलको बने छे तपसी व्याकुळ बने छे अने जितेन्द्रिय भ्रष्ट बने छे।

"तेथी मूर्खता कर्याविगर मनुष्यजन्म सार्थक बनाववाने मनुष्ये ब्रह्मचर्यनु पालन करवु जोइए।

कदाचारनुं परिणाम–"बेलने नपुसक बनाववानी क्रिया, लपटोने थती सजा वगेरे जोइने बुद्धिमाने कुशीलनो त्याग करीने स्वदारसन्तोषव्रत अगीकार करीने परस्त्रीनो त्याग करवो जोइए, मैथुन सेवन किंपाक फळनी पेठे आरम्भमा सारु लागे छे, पण परिणामे दारुण कष्ट आपे छे।" "मैथुन सेवनथी शरीर कम्प, परसेवो, थाक, शिथिलता, चक्कर आववा, तिरस्कार थवो, बलनो क्षय, ज्वरादि रोगो थाय छे।" "योनिमा असख्य जीव राशीनी उत्पत्ति थाय छे, अने मैथुन सेवन वखते तेनो नाश थाय छे।

वात्स्यायननो मत छे के रक्तमा सूक्ष्म जीवो पेदा थइ जाय छे, ने सयोग वखते ते मरी जाय छे।

मैथुन सेवनथी काम ज्वरनी शान्ति नथी थती–

अग्निमा घी होमवाथी जेम ते शान्त थतो नथी, तेमज स्त्री सम्बन्धी वैषयिक सयोगथी काम ज्वर शान्त थतो नथी, पण वधे छे। स्त्रीए पण पर पुरुषने नाग समान समजीने तेओनो त्याग करवो जोइए। कारणके ऐश्वर्यमा भले इन्द्र समान होय, सौन्दर्यमा कामदेवनो अवतार होय तो पण जेम सीताए रावणनो त्याग कर्यो तेम सन्नारीओए पर-पुरुषनो त्याग करवो जोइए।

ब्रह्मचर्यनुं फळ–ब्रह्मचर्य सच्चरित्रनु मूळ छे, परब्रह्म प्राप्तिनु निमित्त छे, जे ब्रह्मचर्यनु पालन करे छे ते पूज्यना पण पूज्य छे। दीर्घ आयुष्य, सुन्दर शरीर, शरीर रचनामा दृढता, शरीर पर विलक्षण तेज, महान् शक्ति, यश कीर्ति, ससारमा मान, प्रतिष्ठा, ए सघळु ब्रह्मचर्यथी प्राप्त थाय छे।

आ रीते सर्वलोकनी उत्तम–रूपसम्पदा वगेरे मेळवीने तेमज क्षायक ज्ञान-दर्शन-शीलसमन्वित पुरुषोमा ज्ञातवशीय अन्तिम जिनवरेंद्र श्रमण-भगवान्-महावीर प्रधानतम हता।

काश्यप-गोत्रीय-श्रमण भगवान् महावीर प्रभुना वर्धमान, विदेहदिन्न, ज्ञात-पुत्र, काश्यप, वैशालिक, महावीर, सन्मति, वीर, श्रमण भगवान् इत्यादि अनेक नाम हता, ते बधा नामो तेनी अमुक अवस्थाना सूचक छे। कारण के भगवान् महावीर स्वामीनु जीवन सासारिक तेमज साधक अवस्थामा जुदु जुदु हतु। वर्धमान, विदेहदिन्न (महावीर प्रभुनी मातानुं नाम 'विदेहदिन्ना' पण हतु,

त्रिशला माता विदेह कुलमां जन्म्या हतां तेथी तेमनुं नाम विदेहदिन्ना पड्युं हतुं, माताना आ नामथी महावीर प्रभुनुं मातृपक्षनुं नाम पण 'विदेहदिन्न' एवुं पड्युं हतुं) ज्ञातपुत्र काश्यप अने वैशालिक ए नामो तेमनी सांसारिक अवस्थाना सूचक छे महावीर, सन्मति अने श्रमण भगवान् आ चार नामो तेमनी साधक अवस्थामां पोताना आत्म-वीर्यादि गुणोथी प्राप्त थयां हता वर्धमान पितृपक्षनुं नाम अने विदेहदिन्न मातृपक्षनुं नाम हतुं। 'ज्ञातपुत्र' ए वंश परथी नाम पड्युं। 'काश्यप'–गोत्रथी नाम पड्युं हतुं। 'वैशालिक' जन्मस्थानना सम्बन्धनुं सूचक छे। 'महावीर' आत्म-वीर्यसूचक 'सन्मति' आत्मज्ञान सूचक अने 'श्रमण-भगवान्' श्रमण संस्कृतिना वास्तविक प्रणेता अर्थसूचक छे।

ज्ञातपुत्र–

उपरोक्त सर्व नामोमांथी भगवान्-महावीरना 'ज्ञातृपुत्र' अथवा 'ज्ञातपुत्र' नामना सम्बन्धमां आपणे विचार करवानो छे आ ज्ञातपुत्र नाम तेमना वंशनुं सूचक छे। ए वात जैनागम तेमज बौद्धागममां अनेक जग्याए कहेली छे।

श्रीआचारांग तेमज कल्पसूत्र आदिक ग्रन्थोमां तेमना जीवनचरित्र अनुसार भगवान् महावीरनो जन्म 'क्षत्रिय कुंड' गाममां ज्ञातवंशीय अने 'काश्यपगोत्रीय' सिद्धार्थ राजाने त्यां त्रिशला क्षत्रियाणीथी थयो हतो।

आ ज्ञातृवंश ते समये प्रसिद्ध इक्ष्वाकु-उग्र आदि क्षत्रियोना कुलनी पेठे प्रसिद्ध वंश पण हशे।

आ ज्ञातृवंशना क्षत्रियो ज्यां 'ज्ञातृक' नामथी ओळखाता अने तेमना आ 'ज्ञातृ' कुलने लीधे तेमना नगरोनी बाहर बनावेला बगीचा—उद्यानोनुं नाम पण ज्ञातृखंड' पडेलुं हतुं भगवान् महावीरे कुमारपणमां ज्यां 'ज्ञातृखंड' नामक वनमां दीक्षा अंगीकार करी हती कल्पसूत्रनो पाठ आ वातनी पण पुष्टि करे छे।

जिनागममां 'ज्ञातपुत्र' ने बदले 'नायपुत्त' अथवा 'णायपुत्त' तेमज बौद्धागममां "नातपुत्त" अथवा "ज्ञातपुत्र" शब्द प्रयोग करवामां आव्यो छे। ते भगवान् महावीरना ज्ञातृवंशीय अर्थ सूचक नाम छे। ते बन्नेमां आपणने उपरोक्त जणाव्युं छे: "नायपुत्त" अथवा "णायपुत्त" ए बन्ने नामो संस्कृत भाषाना 'ज्ञातपुत्र' शब्दना प्राकृत रूप छे। अने "नातपुत्त" अथवा "नाटपुत्त" ए बन्ने नामो पाली रूप छे। प्राकृत मां 'ज्ञ' नो 'ण' अने पाली भाषामां 'ज्ञ' नो 'न' अने 'त' नो 'ट' पण सामान्यरीते थाय छे। पिटक ग्रन्थोमां ज्ञातपुत्रनो

"नाथपुत्त" शब्द प्रयोग जोवामा आवे छे, आ रीते भाषा अने भावनी दृष्टिए जोता पण आ वधा अलग अलग नामो मूळ 'ज्ञातृपुत्र' शब्दमा मळी जाय छे। आ वधा नामो "ज्ञातृपुत्र" शब्दथी वनेला छे ते नि शक छे। प्राचीन काळमां वशना नामथी परिचय आपवानी प्रथा होवाने लीधे भगवान् महावीरनो जीवन विषयक परिचय श्रीजिनागमोमां तेमज वौद्धागमोमां 'नातपुत्त' अथवा 'नाथपुत्त' शब्दथी आपवामा आव्यो छे। तेमज भगवान् महावीरना शिष्योनो पण परिचय "नातपुत्तीय" अथवा "नायपुत्तीय" ए शब्दथी विशेष करीने आपवामा आव्यो छे.

श्रीजिनागमना १२ अगोमां छठ्ठु अग "णायधम्मकहाओ" छे। तेमा आवेल "णाय" शब्द पण भगवान् महावीरना वशवाचक 'नायपुत्त' नी साथे गाढ सवन्ध राखे छे। प्राकृतमा 'न' नो 'ण' थाय छे। आ अगनो गुजराती अनुवाद "भगवान् महावीरनी धर्मकथाओ" एम करवामा आव्यो छे। आ अगनो परिचय श्रीसमवायागसूत्रमा आपेल छे। तेमा वताव्यु छे के "आ अगमा ज्ञाता-ओना नगर-उद्यान-माता पिता वगेरेनो परिचय आपवामा आवशे।" टीकाकारे ज्ञाताओनो उदाहरणभूत अर्थ कर्यो छे। परन्तु ज्ञाता एटले 'ज्ञातृवशीय' क्षत्रिय ए अर्थ पूर्वापर विचारता निश्चित थाय छे।

भगवान् महावीरनो परिचय श्रीजिनागमोमा 'नायपुत्त'=ज्ञातपुत्र सिवायना घणा नामोथी आपवामां आव्यो छे, **तो पण त्यां 'नायपुत्त' शब्दनी विशेष प्रधानता छे**। घणा प्राचीन सूत्रोमा भगवान् महावीर प्रभुना गुणग्राम 'नायपुत्त' शब्दथी करवामा आव्या छे जेमके —

"जे भगवान् "ज्ञातृपुत्रना" वचनो पर पूर्ण विश्वास राखे छे, ते कोई वस्तुनु सग्रह करता नथी" १८

"प्राणीमात्रनी रक्षा करवावाळा "ज्ञातपुत्र" महावीर प्रभुए वस्त्र पात्रने परिग्रह नथी कह्यो, पण मूर्च्छा या ममत्वभावने ज परिग्रह कह्यो छे, एम महर्षि-ओए कह्यु छे।" २१ [दशवैकालिक-अ० ६]

"ज्ञातपुत्र" महावीर प्रभुए कह्यु छे के-मर्यादामा रहेनार साधु आ दोषने सारी रीते जोई ने जरा पण कपट पूर्वक जुठ न वोले "

"आ दोषने जोइने निग्रन्थ रात्रि भोजननो त्याग करे, कारणके "ज्ञात-पुत्रे" आना प्रत्यक्ष दोष बताव्या छे।" (दशवैकालिक० अ० ६)

अनुत्तर ज्ञानी अने अनुत्तर दर्शन युक्त अर्हन् प्रभु 'ज्ञातपुत्र' महावीर प्रभु विशाला नगरीमा आ रीते व्याख्यान करता हता।

आ प्रमाणे उपरान्त आ अध्ययनमां २ १४-२१-२२ २४ मी गाथाओमां प्रभुनी स्तुति 'ज्ञातपुत्र' शब्दथी करवामां आवी छे । आ रीते श्वेताम्बर प्रमाणभूत ग्रन्थोमां 'णायपुत्त' अथवा 'नायपुत्त' शब्दनो प्रयोग भगवान् महावीर प्रभुना नाम तरीके अनेक स्थळे करवामां आव्यो छे अने ए बाबतने खोळ करवानी अहीं जरा पण जरूर नथी हेमाचार्ये परिशिष्टपर्वमां जे 'ज्ञातनन्दन' भगवान् महावीरप्रभुने वंदन करेल छे तदुपम उल्लेख करीशुं, तेमणे मंगलाचरणमां कह्युं छे के:—

'जे कल्याण वृक्षना बाग छे कुमतिरूप गंधना हिमाचल छे शिवलक्ष्मीने सुसरूप छे ते भगवान् "ज्ञातनन्दन" महावीरने हुं नमस्कार करूं छुं।'

बौद्ध पिटकोमां भगवान् महावीरनो तथा शिष्योनो तेमज तेमना शिष्य तरीके परिचय तेमना वंशवाची 'नातपुत्त' अथवा 'नाटपुत्त' शब्दथी आपवामां आव्यो छे तेमज श्रमण निर्ग्रन्थो माटे 'नातपुत्तीय' शब्दनो उपयोग करवामां आव्यो छे आ नाम सिवाय भगवान् महावीर प्रभुनो जीवन परिचय आपवा बीजा कोई शब्दनो प्रयोग करेलो जोवामां आवतो नथी मात्र 'नातपुत्त' नी साथे 'निगण्ठ' शब्दनो प्रयोग करेलो होय छे पण ते शब्दथी तेमनी त्यागी अवस्थाने सूचक छे । ते 'नातपुत्त' शब्दज विशेषण छे ।

आवी प्राचीन कालमां वंशवाचक नामथी परिचय आपवानी प्रथा होवानुं स्पष्ट जणाय छे महात्मा-बुद्ध पण तेमनुं मूळ नाम सिवाय करतां तेमना गोत्र सूचक नाम 'गौतम' अने वंश सूचक नाम 'शाक्यपुत्र'-थी अधिक प्रसिद्ध छे ।

भगवान् महावीर प्रभुनो 'ज्ञातृवंश' हतो अने ए 'ज्ञातृवंश' थी तेमनुं वंशसूचक नाम 'नायपुत्त' प्रसिद्ध छे जे आपणे उपर जोई गया । परन्तु आपणा वखतमां तेनो केटलो विस्तार तेमज विनाश थयो तेनो इतिहास जाणवामां आवतो नथी । ए इतिहासनी शोध अत्यन्त आवश्यक छे । ते इतिहास नी शोध माटे आपणी पासे बौद्ध साहित्य एक अनन्य साधन रूप छे ।

भगवान् महावीर तेमज महात्मा-बुद्ध ए बंने समकालीन-धर्मसंस्थापक थई गया अने तेओ बंने एकज देशना अमुक अमुक भागोमां प्रान्तमां रहेनार राजवंशी पुरुष हता आ वातने विचारतां महात्मा बुद्धने एक प्रान्तथी बीजा प्रान्तमां विहार करतां भगवान् महावीरना वंश सम्बन्धी लोकोनी साथे वार्तालाप करवानो प्रसंग प्राप्त थयो होय ए तद्दन स्वाभाविक छे ।

बुद्धपिटकना 'महावग्ग' नामे सूत्रमा महात्मा-बुद्ध, भगवान् महावीरनी जन्मभूमि "कुड ग्राम" मा तेमज तेनी नजीक 'ज्ञातृओ' ना गामोमा अने वैशाली नगरीमा जवानो तेमज त्या 'निग्रन्थ' श्रावक सिंह सेनापतिनी साथे वातचीत करवानो उल्लेख आवे छे, ते उल्लेख ना आधारे भगवान् महावीर प्रभुना 'ज्ञातृवश' अने तेमनी जन्मभूमि सम्बन्धी आपणने घणु जाणवानु मळे छे, ते कारणथी ते उल्लेख आ नीचे उतारवामा आव्यो छे।

ज्यां कोटिग्राम [देखो विनयपिटक महावग्ग पानु २४१ कोटिग्राम] हतु त्यां भगवान् गया, कोटिग्राममा भगवान् बुद्ध विहार करता हता, अम्बापाली गणिकाए साभल्यु के भगवान् अहीं आवी गया छे, तेथी तेणे सुन्दर रथ जोडाव्यो, ने तेमा बेसीने सुन्दर रथोनी साथे वैशालीथी नीकळीने 'कोटिग्राम' तरफ चाली।

त्यारे ते लिच्छवी ज्या कोटिग्राम हतु त्या गया।

कोटिग्राममा इच्छानुसार विहार करी ज्या वैशालीनु महावन हतु त्या गया, त्या भगवान् बुद्ध वैशाली महावननी 'कूटागार शाला' मा विहार करता हता।

ते वखते घणा प्रतिष्ठित लिच्छवि 'सस्थागार' [प्रजातन्त्र–सभागृह] मा बेठा हता, तेओ बधा बुद्धनी प्रशसा करता हता, धर्म अने सघना गुणोनु वर्णन करता हता, ते वखते निग्रन्थोना श्रावक (जैन-श्रावक) सिंह सेनापति ते सभामा बेठा हता . . ..।
त्यारे सिंह सेनापति ज्या निग्रन्थ (निग्गठ-नाथ पुत्त) ज्ञातपुत्र हता त्या गया, जइने 'निग्गंठनायपुत्त' ने कह्यु के हे पूज्य ! हू...... ... .
.. . । सिंह ! तारु घर लाबा समयथी निग्रन्थो माटे विसामारूप छे,.......
.... ते समये घणा 'निग्गथ' [जैन साधु] वैशालीमा एक . . लावा कालथी आ आयुष्मान् (निग्गठ) बुद्ध. . .. . छे।"

"एक समये भगवान् बुद्ध नादिकाना 'गिंजकावसथ' मां विहार करता हता [मज्झिमनिकाय पानु १२७]

'विनयपिटक' 'महावग्ग' तथा मज्झिमनिकायमां आवेला आ उल्लेखोथी आपणने साफ साफ माळुम पडे छे के महात्मा बुद्ध–महावीर स्वामीनी जन्मभूमि, कुडग्राम (पाली भाषामा कोटिग्राम) गया हता, अने कुडग्रामनी पासेनी वैशाली

नगरीमां थी एवं महात्मा–बुद्धने कोटिग्रामथी नाम वैशाली अने लिच्छवि क्षत्रिय मळवा आव्या हता कोटिग्रामथी महात्मा बुद्ध ज्यां 'नातिक' ज्ञातृक लोक रहेता हता त्यां गया हता अने त्यां 'नातिक' (ज्ञातृक) लोकोना ईंटोना घरमां रह्या हता। ते स्थानकनी पासेज 'अम्बपालीनुं' वन नामे उद्यान हतुं जे अम्बपालीए बुद्ध अने तेमना संघने समर्पण करेलुं हतुं। त्यांथी महात्मा बुद्ध वैशाली गया अने त्यां सिंह नामे सेनापति के जे निग्रन्थोनो श्रावक हतो अने पोताना अनुयायी सहित आव्यो। सिंह सेनापति महात्मा बुद्धने मळवा जतां पहेलां 'निग्रन्थ' ज्ञातपुत्र महावीर प्रभुनी पासे अनुज्ञा लेवा आव्यो हतो। त्यारे भगवान् महावीरे सिंह सेनापतिने 'तुं क्रियावादी होय छतां अक्रियावादी श्रमण गौतमने मळवा माटे जाय छे?" एम कहीने न जवानुं कह्युं हतुं। पण ते पोतानी इच्छानुसार श्रमण गौतमनी पासे गयो अने त्यां ते श्रमण गौतम बुद्धनो अनुयायी बन्यो।

उपरना लेखोथी आपणा विषयने पुष्ट करनारी चार पांच विशेष प्रकारे जाणवानी मळे छे।

(१) बौद्धोनुं 'कोटिग्गाम' [जैन ग्रन्थोमां 'कुंडग्राम' छे एम 'कोटिग्राम' अने भगवान् महावीरना 'ज्ञातिपुत्र' ने बदले 'नातिपुत्त' लखेल छे। जुओ 'भारतना प्राचीन राजवंश" पानुं ४ लेखक विश्वेश्वरनाथ रेउ) जैनोनुं 'कुंडग्राम' बनाय छे आ बन्ने नामोमां साम्यिक सरखापणुं छे। ते उपरांत ते बन्नेनी नजीक ज्ञातृक–ज्ञातृवंशना क्षत्रियोनुं निवासस्थान अने वैशाली नगरीनुं नजीकपणुं होवाथी जैनो 'कुंडग्राम' अने 'कोटिग्गाम' बन्ने एकज होवानुं निश्चित थाय छे।

(२) कोटिग्गामनी पासे ज्ञातृकोनुं निवासस्थान भगवान् महावीरनो वंश ज्ञातृवंश हतो ते वातनी वधु पुष्टि करे छे। तेमज कुंडग्रामनी आसपास ज्ञातृक–ज्ञातृवंशना क्षत्रियोना वसवाटवाळां स्थान हता। अने त्यां ज्ञातृवंशी क्षत्रियो रहेता हता ते आ बाबतने वधु दृढ करे छे। आ 'ज्ञातृक' नो शब्द ए विचारनो विशेष करे छे के आ ज्ञातृक भगवान् महावीरनी जन्म–ज्ञातिवाळा ज्ञातृवंशिय हशे।

(३) 'ज्ञातृ' जाति 'लिच्छवि' लोकोनी एक शाखा हती [प्रसिद्ध जैन तीर्थकर महावीरनी माता पण 'लिच्छवि' वंशनी हती जुओ भारतना प्राचीन राजवंश' पानुं १७८] आ वातनी पुष्टि वैशालीना लिच्छवि क्षत्रिय महात्मा बुद्धने मळवा आव्या हता' ते उल्लेखथी मळे छे। भगवान् महावीरनी माता पण लिच्छवि वंशनी हती अने सिंह सेनापति के जे भगवान् महावीरनो श्रावक

हतो, ते पण लिच्छवि वंशनोज हतो, आ बन्ने वातो ज्ञातृजाति लिच्छविओनी एक शाखा हती, एम सावित करे छे ।

(४) कुंडग्रामनी पासे विदेहनी राजधानी वैशाली नगरी हती, कुंडग्राम आ नगरीना एक परा जेवी हती । भगवान् महावीरनु 'वैशालिक' नाम पण आ नगरीना नामथी पड्यु हतुं, विशाला नगरीमा सिंह सेनापति नामे जे निग्रन्थ श्रावक लिच्छवि रहतो हतो, ते भगवान् महावीरनी सलाह न मानीने महात्मा बुद्धनी पासे गयो हतो, आथी स्पष्ट जणाय छे के महात्मा बुद्ध अने भगवान् महावीर बन्ने एकी वखते वैशालीमा हता ।

ऊपरना उल्लेखमां जे 'ञातिका' शब्द लखेलो छे, ते शब्दनु मूल घणां-ओए 'नादिका' कहेलु छे, अने तेनो अर्थ 'ते नामना जलाशयपर वसेलु एक गाम एवो करे छे, पण तेमां तथ्य नथी, हर्मन जेकोबी [जुओ हर्मन जेकोबी कृत Sacred Books The East नामे ग्रन्थमाळामा प्रकाशित 'आचाराग अने कल्पसूत्र' नामे जैन सूत्रोना अनुवादनी प्रस्तावना, पानुं १०] मूल शब्द 'ञातिका' ज छे, अने ते ज्ञातृवंशना क्षत्रियोनो वाचक छे तेम समर्थन करे छे ।

आ 'ञातिका' शब्द पर त्रिपिटकाचार्य श्रीयुत राहुल सांकृत्यायनें विशेष प्रकाश पाड्यो छे, तेमणे पोताना 'बुद्धचर्या'* नामे हिन्दी पुस्तकमा 'नादिका'-नो मूल शब्द 'नाटिका=ज्ञातृका' बतावेल छे, अने 'ज्ञातृका' शब्द ज्ञातृवंशना

* ते वखते घणी मोटी निर्ग्रन्थ परिषद् (जैन साधुओनी सभा) साथे निग्रन्थ 'नाटपुत्त' (महावीर) नालदामां निवास करता हता ।

१ नाटपुत्त=ज्ञातृपुत्र, ज्ञातृ लिच्छविओनी एक शाखा हती, के जे वैशालीनी आसपास रहेती हती, ज्ञातृमाथीज वर्तमान 'जथरिया' शब्द बन्यो छे, महावीर तेमज जथरिया ए बन्नेनु गोत्र काश्यप छे, आजे पण जथरिय, भूमिहार ब्राह्मण आ प्रदेशमा मोटी सख्यामा छे, तेमनु निवास रत्ती परगना, पण ज्ञातृ-नत्ती-लत्ती रत्ती थी ज बनेलु छे ।

१११ में पाने निग्रन्थ सूत्रनो पण उल्लेख कर्यो छे के जे स० नि ४०-१-१८ थी उद्धृत करवामां आव्यो

क्षत्रियोनो सूचक छे, एम सप्रमाण बताव्युं छे आपणे ऊपर कही तेओ एम पण बतावे छे के 'ज्ञातृजाति' लिच्छविओनी शाखा हती। अने वैशालीनी आसु बाजुमां रहेती हती आ ज्ञातृजाति आजे पण वैशाली नगरी [जिल्ला मुजफ्फर पुरनी अंदर बसाढनी पासे छे] नी आसपास जथरिया नामे जाति वसे छे आ जथरिया शब्द भाषा दृष्टिए पण ज्ञातृसम्बन्धी साथे खास संबन्ध बतावे छे।

जथरिया शब्द 'ज्ञातृ' शब्दनो अपभ्रंश जणाय छे ज्ञातृमांथी 'जथरिया' शब्द केवी रीते बनवा पाम्यो ते संबंधमां भाषा दृष्टिए पण राहुलजीए नीचे मुजब विचार कर्यो छे।

ज्ञातृ=जाति ज्ञातृ=जातर-जातर-जतरिया-जथरिया वैशालीना गामनी 'ज्ञातिक'=ज्ञातृक=जतिक=जतिकअ-रतिकअ-रत्ती ए नामथी वर्तमान रत्ती पर गणा [जि. मुजफ्फरपुर] छे। पुरातत्त्व पानुं ११८ ॥

आ रीते 'जथरिया' शब्द 'ज्ञातृ' नो अपभ्रंश छे। राहुलजी आ रत्ती परगणानुं मूळ नाम पोताना उपरोक्त लेखमां आपेल 'ज्ञातिक' शब्दथी उत्पन्न थयेलुं बतावे छे।

आ प्रकारे 'जथरिया' अने तेमनुं स्थान रत्ती ए बंने शब्द ज्ञातृ शब्दनी साथे खास संबंध बतावे छे अने आ संबंधथी जथरिया ज्ञातृक=ज्ञातृवंशीय छे अने तेमनुं प्राचीन निवासस्थान छे जे ज्ञातिक अथवा नातिक नामथी ओळखाय छे ते वर्तमान रत्ती परगणुं छे एवो राहुलजीनो दृढ अभिप्राय छे। वळी तेमना आ अभिप्रायमां पोषीजाय ए पण छे के आ 'जथरियानुं' मूळ गोत्र काश्यप छे ते काश्यप गोत्र भगवान् महावीर अने तेमना ज्ञातृवंशी क्षत्रियोनुं पण हतुं।

आ जथरिया=ज्ञातृ वंशी क्षत्रियोना संबंधमां श्रीराहुलजी बतावे छे के आ 'जथरिया' लोको वर्तमानमां पोताने ब्राह्मण कहेवडावे छे, तेओ दान लेता नथी [पंजाबमां जमना किनारे वसनारी एक जाति रहे छे ते पण दान नथी लेती ते देशमां तेमने 'तगा' कहे छे संभव छे के ते शब्द त्यागीनो अपभ्रंश होय पण तेओना लोकोने गोत्र ब्राह्मणोथी मळी आवे छे] अहीं तो जथरिया जातिना लोकोने भूमिहार ब्राह्मण कहेवामां आवे छे। परन्तु बीजा लोको तेमने ब्राह्मण मानता नथी। तेथी स्पष्ट मालूम पडे छे के वास्तवमां तेओ क्षत्रियो

छे । आनु बीजुं कारण ए पण छे के आ 'जथरिया' नाम 'सिंहान्त' वाळा छे, के जे क्षत्रियोना नामनी साथे आज काल पाछळ लगाडवामा आवे छे, वळी तेमना नामने छेडे ठाकोर शब्द पण जोडवामा आवे छे, ए पण क्षत्रिय सूचक ज छे, आ वशमा हालमा पण घणा जमीनदार तथा राजाओ छे, दरभंगा नरेश आ जातिना छे, कोई दरभगा ना प्रथम राजा रघुनन्दनने आ वंशमाजे समाविष्ट करे छे अने वर्तमान दर्भगा नरेशने श्रोत्रीय ब्राह्मण माने छे ।

बौद्ध साहित्यना उल्लेखथी तेमज राहुलजीना कथनथी आटलुं अवश्य मानवु जोइए के भगवान् महावीरनो वंश ज्ञातृवश हतो, अने ते ज्ञातृवशीय क्षत्रिय 'कुडग्राम' नी नजीक रहेता हता, वळी आ ज्ञातृवशीय क्षत्रियोना गाममा महात्मा बुद्ध आव्या हता, वर्तमानमा आ ज्ञातृवशीय क्षत्रिय जथरियाना नामथी प्रसिद्ध छे, अने ते घणे भागे विहार प्रान्तना मुजफ्फरपुर जिल्लाना रत्ती नामे परगणामा रहे छे । वळी ते जथरिया पोताना नामने छेडे सिंह तेमज ठाकोर शब्दनो उपयोग पण करे छे । अने काश्यप गोत्र होवाने लीधे ज्ञातृवशीय क्षत्रिय होवाने सभव छे, पण आजकल ए लोको पोताने भूमिहार ब्राह्मण कहे छे । आमा केटले अशे तथ्य छे, तेनी शोध करवानी अत्यन्त आवश्यकता छे, आ सत्यशोधथी भगवान् महावीर प्रभुना ज्ञातृवश तेमज तेमना जीवन सम्बन्धमा अज्ञानान्धाकार जे आपणी आजु बाजु फेलाई गयो छे, ते दूर थई जशे ।

मूल

ठिईण सेट्ठा लवसत्तमा वा,
सभा सुहम्माव सभाण सेट्ठा ।
निव्वाण सेट्ठा जह सव्वधम्मा,
ण णायपुत्ता परमत्थि नाणी ॥ २४ ॥

संस्कृतच्छाया

स्थितीनां (स्थितिमतां) श्रेष्ठा लवसत्तमा वा,
सभा सुधर्म्मा वा सभानां श्रेष्ठा ।
निर्व्वाणश्रेष्ठा यथा सार्व्वधर्म्मा,
न ज्ञातृपुत्रात्परमस्ति ज्ञानी ॥ २४ ॥

सं० टीका—स्थितिमतां सुखोपभोक्तृणां वा जीवानां चोर्ध्वानां देवानामिति, तन्मध्ये यथा लवसप्तमा पञ्चानुत्तरव्यवस्थितदुत्तमा देवा सर्वोत्कृष्टस्थितिवर्तिनः प्रधाना, यदि वा तेषां सप्तलवायुष्कमभविष्यत्तदा सिद्धिगमनमभविष्यदिति चापि । अतस्तेऽभिधीयन्ते कथ्यन्ते लवसप्तमा श्रेष्ठतमा । सभानां परिषदां मध्ये यथा सौधर्मा "स्यात्सु धर्मा देवसभेत्यमर" परिषच्छ्रेष्ठा "सुधर्मा तु सभा मता इत्यभिधानप्रदीपिका।" बहुभिः क्रीडास्थाने सम्यग्जनगोष्ठीभिरुपेतत्वात्तथा । यथा सर्वेऽपि धर्मा निर्वाणफलं दर्शयन्ति वा सर्वेभ्यो हित सार्वम् हर्द्दर्शनं-सर्वेषां जीवानां हितकर्त्री उत माहितकारकोऽत्र सोऽर्हत्प्रणीत धर्मो निर्वाणप्रधाने श्रेष्ठ इति भाव । यत एव ज्ञातपुत्रात्सकाशा-च्छ्रीमहावीरात्सकाशात् परं प्रधानमन्यत्र विज्ञानं नास्त्येव सर्वथा भगवानपरज्ञानिभ्योऽधिको ज्ञानीति भाव ॥ २४ ॥

अन्वयार्थ—[जह] जैसे [ठिईण] आयुवालोंमें [लवसत्तमा] पाँच अनुत्तर विमानोंमें निवास करनेवाले देव [सेट्ठा] श्रेष्ठ होते हैं [सभाण] सब सभाओंमें [सुहम्मा] सौधर्म-स्वर्गकी [सभा] सभा [सेट्ठा] श्रेष्ठ है, [सब्व धम्मा] संसारके सब धर्मोंमें [निव्वाणसेट्ठा] मोक्ष धर्म प्रधान है किन्तु [णायपुत्ता] ज्ञात-पुत्र-महावीरसे [परमं] बढ़कर [नाणी] ज्ञानी कोई भी [न] नहीं [अत्थि] है ॥ २४ ॥

भावार्थ—जैसे स्थितिमें सर्वार्थ-सिद्धिके देव प्रधान हैं, क्योंकि सुख पूर्वक रहते हुए इतना बड़ा आयु पाँचवें अनुत्तर विमानके देवोंके अतिरिक्त अन्य किसीकी नहीं है, उनके बराबर सुख भी किसी दूसरेको नहीं है, तथा जिस प्रकार सौधर्म-स्वर्गकी सभा अन्य सभाओंसे सुन्दर है और सब नास्तिक परलोक-स्वर्ग-नरक-आत्मा आदि पदार्थों को माननेवालोंमें धर्मका फल एक मुक्ति ही है क्योंकि मिथ्यामार्गके मुक्ति-करनेवाले भी मोक्षको सर्व प्रधान मानते हैं उसी भांति भगवान् भी समस्त ज्ञानियोंमें परमोत्कृष्ट ज्ञानी थे ॥ २४ ॥

भाषा-टीका—अधिक आयुवाले सुखी जीवोंमें लवसत्तम अर्थात् पाच अनुत्तर विमानमे उत्पन्न देवोंका आयु सबसे अधिक श्रेष्ठ और सुखी है। इन्हें लवसत्तम इस लिए कहते हैं कि यदि इनका आयु सात लव अधिक होता तो इन्हें मोक्ष हो जाता। सभाओंमें सुधर्म्मा अर्थात् शक्रेन्द्रकी सभा सर्व श्रेष्ठ है, क्योंकि वहा सभ्यपुरुषोंकी गोष्ठी अधिक पाई जाती है। सारे धर्मोंकी निचोड सबने मोक्ष बताया है। अर्थात् धर्मका अन्तिम परिणाम श्रेष्ठ निर्व्वाण माना है। या जो सबके लिए हितकर हो उसको सार्व कहते हैं। वह अर्हन् होता है। उसका कहा हुआ धर्म श्रेष्ठ और निर्व्वाण प्रद है। इसी तरह ज्ञातृपुत्र महावीर प्रभुसे बढकर सर्व्वज्ञ ज्ञानी कोई नहीं है॥ २४ ॥

गुजराती अनुवाद—अधिक आयुष्यवाळा सुखी जीवोमा लवसत्तम अर्थात् पाच अनुत्तर विमानवासी देवोनु आयुष्य सर्वथी अधिक श्रेष्ठ अने सुखी छे, [तेमनु आयुष्य जो सात लव वधारे होत तो तेओ मोक्षे जात, ते कारणे तेमने लवसत्तम कहे छे] सभामा सुधर्मा शक्रेन्द्रनी सभा सर्व श्रेष्ठ छे। कारण के त्या सभ्यपुरुषोनी गोष्टी अधिक प्रमाणमा थाय छे। बधा धर्मोनो सार मोक्ष छे, अर्थात् धर्मनु अन्तिम परिणाम श्रेष्ठ निर्व्वाण मनाय छे, जे बधाने माटे हित कर होय तेने सार्व कहे छे, ते 'अर्हत्' होय छे। तेमणे कहेलो धर्म श्रेष्ठ निर्वाण प्रद छे। आ प्रकारे 'ज्ञातृपुत्र' महावीर प्रभुथी अधिक सर्व्वज्ञ कोई नथी ॥२४॥

मूल

पुढोवमे धुणइ विगयगेही,
न सण्णिहिं कुव्वइ आसुपन्ने।
तरिउं समुद्दं च महाभवोघं,
अभयं करे वीर अणंतचक्खू ॥ २५ ॥

संस्कृतच्छाया

पृथ्व्युपमो धुनोति विगतगृद्धिर्न सन्निधिं करोति आशुप्रज्ञः। तरित्वा समुद्रमिव महाभवौघमभयंकरो वीरोऽनन्तचक्षुः ॥ २५ ॥

सं० टीका—पुनश्च स भगवान् यथा पृथ्वी सकलाधारा वर्तते सर्वान् त्रसस्थावरान् धारयति सा, तथैव सर्वसत्त्वानामभयप्रदानत

सदुपदेशदानाद्वा महावीरः सत्त्वाधार इति, अथवा पृथ्वी सर्वसहा, एवं भगवानपि परिषहोपसर्गान् सम्यक् सहते, कर्मरजांसि धुनोति दूरीकरोतीति भावः, अष्टविधं कर्मापनयति चेति शेषः। तथा विगता अपगता सबाह्याभ्यन्तरेषु वस्तुषु गृद्धिर्लिप्सा वा गार्ध्यं, तृष्णा गरमभिलाषो यस्य स विगतगृद्धिः। तथा सन्निधानं सन्निधिः स च द्रव्यसन्निधिः संचयः। धनधान्यद्विपदचतुष्पदरूपो द्रव्यसन्निधिः, भावसन्निधिस्तु कषायमिथ मायथो वा, सामान्येन कषायास्तमुभयरूपमपि सन्निधिमपेन्द्रियजन्य विषयं तन्न करोतीति भावः। "संनिधाने,—अन्तिके, इन्द्रियगोचरे, सन्निधिरिति शब्दार्थचिन्तामणिः"। "सन्निधिः संनिधानेऽपि पुमानिन्द्रियगोचर इति मेदिनी"। "पक्षस्ले सन्निधाने च सन्निधिः परिकीर्तितो इत्यभिधानप्पदीपिका"। भगवान करोतीन्द्रियगोचरं विषयं प्रगटं प्रस्तुतं भासयतीति भावः। वीरस्सैवाशुप्रज्ञः सर्वत्र सदोपयोगात् छद्मस्थवन्मनसा पर्यालोच्य पदार्थपरिच्छित्तिं विधत्ते करोति। छाद्यते सालरूपमनेनेति छद्म, तन्मध्ये तिष्ठतीति छद्मस्थो हि स केवलज्ञानरहितो भवति। परन्तु भगवान् सर्वज्ञः। स पर्वभूतः समुद्रपारमिव महाभवौघं संसारसमुद्रं समुत्तीर्य तीर्त्वा, बहुदुःखाकुलं चातुरगतिकं संसारसागरं तीर्णं सर्वोत्तमं निर्वाणमासादितवान्। अभयं मानिनां भागरक्षानुकूलं व्यापारं लवः परस्य सदुपदेशदानात्करोतीत्यभय करस्य सर्वोपपद्यत्करोतेः मेघर्तिभयेषु कृञः इति 'ख' प्रत्यये रित्यात् अरुर्द्विषदजन्तस्य चेति मुमागमः। तथाऽष्टविधकर्मविशेषेणेर यति, ईरयति, कम्पयति दूरीकरोतीति वीरः। तथा अनन्तमपर्यवसानं-नित्य-ध्रुवं ज्ञेयानन्तत्वात् वाऽनन्तं चक्षुरिव चक्षुः केवलज्ञानं यस्य स तथेति॥ २५॥

अन्वयार्थ—[वीर] भगवान् महावीर [पुढोवमे] पृथ्वीकी तरह सबके आधारभूत अथवा पृथिवीकी सदृश परिषह–उपसर्ग आदि सहनेवाले [धुणति] आठ कर्मोंकी मूल प्रकृतिओंको और उत्तर प्रकृतिओंको नष्ट करते हैं, [विगय-गेहि] अभिलाषा रहित तथा जो [सण्णिहिं] द्रव्य आदिका सञ्चय [न] नहीं [कुव्वति] करते, [आसुपन्ने] और जिनका ज्ञान सदा शीघ्र उपयोगयुक्त है, [समुद्द] समुद्रकी [व] भाति [महाभवोघ] पर्यायोंके समूहरूप अनन्त ससारको [तरिउ] पार होकर [अभयकरे] अपने और औरोंके द्वारा जीवोंकी रक्षा कर-नेवाले और [अणन्तचक्खु] अनन्त-ज्ञानयुक्त थे ॥ २५ ॥

भावार्थ—ससारके प्राणी पृथ्वीपर सब प्रकारके कार्य करते हैं, किन्तु पृथ्वी किसीपर अप्रसन्न नहीं होती, प्रत्युत सब कुछ सहती है, इसी प्रकार भग-वान् महावीर भी परिषह और उपसर्ग आदि सब कुछ सहते थे, न किसी पर प्रसन्न होते थे न अप्रसन्न, जिस तरह पृथ्वी सबके लिए आधार रूप है, भग-वान् भी दयालु होनेसे आधारभूत थे, महावीर प्रभु आठ कर्मोंसे रहित और बाह्य-वस्तुके ममत्वसे दूर थे, तथा छद्मस्थकी तरह जाननेके लिए उन्हें वस्तुके सोचने या विचारनेकी आवश्यकता न थी, क्योंकि भगवान् प्रतिसमय उपयोगात्मक ज्ञानसे युक्त थे, तथा अनेक दु खोंसे भरपूर ससार समुद्रसे पार होकर मुक्त होने वाले, स्वय जीवरक्षा करनेवाले और उपदेशद्वारा औरोंकी रक्षा करानेवाले, तथा अनन्त-पदार्थोंके ज्ञाता-दृष्टा थे ॥ २५ ॥

भाषाटीका—पृथ्वीकी सदृश सब प्रकारके प्रखर परिषह और उपसर्ग प्रभुने सैंहीवृत्तिसे सहन किए। तथा आठ कर्मरूपी रज मैलको नष्ट करके निर्लेप हुए। फिर उनकी बाहर और भीतरकी सब तृष्णा और आशाएँ नष्ट होगईं। अत अब उन्हें किसी भी पदार्थमें अनुरक्ति नहीं है। अब वे द्रव्य सन्निधि ससारोपयोगी वस्तुएँ, भावसन्निधि इन्द्रियोंके विषय और कषाय का सग्रह न करेंगे। या वे इन्द्रियोंके विकारोंको प्रगट न होने देकर उनका सर्व्वथा नाश कर चुके हैं। उन्हें अब सर्व्वज्ञोपयोगी होनेसे छद्मस्थकी तरह सोच विचार कर बातें कहनेकी आवश्यकता नहीं। क्योंकि सर्व्वज्ञ हथेली पर धरे हुए आमलेकी तरह सब चराचर का अनन्त ज्ञान पाए हुए हैं। और फिर ससारसमुद्रको पार करने के अनन्तर सुदर निर्व्वाण को पाया है जहा से कभी पुनरावृत्ति न होगी। क्योंकि वीरतासे आठ कर्मोंकी अनन्त कार्मण वर्गणाओंका अत्यन्त अभाव कर

किया है। और अब केवल ज्ञानरूप अनन्तचतुष्टय हैं। और वह प्रभु सादि अनन्तरूप हैं। प्रभुकी अनन्त ज्ञानरूप लक्ष्मी इसीसे अपार है॥ २५॥

गुजराती अनुवाद—ते भगवान् महावीर प्रभु पृथ्वीनी पेठे सर्वप्राणिओने आधारभूत छे अने पोताना पवित्र उपदेशथी सर्वेनो भय दूर करनार छे, अथवा पृथ्वीनी जेम सर्व प्रकारना प्रखर परीषह तथा उपसर्ग सहनशील दृढ़ताथी सहन करनार छे आठ कर्मरूपी रज मलनो नाश करीने निर्मल थया छे। वळी बाह्य तेमज आन्तरिक सर्व तृष्णा अने आशानो तेमणे नाश कर्यो छे तेथी कोई पण पदार्थमां तेमने आसक्ति रही नथी हवे तेओ द्रव्यथी संग्रहोपयोगी वस्तुओ अने भावथी इन्द्रिय विषयो तेमज कषायनो संग्रह करता नथी तेओए इन्द्रिय विकारोनो सर्वथा नाश कर्यो छे तथा सर्वज्ञ होवाथी प्रत्यक्षनी पेठे विचार करीने लोकमां तेमने आवश्यकता नथी कारणके तेमने हस्तामलकवत् त्रिलोकनुं ज्ञान प्राप्त थयुं छे तथा वळी संसारसमुद्रनो पार पामी सुन्दर निर्वाण प्राप्त थयुं छे के ज्यांथी पुनरावृत्ति करवी नथी पडे। वीरता पूर्वक आठ कर्मोमांथी अनन्त धर्मवर्गणाओनो अत्यन्त अभाव कर्यो छे केवलज्ञानयुक्त छे ते सादि अनन्तरूप छे। प्रभुनी अनन्तज्ञानरूपी लक्ष्मी अपार छे॥ २५॥

मूल

कोहं च माणं च तहेव मायं,
लोभं चउत्थं अज्झत्थदोसा।
एआणि वंता अरहा महेसी,
ण कुव्वइ पाव ण कारवेइ॥ २६॥

(संस्कृतच्छाया)

क्रोधं च मानं च तथैव मायां लोभं चतुर्थमध्यात्मदोषान्।
एतान् वान्त्वाऽर्हन्महर्षिर्न करोति पापं न कारयति॥ २६॥

स० टीका—क्रोध कषायरूपमात्मैतद्गुण धूमापयाग "दोसो कोपे गुणेतरे इत्यभिधानप्पदीपिका"। "दोसो य पटिघ च वा, कोपाऽपाता कोप रोसा इत्यभिधा०"। मानमहंकार च, "मानो विधा

च उण्णति" "गब्बोऽभिमानोऽहकारो" इत्यभिधानप्पदीपिका"। मायां छद्मत्वं कपट, "माया तु सवरीत्यभिधानप्पदीपिका"। लोभ पुद्गलवस्तुसचयव्यापारं "अभिज्झा वनथो वान, लोभो रागो इत्यभिधानप्पदीपिका"। वान्त्वा त्यक्त्वा वा एतान् दोषान् कषायानध्यात्मदोषान् परिहायाऽसौ भगवान् महर्षिर्जातस्तथा स्वयं पापमास्रव, "पाप, च किब्बिस, वेराऽघ दुच्चरित, दुक्कत, अपुञ्ञाऽकुसल, कण्ह, कुलसं, दुरिताऽगु च"। अथवा पापमपराध "पापापराधेसु" अथवा पापं कर्म्मपक "पापे च कद्दमे"। अथवा पाप युद्ध चापि, "पापे युद्धे रवे" अथवा पाप कलिः कलह "पापे कलि"। वा पाप वेरं ह्यपि "पापे च पटिघे वेर" "इत्यादीन्यभिधानप्पदीपिका"। न करोत्यन्यैर्न कारयतीत्येते कषायदोषास्त्वपि हितमिच्छस्त्याज्या एव, यथाह सिद्धान्ते–

"कोह माण च माय च, लोह च पाववड्ढण,
वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छतो हिअमप्पणो" ॥ ३७ ॥

इमे चत्वारः कषायाश्चतुरो दोषान् समुत्पादयन्ति, यथा–

"कोहो पीइ पणासेइ, माणो विणयनासणो,
माया मित्ताणि नासेइ, लोहो सव्वविणासणो" ॥ ३८ ॥

एतानात्मदोषानेतैः प्रयत्नैरपनयेत् ॥

"उवसमेण हणे कोह, माण मद्दवया जिणे,
मायमज्जवभावेण, लोह सतोसओ जिणे" ॥ ३९ ॥

नो चेत्संसारे परिभ्रमणं, यथा–

"कोहोअ माणो अ अणिग्गहीआ, माया अ लोहो अ पवड्ढमाणा।
चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचति मूलाइं पुणब्भवस्स" ॥४०॥
(द० अ० ८)

अथ कषायप्रत्याख्यानस्य फलमाह—कसायपच्चक्खाणे णं भंते जीवे किं जणयइ ? कसायपच्चक्खाणे णं वीयरागभावं जणयइ, वीयरागभावे पडिवन्ने वि य णं जीवे समसुहदुक्खे भवइ ॥ ३६ ॥

(उ० अ० २९ ॥)

वीतरागताफलमाह—वीयरागयाए णं भंते जीवे किं जणयइ ? वी० नेहाणुबंधणाणि तण्हाणुबंधणाणि य वोच्छिंदइ, मणुन्ना मणुन्नेसु सद्दफरिसरूवरसगंधेसु चेव विरज्जइ ॥ ४५ ॥

कषायविजयस्य पृथक्त्वफलं दर्शयति—कोहविजएणं भंते जीवे किं जणयइ ? को० खंतिं जणयइ, कोहवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ । खंतिए णं भंते जीवे किं जणयइ ? ख० परीसहे जिणइ ॥ माणविजएणं भंते जीवे किं जणयइ ? मा० मद्दवं जणयइ, माणवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ; मद्दवयाएणं भंते जीवे किं जणयइ ? म० अणुस्सियत्तं जणयइ, अणुस्सियत्तेणं (अनुत्सुकत्वेन) जीवे मिउमद्दवसंपन्ने (मृदुमार्दवसम्पन्नो) अट्ठ मयट्ठाणाइं निट्ठवेइ (क्षपयति) ॥ माया-विजएणं भंते जीवे किं जणयइ ? मा० अज्जवं जणयइ । मायावेयणिज्जं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ । अज्जवयाएणं भंते जीवे किं जणयइ ? अ० काउज्जुययं, भावुज्जुययं, भासुज्जुययं अविसंवायणं जणयइ अविसंवायणं (यथार्थ) संपन्नयाए णं जीवे धम्मस्स आराहए भवइ ॥ लोहविजएणं भंते जीवे किं जणयइ ? लो० संतोसं जणयइ, लोहवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥ ७० ॥ मुत्तिएणं भंते जीवे किं जणयइ ? मु० अकिंचणं जणयइ, अकिंचणेण जीवे अत्थलोलाणं पुरिसाणं अपत्थणिज्जो भवइ ॥ ४७ ॥

कषाया अग्नय उक्ता अत एनान् शमयन्तु यथा–

"सपज्जलिया घोरा, अग्गि चिट्ठइ गोयमा,
जे डहंति सरीरत्थे, कह विज्झाविया तुमे" ॥ ५० ॥

{ सम्प्रज्वलिता घोरा, अग्नयस्तिष्ठन्ति गौत्तम !,
ये दहन्ति शरीरस्था कथ विध्यापितास्त्वया ॥ }

"महामहप्पसूयाओ गिज्झ-वारि जलुत्तमं,
सिंचामि सययं देह, सित्ता नो डहन्ति मे" ॥ ५१ ॥

{ महामेघप्रसूतात् गृहीत्वा वारि जलोत्तमम् ।
सिंचामि सतत देह, सिक्ता नो दहन्ति माम् ॥ }

"अग्गीय इ इ के वुत्ता, केसी गोयममब्बवी,
केसीमेव वुवतं तु गोयमो इणमब्बवी" ॥ ५२ ॥

"कसाया अग्गिणो वुत्ता, सुयसीलतवो जल,
सुयधाराभिहया सन्ता भिन्ना हु न डहन्ति माम् ॥"

{ कषाया अग्नय उक्ता. श्रुतशीलतपोजलम् ।
श्रुतधाराभिहता सन्त , भिन्ना खलु न दहति माम् ॥ }

(उतराध्यन सूत्र, अ० २३)

अथैतेषां वृद्धव्याख्यामाह–

क्रोध· परापकाराय कुत्सितचित्तवृत्तिभेद , परानिष्टाभिलाष इत्यथवाऽनिष्टविषयद्वेषहेतुक इत्यर्थ । आत्मन्युत्कर्षाभिमानात्मक मान-मिति । कापट्यभाव छद्म मिथ्याबुद्धिहेत्वज्ञानभेदो दम्भश्चेत्यर्थः । परद्रव्येष्वतिशयाभिलाषो लोभ , । परानिष्ठाभिलाष. क्रोधः, क्षमैव क्रोधविजये समर्थः, क्रोधावेशेन सर्वस्यान्धत्वमधैर्यत्व, हृदयशून्यता

च भवति । अत एव शान्त्यैव नश्यति । मत्समो मान्योऽस्तीति मननं मानं । अथवाऽऽत्मन्यविद्यमानगुणारोपणोत्कर्षरूपा बुद्धिर्मानो महति धनाद्ये सत्यपि अनुक्षणं वर्धमाने तदभिलाषो लोभोऽथवा परवित्तादिषु दृष्ट्वा नेच्छा (गृद्धि) यो हृदि जायतेऽभिलाषो लोभस्स स ।

इतरेऽप्याहुर्यथा—

"लोभ एव मनुष्याणां, देहस्थो महान् रिपुः । सर्वदुःखाकरः लोभो, दुःखदः प्राणनाशकः ।" "सर्वपापस्य मूलं हि, सर्वदा दुःखदायिनः, विरोधकृत् विद्यमानां, सर्वार्थे कारणं तथा ।" "लोभात्त्यजन्ति धर्मं च, मर्यादां वै तथैव च, मातरं भ्रातरं हन्ति, पितरं बान्धवं तथा ।" "गुरुं मित्रं तथा दासं, पुत्रं च भगिनीं तथा, लोभाविष्टो न किं कुर्यादकृत्यं पापमोहितः" ॥ २६ ॥

अन्वयार्थ—भगवान् महावीर (कोहं) क्रोधको (च) और (माणं) मानको (च) और (मायं) मायाको (तहेव) इसीप्रकार (चउत्थं) चौथे (लोभं) लोभको अर्थात् (एआणि) इन सब (अज्झत्थदोसा) आध्यात्मिक आत्मसंबन्धी दोषोंको (वंता) त्यागकर (अरहा) अर्हत् तथा (महेसी) महर्षि हुए, और (पावं) पाप (ण) न (कुव्वइ) स्वयं करते हैं (ण) न (कारवेइ) औरोंसे प्रेरणासे कराते हैं ॥ २६ ॥

भावार्थ—कारणके नाश होनेपर कार्यका भी नाश होजाता है संसारके कारणोंमें कारणभूत क्रोध-मान-माया और लोभ हैं, अतः इनके नाश होनेपर संसार-कर्मबन्धनकारी नाश हो जाता है इसलिए भगवान् क्रोधादिका नाश करके अर्हत् अवस्था एवं महर्षिपदको प्राप्त हुए, क्योंकि कषायोंके नाशके बिना कोई भी महर्षि नहीं बन सकता और भगवान् न स्वयं पाप करते हैं न औरोंको पापमें प्रेरित करते हैं ॥ २६ ॥

भाषा-टीका—क्रोध कषायका प्रथम भेद है इसके आवेशमें आकर जीव विषम व्यवहार करने लगता है, इससे औरोंका अहित तक भी कर डालता है, जिससे हानि धर्म और यश होजाती है, अनिष्ट करते समय क्रोधका ही

उपयोग होता है । मान दूसरा कषाय है, इसकी मात्रा का कोई प्रमाण नहीं है, इसे अहकार भी कहते हैं, इसके कारण 'वाहरे मैं' यही कहता रहता है, इसके आवेशमें मात्र अपनीही वढती चाहता है । माया नाम कपट करने का है, इससे दम क्रिया करता है, सरलता का नाश कर डालता है, अपनी चिद्वृत्ति का मालिक नहीं रह पाता । पराये धनमें अतिशय अभिलाषा रखना लोभ है, जिससे किसी दूसरेका अहित करना वायें हाथका खेल समझता है ।

क्रोध शान्तिसे जीता जा सकता है, शान्तिके विना क्रोधके आवेशमें अन्धा हो जाता है । इससे अधीरता, अस्थिरता और हृदयशून्यता आ जाती है । अत क्रोधको समभावसे नष्ट करना चाहिए ।

मुझसे वढकर अन्य कोई नहीं, इस मान्यताके आने पर मानसे घिर जाता है, और अपनेमें अविद्यमानगुणको उत्पन्न करनेकी वुद्धि पैदा करता है, इससे अन्य सवको छोटी दृष्टिसे देखता है । स्पष्ट वात न कहना माया है । अधिक धनकी आय होने पर भी प्रतिपल जिसकी अभिलाषा वढती रहे उस अवस्थाका नाम लोभ है, या पराए धनको देख कर उसके स्वीकार करने की इच्छाको हृदयमें उत्पन्न करना लोभ है, यह लोभ मनुष्योंके शरीरमें सवसे वडा शत्रु है, यह सव दु खोंकी खान और प्राणनाशक है, सव पापोंका मूल है, तीनों वर्णोंके लोक इसके कारण विरोध खडा कर रहे हैं, सवके दु खोंका कारण यही सिद्ध हुआ है । लोभसे प्रेरित होकर माता, पिता, भाई, वधु और धर्म की मर्य्यादा तकको नष्ट कर डालता है । गुरु, मित्र, पिता, पुत्र, भगिनी आदिको लोभसे मार कर नाश करता है, तथा वह कौनसा अपकृत्य है जिसे लोभ वश न करसकता हो ।

परन्तु भगवानने इन चारोंका वमन कर दिया, इनको त्याग दिया, ये चारों दोष कोई साधारण दोष नहीं है, वल्कि ये अध्यात्म दोष हैं, इनसे अध्यात्मिकता नष्ट होती है । इनसे अनन्त ससारमें रुलना पडता है । भगवान् महावीर इन कषायों को नष्ट करके महर्षि वने थे । तव फिर उनमेंसे स्वय पाप या आस्रव करने का विभाव भी जाता रहा । अव ये किसी अपराधको नहीं करते, कर्म कीचसे सर्व्वथा अलिप्त हैं । जन्म-जरा-मरणरूपी ससारके युद्धसे मुक्त हैं । कलहका इनके आत्मामें अत्यन्ताभाव है । ये प्रभु निर्वैर हैं, आशय यह है कि प्रभु स्वय पाप नहीं करते, न किसी अन्यको पाप या आस्रवका उपदेश ही करते हैं, न कराते हैं । क्योंकि पाप करना, कराना कषाय और अशुभयोगसे होता है

प्रभुमें इनका अत्यन्ताभाव है । अतः प्रभुके अनुयायियोंका भी यह मुख्य कर्तव्य है कि—वे भी कषायोंको छोड़ें; जैसे दशवैकालिकमें कहा है कि—

क्रोध-मान-माया-लोभ पापको बढ़ाने में कारणभूत होते हैं, यदि हितकी इच्छा है तो चारों ही कषायोंका वमन करो अर्थात् त्याग करो ।"

ये चारों कषाय अनन्त दोषोंको बढ़ाने वाले हैं, तथापि इनमें एक एक मुख्य दोष है ।

जैसे—"क्रोधसे प्रीतिका नाश होता है, मान विनयका नाश करता है, माया-कपट करनेसे मित्रता टूट जाती है, लोभ तो प्रेम विनय और मित्रता इन तीनों का ही नाशक है ।

इनके हटाने के साधन—क्रोधको शान्तिसे मानको मार्दवतासे, मायाको सरल और उदार आर्जवतासे तथा लोभको सन्तोषसे जय करो नहीं तो संसारमें अनन्त परिभ्रमण करना होगा ।

क्योंकि—यदि क्रोध और मानका निग्रह न किया हो तथा माया, और लोभको बढ़ा रहा हो तब तो ये चारों ही कषाय संसारकी जड़को सींचकर बढ़ा देते हैं ।

कषायके त्याग का फल—उत्तराध्ययन के २९ वें अध्यायमें गौतम प्रश्न पूछते हैं कि-भगवन् ! कषाय को छोड़ देनेसे क्या गुण उत्पन्न होता है ?

गौतम ! कषाय त्यागसे वीतरागभाव उत्पन्न होता है । वीतरागभाव आने पर सुख-दुःखमें समान भाव हो जाता है ।

वीतरागता का फल—

वीतरागता के पानेसे क्या गुण होता है ? गौतम ! वीतरागतासे स्नेह-बंधन और तृष्णाका बन्धन नष्ट करसकता है, मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द-रूप-रस-गंध और स्पर्शसे वैराग्यद्वारा विरक्त होता है ।

अलग २ कषायके जीतने का फल—क्रोध के विजयसे क्या प्राप्त होता है ? क्रोधके विजयसे क्षमा के गुणको प्रगट करता है । क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले कर्मोंको न बांधकर पूर्वकालमें बंधे हुए कर्मोंका क्षय करता है । शान्तिसे परिषह जीतनेका अभ्यास तथा सहिष्णुता उत्पन्न करता है ।

हे पूज्यनीय! मानके विजयसे क्या लाभ होता है? मानके विजयसे निरभिमानिता या मार्दवताका अद्वितीयगुण पैदा होताहै। मान-जन्य कर्म्मका प्रतिबंध न करके पहलेके बांधे हुए कर्म्मकी निर्जरा करता है॥ मार्दवतासे क्या लाभ होता है? इससे अभिमान रहित होजाता है। वह किसी भी पदार्थमें उत्सुक नहीं होता। कठिन स्वभावको न रख कर वह फिर कोमल और मृदुताका सम्पादन करके जाति, कुल, बल, रूप, तप, ज्ञान, लाभ और ऐश्वर्य्य इन आठ-मदोंका संहार करता है जोकि आत्मशत्रु रूप है।

मायाका विजय करनेसे जीव क्या पाता है? इससे प्रकृति सरल हो जाती है। कपटसे भोगेजानेवाले कर्म नहीं बांधता। और पहले प्रतिबंधको तोड-देता है। निष्कपटतासे जीवको क्या प्राप्त होता है? निष्कपटतासे काय, मन और भाषासे सरल होकर यथार्थ भाव पैदा करता है, किसीको ठगता नहीं, ऐसा जीव धर्मका सम्यक् आराधक बन जाता है।

लोभको जीतनेसे क्या लाभ होता है? इसे जीतनेसे संतोषरूपी अमृतको पाता है। और तज्जन्य कर्मका बंध नहीं डालता। और पहले बांधे हुए कर्म्मको बखेर देताहै। निर्लोभतासे जीवको क्या लाभ होता है? इससे अकिंचन भाव यानी निस्पृहताका गुण मिल जाता है। क्योंकि निष्कामजीवीको धनके लोभी कभी नहीं चिपटते।

कषाय भी एक आग है इसे बुझाओ! जैसे कहा भी है कि— चारों ओर आग सुलग रही है, वह सबको जला रही है, किसी भी शरीर धारी प्राणीको इसने नहीं छोडा, सब जीव इसमें निरन्तर जल रहे हैं। हे गौतम! आपने उसे किस प्रकार बुझाया।

केशिन्! महामेघसे एक उत्तम जल पैदा हुआ है, उसी पानी को लेकर अपनी देहको निरन्तर सींचता रहता हूं जिससे वह आग मुझे नहीं जलासकता।

गौतम! वह कौनसा अग्निहै? गौतम बोले, केशिमुने! कषाय ही सबसे भयंकर अग्निहै। उसे ज्ञान, दर्शन, चरित्र और तपके जलसे सींचकर ठंडा कर दियाहै। वह जल जिनवाणीरूप मेघधारा से पाया है। उसीसे उसे बुझाया है। अत- वह आग अब मुझे नहीं जला सकती॥ २६॥

गुजराती अनुवाद—कषायनो पहेलो भेद, क्रोध छे आवेशमां आवी जीव द्वेष करे छे तेथी बीजानुं अनिष्ट पण करी बेसे छे चित्तवृत्ति परम उग्र खराब थई जाय छे। अनिष्ट करती वखते क्रोधनो उपयोग थाय छे कषायनो बीजो भेद मान छे। तेनी मात्रानुं कई प्रमाण नथी तेने अहंकार पण कहे छे तेना आवेशमां मात्र पोतानीज वडाई इच्छे छे। माया नाम कपटनुं छे तेथी दम्भ करे छे सरलतानो नाश थाय छे चित्तवृत्ति कदी स्थिर रहेती नथी। परवस्तुमां अतिशय अभिलाषा ए लोभ छे तेनाथी अन्यनुं अहित करी बेसतां वार लागती नथी।

कषाय निग्रहनो उपाय—क्रोध शान्तिथी जीति शकाय छे मान वगर क्रोधना आवेशमां जन्म थाय छे। नम्रता-सरलता-तेमज हृदयपवित्रता आवे छे तेथी क्रोधनो समभावथी नाश करवो जोइए।

मायाथी कोई चोरी नथी ए मान्यता मानथी थाय छे अथवा पोतानामां न होय तेवा गुणो पोतानामां छे एवी बुद्धि थई जाय छे तेथी बधाने दम्भ मानी छे स्पष्ट वात न कहेवी ते माया छे

पुष्कळ धन होवा छतां हरेक क्षणे वस्तुनी अभिलाषा रहेवी ते लोभ छे अथवा परधन जोइने ते लई लेवानी हृदयमां इच्छा उत्पन्न थवी ते पण लोभ छे लोभ मनुष्यनो मोटामां मोटो शत्रु छे सर्वथा विरोधनुं ए कारण छे। लोभथी प्रेरित थईने माता-पिता-भाई-बन्धु-बने धर्मनी मर्यादा पण रहेती नथी। गुरु-मित्र-पुत्र-भगिनी वगेरेनो नाश लोभथी करे छे। लोभथी सर्व प्रकारना अकृत्य करे छे।

परन्तु भगवाने आ चारे कषायोनो नाश करी दीधो छे आ चारे दोषो कोई साधारण दोष नथी ते तो अध्यात्म दोष छे। तेथी अध्यात्मिकताथी नाश थाय छे तेमज अनन्त संसारमां रखडवुं पडे छे भगवान महावीर प्रभु ते कषायोनो नाश करी महर्षि बन्या हवे तेओ पाप-आचरण करता नथी अने मरवाथी तेओ अतिस छे जन्म-जरा-मरणथी मुक्त छे अथवा असन्तकाम थई गयो छे प्रभु निर्वैर छे कारण ए छे के प्रभु पोते पाप करता नथी बीजा बीजाने पाप ना करवानो उपदेश पण करता नथी करावता नथी करनारने पण करवुं, करावतुं, ते करनार अने अनुमोदने बी-भाव छे प्रभुमां तेनी अनन्त अभाव

छे, तेथी प्रभुना अनुयायिओनुं पण ए कर्तव्य छे के तेओ पण कषायने मूके, दशवैकालिकमा कह्यु छे के–"क्रोध-मान-माया-लोभ पाप वृद्धि करनार छे, जो हित चाहता हो-तो चारे कषायोनो त्याग करो।"

आ चारे कषायो अनन्तदोष वधारनार छे, तो पण तेनामा एक एक मुख्य दोष छे, जेमके–क्रोध प्रीतिनो, मान विनयनो, माया-कपट मित्रतानो अने लोभ प्रेम-विनय अने मित्रतानो नाश करे छे।

तेने दूर करवाना उपाय—क्रोधने शान्ति थी, मानने नम्रता राखवाथी, मायाने उदार सरळताथी, अने लोभ सन्तोषथी दूर कर नहि तो ससारमा अनन्तकाल परिभ्रमण करवु पडशे।

क्रोध-माननो निग्रह न कर्यो होय, माया अने लोभमा वृद्धि करी होय तो आ चारे कषायो तारा माटे ससार जाळनी अनन्त वृद्धि करशे।

कषायत्यागनुं फल—उत्तराध्ययनना २९ मा अध्ययनमा गौत्तमस्वामी प्रश्न पूछे छे के हे भगवन्! कषायना त्यागथी जीव शु पामे छे?

गौत्तम! कषाय त्यागथी वीतराग भाव उत्पन्न थाय छे अने वीतरागभावने पामेला जीव ने सुखदु ख समान वने छे।

वीतरागतानुं फल—वीतरागपणाथी शु पामे छे? गौत्तम! निरासक्तिथी स्नेह वधन तथा तृष्णा वधनने ते जीव छेदी नाखे छे, तथा मनोज्ञ अने अमनोज्ञ शब्दरूप-रस-गन्ध-स्पर्श इत्यादि विषयोमा वैराग्य-विरक्ति-त्यागभावने पामे छे।

अलग २ कषाय जयनुं फल—हे पूज्य! क्रोधना विजयथी आ जीव शु पामे छे? गौतम! क्रोध विजयथी जीव क्षमाना गुणने प्रगटावे छे, क्रोधथी उत्पन्न थतां कर्मोने वांधतो नथी। अने पहेलां वाध्या होय तेने खपावे छे, शान्तिथी परिषह जीतवानो अभ्यास तथा सहिष्णुता विगेरे विगेरे गुणो उत्पन्न थाय छे।

हे पूज्य! मानना विजयथी जीव शु पामे छे? मानना विजयथी निरभिमानता या मृदुताना अपूर्वगुणने प्रगटावे छे, अने मानजन्य कर्मने वाघतो नथी, अने पहेलां जे वधायु छे तेनी निर्जरा करे छे,

मृदुताथी जीव शु पामे छे? तेनाथी जीव अभिमान रहित थाय छे, अने कोमल मृदुताने प्राप्त करी जाति-कुल-वल-रूप-तप-ज्ञान-लाभ-अने ऐश्वर्य ए आठ प्रकारना मद रूप शत्रुनो सहार क

मायाना विजयथी जीव शुं पामे छे ? मायाना विजयथी सरळभावने पामे छे अने मायाथी वेदवा पडतां कर्मो बंधातो नथी अने पूर्वे बंधायां होय तो तेने दूर करे छे ।

निष्कपटताथी जीव शुं पामे छे ? निष्कपटताथी मन-वचन अने कायाथी सरळता अने सुंदरता प्राप्त करे छे अने कोईनी साथे ते ठगाई करतो नथी तेथी जीवात्मा धर्मनो सम्यक् आराधक बने छे

हे पूज्य ! लोभना विजयथी जीव शुं पामे छे ? लोभना विजयथी सन्तोष रस प्रगटावे मेळवे छे लोभ रूप कर्म बांधतो नथी अने पूर्वे बंधायेलां छे तेने विखेरे छे ।

निर्लोभताथी जीव शुं पामे छे ? तेनाथी जीव अपरिग्रही बने छे, अने धनलोलुपी पुरुषोना चढ़ो, पराधीनताओथी रहित थाय छे अने राजुथी दासत्व गंडअवस्थाओने निर्लोभी बनी तोडे छे अने तेवने बतावी बनावी नाखे छे.

कषाय पण एक आग छे तेने शान्त करो—चमके-चारे तरफ आप सळगी रही छे ते बनावे एकदम बाळी रही छे शरीरधारी प्राणीने पण तेने छोडेल नथी ते अग्निने हे गौतम ! तमे शी रीते बुझावी नाखी, ?

हे केशी ! महा मेघमांथी वरसता वर्षेला पाणीना प्रवाहमांथी ते शान्त पाणी लई सतत हुं ते अग्निने ठरी नाखुं छुं, अने तेथी ते ठरेली आग मने लेशमात्र बाळी शकती नथी ।

गौतम ! ते अग्नि कई ? गौतमे जवाब आप्यो केशी मुने ! कषायोज मने मन अग्नि छे ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप रूपी जळनी धाराओ तीर्थंकररूपी महामेघथी वरसेली छे श्रुतज्ञानरूपी धाराओथी हणायेली ते कषायो रूपी अग्नि शान्त ठरी जाय छे तेथी ते आग मने लेशमात्र पण बाळी शकती नथी ॥ २६ ॥

मूल

किरियाकिरियं वेणइयाणुवायं,
अण्णाणियाणं पडियच्च ठाणं ।
से सव्ववायं इति वेयइत्ता,
उवट्ठिए संजम दीहरायं ॥ २७ ॥

संस्कृतच्छाया

क्रियाक्रियं वैनयिकानुवादं,
अज्ञानिकानां प्रतीत्य स्थानम् ।
स सर्ववादमिति वेदयित्वा,
उपस्थितः संयमदीर्घरात्रम् ॥ २७ ॥

सं० टीका—क्रियावादिनामशीतिर्गतं भेदाः । अक्रियावादिना चतुरशीति[८४]भेदाः । विनयवादिना द्वात्रिंशत्[३२], अज्ञानवादिना सप्तषष्टीति[६७] त्रिषष्टिशत[३६३]भेदा· पाषण्डिना सर्वलिङ्गिनां "पाषण्डाः सर्वलिगिन इत्यमर ।" "[कुटीसकादिकाचतु[४३]त्तिस द्वासट्ठि[६२]दिट्ठिओ इति छन्नुव्वुती[९६] एते] पासण्डा सम्पकासिता इत्यभिधानप्पदीपिका ।" वा मनोनीतधर्मिणां स्थान पद वा सादृश्य स्थितिमवस्थामात्मनो ज्ञात्वा, "स्थान सादृश्येऽवकाशे स्थितौ वृद्धिक्षयेतर इति मेदिनी ।" सर्वधर्माणामन्तर्भेद रहस्य ज्ञात्वेति भाव· । वा स्थितिं तेषा· स्थान निकटं त्यक्त्वेत्याशयः । "अवकाशे स्थितौ स्थानमित्यमरः ।" पक्षमित्यपि सम्यक् प्रतीत्य परिच्छिद्य ज्ञात्वा च स भगवान् सर्ववाद सर्वमन्तव्य कथयित्वा सर्वेषामेकान्तवादिना स्वरूपं कथन भावं च परिज्ञाय दीर्घकाल यावज्जीवपर्य्यन्त सयमे धर्मे सम्यगुपस्थित स्थितवान् ॥ २७ ॥

अन्वयार्थ—[से] वह भगवान् महावीर [किरियाकिरिय] क्रियावाद और अक्रियावादके तथा [वेणइयाणवाय] विनयवादी और [अण्णाणियाण] अज्ञानवादियोंके [ठाण] पक्षको [पडियच्च] जानकर तथा [सव्ववाय] और सब वादोंके—पक्षको (इति) सम्यक् प्रकारसे (वेयइत्ता) समझाकर [संजमदीहराय] यावज्जीव सयममें [उवट्ठिए] उपस्थित रहे ॥ २७ ॥

भावार्थ—संसारमें अनेक मतोंका प्रचार है, कोई क्रियासे मोक्ष मानता है, कोई अक्रिया वादी है वे मात्र ज्ञानसे मुक्ति होना मानते हैं, कोई विनय करनेमें मोक्ष मानते हैं और कोई अज्ञानसे। और भी इनके अनेक सिद्धान्त हैं,

उन सबको प्रभु अच्छे प्रकारसे जानकर तथा औरोंको उसका तत्त्व समझा कर संयममें तत्पर होगये थे अर्थात् जैसा उपदेश करते थे वैसा आचरणमें भी लाते थे ॥ २७ ॥

भावार्थ—क्रियावादियोंके १८ मत, अक्रियावादियोंके ८४ मत विनयवादियोंके ३२ मत और अज्ञानवादियोंके ६७ इस प्रकार पाखंडियोंके ३६३ भेद सर्वधर्मीविभिन्नोंके होते हैं। बौद्धोंने ९६ पाखंड माने हैं। मनो-नीत धर्मका नाम पाखण्ड है। या सर्वधर्मका नाम पाखंड है। प्रभुने उनकी तुच्छता साक्षात्से कर दिखाई। जिस अग्नि परीक्षामें कोई पाखंड न टक सका। परन्तु प्रभुने उनके सर्वधर्म समभाव रखना बताया। उसमें गुणागुणविभाग करके असत्य का त्याग सत्यमें लगाया। इस प्रकार स्वसमय परसमय का मन्तव्य समझकर यावज्जीवतक संयमधर्ममें एकरस होकर तत्पर (स्थिर) रहे थे ॥ २७ ॥

गुजराती अनुवाद—क्रियावादीना १८ मत अक्रियावादीना ८४ विनयवादीना ३२ अने अज्ञानवादीना ६७ ए सर्व ३६३ पाखंडीओना भेद पाषण्ड बौद्धोए ९६ भेद मान्या छे मनोनीत धर्मो पाखण्ड कहेवाय छे तेनी तुच्छता साक्षात् करी बतावी ते अग्निपरीक्षामां कोई पाखण्डी टकी न शक्यो। प्रभुए सर्व धर्म समभाव राखवानुं पण बताव्युं, तेमां गुणावगुणपणुं जाणवानुं पण बतावीने असत्यनो त्याग सत्य श्रेष्ठ मान्यो। आवीरीते स्वसमय पर-समयनुं मन्तव्य समजीने उत्तम एकनिष्ठ संयममां (धर्ममां) यावज्जीव सुधी सावधान पणे रह्या ॥ २७ ॥

मूल

से वारिया इत्थी सराइभत्तं,
उवहाणवं दुक्खखयट्ठयाए ।
लोग विदित्ता आरं परं च,
सव्व प्पभू वारिय सव्ववारं ॥ २८ ॥

संस्कृतच्छाया

स वारयित्वा स्त्रियं सरात्रिभक्तं उपधानवान् दुःखक्षयार्थम् ।
लोकं विदित्वाऽऽरं पारं च सर्वं प्रभुर्वारितवान् सर्ववारम् २८

सं० टीका—स वीरभगवान् स्त्रियं स्त्रीसम्पर्कं सम्भोगं च मैथुनं स्त्रीवेदपुरुषवेदोदयं, रात्रिभोजनसहितं निरन्तरं वारयित्वा परित्यज्य, उपलक्षणादन्यान्यपि प्राणातिपातादीनि ग्राह्याणि । परन्तु रात्रिभोजने तु सुतरां त्रसानामपि हिंसाऽनिवार्य्यसयोगेन भवत्येवेत्यनेन रात्रिभोजनं त्याज्यमेवेति भावः । यथाह—

पुरुषार्थसिद्ध्युपाये—

"रात्रौ भुजानाना यस्मादनिवारिता भवति हिंसा,
हिंसाविरतैस्तस्मात्त्यक्तव्या रात्रिभुक्तिरपि" ॥ १२९ ॥

"रागाद्युदयपरत्वादनिवृत्तिर्नातिवर्तते हिंसा ।
रात्रिंदिवमाहरत कथ हि हिंसा न सम्भवति" ॥ १३० ॥

"यद्येव तर्हि दिवा कर्तव्यो भोजनस्य परिहार ।
भोक्तव्य तु निशायां नेत्थ नित्यं भवति हिंसा" ॥ १३१ ॥

नैव वासरभुक्तेर्भवति हि रागाधिको रजनिभुक्तौ ।
अन्नकवलस्यभुक्तेर्भुक्ताविव मासकवलस्य ॥ १३२ ॥

अकाले भुञ्जान· परिहरेत् कथं हिंसाम् ।
अपि बोधित प्रदीपो भोज्यजुषा सूक्ष्मजीवानाम् ॥१३३॥

कि वा बहुप्रलपितैरिति सिद्धं यो मनोवचनकायै· ।
परिहरति रात्रिभुक्ति सततमहिंसा स पाल्यति ॥ १३४ ॥

अहिंसाणुव्रतपालको नरो रात्रिभोजनं वर्जयतीति दर्शय-न्नाह; सागारधर्मामृते—

अहिंसाव्रतरक्षार्थं, मूलव्रतविशुद्धये ।
नक्तं भुक्तिं चतुर्धाऽपि सदा धीरस्त्रिधा त्यजेत् ॥ २९ ॥

अघोदरादिकृपूकायकममेध्यमन्तुकम् ।
मेगापुष्पिकृष्टमुरसयमप्यमशित्यहो मुनी ॥ २५ ॥

अथवा पनमालादृष्टान्तेन रात्रिभोजनदोषस्य पातकं दर्शयति—

"त्वां यद्युपैमि न पुन सुनिवेश्य राम, लिप्ये बधादिकृतभेदघदिति श्रितोऽपि । सौमित्रिरन्यशपथान्वनमालयैकं, दोषाशिदोषशपथं किल कारितोऽस्मिन्" ॥ २६ ॥

लौकिकसंवाददर्शनेनापि रात्रिभोजनप्रतिषेधमाह ।

यत्र सत्पात्रदानादिकिञ्चित्सत्कर्म्म नेष्यते ।
कोऽद्यात्तत्रात्ययमये, स्वहितैषी दिनात्यये ॥ २७ ॥
भुञ्जतेऽह्न सदाप्यर्यो द्विर्मध्या पशुवत्परे ।
राज्यहस्तद्व्रतगुणान्, ब्रुवोघाणावगाशुका ॥ २८ ॥
योऽपि त्यजन् दिनाघन्तमुहूर्ती रात्रिवत्सदा ।
स वर्ज्येतोपवासेन स्वजन्मार्द्धं नयन् कियत् ॥ २९ ॥

तथा च—श्रावकस्यैकादशप्रतिमासु षष्ठ्यां प्रतिमायां श्रावको रात्रिभुक्तित्यागी भवति । यथाह—

समन्तभद्रस्वामी श्रावकाचारे—

अन्न पानं खाद्यं लेह्यं, नाश्नाति यो विभावर्य्याम् ।
स च रात्रिभुक्तिविरत, सत्त्वेष्वनुकम्पमानमना ॥ १४२ ॥

पुनश्च—मुनिस्तु महाव्रत समेत्य रात्रिभोजनात्सर्वथा विरमति यथाह दशवैकालिके—तत्र षष्ठमव्रतम्—

अहावरे छट्ठे भंते ! वए राइभोयणाओ वेरमणं, सव्वं भंते ! राइभोयणं पच्चक्खामि, से असणं वा, पाणं वा खाइमं वा साइमं वा,

नेव सयं राइ भुजेज्जा नेवऽन्नेहिं राइं भुंजाविज्जा राइ भुजतेऽवि अन्नेन समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविह तिविहेणं मणेण वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतपि अन्न न समणुजाणामि, तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि । छट्ठे भंते ! वए उवट्ठिओमि सव्वाओ राइभोयणाओ वेरमणं ।

"अहावरे" इत्यादि । अथापरस्मिन् षष्ठे भदन्त ! व्रते रात्रिभोजनाद्विरमण, सर्वं भदन्त ! रात्रिभोजन प्रत्याख्यामीति पूर्ववत् । तद्यथा-अशनं, वा पान वा खाद्यं वा स्वाद्य वेति, 'अश्यत इत्यशनम्,'—ओदनादि, 'पीयत इति पान'—मृद्वीकापानादि, 'खाद्यत इति खाद्यं' खर्जूरादि, 'स्वाद्यत इति स्वाद्य' ताम्बूलादि, 'नैव स्वयं रात्रौ भुंजे, नैवान्यै रात्रौ भोजयामि, रात्रौ भुजानानप्यन्यान्नैव समनुजानामि; इत्येतद्यावज्जीवमित्यादि च भावार्थमधिकृतपूर्वविधम् । विशेषस्त्वयम्—रात्रिभोजन चतुर्विधम् । तद्यथा द्रव्यतः क्षेत्रत' कालतो भावतश्च । द्रव्यतस्त्वशनादौ, क्षेत्रतोऽर्धतृतीयेषु द्वीपसमुद्रेषु, कालतो रात्र्यादौ, भावतो रागद्वेषाभ्यामिति । स्वरूपतोऽप्यस्य चातुर्विध्यम्, तद्यथा—रात्रौ गृह्णाति रात्रौ भुक्ते, १ रात्रौ गृण्हाति दिवा भुक्ते २, दिवा गृण्हाति रात्रौ भुक्ते ३, दिवा गृण्हाति दिवा भुक्ते ॥ ४ ॥ सनिधिपरिभोगे द्रव्यादिचतुर्भंगी पुनरियम्—द्रव्यतो नामैको रात्रौ भुक्ते नो भावत' १, भावतो नामैको नो द्रव्यतः २, एको द्रव्यतोऽपि भावतोऽपि ३, एको नो द्रव्यतो नो भावत ॥ ४ ॥ तत्रानुद्गते सूर्य्ये उद्गत इत्यस्तमिते वाऽनस्तमित इत्यरक्तद्विष्टस्य कारणतो वा रात्रौ भुञ्जानस्य द्रव्यतो रात्रिभोजनं नो भावतः । रात्रौ भुञ्ज इति मूर्च्छितस्य तदसम्पत्तौ भावतो नो द्रव्यतः । एवमेव सम्पत्तौ द्रव्यतोऽपि, भावतोऽपि चतुर्थो भग. पुन.

ह्यस्य । एतच्च रात्रिभोजनं प्रथमचरमतीर्थंकरतीर्थयोः—ऋजुजडवक्र-जडपुरुषापेक्षया मूलगुणत्वस्थापनार्थं महाव्रतोपरि पठितं मध्यमतीर्थंकरतीर्थेषु पुनः ऋजुप्रज्ञपुरुषापेक्षयोत्तरगुणवर्गे इति ॥

तथा च योगशास्त्रेऽपि—

अन्नं प्रेतपिशाचाद्यैः, संचरद्भिर्निरङ्कुशैः ।
उच्छिष्टं क्रियते यत्र, तत्र नाद्याद्दिनात्यये ॥

तथा—

घोरान्धकाररुद्धाक्षैः, पतन्तो यत्र जन्तवः ।
नैव भोज्ये निरीक्ष्यन्ते, तत्र भुञ्जीत को निशि ?

रात्रिभोजने दृष्टान् दोषानाह—

"मेधां पिपीलिका हन्ति, यूका कुर्याज्जलोदरम् ।
कुरुते मक्षिका वान्तिं, कुष्ठरोगं च कोलिकः ॥"
"कण्टको दारुखण्डं च, वितनोति गलव्यथाम् ।
व्यञ्जनान्तर्निपतितस्तालु विध्यति वृश्चिकः ॥"
"विलग्नश्च गले वालः, स्वरभङ्गाय जायते ।
इत्यादयो दृष्टदोषाः, सर्वेषां निशि भोजने ॥"

यदाहुः—

*मेहं पिपीलिआओ, हणंति वमणं च मच्छिआ कुणइ, जूआ-

---

* मेधां पिपीलिका घ्नन्ति वमनं च मक्षिका करोति
यूका जलोदरत्वं कोलिकः कुष्ठरोगं च ।
वालः स्वरस्य भङ्गं कण्टको लगति गले दारु च
तालुनि विध्यति अलिर्व्यञ्जनमध्ये भुञ्जानानाम् ।
जीवानां कुन्थ्वादीनां, घातनं भाजनधावनादिषु ।
एवमादिरजनीभोजनदोषान्, कः कथयितुं शक्नोति ॥

जलोयरत्तं, कोलियओ कोढरोगं च ॥ वालो सरस्स भगं, कंटो लग्गइ गलम्मि दारु च । तालुम्मि विंधइ अली, वंजणमज्झम्मि भुजतो ॥ जीवाण कुथमाईण घायणं भायणधोयणाईसु । एमाइरयणिभोयणदोसे, को साहिऊ तरइ ?,

नाप्रेक्ष्यसूक्ष्मजन्तून्, निश्यद्यात्प्राशुकान्यपि,
अप्युद्यत्केवलज्ञानैर्नादृत यन्निशासनम् ॥
*जइवि हु फासुगदव्वं कुथूपणगावि तहवि दुप्पस्सा,
पच्चक्खनाणिणो वि, हु राइभत्त परिहरंति ।
जइवि हु पिवीलगाई, दीसंति पइवमाईउज्जोए,
तहवि खलु अणाइन्नं, मूलवयविराहणा जेण ॥

लौकिकसंवाददर्शनेनापि रात्रि-भोजनं प्रतिषेधति यथा—

"धर्म्मविन्नैव भुंजीत, कदाचन दिनात्यये,
बाह्या अपि निशाभोज्यं यदभोज्य प्रचक्षते ।"

तच्छास्त्रमेव कथयति—

"त्रयीतेजोमयोभानुरिति वेदविदो विदु· ।
तत्करै पूतमखिल, शुभं कर्म्म समाचरेत् ॥"

पुनश्चैतदेवाह—

"नैवाहुतिर्न च स्नान, न श्राद्धं देवतार्चनम् ।
दानं वा विहित रात्रौ, भोजनं तु विशेषत. ॥"

---

* यद्यपि खलु प्राशुकद्रव्य, कुन्थुपनका अपि तथापि दुष्प्रेक्ष्या. ।
प्रत्यक्षज्ञानिनोऽपि खलु रात्रिभक्त परिहरन्ति ॥
यद्यपि खलु पिपीलिकादयो दृश्यन्ते प्रदीपाद्युद्योते ।
तथापि खल्वनाचीर्णं, मूलव्रतविराधना येन ॥

पुनश्च—"दिवसस्याष्टमे भागे, मन्दीभूते दिवाकरे ।
नक्तं तु तद्विजानीयान्न नक्तं निशि भोजनम् ॥"
"देवैस्तु भुक्तं पूर्वाह्णे, मध्याह्ने ऋषिभिस्तथा ।
अपराह्णे च पितृभि, सायाह्ने दैत्यदानवैः ॥"
"सन्ध्यायां यक्षरक्षोभि, सदा भुक्तं कुलोद्वह ।
सर्ववेलां व्यतिक्रम्य, रात्रौ भुक्तमभोजनम् ॥"

आयुर्वेदेऽप्युक्तम्—

"हृन्नाभिपद्मसंकोचश्चण्डरोचिरपायत ।
अतो नक्तं न भोक्तव्यं, सूक्ष्मजीवादनादपि ॥"

परपक्षसंवादमभिधाय स्वपक्षं समर्थयते—

"संसक्तजीवसंघातं, भुञ्जाना निशि भोजनम् ।
राक्षसेभ्यो विशिष्यन्ते, मूढात्मानः कथं नु ते ? ॥"

एतदेवाह—

"वासरे च रजन्यां च, यः खादन्नेव तिष्ठति ।
शृङ्गपुच्छपरिभ्रष्टः, स्पष्टं स पशुरेव हि ॥"

रात्रिभोजनविरतानां सविशेषपुण्यवत्त्वं दर्शयति—

"अन्हो मुखेऽवसाने च, यो द्वे द्वे घटिके त्यजन् ।
निशाभोजनदोषज्ञोऽश्नात्यसौ पुण्यभाजनम् ॥"

ननु यो दिवैव भुंक्ते तस्य रात्रिभोजनप्रत्याख्याने फलं नास्ति ? फलविशेषो वा कश्चिदुच्यतामित्याह—

"अकृत्वा नियमं दोषाभोजनाद्दिनभोज्यपि ।
फलं भजेन्न निर्व्याजं, न वृद्धिर्भाषितं विना ॥"

पूर्वोक्तस्य विपर्य्ययमाह—

"ये वासरं परित्यज्य, रजन्यामेव भुंजते ।
ते परित्यज्य माणिक्यं, काचमाददते जडाः ।"

ननु यदि नियमः सर्वत्र फलवान् ततो यस्य "रात्रावेव मया भोक्तव्यं न दिवसे" इति नियमस्तस्य का गति? रित्याह

"वासरे सति ये श्रेयस्काम्यया निशि भुजते ।
ते वपन्त्यूषरक्षेत्रे, शालीन् सत्यपि पल्वले ॥"

रात्रिभोजनस्य दुर्विपाकफलमाह—

"उलूककाकमार्जारगृध्रशम्बरशूकरा ।
अहिवृश्चिकगोधाश्च, जायन्ते रात्रिभोजनात् ॥"

वनमालोदाहरणेनायमपि रात्रिभोजनदोषस्य त्यागमहत्तां दर्शयति यथा—

"श्रूयते ह्यन्यशपथाननादृत्यैव लक्ष्मण. ।
निशाभोजनशपथ, कारितो वनमालया ॥"

शास्त्रं निदर्शनं च विना सकलजनानुभवसिद्धं—रात्रिभोजनत्यागफलमाह—

"करोति विरतिं धन्यो, य सदा निशि भोजनात् ।
सोऽर्द्धं पुरुषायुषस्य, स्यादवश्यमुपोषितः ॥"

तदेवं रात्रिभोजनस्य भूयांसो दोषास्तत्परिवर्जने तु ये गुणास्तान् वक्तुमस्माकमशक्तिरेवेत्याह—

"रजनीभोजनत्यागे, ये गुणा. परितोऽपि तान् ।
न सर्वज्ञादृते कश्चिदपरो वक्तुमीश्वरः ॥ ७० ॥

अमितगतिश्रावकाचारेऽपि रात्रिभोजनस्य निषेधः कृतः ।

यत्र राक्षसपिशाचसंचरो, यत्र जन्तुनिवहो न दृश्यते ।
यत्र भुक्तमपि वस्तु भक्ष्यते, यत्र घोरतिमिरं विजृम्भते ॥
यत्र नास्ति यतिवर्गसङ्गमो, यत्र नास्ति गुरुदेवदर्शनम् ।
यत्र संयमविनाशि भोजनं, यत्र संसजति जीवभक्षणम् ॥
यत्र सर्वशुभकर्मवर्जनं, यत्र नास्ति गमनागमक्रिया;
तत्र दोषनिलये दिनात्यये, धर्मध्यानकुशला न भुञ्जते ॥
भुञ्जते निशि दुराशयाय के, बुद्धिदोषवशवर्तिनो जनाः ।
भूतराक्षसपिशाचशाकिनी, संगतिः कथममीभिरस्य च ॥
वल्भते दिननिशीथयोः सदा, यो निरस्तयमसंयमक्रियः ।
शृङ्गपुच्छशफसंगवर्जितो, भण्यते पशुरयं मनीषिभिः ॥
आमनन्ति दिवसेषु भोजनं, यामिनीषु शयनं मनीषिणः ।
ज्ञानिनामवसरेषु जल्पनं, ज्ञानये गुरुषु सेवनं कृतम् ॥
भुञ्जते गुणवतैकदा सदा, मध्यमेन दिवसे द्विरुज्ज्वले;
येन रात्रिदिवयोरनारतं, भुज्यते स कथितो नराधमः ॥
ये विवर्ज्य वदनावसानयोर्वासरस्य घटिकाद्वयं सदा ।
भुञ्जते जितहृषीकवादिनस्ते भवति भवभारवर्जिताः ॥
ये व्यवस्थितमहः सुखप्रदा, शर्वरीषु रचयन्ति भोजनम् ।
निम्नगामिसलिलं निसर्गतस्ते नयन्ति शिखरेषु सारिमम् ॥
संत्यजन्ति सुखदायि येऽशिनो, रात्रिभोजनमपास्तचेतना ।
पावकोत्पणशिराश्रयास्तित, ते वदन्ति कल्पदायिकाननम् ॥
ये वुवन्ति दिनरात्रिभोगयोस्तुल्यतां रचितपुण्यपापयोः ।
ते प्रकाशतमसोः समानतां, दर्शयन्ति सुखदुःखकारिणोः ॥

रात्रिभोजनमधिश्रयन्ति ये, धर्मबुद्धिमधिकृत्य दुर्धियः ।
ते क्षिपन्ति पविवन्हिमण्डलं, वृक्षपद्धतिविवृद्धये ध्रुवम् ॥
ये विधृत्य सकलं दिनं क्षुधा, भुंजते सुकृतकांक्षया निशि ।
ते विवृध्य फलशालिनीं लता, भस्मयन्ति फलकांक्षया पुनः ॥
ये सदापि घटिकाद्वयं त्रिधा, कुर्वते दिनमुखान्तयोर्बुधाः ।
भोजनस्य नियमो विधीयते, मासि तैः स्फुटमुपोषितद्वयम् ॥
रोगशोककलिराटिकारिणी, राक्षसीव भयदायिनी प्रिया ।
कन्यका दुरितपाकसंभवा, रोगिता इव निरन्तरापदा ॥
देहजा व्यसनकर्मपण्डिताः, पन्नगा इव वितीर्णभीतयः ।
निर्धनत्वमनपायि सर्वदा, पात्रदानमिव दत्तवृद्धिकम् ॥
सकटं सतिमिरं कुटीरकं, नीचवित्तमिव रंध्रसंकुलम् ।
नीचजातिकुलकर्म्मसंगमः शीलशौचशमधर्मनिर्गमः ॥
व्याधयो विविधदुःखदायिनो, दुर्जना इव परापकारिणः ।
सर्वदोषगणपीड्यमानता, रात्रिभोजनपरस्य जायते ॥
पद्मपत्रनयनाः प्रियंवदाः, श्रीसमाः प्रियतमा मनोरमाः ।
सुन्दरा दुहितरः कलालयाः, पुण्यपङ्क्तय इवात्तविग्रहाः ॥
अंशितव्यसनवृत्तयोऽमला, पावना हिमकरा इवांगजाः ।
शक्रमन्दिरमिवास्ततामसं, मन्दिरं प्रचुररत्नराजितम् ॥
लब्धचिन्तितपदार्थमुज्वलं, भूरिपुण्यमिव वैभवं स्थिरम् ।
सर्वरोगगणमुक्तदेहता, सर्वशर्म्मनिवहाधिवासिता ॥
ज्ञानदर्शनचरित्रभूतयः, सर्वयाचितविधानपण्डिताः ।
सर्वलोकपतिपूजनीयता, रात्रिभुक्तिविमुखस्य जायते ॥

घूकरी शबरी वानरी चीवरी, रोहिणी मण्डली शोकिनी क्लेशिनी ।
दुर्भगा निस्सुता निर्धवा निर्धना, शर्वरीभोजिनी जायते भामिनी ॥
मान्यवैरर्चिता देहमैर्धन्विता, भूषणैर्भूषिता व्याधिभिर्वर्जिता ।
श्रीमती श्रीमती धीमती धर्मिणी, वासरे जायते भुक्ति‍त शर्मणी ॥
रात्रिभोजनविमोचिनो गुणा, ये भवन्ति भवभागिनां परे ।
तानपास्य जिननाथमीशते, वक्तुमत्र न परे भवादृशे ॥

इत्यनेकशास्त्रसम्मतरात्रिभोजनं परिहेयमिति भावः । उपधानं तपः-
प्रणयश्च प्रकर्षेण नयं न्यास्य "उपधानं शिवे गण्डौ प्रणयेऽपि नपुंस-
कमिति मेदिनी" । तद्विद्यतेऽस्यासावुपधानवान्, तपोनिष्ठदेहो भव-
वानपि, दुःखसमार्थ दुःखमपाकर्तुमर्थमारं भान्त्वभाग, पारं परं लोक
"पारं परतटे प्रान्ते इति मेदिनी"। "पारं मुधि इत्यभिधानप्पदीपिका
बौद्धकोषः" । परलोक पारलोक, अथवाऽऽत्र मनुष्यलोक पारं दूर
वर्ति तीरं 'पारं परम्हि तीरम्हि' इति अभिधानप्प०" । अथवा नर
कादिक स्वरूपतत्त्वमापणहेतु तत्त्व शास्त्रा सर्वमेव तत्, भवद्भिर्भगवान्
सर्वथारं बहुशो निवारितवान् त्यक्तवान् एवमुक्त कथित प्राणातिपा-
तादिक निषेधादिक स्ततोऽनुष्ठाय परांश्च-स्थापितवान् नहि स्वतोऽ-
स्थित परांश्च स्थापयितुमक्षमित्यर्थ स्वयमधर्मे स्थित पराञ्जनान्धर्मे
स्थापयितुमसमर्थः । स्तुतिरूपश्लोकमिति । "सुवाग्मोऽपि न्यायं स्वयमन
विरुद्ध व्यवहरन्, परे नाश कश्चिद्दमयितुमदान्तं स्वयमिति । यथा
सिद्धिमित्यैवं मनसि भगवदाधाय सकलं, समात्मानं तावद्दमयितुमदान्त
व्यवसित ॥ २८ ॥

अन्वयार्थ—[वे] उस [उपधानवं] तपस्वी [प्रभु] भगवान् महा-
वीरने [दुःखक्षयहाय] आठ प्रकारके कर्मरूपी दुःखोंको दूर करनेकेलिए

[सराइभत्त] रात्रि भोजन सहित [इत्थी] स्त्री-सभोगादि पापोंको [वारिया] छोडकर [सव्व] तथा समस्त [आर] इस [लोग] लोकको (च) और [परं] परलोकको [विदित्ता] जानकर [सव्ववारं] अधिकाधिक प्रमाणमें समस्त परभावका [वारिया] निवारण किया ॥ २८ ॥

भावार्थ—जो वक्ता जिस प्रवृत्तिका उपदेश करता है वह वैसा ही वर्तन भी करता है, तब ही उसके उपदेशका प्रभाव पडता है। महावीरप्रभुने मोक्ष-पानेका जो उपदेश किया उसमें वे स्वय भी सलग्न रहे हैं। इसीसे कहा गया है कि-भगवान्‌ने आठ कर्मरूपी दु खोंका नाश करनेके लिए स्त्री-ससर्ग तथा रात्रिभोजन और १८ पापोंका स्वय त्याग किया था। इसके अतिरिक्त घोर तप करते हुए इसलोक-परलोक अथवा मनुष्यलोक नरकलोकादिका रहस्य जानकर उन सबका त्याग किया ॥ २८ ॥

भाषा-टीका—भगवान् स्त्रीससर्ग और स्त्रीके पडौसमें रहने तकके कट्टर त्यागी थे। उन्होंने ब्रह्मचर्य्य पालन करनेके लिए नव वाड विशुद्ध शील पालन करना बताया है। यहा तक तो कहा है कि-जिस स्थान पर स्त्री बैठकर गई है, ब्रह्मचारी उस स्थान पर एक घटा तक बिल्कुल न बैठे। क्योंकि उसके अशुद्ध और गर्म परमाणुओंका प्रभाव सुशीलके लिए हानिकर है। यही ब्रह्म-चारिणीके लिए भी समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त आप रात्रिभोजनके भी प्रत्यक्ष विरोधमें थे, क्योंकि रात्रिमें भोजन करनेसे त्रस जीवोंकी हिंसाका होना अनिवार्य सयोग है। इसी कारणसे रात्रिभोजन करना मना किया है।

रात्रिभोजन इस लिए वर्जित है कि रात्रिमें भोजन करनेवालोंके लिए, हिंसाका निवारण करना अशक्य है। अत हिंसाका त्यागी रातमें भोजन न करे। मगर जो जीव तीव्र राग भाव रखते हैं उनसे इसका त्याग नहीं हो सकता। क्योंकि जिसे भोजनसे अत्यधिक अनुराग होगा वह ही प्राणी रात दिन खाता पीता रहेगा। और जहा राग बन्धन होता है वहा प्रमत्तयोग व्यापार अवश्य रहता है। और प्रमत्त प्राणी हिंसा अवश्य करेगा।

बहुतसे यह भी कहते हैं कि यदि सदाकाल भोजन करनेमें हिंसा होती है तो दिनमें भोजन न करके रातको ही खाना चाहिए ? क्योंकि इस प्रकार करनेसे सदैव तो हिंसा न होगी। मगर यह बात नहीं है, यद्यपि उदरके

करने की अपेक्षा सब प्रकारके भोजन समान हैं। परंतु अन्नके भोजनमें जितना साधारण राग भाव है, उतना मांस भोजनमें नहीं। मांस भोजन में विशेष राग भाव है। जितना घास खानेवाली गायको घास मिलने पर उसके समय सामान्य रागभाव है, उतना भोगा रागभाव भूखे मारनेवाली सिंहीको नहीं। सिंहीको मांस भोजनमें विशेष रागभाव है। क्योंकि अन्नका भोजन सहजमें मिल जाता है और मांसका भोजन अतिशय प्रमादिककी अपेक्षा अथवा शरीरादिकके मोहकी अपेक्षा विशेष प्रयत्नसे तैयार किया जाता है। इसी तरह दिवसका भोजन सब मनुष्योंको सहज ही प्राप्त होजाता है। इसीलिए उसमें साधारण रागभाव पाया जाता है परन्तु रात्रि भोजनमें तो शरीरादिक व प्रमादिक पोषण करनेकी अपेक्षा विशेष रागभाव आता है। अत एव रात्रि-भोजन सर्वथा त्याज्य ही है।

इसके अतिरिक्त दीपकके प्रकाशमें बारीक जीव आखोंसे ठीक २ नहीं दीखते तथा रात्रिमें दीपकके प्रकाशसे नाना प्रकारके ऐसे छोटे बडे जीव भूमपे आजाते हैं, जो दिनमें कभी दिखाई नहीं पडते। अत एव रात्रि भोजनमें तो प्रत्यक्ष हिंसा है, और रात्रिमें भोजन करनेवाला हिंसासे कभी बच नहीं सकता। अत जिस महाभाग्यशालीने रातमें आहार करना सर्वथा छोड दिया है वही सच्चा अहिंसक है। रात्रि भोजनके छोडे बिना अहिंसाव्रतकी सिद्धि नहीं हो सकती। अत एव कोई २ आचार्य इसे अणुव्रतमें भी गर्भित करते हैं।

सागारधर्मामृतमें कहा है कि—अहिंसाव्रतका साधक रात्रि भोजनका त्याग अवश्य करता है। क्योंकि मूल व्रत की शुद्धि के लिए तथा अहिंसाव्रतकी रक्षाके निमित्त रात में चार प्रकार का आहारकरना दीक्षयोगसे सभी जीवोंके लिए वर्जित है।

पुराने विचारके मनुष्योंका यह भी मत है कि रात होनेपर भूत प्रेत आकर आहारको झूठा करदेते हैं। और बहुतसे जीव ऐसे भी हैं जिनको रात्रिमें देखना कठिन है। यदि यूं आदि जीव भोजन में खाया जाय तो जलोदर जैसे रोगोंका हो जाना कुछ असंभव नहीं। अतः रात्रि भोजनका त्याग ही उपरोक्त आपत्तियोंसे मुक्त होकर इच्छित विषयके पालने बच सकता है।

वनमालाने रात्रिभोजनके दोष की शपथ दिलाई थी।

जैन रामायणमें कहा है कि-रामजी लक्ष्मण और सीताके साथ दक्षिणापथमें घूमते २ कूर्चनगरमें आ निकले। वहा महीधरराजाने अपनी वनमाला नामक पुत्रीका विवाह लक्ष्मणसे करदिया। कुछदिन रहकर वहाँसे जब तीनों विदा होनेलगे तब वनमाला भी लक्ष्मणके साथ चलनेलगी। परन्तु लक्ष्मणने उसे साथमें न चलनेकी सम्मति दी। यह सुन स्वामीके विरहमे कातरभाव होकर बोली कि नाथ! आप मुझे वापस कबतक आकर ले जाओगे? यह विश्वास न होनेसे साथ ही रहूगी। लक्ष्मणने उसे विश्वास दिलानेके लिए प्राणातिपात जैसे अनेक पापकी कडी शपथ ली। तब उसने उन शपथोंपर असन्तोष प्रकट किया और रात्रिभोजनके पापकी शपथ दिलाई। लक्ष्मण वह शपथ लेकर रामके साथमें जामिला। उस समय रात्रि भोजनका पाप चार प्रकारकी हत्याओंसे भी अधिक समझा जाता था।

किसीने कहा है कि—सुपात्र पुरुष दिनमें आते हैं वे रातको नहीं आ पाते, अत दिन अस्त होनेपर उनको आहार देनेसे वञ्चित रह जाता है। अत दानी और कल्याणकी कामना रखनेवालापुरुष रातमें भोजन करना त्याग देता है।

पुरुषोंके तीन प्रकार—उत्तम पुरुष मध्यान्ह समय भोजन करते हैं, मध्यम पुरुष दोवार खाते हैं, परन्तु जो सर्वज्ञके कहे हुए धर्मसे अनभिज्ञ हैं, वे पशुकी तरह दिनरात चरते रहते हैं।

दो घडी दिन चढनेतक रात्रि निकट रहती है, दो घडी दिन बाकी रहने पर रात्रि समीप में आ जाती है, अत सवेरे का दुघडिया धर्माराधन और स्वाध्यायके लिए है। तथा साझके दुघडियेमें प्रतिक्रमणका आरंभ होजाता है। अत उन दो दो घडियोंको छोड कर जो आहार करते हैं वे प्रशसनीय पुरुष हैं। क्योंकि उनका आधा जन्म-समय तो उपवास करने में ही व्यतीत हो गया है।

श्रावककी ११ प्रतिज्ञा (प्रतिमा) ओंमें छठवीं प्रतिज्ञा रात्रिभोजनके छोडने की होती है, जिसमें अन्न, पानी, खानेकी वस्तु मिठाई आदि, और पान सुपारी आदि स्वादकी वस्तुएँ तथा चाटनेकी वस्तुएँ आदि जो रातमें नहीं भोगता वह सब त्रसप्राणी जीवोंकी [illegible]

छठा व्रत मुनिओंका रात्रि भोजन त्याग है—मुनिधर्म तो महाव्रतोंको लेकर रात्रिभोजनसे सर्वथा विरक्त हो जाता है। दशवैकालिकमें इसका छठवां व्रत इस प्रकार किया गया है। और वह गुरुके सम्मुख यों प्रतिज्ञा लेता है कि—

भगवन्! मैं रात्रिभोजन करनेका त्याग करता हूं। और अशन पानी खाद्य स्वाद्यादि पदार्थोंका रात्रि के समय न भोजन करूंगा न कराऊंगा न करते वालोंको अनुमोदना भी करूंगा। सारी उमरभरकेलिए तीनकरण और तीन योगोंसे अर्थात् मन-वचन-कायासे रातमें आहार न करूंगा न कराऊंगा, तथा अनुमोदन भी न करूंगा। हे भगवन्! उस रात्रिभोजनके पापरूप दंडसे मैं पीछे हटता हूं, उसका प्रतिक्रमण करता हूं, अपने आत्माकी साक्षीसे उसे निंद्य समझता हूं, गुरुकी साक्षीसे उसको घृणित समझता हूं, और आत्मासे उस पाप का त्याग करता हूं।

अहिंसा महाव्रतकी रक्षाकेलिए रात्रिभोजनका त्याग किया गया है—और यह भी इस जन्मके अन्तिम श्वास तक छोड़ा गया है।

इसे महाव्रत न कह कर व्रत इसलिए कहा है कि—महाव्रतोंकी तरह इसका पालन करना अधिक कठिन नहीं है। इसीकारणसे इसे मूलगुणमें न रख कर उत्तरगुणमें रखदिया है।

और इसे महाव्रतोंके पीछे इस लिए रखा है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरके समय मनुष्य ऋजुप्राज्ञ समान ऋजुजड और वक्रजड होता है। और मध्यके तीर्थंकरोंके समयके मनुष्योंकी बुद्धि ऋजुप्रज्ञ होनेसे इसका पाठ सुगमतया समझनेके लिए महाव्रतके पीछे जोड़ दिया है। इससे यह भी सिद्ध है कि महाव्रतोंकी भांति ही इस व्रतका पालन भी किया जाया करे। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी तथा भिन्नाभिन्नकी दृष्टिसे इसके अनेक प्रकार हैं जैसे—द्रव्यसे अशनादि क्षेत्रसे अढ़ाई द्वीपमें कालसे रातके समय और भावसे द्वेषरहित होकर इसका पालन करना आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त और प्रकार भी पाए जाते हैं। जैसे कि—आहारादि रातमें ग्रहण करना और रातमें खाना रातमें ग्रहण करना और दिनमें खाना दिनमें ग्रहण करना और रातमें खाना दिनमें ग्रहण करना और दिनमें खाना।

इन चारों भंगोंमें पहलेके तीन भंग साधुके लिए अशुद्ध अर्थात् ग्राह्य नहीं हैं, और अन्तिम शुद्ध भंग ग्राह्य है।

द्रव्य और भावकी अपेक्षासे भी रात्रिभोजनके चार भंग बन जाते हैं। जैसे–केवल द्रव्यसे, केवल भावसे, द्रव्य और भाव दोनोंसे, तथा द्रव्य और भावसे रहित। सूर्योदय या सूर्यके अस्तका सन्देह होनेपर भी भोजन किया जाता है, वह केवल द्रव्यसे रात्रि भोजन है भावसे नहीं है। "मैं रातमें भोजन करूं" ऐसा विचार हो जाय और खाया पिया कुछ नहीं है तब वह केवल भावसे रात्रि भोजन है, द्रव्यसे नहीं। बुद्धि काम करते हुए भी रात्रिमें आहार कर लेना, यह द्रव्य और भाव दोनोंसे है और न रात्रिमें भोजन करना न करने की अभिलाषा ही खडी करना यह द्रव्य और भावसे रहित भंग है।

बुद्धोंके आठ उपदेशोंमें भी रात्रिभोजन वर्जित है, जैसे–

१ 'पाणातिपाता' वेरमणि सिक्खापद 'समा दियामि'।

२ 'अदिन्नादाना' वेरमणि सिक्खापदं समा 'दियामि'।

३ 'अब्रह्मचारिया' वेरमणि सिक्खापद 'समादियामि'।

४ 'मुसावादा' वेरमणि सिक्खापद समादियामि।

५ 'सुरामेरय-मज्ज-पमादट्ठाना' वेरमणि सिक्खापद समादियामि।

६ 'विकालभोजना' वेरमणि सिक्खापदं समादियामि।

७ 'नच्चगीतवादित विसुकदस्सन माला गन्धविलेपनधारण, मण्डन भूषणट्ठाना' वेरमणि सिक्खापद समादियामि।

८ 'उच्चाशयन, महाशयना,' वेरमणि सिक्खापद समादियामि।

भावार्थ—मैं किसी प्राणधारी जीवका प्राण लेनेसे विरक्त होता हू।

२ किसी दूसरेकी वस्तु विना दिए न लेनेकी प्रतिज्ञा करता हू।

३ सब प्रकारके स्त्रीसमागम से वन्चित होनेकी प्रतिज्ञा करता हू।

४ सब प्रकारके झूठ बोलने की प्रतिज्ञा लेकर विरक्त होता हू।

५ किसी प्रकारका मादक द्रव्य या गांजा-भांग-मदिरादिक सेवन करनेसे विरक्त होता हू।

६ असमय अर्थात् दोपहरके बाद भोजन करनेसे बाज आकर विरक्त होता हू [बौद्ध लोक दोपहर बाद कुछ नहीं खाते और रातमे भी नहीं खाते]

७ नाचने गाने होम बजाने आदि अनेक प्रकारके तमाशे देखने तथा फूल-माला गन्ध लेपनादिक लगाने तथा आभूषण शृंगार करनेसे विरक्त होता हूं।

८ ऊंचे और बडे आराम देनेवाले आसनों और बडी शय्याओंमें शयन करनेका त्याग करता हूं। इत्यादि—छठवें नियममें रात्रि भोजन इसके यहां भी वर्जनीय है।

घोर अन्धकारमें आंखोंसे कुछ नहीं दीखता उस समय रातमें उडने-वाले जीवोंका भोजनमें पडजाना भी संभव है अतः रातमें कौन खा-भी सकता है?

रात्रि भोजनके प्रत्यक्ष दोष—

"भोजनमें चींटी खाई जाने पर बुद्धिका नाश करती है, जूं खाई जाय तो जलोदर हो जाता है मक्खीसे वमन हो जाता है पेटमें मकड़ी जानेसे कोढ हो जाता है। कांटा या लकड़ी का टुकड़ा गलेमें पीडा कर देता है। शाक भाजीमें बिच्छू आजाय तो वह तालुको डंक मारकर बेध देता है। गलेमें यदि बाल अटक जाय तो स्वरका भंग हो जाता है, रातमें खानेसे ये दोष प्रकट हो जाते हैं।" "रातमें बरतन मल कर साफ करते समय कुंथुआ आदि जन्तुओंके जीव मसले जाते हैं।" "रातमें प्रासुक वस्तुएं भी न खानी चाहिए क्योंकि मोदक फलादिकों के बीच रातमें दिख नहीं सकते।" 'सूर्यके तेजमें ऋग् यजु साम इस तरह तीनों वेदोंका तेज है यह वेदज्ञोंका कहना है, और इसी लिए सूर्यका नाम त्रयीतनु पड़ा है, उसके किरणोंसे सब कुछ पवित्र हो जाता है और समस्त शुभकर्म उसके प्रकाशमें हों उसके अभावमें शुभकर्म जो भोजन पानादिक हैं वे न करने चाहिए।"

"वैदिक कहते हैं कि आहुति स्नान श्राद्ध और देवार्चन दान आदि रात्रिमें विधान करने योग्य नहीं हैं। परन्तु रात्रिभोजन तो बिल्कुल असम्भव है।"

"दिनके आठवें भागमें सूर्यका प्रकाश मन्द हो जाता है, अतः बुद्धिमानोंने उसे भी रात्रि समझा है। और उस समय भी भोजन वर्जनीय है।"

"देवता पहले पहरमें भोजन करते हैं, ऋषि मध्यान्हमें भोजन करते हैं, तीसरे पहरमें पितृलोकोंकी भोजन-निवृत्ति होती है, चौथे पहरमें दैत्य और दानव भोजनसे निवृत्त होते हैं। सन्ध्यामें यक्ष राक्षस खाते हैं, अतः हे युधिष्ठिर! सब देवगणोंकी वेलाका अतिक्रम होनेसे रात्रि भोजन अभोज्य है।"

आयुर्वेदमें रात में खाना पीना मना है—

"सूर्यके अस्त हो जाने पर हृदयकमल और नाभिकमल अतिशय सकुचित हो जाते है, अत रातमें भोजन न करना चाहिए, क्योंकि अनेक सूक्ष्म जीव खाए जाते हैं, और रातमें खाया गया भोजन स्वास्थ्यकर नहीं होता, और भलि भान्ति जाठरीमें जाकर उसका पाक-भी नहीं बनता।"

"जो दिनरात वे समय खाने पीनेमें ही मस्त रहता है वह बिना सींग पूंछ का पशु समान है। अत मनुष्यको दिनमें भी नियमित भोजी-भोजन सयमी होना चाहिए।"

दो घडी दिन चढे तक तथा दो घडी दिन रहने पर जो भोजन पान त्याग देता है, वह रात्रिभोजनके दोषोंको जाननेवाला पुण्यका भागी होता है।"

"जिसने दिनमें भोजन करनेका अभ्यास या रिवाज तो डाल लिया है, मगर प्रतिज्ञा नहीं ली है तो क्या उसे निवृत्ति रूप पुण्य नहीं मिलता? इसका उत्तर यह है कि-किसीने रकम तो कर्जमें देदी है मगर व्याज नहीं खोला है, अत वह वसूल करते समय व्याज लेनेका हकदार नहीं होता क्योंकि दुनियादारोंमे बोलीका मूल्य है।"

"जो दिनमें भोजन करना त्याग कर रातमें ही खाना पसद करता है, वह मानो माणिक्यको छोडकर काचके टुकडेको पसद करनेवाला जड बुद्धि है।"

"दिनके होते हुए भी जो कल्याणकी इच्छासे रात्रिमें भोजन करते हैं वे सुन्दर और कमाए हुए 'खेत' को छोड कर मानो खारीली-नमकीन रेहीदार भूमिमें धान्य बोना चाहते हैं।"

"रात्रिमें खानेसे उल्लु-काक-बिलाव-गिद्ध-राक्षस-साप-बिच्छू-गोह-चमगीदड-वागुल आदि अनेक बुरी योनिएँ पाते हैं।

"जो पुरुष रात्रि-भोजन त्याग देता है वह धन्यवादका पात्र है, क्योंकि वह अपनी आधी आयु उपवासमें बिता रहा है।"

"रात्रि-भोजनके त्यागमें जो जो गुण है, उनके विषयमें अधिक क्या कहा जाय उसके सब प्रकारके लाभ सर्वज्ञ ही जानते हैं।"

इसके अतिरिक्त अभिलक्ष्यकी भावप्रचारमें भी अनेक दोष दिखाए हैं,

जैसे—"रातमें राक्षस और पिशाच घूमते हैं, जीवोंके समूहको भले प्रकार देखा नहीं जाता, जिस वस्तुका नियम किया हो उस पदार्थको भी अनजानमें खा सकता है, और उससमय घोर अन्धकार छाया रहता है।" "उस समय सुपात्र साधु महापुरुषोंका भी आना कठिन है, जिसमें गुरुजनका सेवा सत्कार नहीं किया जा सकता और संयमका निरन्तर विनाश हो जाता है, यहां तक कि छोटे मोटे जीव भी भक्षण कर जाता है।" "जिसमें दानादिक शुभकर्म-भी वर्जित हैं, धर्मोपदेश आदि भी उस समय बिलकुल बंद हो जाता है, जो एकान्त दोषोंका घर है जिसमें विनय अभाव होजाता है, ऐसी रात्रिमें धर्मध्यानानुरागी मनुष्य भोजन कभी नहीं करते।" "जो दुराचारके कारण जीभके स्वादके फेरमें पड़ कर रात्रिमें भोजन कर लेते हैं वे भूत प्रेतोंकी संगतिको न छोड़ सकेंगे।" "जिसने यम-नियम-संयमकी क्रियाओंका त्याग कर दिया है, और दिनरात खाने पीनेमें ही चित्त लगता है, उसे बुद्धिमान बिना सींग पूंछका पशु ही समझते हैं। मगर उसके पशुओं जैसे खुर भी तो नहीं हैं" "बुद्धिमान् शारीरिक सुख और जीवरक्षाके लिए दिनमें भोजन करते हैं, रात्रिमें आरामसे सोते हैं, यथोचित समय विचार कर बोलते हैं, तथा आत्मशुद्धिके लिए गुरु जनकी सत्संगति और सत् शास्त्रका श्रवण-मनन और निदिध्यासन करते हैं।" "गुणवान् और उत्तम पुरुष सदैव दिनमें एक बार भोजन करते हैं, मध्यम-पुरुष उनका दिनमें दो बार आहार करते हैं, और जो दिनरात निरन्तर चरते ही रहते हैं वे मनुष्योंमें अधम हैं।" "जो पुरुष दिनके आदि और अन्तकी दो घड़ियोंको छोड़ कर भोजन करते हैं, उनको कभी दारिद्र्य विपत्तिका भय नहीं रहता वे इन्द्रियोंके घोड़ोंको जीतकर संसार भरके स्वामी एकदम इसके हो जाते हैं।" "जो पुरुष अपने पास दीपक रखकर रातमें खाते हैं मानो वे समानके नीचेकी और पहाड़ोंकी चोटीके ऊपर पहुंचना चाहते हैं" "जो रात्रि भोजनको सुखदायक जीवन मानता है वह अपने थके हुए जनको मानो पक्ष्यदायक मानता है, मगर यह अनहोनी बात है।" "जो दिन और रातके खानेमें बराबर पुण्य और पापकी मान्यता रखते हैं वे मानो सुख और दुःखके प्रकाश प्रभाव और अन्धकारको समान देखते हैं।" "जो धर्मबुद्धिसे रातमें खाते हैं, वे शिलाको पत्थरोंकी प्रकृतिको कमलेके-

लिए मानो वज्र और आगको फेंक रहे हैं।" "जो पुण्यकी अभिलाषासे दिन भर तो खूब भूखे रहते हैं, और रात पडने पर खाने लग पडते हैं वे फलदार लताको पुन फलकी इच्छासे मानो काट रहे हैं।" "जो पुरुष दो घडी दिन चढे तक सवेरे नवकारसी तप रखते हैं, और दो घडी दिन रहनेपर चरम प्रत्याख्यान कर देते हैं, वे एक मासमें मानो दो उपवासका फल प्राप्त कर लेते हैं।" "रातमें खानेवालोंको ये सामग्रिए मिलती हैं, उन्हें रोग और शोक युक्त तथा कलह करनेवाली राक्षसीकी तरह डरानेवाली स्त्री मिलती है, महापापसे उत्पन्न अन्तराय दु ख देनेवाली कन्या प्राप्त होती है, पुत्र व्यसनी और काले सापकी तरह डरावने होते हैं, घरमें दरिद्रता रहती है, छिद्रान्वेषक नीचपुरुषकी लक्ष्मी की तरह सकट रूप अन्धकारसे परिपूर्ण घर होता है। नीच जातिमें पैदा होकर नीच कर्म करने पडते हैं। समभाव-सत्य-शील निर्लोभताका अभाव रहता है, अन्यका अनिष्ट करनेवाले दुर्जनकी तरह अनेक दु ख देनेवाली व्याधिसे घिरा रहता है। समस्त दोषोंके समूहसे पीडित रहता है। इत्यादि अनेक दोषोंकी उत्पत्ति हो जाती है।"

रात्रि-भोजन त्यागने वालोंके गुण—"कमल पत्रके समान आखों-वाली, प्रिय वचन बोलनेवाली, मनोहर लक्ष्मीकी समानता रखनेवाली स्त्री उसे प्राप्त होती है, कला और विद्याकी खान, पुण्यकी पक्तिकी तरह सुन्दर शरीर-वाली, कन्या मिलती है।" "व्यसन प्रवृत्तिसे रहित चन्द्रमाकी भाति उसके घर निर्मल चरित्रवान् पुत्र होता है। इन्द्रके मन्दिरकी तरह अन्धकार रहित प्रचुर रत्नोंसे शोभित मकान मिलते हैं। स्थिर वैभव पाते हैं, वाञ्छित पदार्थ मिलते हैं, रोग रहित सुन्दर शरीर धर्मसाधनके लिए प्राप्त होता है, अधिक क्या कहा जाय उसे सब प्रकारके सुख समूह प्राप्त होते हैं।" "इसके अति-रिक्त ज्ञान-दर्शन और चरित्रकी आन्तरिक सम्पत्तिसे भी उसका आत्मा अलकृत होता है, १४ ब्रह्माण्डोंका पति होकर सुर-असुर नर आदि के पूजनीय होते हैं, वैभवके पानेका इन्हें अहकार भी नहीं होता, न्यायसे धन कमाते हैं, कर्मशूर होते हैं, रात्रि-भोजनसे विमुख और त्यागिओंको ये सामग्री सयोग मिलते हैं।" "वे बान्धवों द्वारा पूजित होते हैं, जिनकी पुत्रादि द्वारा खूब सेवा होती है, नीरोग होते है, लक्ष्मी जैसी शर्मीली बुद्धिमती स्त्री

मिलती है जिसका स्वभाव धर्मात्मा और सच्चरित्रानुगामी होता है, वे सब सुख दिनमें यत्नपूर्वक भोजन करनेवाले सज्जनोंको मिलते हैं।”

इत्यादि अनेक शास्त्र संमत होनेसे रात्रिभोजनको अप्राकृतिक और घृणित समझकर छोड़ देना चाहिए। प्रभु महावीर रात्रिभोजनके सर्व त्यागी थे और औरोंको भी त्याग करनेका उपदेश करते थे तथा सदैव तपश्चरण किया करते थे अपार नम्रता थी उनकी वाणी अनन्तनयोंसे युक्त थी। उन्होंने संसार और मोक्षका स्वरूप बतलाया था सब प्रकारके आरम्भोंसे आप रहित थे औरोंको भी आरम्भके पापकार्यसे सदा रोकते थे क्योंकि जो स्वयं अधर्मी और अनीतिमान् हो वह औरोंको धर्म और नीतिमें क्योंकर स्थापन कर सकता है। जो स्वयं धर्मिजन-नैतिक जीवन व्यतीत करनेवाला हो वही औरोंको पाप-कर्मोंके गढ़ेसे निकाल सकता है। किसीने कहा भी है कि 'जो स्वयं तो न्याय की बात कहता हो परन्तु न्यायके विरुद्ध आचरण करता हो तो वह औरोंपर अपना कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सकता क्योंकि 'अशान्त' कभी इन्द्रिय निग्रह नहीं कर सकता।”

और प्रभुने इस लोक और परलोक को जानकर पापोंसे सर्वथा निवृत्ति प्राप्त की थी ॥ २८ ॥

गुजराती अनुवाद-भगवान् महावीर प्रभु स्त्रीसंसर्ग अने बीजी वर्जीने पोताना पण कट्टर त्यागी हता तेमणे स्वपरकल्याणार्थ ब्रह्मचर्यनुं पालन कर्युं कह्युं छे के स्थान पर स्त्री बेठी होय त्यां ब्रह्मचारी एक क्षणमात्र मुहूर्तमां नव बेसे कारण के तेवा अशुद्ध परमाणुओ सुशील पुरुषने हानिकर छे। एम ब्रह्मचारीओ माटे समजी लेवुं।

रात्रिभोजन त्यागी-

ते उपरान्त तेओ रात्रिभोजनना पण प्रखर विरोधी हता कारण के रात्रिभोजनथी घणा जीवोनी हिंसा थाय छे तेथी रात्रिमां भोजन करवानी मना करवामां आवी छे हिंसा थवाथी रात्रिभोजन न ज करे, जे जीव तीव्र लुब्ध भाव सहित होय छे ते तेनो त्याग करी शकतो नथी कारणके जे जीवने भोजन पर अधिक प्रीति होय छे ते रात्रे के दिवसे खातो पीतो ज रहेछे ज्यां लग लम्पट होय छे त्यां प्रमत्तभाव जरूर रहे छे अने प्रमत्तभावयुक्त प्राणी

घणाओ एम पण कही दे छे के जो भोजन करवामा सदा काळ हिंसा थई जाय छे, तो दिवसे भोजन न करता रात्रेज खावु जोइए, कारण के तेम करवाथी सदा काळनी हिंसा थती नथी, परन्तु ते वात ठीक नथी, जो के उदर भरणनी अपेक्षाए सर्व प्रकारना भोजन समान छे, पण शाकाहारी भोजनमा जेटलो साधारण अने सात्विक भाव छे, तेटलो मास भोजनमां सात्विक–भाव नथी, मास भोजनमा विशेष रागभाव छे,। घास खानारी गायने घास खाती वखते जेटलो सामान्य रागभाव छे, तेटलो उदर मारनारी हिंसक बिलाडीमा नथी, बिलाडीने मास भक्षणमा विशेष राग भाव छे। 'अन्न भोजन' सहजमा उत्पन्न थाय छे अने मळे पण छे, अने मास भोजन अतिशय कामादिकनी खातर अथवा शरीरादिकना मोहनी खातर विशेष प्रयत्ने करवामा आवे छे, ए रीते दिवसनु भोजन सर्व मनुष्योने सहजज प्राप्त थाय छे, तेथी तेमां साधारण रागभाव थाय छे, परन्तु रात्रिभोजनमा तो शरीरादिक तथा कामादिकना पोषणनी खातर विशेष राग भाव आवे छे, तेथी पण रात्रिभोजन त्याज ज छे।

दीपकदोष–वळी दीवाना प्रकाशमा क्षीणा जन्तुओ आंखथी बराबर देखाता नथी, तेमज रात्रे दीवाना प्रकाशथी जुदी जुदी जातना एवा नाना मोटा जन्तुओ फरवा लागे छे, के जे दिवसे क्यारेय पण देखातां नथी, तेथी रात्रिभोजनमा प्रत्यक्ष हिंसा छे, ने रात्रिभोजन करनारा हिंसाथी पण क्यारेय बची शकता नथी,।

तेथी जे भाग्यशाळी रात्रि भोजननो सर्वथा त्याग करे छे, ते साचो अहिंसक छे, रात्रिभोजनना त्याग वगर अहिंसा व्रतनी सिद्धि नथी थई शकती। तेथी कोई कोई आचार्य तेनो प्रथम अणुव्रतमा समावेश करे छे।

सागारधर्मामृतमां कह्यु छे के अहिंसाव्रतनो साधक रात्रिभोजननो अवश्य त्याग करे छे, कारण के मूलव्रतनी शुद्धिने माटे तेमज अहिंसा व्रतनी रक्षा खातर रात्रे चार प्रकारनो आहार त्रियोगे करी धर्मी आत्माओ माटे वर्जित छे।

जुना विचारोना मनुष्योनो ए पण मत छे के रात्रि थतां भूत प्रेत आवीने आहारने अभडावी दे छे, वळी घणा जीवो एवां छे, के रात्रे ते जोवा बहु मुश्केल

पडे छे जो तू आखि जीव भोजनमां आवी जाय तो जलोदर जेवा रोगोनो थवानो संभव रहे छे तेथी रात्रिभोजनना आमीष उपरोक्त आपत्तिओथी बचीने दूर रही शके छे ।

वनमाळा नामनी राजकन्याए पोताना पति लक्ष्मणजीने रात्रिभोजनना दोषना सोगन खवडाव्या हता । जैन रामायणमां कहेलुं छे के रामचन्द्रजी-लक्ष्मणजी अने सीताजी साथे वनवासमां फरता फरता कूर्बवरमां आवी पहोंच्या त्यां महीधर राजाए पोतानी वनमाळा नामे पुत्रीना लग्न लक्ष्मण साथे कर्यां थोडा दिवसो रही चार आवी ज्यारे प्रवेश विदाय थवा लाग्या त्यारे वनमाळा पण लक्ष्मणनी साथे चालवा लागी त्यारे लक्ष्मणे तेम न करवा कह्युं । ते सांभळीने स्वामीना विरहथी दुःखी थतां ते बोली के नाथ ! आप मने पाछा फरतां नहीं जाओ के जेम ते बाबतनो मने विश्वास न होवाथी हुं आपनी साथेज रहीश लक्ष्मण तेने विश्वास बेसे ते खातर प्राणातिपात जेवा पापनी भयंकर प्रतिज्ञा करी त्यारे तेणे ते ते प्रतिज्ञाओ पर असन्तोष प्रकट करीने रात्रिभोजनना पापनी प्रतिज्ञा लेवरावी लक्ष्मणे पण ते प्रतिज्ञा लीधी पछी वधे ते राम साथे गई शक्या । ते समये रात्रिभोजननुं पाप चार प्रकारनी हत्याओथी पण वधु मानवामां आवतुं हतुं ।

कोईए कह्युं छे के—सुपात्र पुरुष दिवसे खावे छे तेमो रात्रे खावता नथी तेथी दिवस अस्त थतां तेमने आहार वैगरे नथी लक्ष्युं नथी तेथी रात तथा कल्याणनी इच्छा पूर्वं उत्तमता पुरुषो रात्रे भोजन करवानो त्याग करे छे ।

पुरुषोना त्रण प्रकार-

उत्तम पुरुष मध्याह्न समये भोजन करे छे मध्यम पुरुष बे वखत खाय छे । परन्तु जे तपोक्ष कथित धर्मथी अनभिज्ञ छे ते पशुनी पेठे दिवसने रात खाधा करे छे ।

बे घडी दिवस चडतां सुधी रात्रि नजीक समान छे बे घडी दिवस बाकी रहेतां रात्रि समीप समान छे तेथी नवकारसी ने घडी धर्मध्यान तथा स्वाध्याय माटे छे अने सांजनी बे घडी प्रतिक्रमण माटे छे तेथी ते बन्ने घडिओने छोडी जे आहार करे छे ते पुरुष प्रशंसनीय छे कारण के तेम करवाथी जीवननो अर्धभाग तो उपवासमां व्यतीत थाय छे ।

श्रावकनी ११ प्रतिज्ञा (पडिमा) मा छठ्ठी रात्रि भोजन त्यागनी छे। जे अन्न-पान-खादिम-स्वादिमनी वस्तुओनो उपयोग रात्रे करतो नथी, ते सर्व जीवोनी अनुकम्पा करवावाळो साचो गृहस्थ छे.

मुनिओनुं छट्ठुं व्रत-रात्रिभोजन त्याग छे,

मुनिओ तो रात्रिभोजननो सर्व्वथा त्याग करे छे, दशवैकालिकसूत्रमां रात्रिभोजनत्यागरूप छठुं व्रत आ प्रमाणे कह्यु छे, शिष्य गुरुनी समीपे प्रतिज्ञा करे छे-के हे भगवान्! हु रात्रिभोजननो जीवन पर्य्यन्त सर्वथा त्याग करूं छु, हु जीवन पर्य्यंत त्रण करण अने त्रण योगे करी अर्थात् मन-वचन अने काय द्वारा अन्न पाणी-खाद्य स्वाद्य (मेवा विगेरे खोराक अने मुखवासादि) एम चारे प्रकारना आहार रात्रे करीश नहि, करावीश नहि, अने करनारने अनुमोदन पण आपीश नहि, पूर्वे जे रात्रि भोजन सम्बन्धी पाप कर्युं होय तेनाथी हु निवृत्त थाऊ छु, आत्म साक्षीए ते पापने निंदु छु, आपनी पासे ते पापने अवगणु छु, अने हवेथी ते पापकारी कर्मथी मारा आत्माने सर्वथा अलग करुं छु, इत्यादि।

अहिंसा महाव्रतनी रक्षाने माटे रात्रिभोजननो त्याग करवामा आवे छे, अने ते पण यावज्जीव सुधी त्याग करेलो छे,

तेने महाव्रत न कहता व्रत तरीकेज गणाव्यु छे, तेनु कारण ए छे के महाव्रतोनी पेठे तेनु पालन बहु कठिन नथी, ते खातर तेने मूल गुणमा न गणता उत्तर गुणमां गणाव्यु छे,।

वळी महाव्रतोनी पाछळ तेने एटला माटे गणाव्युं के-प्रथम अने अन्तिम तीर्थंकरना समयना मनुष्योनो स्वभाव ऋजु जड वक्र जड अनुक्रमे होय छे, तेनो पाठ सुगम रीते समजाववाने माटे महाव्रत साथे तेने जोडी देवामां आव्यु छे, तेथी ए साबित थाय छे के महाव्रतोनी पेठे आ व्रतनुं पण पालन करवानु छे।

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावनी तेमज मिश्रामिश्र द्रष्टिए तेना अनेक प्रकारो छे, जेमके द्रव्यथी असनादि, क्षेत्रथी अढी द्वीपमां, कालथी रात्रे भावथी द्वेष रहित थईने तेनु पालन करवु आवश्यक छे

ते उपरान्त बीजा पण प्रकारो छे जेम के आहारादि रात्रे ग्रहण करवाने रात्रे खावो रात्रे ग्रहण करवो ने दिवसे खावो दिवसे ग्रहण करवो ने रात्रे खावो दिवसे ग्रहण करवो ने दिवसे खावो आ चार प्रकारमांथी पहला त्रण साधुने माटे अशुद्ध अर्थात् अग्राह्य छे ने छेल्लनो प्रकार शुद्ध अने ग्राह्य छे ।

द्रव्य अने भावनी अपेक्षाए पण रात्रिभोजनना चार भांगा थाय छे जेमके केवळ द्रव्यथी केवळ भावथी द्रव्य अने भाव बंनेथी द्रव्य अने भावथी रहित । सूर्योदय अथवा सूर्यास्तनो सन्देह पडवा छतां पण भोजन करवामां आवे छे ते केवळ द्रव्यथी रात्रिभोजन छे भावथी नहि, । "हुं रात्रे भोजन करीश" एवो विचार थाय ते केवळ भावथी रात्रिभोजन छे भले पछी कांई खावुं पीवुं न होय अथवा छतां पण रात्रे भोजन करवुं, ते द्रव्य अने भाव बंनेथी छे अने रात्रे भोजन न करवुं तेमज इच्छा पण न करवी ते द्रव्य भाव बंनेथी रहित प्रकार छे ।

बौद्ध मतमां रात्रिभोजन वर्जित–

बुद्धना आठ उपदेशोमां रात्रिभोजन वर्ज्य गण्युं छे जेमके–

(१) कोई प्राणधारीनो प्राण नहीं लेवानी हुं प्रतिज्ञा करुं छुं

(२) अदत्तादान (चोरी) नो त्याग करुं छुं

(३) सर्व प्रकारना अब्रह्मचर्यना त्यागनी प्रतिज्ञा करुं छुं

(४) सर्व प्रकारना असत्य वचनथी विरमुं छुं

(५) कोई पण प्रकारना मादक द्रव्य यथा भांग मदिरादिकना न सेववानी प्रतिज्ञा करुं छुं

(६) असमय–अर्थात् बपोर पछी भोजन करवाथी विरमुं छुं, (बौद्धो बपोर पछी तेमज रात्रे पण कांई खाता नथी)

(७) नाच-गान-तान आदि अनेक प्रकारना तमाशा जोवाथी क्रियाथी तथा फूलमाळा-गन्ध विलेपन आदि शणगारवाथी तेमज अलंकार पहेरवाथी विरमुं छुं ।

(८) ऊंचा तेमज मोटा आराम देनारा आसनो तेमज मोटी शय्याओ पर सुवाथी त्याग करुं छुं, वगेरे ।

आमाना छट्टा नियममा रात्रिभोजननो पण त्याग आवी जाय छे । अने अंधारामा आंखोथी कइ देखातुं नथी ते वखते रात्रे उडनारा जीवडाओनु भोजनमा पडवानु संभवित छे, तेथी रात्रे कोण खाय पीए ?

रात्रिभोजनना प्रत्यक्ष दोष-

"भोजनमा कीडी खवाई जाय तो बुद्धिनो नाश थाय छे, जू खवाई जाय तो जळोदर थई जाय छे, माखीथी वमन थई जाय छे, करोळिओ आवी जाय तो कोढ थाय छे। कांटो तेमज लाकडानो टुकडो आवी जाय तो गळामा पीडा करे छे, शाक भाजीमा वींछी आवी जायतो तेना डंखथी वहु पीडा थाय छे, गळामा वाळ अटकी जाय तो स्वर भंग थई जाय छे, रात्रि भोजनथी आवा अनेक प्रत्यक्ष दोषो थाय छे," । "रात्रे वासणो साफ करती वखते कुंथुवा आदि घणा जीवडाओनो नाश थई जाय छे।" "रात्रे प्राशुक वस्तुओ पण न खावी जोइए, कारणके मोदक, फळादिना जीवो रात्रे देखी शकाता नथी।" वेदमा "वेदज्ञो कहे छे के-सूर्यना तेजमा ऋग्-यजु तथा साम एम त्रणे प्रकारना वेदोनु तेज छे। अने तेथी सूर्यनुं नाम त्रयीतनु पड्यु छे, तेना किरणो थी वस्तु पवित्र वनी जाय छे, एटले समस्त शुभ कर्म तेना प्रकाशमा करवा जोइए, तेना अभावमा नहि,।" "वेदज्ञ कहे छे के आहूति-स्नान-श्राद्ध-देवार्चन दानादि रात्रिमा करवा योग्य नथी, रात्रिभोजन तो बिल्कुल त्याज्य छे," "दिवसना आठमां भागमा सूर्यनो प्रकाश मन्द थई जाय छे, तेथी बुद्धिमानो तेने पण रात्रि गणे छे, अने ते समये पण भोजन वर्ज्य छे।" "देवता पहले पहरे जमी ले छे ऋषि मध्यान्ह समये जमे छे, त्रीजा प्रहरे पितृलोको भोजन पानथी निवर्ते छे, चौथा प्रहरमा दैत्य दानव जमी ल्ये छे, सध्यामां यक्षराक्षस खाय छे, हे युधिष्ठिर ! सर्वदेवताओनो समय अतिक्रमी जवाथी रात्रिभोजन अभोजन छे, ।

आयुर्वेदमां रात्रे खावा पीवानी मनाई छे-

"सूर्यास्त थता हृदय कमल तेमज नाभि कमल अतिशय संकोचाई जाय छे, तेथी रात्रे भोजन न करवु जोइए, अने रात्रिमा सूक्ष्म जीव खवाइ जाय छे रात्रे खाधेलु भोजन तन्दुरस्तीने नुकसान करे छे, तेमज तेनुं पाचन बरावर थई शकतु नथी।" "जे दिवसे ने रात्रे असमये खावा पीवामा मस्त रहे छे, ते शींग-पूछ वगरना पशु समान छे, तेथी मनुष्योए दिवसे

पण नियमितभोजी तेमज भोजन संयमी थवुं जोइए ।” “जे पुरुषो बे घडी दिवस रहे त्यारे भक्षण करे छे अने जे बे घडी दिवस चढ्या पहेलां पण ते खावानो आहार करे नहि, ते रात्रि भोजनना दोषथी बची जाय छे ।” “जेने दिवसे भोजन करी लेवानो रिवाज पाड्यो होय पण प्रतिज्ञा न करी होय तेने तेनुं निवृत्तिरूप पुण्य मळतुं नथी कारण जोइए त्यजवो छतां पण त्याग्युं नाम पाड्युं नथी तेथी ते अमुक मुदती वखते त्यागनो उच्चार नथी करवाथी मुनिधाराओमां पण भोजन मूल्य छे ।” “जे मानव दिवसमां भोजन करवानुं मूकीने रात्रमां खावुं पसंद करे छे ते जड मानव झळकता एवा माणिक्यरत्नने छोडी दईने काचना टुकडाने पसंद करनार जेवो करे बहु अल्पबुद्धि छे ।” “दिवस होवा छतां कल्याणप्राप्ति इच्छनार मनुष्य जे रात्रि भोजन करे छे ते बरोबर एक सारी रीते खेडेला खेतरने छोडी दईने एक खारी रेती वाळी उज्जड भूमिमां धान्य वाववा चाहे छे एम समजवुं ।” “रात्रे भोजन करवाथी घुवड कागडा बिलाडा गीध शंबर सूवर, सांप वींछी घो आदि योनिओ मनुष्यने प्राप्त थाय छे, ।” “जे व्यक्ति रात्रि भोजननो त्याग करे छे ते धन्यवादने पात्र छे जेमके ते पोतानी अर्धी जिंदगी उपवासमां गाळे छे ।” “रात्रि भोजनना त्यागमां जे जे गुण रहेला छे ते विषयमां अमारे शुं विवेचन करवुं, सर्वज्ञ होय तेज आ बाबतमां कही जाणी शके छे ।”

वळी अमितगति श्रावकाचार-मां पण आवो ज निषेध करेल छे ।

जेमके—“जे समये राक्षसो तेमज पिशाचो फरे छे, जे समये जन्तुओनो समूह बराबर जोई शकातो नथी एटले अमुक वस्तुथी बंधी होवा छतां पण अजाण्ये पण खवाई जाय छे कारणके ते वखते घोर अंधारुं रहे छे ।” “ते समये साधु महापुरुषोनुं आगमन पण बंध छे जेथी गुरुदेवनी सेवा तथा अतिथि सत्कार बिल्कुल थई शकतो नथी तेमज संयमनो पण निरन्तर नाश थतो जाय छे जीवोना भक्षण पुरतां थई जाय छे ।”

“जे वखते रागादिक शुभ कार्योने माटे वर्जित छे जे समये लोकोनुं जवुं आववुं बंध थई जाय छे ते समय एकान्त दोषोनुं घर छे ज्यारे दिवसनो अभाव होय छे एवा रात्रिना समयमां धर्मध्यानमां कुशळ मनुष्य बिल्कुल भोजन करी शकेज नहि । “जे गुणरूपी जिह्वा इन्द्रियनी तृप्तिने माटे

रात्रि भोजन करीले छे तेओ भूतप्रेतनी संगतिने छोडी शकता नथी।" "जेमणे यम नियम संयमनी क्रियाओनो त्याग करी दीधो छे अने रात दिवस खावा पीवामाज मस्त रहे छे, तेमने बुद्धिमानो शींगडा के पूछ वगरना जनावर तेमज खरी वगरना पशुओनी उपमा अर्पे छे।" "संस्कारी विद्वानो सुख मेळववा माटे दिवसे भोजन करे छे, रात्रे सुई जाय छे, ज्ञानी पुरुष समय विचारी बोले छे, तेमज आत्मानी शान्ति माटे गुरुजननी सत्संगति-सत्शास्त्र श्रवण-मनन-निदिध्यासन विगेरे समाचरीने सेवा चाकरी करे छे।" "गुणवान् तेमज उत्तम पुरुष हमेशा दिवसमा एकज वार भोजन करे छे, मध्यम पुरुष धोळा दिवसमा बे वखत आहार करे छे, अने जे दिवस अने रात हमेशा भोजन कर्या करे छे ते नराधम छे।" "जे पुरुष दिवसनी पहेली तेमज छेल्ली घडी छोडी वच्चेना दिवसनां भागमा भोजन करे छे ते इन्द्रियोना घोडाने जीती संसार ना भारथी हलको थई जाय छे।" "जे पुरुष पोतानी पासे दीवो राखीने रात्रे भोजन करे छे, ते पुरुष कुदरती रीते नीचाण तरफ वहेनारी नदी ना नीरने जाणे वृक्षना शिखर सुधी पहोंचाडवा चाहतो होयनी ? (अर्थात् नदीनु पाणी वहेतु वहेतु कदी पण वृक्षना शिखरे पहोंची शकतु नथी तेम तेवा पुरुषनो आत्मा अधोगति सिवाय उच्चगतिने प्राप्त करी शकतो नथी)"। जे रात्रि भोजनने सुखदायक जीवन माने छे, ते आगथी बळेल वनने फळदायक माने छे, परन्तु तेम बनवु असंभवित छे।" "जे दिवस तेमज रात्रिना भोजनने समान गणे छे, तेओ सुख तेमज दुःखना देनार प्रकाश तेमज अन्धकारने समान गणे छे।" "जेओ रात्रिभोजनमाज धर्म माने छे तेओ खरेखर वृक्षोनी हारमाळा वधारवा माटे वज्र तेमज आग फेंकी रह्या छे, (वृक्षोनी हारमाळा वधारवा माटे जळ सिंचननी जरूर छे तेने बदले वज्र प्रहार या अग्नि कोई फेंके ते वृक्ष वधवाने बदले जेम नाश पामे छे, तेमज रात्रि भोजनथी धर्म वधवाने बदले नाश पामे) "जेओ पुण्यनी अभिलाषाथी आखो दिवस भूख्या रहे छे, अने रात्रे खावामाज मच्या रहे छे तेओ फळेला वृक्षोने तेमज लताओने कापी नाखी फरीथी फळवानी वाञ्छना करे छे एम समजवु। जे मनुष्यो बे घडी दिवस चढ्या सुधी नवकारसी तप करे छे, अने बे घडी दिवस बाकी होय त्यारे चौविहार करे छे तेओ मासमा

ते उपमावडे फल प्राप्त करे छे एम समजवुं। 'रात्रिभोजन करनारने नीचे कह्या मुजब सामग्री प्राप्त थाय छे रोग शोक अने कष्ट करनारी स्त्रीओ माफक मन उपजावे तेवी जी मळे छे तेमज महापापथी पेदा थयेल अन्य रात दुःख देनारी कन्या प्राप्त थाय छे त्यारथी तेमज मरण तापथी माफक निद्रामयमां पुत्र थाय छे घरमां दरिद्रता तो सदा रहेठाण करे छे।" नीच जातिमां जन्म धरी नीच कर्मो करवां पडे छे शील-निर्लज्जपणु-समभाव-आदि गुणो तो अभाव रहे छे जीवातु अनिष्ट करनार दुर्जननी माफक ते केटलीए जातनी व्याधिओथी घेरायलो रहे छे सर्व दोषोना समूहथी पीडायलो आत्मामां अनेक दोषोनी उत्पत्ति थई जाय छे।

रात्रि भोजननो त्याग करनारने नीचे मुजब फलनी प्राप्ति थाय छे; कमळपत्रसमान आंखावाळी प्रियवचन बोलनारी लक्ष्मीसमान सुन्दर स्त्री प्राप्त थाय तेमज क्रिया कर्ममां निपुण पुण्यथी पति माफक सुन्दर शरीर अने निर्मळ चारित्रवाळी तेवी कन्या प्राप्त थाय छे।' कोई पण जातना व्यसनथी रहित तेमज चन्द्रमाना जेवा पवित्र धर्म साथ पुत्र मळे छे, इन्द्रना भवनथी माफक पचासवाळुं मणिरत्नोथी भरपूर सुशोभित मकान प्राप्त थाय छे। स्वामी वैभव प्राप्त थाय छे मनोवांछित फल मळे छे नीरोगी सुन्दर शरीरनी प्राप्ति थाय छे ए प्रकारे घणी उत्तमी सुख प्राप्त थाय छे।" "हे सपराक्रम ज्ञान-दर्शन चारित्रनी पण सम्पत्तिने पामे छे आत्मा जिननो पूजनीय पति थाय छे रात्रिभोजनथी दूर रहेनार तेमज आगमोमां पण उपदिष्ट प्राप्त थाय छे।" अने- 'रात आहार करवाथी भूंडनी-नोळनी-बीलाडी-मरघनी-मच्छनी रलोनी(गिद्ध)बाजनी-रोहिणी-कुतरी-घोड-होतणाळा तेम ज चोर सांपनवाळा पुत्र कमनारी नियमा चमडीना एवी एवी अनेक कद्दर योनि प्राप्त थाय छे।' "तेमो (रात्रि भोजननो त्याग करनारा) वस्तुतमनी पूजनीय स्वभाव छे गुणो तेमनी सेवा करे छे लज्जा अने संयमरूपी आभूषणनी युक्त रहे छे शरीरे नीरोगी होय छे लक्ष्मी जेवी अने बुद्धिमती तथा चरमतक थई मळे छे तेमनो स्वभाव पण धर्मात्मा माफक होय छे जिनने भोजन कर नारने आत्मा सुखनी प्राप्ति थाय छे।"

आवा अनेक शास्त्रोना प्रमाण साभळीने रात्रिभोजननो त्याग करवो जोइए। प्रभुए पण रात्रिभोजननो त्याग कर्यो हतो। तपश्चरण नम्रता अने विनय साचवता हता, तेमा नम्रता तो अपार हती, तेमनी वाणी अनन्त नय युक्त, तेमज शुद्ध हती, ते वाणी थी ससार अने मोक्षनुं स्वरूप समजाव्युं हतुं, वधा आस्रवोथी पण रहित हता, वीजाओने पण आस्रव अने पापथी रोकता, केमके जे पोते अधर्मी अने अनीति वाळो होय तो ते वीजाओने धर्म अने नीतिमा केम स्थापन करी शके, अने जो पोते धार्मिक अने नैतिक जीवन व्यतीत करनार होय तेज वीजाने पापथी के आस्रवरूप खाडाथी वहार काढी शके छे, कारण के कोइए कह्यु पण छे के जे स्वय तो न्यायनी वात करतो होय अने न्यायथी विरुद्ध आचरण करतो होय तो ते वीजाओ ऊपर पोतानी कांई पण छाप पाडी शकतो नथी, जे पोते अ-दान्त होय ते क्यारे इन्द्रिय निग्रह करी शके? परन्तु प्रभुतो पोते दान्त हता, उपधानवान् हता, तप वडे शरीर शुद्ध हतु, प्रभु आ लोक तेमज परलोकनु ज्ञान मेळवी पापमय प्रवृत्तिथी सदाने माटे दूर रह्या हता।

मूल—

सोच्चाय धम्मं अरिहंतभासियं,
समाहियं अट्ठपदोविसुद्धं।
तं सद्दहाणाय जिणा अणाऊ,
इंदा व देवाहिवा आगमिस्संति; त्ति वेमि॥२९॥

संस्कृतच्छाया—

श्रुत्वा च धर्ममर्हद्भाषितं, समाहितमर्थपदोपशुद्धम्।
तं श्रद्दधाना जना अनायुष, इन्द्रा वा देवाधिपा आगमिष्यन्ति॥२९॥
(इति ब्रवीमि)

र्६० टीका—अधुना श्रीसुधर्मस्वामी तीर्थङ्करगुणान् मत्स्याह जम्बूस्वामिनमाह, श्रुत्वा च, दुर्गतिधारणाद्धर्म्म, श्रुतचारित्ररूपमर्हत्प्ररूपितम् ईरकथितं, सम्यगाख्यानं=सुयुक्तमित्यादिन, चाथपदे-, अर्थे प्रयोजने कारणैरभिधेयैर्वा "अर्थो विषयायतनयोर्धनकारणवस्तुषु, अभिधेये च शब्दानां निवृत्तौ च प्रयोजन इतिमेदिनी ।" अथवा, "अत्थो मगो जने सद्दाभिधेय्ये वुद्धिय्य धने, इत्यभिधानप्पदीपिका ।" पदैर्वाचके शब्दे, "पद शब्दे च वाक्ये च व्यवसायमदक्षयोरिति । मेदिनी ।' निर्वाणैर्वा, "अप्पमगो-विरागो च पणीत अचुतं पद इत्यभिधानप्पदीपिका ।" अथवा निमित्ते-, "निमित्त कारण ठाण पदं, इत्यभिधानप्पदीपिका ।" वा परित्राणे संसारापकर्मतो वा, "पद ठाने परित्ताणे निब्बाणम्हि च कारण इत्यभिधानप्पदीपिका ।" लौकैर्भिन्नैर्वा स्थानैस्थमे वार्णेर्वाणसहखे शब्दे सुप्तिङन्तरूपे मर्वेश्च श्लोकपादैर्वा "पदो चरण च वा इत्यभिधानप्पदीपिका ।" उपशुद्ध चोपसामीप्येन शुद्ध सितं वा पूतं निर्मलं, "सुद्धो केवलपूतेसु' "सुचि शुद्धे सिते पूते इत्यभिधानप्पदीपिका ।" वा प्रयोजनैरान्तरासयैर्विश्रिमिर्वा हेतुभिरभिलाषे शुद्ध दोषराहित्यमित्यथ । धर्म्म श्रद्धाना सन्तस्तथाऽनुतिष्ठन्तो नरा अनायुषोऽप्गतसमुत्कर्मतः मुक्ता इति शेषा कर्मरहिता सन्त सिद्धा मोक्षगता भवेयुरिति भाव । सायुषमेन्द्रा अहमिन्द्रा देवाधिपा आगमिष्यन्ति—तं पदं प्राप्स्यन्तीति भाव । इति ब्रवीमीति ॥ २९ ॥

मान्य निबन्धेष्य सारसुत्तस्य श्रीमत्सूत्रकृताङ्गसूत्रगतवीरस्तुतिनामाध्यायस्यमत्तातिविस्तृतकमीरवृत्तस्वपदार्थमक्तिमाधावसेस्वापरि-

सरलतया सुबोधसिषाधयिषया ज्ञातृपुत्रमहावीरजैनसङ्घीया नाम्नी संस्कृतटीका-हैन्दवीटीका-गुर्जरभाषाटीका यथाशक्ति-मतिरचिताऽत्र प्रमादादिनाऽथवाऽल्पधिया च भाविनीं मदीया स्खलना संशोधयन्तस्तत्त्व-पदार्थनयनिक्षेपसम्बन्धिभाव प्रदर्शयन्तो धीरा मा चेदनुग्रहणीयुस्तर्हि बहुलजनोपकारोद्योगसन्तुष्टेन श्रीज्ञातृपुत्र-महावीरप्रभुशासनसङ्घेनानुग्रहतोऽहमिति सम्भावयेयमिति प्रार्थयते श्रीज्ञातृपुत्रमहावीरजैनसङ्घानुयायिनां **लघुतमः पुष्पभिक्षुः** ॥ इति श्रीज्ञातृपुत्रमहावीरजैनसङ्घान्तर्गतमुनिफकीरचन्द्रशिष्येण **पुष्पभिक्षुणा विरचिता** वीरस्तुत्या संस्कृत-भाषाटीका च समाप्तेति शम् ॥

अन्वयार्थ—[समाहित] सम्यक् प्रकारसे कहे हुए [य] और [अट्ठ-पदोवसुद्धं] अर्थ और पदोंसे निर्दोष [अरिहतभासिय] अर्हन् प्रभुद्वारा उपदिष्ट [त] उस [धम्म] धर्मको [सोच्चा] सुनकर [सद्दहाणा] श्रद्धा प्रतीति करनेवाले [जणा] मनुष्य [देवाहिव] देवोंके स्वामी [इंदा] इन्द्र [व] और [अणाऊ] आयुरहित सिद्ध परमात्माके पदको [आगमिस्सति] प्राप्त होंगे ॥२८॥

भावार्थ—श्रीसुधर्माचार्य अपने अन्तेवासी शिष्यके प्रश्नोंका इसप्रकार उत्तर देते हुए यों उपसंहार करते हैं कि अर्हन् भगवान् द्वारा कहे गए धर्मका जो पूर्ण श्रद्धान करते हैं वे या तो आयुरहित और कर्म रहित होकर मुक्तिको प्राप्त करते हैं या इन्द्रादि पदको पाते हैं या पाएँगे ॥ २८ ॥

भाषाटीका—सुधर्माचार्य श्रीतीर्थंकर प्रभुके गुणोंका वर्णन करते हुए अपने जम्बूनामक अन्तेवासी शिष्यसे कहते हैं कि—जो भव्य दुर्गतिमें पडनेसे बचानेवाले ज्ञान और चरित्ररूप धर्मको अर्हन् भगवान्से भाव पूर्ण तथा परिणामयुक्त अभिप्रायको सुनकर निर्धारण करते हैं, वे आयुष्यादि सब कर्म बन्धनोंसे मुक्त होकर या तो अपुनरावृत्ति-निर्वाणधाम (मोक्ष) को प्राप्त होते हैं या आयुवाले स्थानमें अनुकूल सुख भोगनेवाले 'अहमिन्द्र' होते हैं अथवा

अर्हन्त धुपधुरोंका आधिपत्य भोगनेके लिए इन्द्रपदको प्राप्त करते हैं यह मैंने अर्हत् भगवान्से जैसा सुना है, वैसा तुझे कहकर सुनाया है*।

---

* इस गाथामें 'अरहंत' पद प्राकृत भाषाका शब्द है जिसका संस्कृत अनुवाद 'अर्हत्' होता है और २ 'अरहोऽन्तर' 'अरथान्त' पद भी बनते हैं। यहां हम सबके अर्थोंपर यदि विचार किया जाय तो आशय यही निकलता है जो अर्थ 'अर्हत्' शब्दका होता है।

(१) 'अर्ह' धातुका अर्थ पूज्य या योग्य अर्थ होता है इस अर्थके अनुसार अतिशय वन्दनीय-सेवनीय-आराधनीय होनेके कारण वे 'अर्हत्' (अरहंत) कहलाते हैं। क्योंकि इनके पांचों कल्याणकोंमें अनेक देवों और ६४ इन्द्रोंद्वारा अनेक विलक्षण सेवा सम्बन्धी घटनाएँ होती हैं, और वे मनुष्योंकी अपेक्षा अतिशययुक्त महापुरुष होते हैं और अतिशायक होनेके कारण उनका यह 'अरहंत' नाम सार्थक तथा यथार्थ है। जैसा कि 'धवल' ग्रन्थमें भी कहा है कि—

अतिशयसमयपूजाऽर्हत्वादर्हन्त', स्वर्गावतरणजन्माभिषेकपरिनिष्क्रमणकेवलज्ञानोत्पत्तिपरिनिर्वाणेषु देवकृतानां पूजानां देवासुरमानवप्राप्त-पूजाभ्योऽधिकत्वादतिशयार्हत्वाद्योग्यत्वादर्हन्तः ।

(धवलसिद्धान्त)

अरिहंति वंदणणमंसणाणि अरिहंति पूयसक्कारं,
अरिहंति सिद्धिगमणं 'अरहंता' तेण वुच्चंति ।

(मूलाचार)

भावार्थ—जो मान पूजाके योग्य तथा अनुकरणीय महाचारित्रयुक्त हों उनको 'अर्हन्' कहते हैं। जिनके जीवनमें अनेक भिन्न घटनाएँ विलक्षण रूपसे परिचरित होती हैं जैसे कि— गर्भसे अवतरण जन्मोत्सव परिनिष्क्रमण (दीक्षा ग्रहण) केवलज्ञानकी उत्पत्ति मोक्षारोहण आदि अवस्थाओंके होते समय देव-असुर-मानव इत्यादिके द्वारा महान् उत्सवका मनाना या मनुष्योंके उनका अनुकरण करते हुए उनके समान आत्मज्ञ एवं सर्वज्ञ होना इत्यादि महात्म्यके योग्य होनेसे वे 'अर्हन्त' कहलाते हैं।

जो वन्दना और नमस्कारके योग्य हैं, पूजा और सत्कारके योग्य हैं, सिद्धि (मोक्ष) गमनके योग्य हैं, अत एव वे 'अरहत' कहे जाते हैं।

(२) 'रहस्' का अर्थ एकान्त होता है, यानी समस्त पदार्थोंको निकटवर्ता-दूरवर्ती-सूक्ष्म तथा स्थूल पदार्थोंके अनन्त समूहको प्रत्यक्षमें हथेलीपर रक्खे हुए आमलेकी तरह जो स्पष्ट जानते और देखते हैं। अर्थात् जिसे गुप्त या प्रगट एकान्त कुछ भी अप्रगट नहीं है। इसलिए 'अरहोऽन्तर' नाम यथार्थ है। जैसे कहा भी है कि–

"न विद्यते रह एकान्तो गोप्यमस्य, सकलसन्निहितव्यवहितस्थूल-सूक्ष्मपदार्थसार्थसाक्षात्कारित्वादित्यरहोऽन्तर ।" (स्थानाङ्गसूत्रम्)

भावार्थ—जिसके लिए एकान्त-गोपनीय पदार्थ कुछ भी न हो, ससारके छोटे बडे सब पदार्थोंका जो साक्षात्कार करनेवाला हो वह 'अरहोऽन्तर' कहलाता है।

"अथवा 'अविद्यमानं' रह एकान्तरूपो देशोऽन्तश्च मध्य गिरि-गुहादीना सर्ववेदितया समस्तवस्तुस्तोमगतप्रच्छन्नत्वस्याभावेन येषा तेऽरहोन्तरः" (भगवतीसूत्र)

भावार्थ—जिसे सर्व्वज्ञताके कारण सर्ववस्तु समूह गत सर्व प्रकारके पदार्थोंका एक बहुत बडा समूहगत प्रच्छन्नताका अभाव हो, इस प्रकारका रह (एकान्तरूप प्रदेश) नहीं है, अर्थात् उनके अनन्तज्ञानके सन्मुख कोई ऐसा प्रदेश और वस्तु समूह नहीं है, जिसके वे ज्ञाता और दृष्टा न हों, वे तो अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शनके द्वारा ससारके पूर्ण रहस्य को जानते हैं, इसीसे पहाडोंकी गुफा आदिका अन्तर (मध्यभाग) तकका सम्यक् ज्ञान अपने सर्वज्ञत्व द्वारा जान लेते हैं, वारीकसे वारीक तथा एकान्त और मध्यप्रदेशके जाननेवाले हैं, अत 'अरहोऽन्तर' नाम सार्थक ही है।

(३) 'अरथान्त' ऐसी सस्कृतच्छायाके अनुसार यह अर्थ निकलता है कि–जिसके पास समस्त परिग्रहका अभाव है, और बुढापा आदि उपलक्षणवाला अन्त विनाश नहीं है वह 'अरथान्त' है और वे वीतराग सर्वज्ञ देव होते हैं। जैसे–

"अविद्यमानो रथः स्यन्दनः सकलपरिग्रहोपलक्षणभूतः, अन्तश्च विनाशो जराद्युपलक्षणभूतो येषां ते 'अरथान्ताः'

(भगवतीसूत्र)

भावार्थ—जिनका आत्मारूपी 'रथ' अप्रतिहत शक्तिमान होनेसे कहीं रुक नहीं सकता अर्थात् तीनलोक और अलोकको भी जानता है, अतः उनकी 'अरथान्त' संज्ञा इसी कारण सार्थक मानी गई है।

(४) अरहन्त सम्बन्ध यह अर्थभी निकलता है कि-"रागद्वेषके कारणभूत-त्रिलोकवर्ती अनन्त पदार्थोंके ज्ञाता-द्रष्टा होनेपर भी जो किसी पदार्थमें आसक्ति नहीं रखता वीतराग स्वभावशील है, इससे अरहन्त' कहलाते हैं। जैसे-

"कथञ्चिदप्यासक्तिमगच्छत्सु वीतरागत्वात् प्रकृष्टरागादिहेतुभूतमनोज्ञेतरविषयसम्पर्केऽपि वीतरागत्वादिक स्वस्वभावमत्यजन्तोऽर्हन्तः ।"

(भगवतीसूत्रम्)

इसके अतिरिक्त अरिहंत" पाठ भी प्रचलित है जिसके अनुसार यह अर्थ होता है कि अरि-कर्मशत्रुओंका नाश करनेसे अरिहंत कहे जाते हैं जैसा कहा है कि-

"अरिहननादरिहन्तृ (त) नरकतिर्यक्कुमानुष्यप्रेतावासगताशेषदुःखप्राप्तिनिमित्तत्वादरिर्मोहस्तस्यारेर्हननादरिहन्ता ।"

(धवलसिद्धान्त)

"मोहरय-अंतराय-हणण गुणादो य णाम अरिहंतो"

(मूलाचार)

भावार्थ— (कर्मरूप) शत्रुका हनन करनेसे अरिहंत कहलाते हैं क्योंकि-नरक-तिर्यंच-मनुष्य और देव इन चारों गतियोंमें समस्त दुःखप्राप्तिका निमित्त यह कर्मशत्रु ही है जिसमें भी मोहशत्रु सबसे बलवान है अतः उसके हनन करनेसे अरिहंत नाम सार्थक है।"

"मोह रज और अन्तराय कर्मका हनन करनेसे 'अरिहत' नाम सार्थक है।"

राग दोस कसाये य, इदियाणि य पच य ।
परिसहे उवसग्गे, णासयतो णमोरिहा ॥

(मूलाचार)

भावार्थ—राग-द्वेष और चारों कपाय तथा पाच इन्द्रियोंके २३ विषयोंका और २२ परिषह एव उपसर्गके विनाश करनेसे भी 'अरिहत' कहे जाते हैं।

राग दोस कसाए य, इदियाणि य पच वि परिसहे ।
उवसग्गे नासयता, नमोरिहा तेण वुच्चति ॥ ९९८ ॥

(विशेषावश्यक भाष्य)

इंदिय-विसय-कसाए-परिसहे वेयणा-उवसग्गे ।
ए ए अरिणो हता, अरिहता तेण वुच्चति ॥ ९९९ ॥
अट्ठविहपि य कम्म, अरिभूय होइ सव्व जीवाण ।
त कम्ममरिं हता, अरिहता तेण वुच्चति ॥ ९२० ॥

(आवश्यकभाष्य)

"रज या आवरणका नाश करनेसे भी 'अरिहत' कहलाते हैं। क्योंकि ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म रजके समान बाह्य और अन्तरग त्रिकालके समस्त विषयभूत अनन्त अर्थ पर्याय और व्यजन-पर्याययुक्त वस्तुओंको विषय-करनेवाले ज्ञान और दर्शनका आवृत्त करनेसे 'रज' कहते हैं, इसी प्रकार मोह भी रज है, क्योंकि जैसे धूलसे भरे हुए मुखवाले लोगोंमें कार्यकी मन्दता देखी जाती है, उसी प्रकार मोहसे जिनका आत्मा व्याप्त है, उनमें भी आत्मोपयोगकी मदता या कुटिलता पाई जाती है। इस लिए रजरूप ज्ञानावरणादि कर्मके अभावसे 'अरिहत' कहलावे हैं। यथा—

"रजो हननाद्वा अरिहन्त., ज्ञानदृगावरणानि रजासीव वहिरगान्तरङ्गाशेषत्रिकालगोचरानन्तार्थव्यजनपरिणामात्मकवस्तुविषयबोधा-

भवप्रतिबन्धकत्वाद्वासि, पुनर्मोहोऽपि रज । भस्मरजसाऽऽपूरित-ननानामिव भूयो मोहावरुद्धात्मनां अप्रमाशोपक्रमत्वात् ।

(भवबसिद्धान्त)

अथवा 'रहस' अन्तराय कर्मका नाम भी है जिसके क्षय करनेसे भी अरिहंत' कहे जाते हैं अन्तराय कर्मका नाश शेष घातिया कर्मोंके नाशक साथही नियमसे होता है । अतः अविनाभावी सम्बन्धसे यह अर्थ निकलता है कि—जिसने चारों घातिया कर्मोंका नाश करके अघातिया कर्मोंको भी निष्फल बनादिया हो वे अरिहंत' कहलाते हैं । यथा—

"रहसमन्तरायस्तस्य शेषघातित्रितयविनाशाविनाभाविनो हि भग-ए-बीजवत्नि सक्तीकृतघातिकर्मणो-हननादरिहन्त ।"

(भवबसिद्धान्त)

(५) एक पाठ अरुहंत' भी बनता है क्योंकि 'रुह' धातुका अर्थ अंकुर उगना' है अर्थात् जिसका भवरूप अंकुर नष्ट होगया है वे अरुहंत' कहलाते हैं यानी कर्मरूपी बीजके जल जाने पर पुनः संसाररूप अंकुरकी उत्पत्ति नहीं होती । क्योंकि—

"न रोहति भूय संसारे न समुत्पद्यत इत्यरुह, संसारकारणानां कर्मणां निर्मूलकत्वात् ।"

भगवती-प्रवचनसारोद्धार—

तथा च महापमाणस्य कारिकायामप्येव, पुन "दग्धे बीज यथात्यन्त प्रादुर्भवति नाङ्कुर । कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवांकुर ॥" इति भाषाटीका समाप्ता ॥

गुजराती अनुवाद—श्रमणाचार्यजी श्रीतीर्थंकर प्रभुना गुणोनुं वर्णन करतां पोताना सानिध्यमां (समीपमां रहेनार) शिष्यने कही रह्या छे के जे भव्य प्राणी आत्मानी दुर्गतिमां पडतां बचावनाराना ज्ञान अने चारित्ररूप धर्मनुं अर्हन् भगवान् पासेथी भावपूर्ण तेमज पवित्र शुद्ध अभिप्राय श्रद्धा अने

भक्तिपूर्वक चरित्रवान् थईने श्रवण करे छे, अने त्यार पछी तेनु मनन करी निदिध्यासन करे छे, ते आयुष्यादि सर्व कर्म बधनोथी मुक्त थई अपुनरावृत्ति याने निर्व्वाण पद प्राप्त करे छे, अथवा दीर्घायुष्य वाळा स्थानमा अनुकूल सुख भोगवनार 'अहमिन्द्र' बने छे, अथवा देव दानवोना अधिपति एवा इन्द्रपदने पामे छे, आ मे 'अर्हन्' भगवान् ज्ञातपुत्र-महावीर प्रभु पासेथी जेवी रीते साभळ्यु छे तेज प्रमाणे तने कही सभळावुं छुं* ।

---

* 'अरहत' आ प्राकृत भाषानु शब्द छे, जेनी संस्कृतच्छाया 'अर्हन्' थाय छे, कोई कोई एना अरहोन्तर-अरथान्त-अरुहन्त-वाचक शब्दो थाय छे, एम तेओनु मन्तव्य छे, अहीं आ चारे अर्थ ऊपर आ प्रमाणे विचार करी शकाय ।

(१) 'अर्ह' धातुनो अर्थ भाव पूजा एवो थाय छे, ते अर्थ अनुसार अतिशय वन्दनीय, सेवनीय होवाथी 'अर्हन्' (अरहत) कहेवाय छे, केमके तेमना पाचे कल्याणकोमा देवो तेमज चौसठ इन्द्रो द्वारा अनेक जातनी सेवा सम्बन्धी केटलीए विलक्षण घटनाओ बनी छे, तेमज तेमनो आत्मा मनुष्योनी अपेक्षाथी पर छे, जेथी तेमनामा विशेषपणु होवाथी 'अरहंत' नाम यथार्थ छे, 'धवल' ग्रथमा पण कह्यु छे के–

"जे वदन तेमज नमस्कारने योग्य छे, सेवा अने सत्कारने योग्य छे, सिद्धि गमनने माटे उपयुक्त छे, माटे 'अरहत' कहेवाय छे ।"

(२) "रहस्नो अर्थ एकान्त थाय छे, एटले जे समस्त पदार्थोनो निकटना चाहे दूरना, स्थूल चाहे सूक्ष्म पदार्थोना समूहने हथेळी पर राखेल आमळानी माफक देखी रह्या छे, जेमने माटे गुप्त के एकान्त एवी कोई वस्तु या स्थान नथी ।"

(३) "अरथान्त–" ए सस्कृतच्छाया-अनुसार एवो अर्थ नीकळे छे के रथ=अर्थात् बहिर तेमज अन्तर दृष्टिए समस्त परिग्रहनो जेनी पासे अभाव छे एवा वीतराग सर्वज्ञ देवने 'अरथान्त' कहे छे ।" "अथवा जेनो आत्मा रूपी रथ अप्रतिहत शक्तिवालो होवाथी क्याय पण रोकाई शकतो नथी, अर्थात् त्रणे लोक तेमज अलोक सुधी पण पहोंची वळे छे, याने जाणी शके छे, जेथी 'अरथान्त' आ नाम पण सार्थक मानेल छे ।"

(४) 'अरहंत' शब्दनो अर्थ एवो अर्थ पण नीकळे छे के राग-द्वेषना कारणभूत त्रिलोकना अनन्त पदार्थोने जाणवा देखवा छतां कोई पदार्थमां आसक्ति नथी एटले के वीतरागपणुं प्राप्त कीधुं छे एटला माटे अरहंत कहेवाय छे।'

"आ उपरान्त 'अरिहंत' ए पाठ पण प्रचलित छे जेना प्रमाणे आ अर्थ थाय छे के—अरि=कर्मरूपी शत्रुनो नाश करवाथी अरिहंत' कहेवाय छे।" जेमके—

'राग-द्वेष-कषाय-पांचे इन्द्रियोना २३ विषय १२ परिषह, तेमज अनुकूल प्रतिकूल उपसर्गना विनाशथी पण अरिहंत कहेवाय छे।"

"रज अर्थात् आवरणोनो नाश करवाथी पण 'अरिहंत' कहेवाय छे जेमके-ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीयकर्म रजनी माफक छे जेम रजथी अन्तरंग निर्मळतां समस्त विश्व भूत अनन्त अर्थ पर्याय तेमज व्यंजन पर्याययुक्त वस्तुओना विषयमां लीन छे ज्ञान तेमज दर्शनना बाधकरूप बने छे एटले रजनी माफक आत्मा उपर मेलना थर चडवाथी ज्ञान अने दर्शनमो प्रभाव बहार नीकळता देखो नथी जेमके रजथी छवायेल मोंढावाळा कोठीमां मंदता आवी जाय छे एवीज रीते मोहथी जेनो आत्मा घेराएलो छे तेमनामां आत्मोपयोगनी मन्दता थावे कुटिलता भरेली पडे छे, आ कारणथी रजरूप ज्ञानावरणादि कर्मोना नाशथीज अरिहंत' कहेवाय छे।"

"अथवा रहस्य-अन्तराय कर्मनु नाम छे तेनो नाश करवाथी पण अरिहंत कहेवाय छे अन्तराय कर्मनो नाश पण घाति कर्मोना नाशनी साथे साथेज नियम प्रमाणे थाय छे आ कारणथी अविनाभावी संबंधथी आवो अर्थ नीकळे छे के जेम चार घाति कर्मोने पण शक्तिहीन बनावी दीधा ते 'अरिहंत' कहेवाय छे।"

'अथवा अरुहंत' पाठ पण मळी शके छे रुह' धातुनो अर्थ अंकुरवुं उगवुं एवो थाय छे एटले जेना भवरूप अंकुर नष्ट थई गया छे ते अरुहंत कहेवाय छे कारण के कर्मरूप बीज बळी जवाथी फरीथी संसार रूप अंकुर पेदा नथ थाय"। इति गुजरात्यनुवादः।

प्रशस्तिः ।

महावीरो देवो विदितभवकीर्तिर्जिनवर', सदा भव्याऽऽधारो निजशरणगैर्वन्द्यचरण' । मुदाऽन्त्यो यस्तीर्थंकर इति पदाढ्योऽस्ति नितरा,वचस्तत्त्वे तस्य प्रतिदिवसमेवार्पितमना ॥ १ ॥ फकीरेन्दुर्भिक्षुर्गुरुरिति तमःस्तोमतरणि , सुपुष्पस्तच्छिष्यो विनययुतभिक्षुर्विधिरभूत् । (१०५२) द्विपञ्चाङ्केन्द्व्दे जननमभवद्यस्य कुतले, गृहीता सद्दीक्षा भवभयहराऽस्मिंश्च व्रतित ॥ २ ॥ (१०६८) रसाष्टाङ्केन्द्व्दे सकलमुनिवृन्देऽतिविशदा, स चेदार्नीं नाम्ना कुसुममुनिदासो शिवरुचि । 'हिमागारे देशे' गिरिषु बहुशीतेषु विहरन्, गतो यो यत्रास्ते विविधतरुवृन्दोऽस्ति विमल. ॥ ३ ॥ प्रसिद्धे राज्ये च जिनमतधराढ्येन सहिते, समेतो 'नादोने' गुरुभिरतिपूते निवसता । कृत चातुर्मास्य कलिकलुषतापौघशमन, समाचीर्णं यत्राऽखिलजिनपथाऽऽराधनपरम् ॥ ४ ॥ 'सुमित्र'-स्यादौ हि हितकरसुदीक्षाऽपि नितरा, सदैव पुष्पेन्दुर्विचरति सुमित्रेण सहित' । जिनाज्ञासंसक्त परहितकरः साधुनिरत.॥ स एवाऽय भिक्षु *सकलदलदोषेन रहित ॥ ५ ॥ हिमाच्छादिते सुप्रदेशे च भ्राम्यन्, (१९०२) शिमाला (शिमला) †कुलुकादिदेशान्तरस्थ । दृगाङ्कानवचन्द्रकाब्दे प्रकाश । मुहुर्दृष्टवान् भूरिशोभा नगस्थाम् ॥ ६ ॥ सहस्रकोशान्तं पदगमनशीलो मुनिवर , सुपुष्पेन्दुर्भिक्षु' प्रथमगमन यत्र कृतवान् । सुमित्रेण स्वेन गुरुचरणभृङ्गेन सहित , सुशिष्येणागम्यं नगरमभिगम्य प्रविततम् ॥ ७ ॥ 'कराची' सुस्थान निखिलपशुरक्षा च विदधन्, दयागारं कृत्वा सकलजनश्राद्धै सह मुदा । निहालेन्दुर्यत्राधिपतिरपि

---

* सम्प्रदाय-पक्षवादादिना रहित । † कुलु इति भाषायाम्—

चासोऽत्र विषये, भुवि स्माते सिन्धोर्विषमविषये कोऽपि न मुनि' ॥ ८ ॥ विनाश्वासकानामपि च म गत कोऽपि *सुमुनि', सहसा-ऽस्नेनापि विहरणममूत्र न यते । मुने पुष्पेन्दोश्च गमनममवचत्र मथम, तत्र पूर्वनीत्वा दिवसमपि सुश्रोत्र्यां च गुरुणा ॥ ९ ॥
विहारमदेशोऽपि गत्वा च पूर्व, कृत्वा धर्मशिक्षा विशेषेण तत्र ।
अथ चातिरम्यो विहारमदेशो, महावीरदेवस्य जन्मास्ति यत्र ॥ १० ॥
अथ सुमदेशोऽधुना त्रासयुक्त, सदा राक्षसमायवातश्च यस्मात् ।
महाकालिकामंदिरे यत्र हिंसा, सदा जायते माणिनां कोटिशश्च ॥ ११ ॥
शराङ्काङ्कचन्द्रे मिते वत्सरेऽस्मिन्महावीरतीर्थंकरस्य जयन्त्याम् ।
नदीदीर्घवामोदरास्या तटे च, समागत्य पुष्पेन्दुर्सज्ञो हि भिक्षु' ॥ १२ ॥

अहिंसोपदेश †पलसकारिग्रामे, मदत्वा पशूनां त्रय भूपमुख्यम्, बधस्थानमुत्साय च शिक्षवांश्च, सदा वा मचार मश्मसोऽस्ति यस्य सदैव बहून्यन्यकार्य विधाय, मदेश भ्रमन्नन्ततो याति नूनम् ॥ १३ ॥ सभात्र मथम सुरेतरसमे देशे शुभे वत्सरे बन्द्वाङ्कविधौ मिते च झरियाग्रामे कृत भिक्षुणा । चातुरमास्यकृतं ततश्च मथम 'बंगे' गुरो सेवक, वेदाङ्कांकविधौ समे च गुरुणा साकं गत पुष्पक ॥ १४ ॥ सदानन्दमये शुभे च नगरे 'कालीमकत्ता'ऽभिधे, मत्रावादद्यसंख्य काश्च सतका जैना मता श्रावका । चातुरमास्यकृत महच सुखतो भाद्य मुने सेवका, यशाले कलिकपयनवरा पीपी सु 'पोसाक' की ॥ १५ ॥ सन्ति स्थानकवासिनश्च बहव श्वेताम्बरा श्रावका', ये कुमति समाजकार्यमयथा यस्याधिपा प्रेमिण' । सोहतं मुनिनेत्र

---

* विना कर्मुनिरिति शेष । † 'पलकरी' इति भाषा ।

समिततरं श्रेष्ठा महान्तो मुहुर्जैनाराध्यमुनिष्वपि व्रतधरेष्वेव गुणाः सन्ति च ॥ १६ ॥ जैना सघसुकार्यकारिणी सभा यत्रास्ति नित्यं मुहुः । सभ्याःश्रावककेऽपि सन्ति सतत नेत्रेन्दुसख्या गुणा ॥ अत्रैवं मुनय त्रयो नव मिते मासे निवासोऽभवत् । एवं चेन्मनुजो नवैव वितते गर्भे मुहुर्जायते ॥ १७ ॥ सम्प्रदायस्य वादस्य पक्षपातस्य वन्धनम् । त्रोटयित्वा स्वय जात, स्वतन्त्रश्च सदा मुनि ॥ १८ ॥ ज्ञातपुत्रमहावीरजैनसघे व्यवस्थित । नीरक्षीरविभागार्हे, स्वय तन्मयता ययौ ॥ १९ ॥ महावीरस्य च प्रभो, स्तुतेष्टीका कृता वरा । दिवसे दीपमालाया, याता पूर्णा च सवति ॥ २० ॥ कलिकाताख्यनगरे, वेदाकनवचन्द्रके । श्रीपुष्पचन्द्रमुनिना, शिवाक्षिरसार्गुष्टित ॥ २१ ॥ मुनिभि प्रार्थ्यते शश्वन्महावीरस्य शासने । स्वय तन्मुनिचर्याया, मौनमाश्रित्य तिष्ठति । भवान् परिग्रहत्यागी, यद्यस्ति कथमीदृश ॥ २२ ॥ सम्प्रदायप्रवादस्य, परिग्रहरत कथम् । सम्प्रदायप्रवादस्य, पक्ष कृत्वा पुन पुन ॥ २३ ॥ भवन्त स्वसमाजेन सह यान्ति रसातलम् । भवन्तोऽनन्तससारपापसृष्टि कृता कथम् ? वर्धयित्वा च स्वस्यैव पतन कथमिच्छतः ॥ २४ ॥

भुजङ्गप्रयातच्छन्दः ।

यदा जीवहिंसापरित्यागिनश्चेद्भवन्तस्तदा सम्प्रदायस्य जाले ।
जनान् सर्वतश्चात्र घोरे निवध्य, कथ कुर्वते ज्ञानचारित्रनाशम् ॥२५॥
अनेनाथ देहेष्वनन्तानुवन्धि-कषायस्य वन्ध कृत तत्र नूनम् ।
दृढ शृखलाबद्धजीवा भवन्त, पतिष्यन्ति चैव द्रुत शर्करादौ ॥२६॥
विपक्षानुरोधे महामोह एव, समान स्त्रिया सर्वथा त्यागयोग्य ।
सदा सेवनेनास्य नाश व्रजन्ति, भवद्ब्रह्मचर्यादिक शश्वदत्र ॥ २७ ॥

व्यासोऽत्र विषये, भुवि स्याते सिन्धोर्विषमविषये कोऽपि न मुनि
॥ ८ ॥ विनाज्ञासत्कानामपि च न गतः कोऽपि *सुमुनिः, सहस्रा-
ब्देनापि विहरणममूपत्र न यते । मुने पुष्पेन्दोश्च गमनमभवत्तत्र
प्रथम, तत्र पूर्वनीत्वा दिशमपि सुखोस्मां च गुरुणा ॥ ९ ॥
विहारप्रदेशेऽपि गत्वा च पूर्वं, कृता धर्मशिक्षा विशेषेण तत्र ।
अथ चातिरम्यो विहारप्रदेशो, महावीरदेवस्य जन्मास्ति यत्र ॥ १० ॥
अथ सुप्रदेशोऽधुना ह्रासयुक्त, सदा राक्षसप्रायजातस्य यस्मात् ।
महाकालिकामन्दिरे यत्र हिंसा, सदा जायते प्राणिनां कोटिशश्च ॥११॥
शरांकांकचन्द्रे मिते वत्सरेऽस्मिन्महावीरतीर्थंकरस्य जयन्त्याम् ।
नदीदीर्घवामोदरास्या तटे च, समागत्य पुष्पेन्दुसंज्ञो हि भिक्षुः ॥१२॥
अहिंसोपदेशं †चलधारिग्रामे प्रदत्त्वा पञ्चमं तत्र भूपगमम्,
चपस्थानमुत्साह्य च शिक्षयांश्च, सदा वा प्रचार प्रभसोऽस्ति यस्य
सदैव बहून्यन्यकार्यं विधाय, प्रदेशं प्रभावन्ततो भाति नूनम् ॥१३॥
यस्मात्र प्रथम सुरेतरमये देशे शुभे वत्सरे, वन्द्यांकांकविधौ मिते च
झरियाग्रामे कृत भिक्षुणा । चातुरमासकृत तस्य प्रथम 'बंगे' गुरो
सेवक, केशांकांकविधौ समे च गुरुणा सार्कं गतः पुष्पक ॥ १४ ॥
सर्वानन्दमये शुभे च नगरे 'कालीमकत्ता'ऽभिधे, यत्राप्यवसत्संस्य
कास्य वसत्का जैना मता श्रावका । चातुरमासकृत महच सुमतो
भाद्रा मुने सेवका, यत्रासे कलिकत्तपत्तनवरा चीची सु 'पोलाक'
की ॥ १५ ॥ सन्ति स्थानकवासिनश्च बहव श्वेताम्बरा श्रावका,
ये कुर्वति समाजकार्यमपथा यस्यापिपा प्रेमिभ । सोऽहं मुनिनेत्र

* विना कर्तुमिति शेष । † 'चलवारी' इति भाषा ।

समिततर श्रेष्ठा महान्तो मुहुर्जैनाराध्यमुनिष्वपि व्रतधरेष्वेव गुणा: सन्ति च ॥ १६ ॥ जैना संघसुकार्यकारिणी सभा यत्रास्ति नित्य मुहुः । सभ्याःश्रावककेऽपि सन्ति सतत नेत्रेन्दुसख्या गुणा ॥ अत्रैव मुनय: त्रयो नव मिते मासे निवासोऽभवत् । एवं चेन्मनुजो नवैव खितते गर्भे मुहुर्जायते ॥ १७ ॥ सम्प्रदायस्य वादस्य पक्षपातस्य वन्धनम् । त्रोटयित्वा स्वय जात, स्वतन्त्रश्च सदा मुनि ॥ १८ ॥ ज्ञातपुत्रमहावीरजैनसघे व्यवस्थित । नीरक्षीरविभागार्हे, स्वय तन्मयता ययौ ॥ १९ ॥ महावीरस्य च प्रभो, स्तुतेष्टीका कृता वरा । दिवसे दीपमालाया, याता पूर्णा च सवति ॥ २० ॥ कलिकाताख्यनगरे, वेदाकनवचन्द्रके । श्रीपुष्पचन्द्रमुनिना, शिवाक्षिरसागुंफित. ॥ २१ ॥ मुनिभि प्रार्थ्यते शश्वन्महावीरस्य शासने । स्वय तन्मुनिचर्याया, मौनमाश्रित्य तिष्ठति । भवान् परिग्रहत्यागी, यद्यस्ति कथमीदृश ॥ २२ ॥ सम्प्रदायप्रवादस्य, परिग्रहरत. कथम् । सम्प्रदायप्रवादस्य, पक्ष कृत्वा पुन पुन ॥ २३ ॥ भवन्त स्वसमाजेन सह यान्ति रसातलम् । भवन्तोऽनन्तससारपापसृष्टिं कृता कथम्? वर्धयित्वा च स्वस्यैव पतन कथमिच्छत ॥ २४ ॥

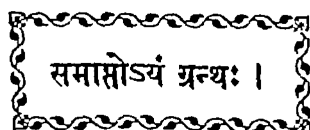
भुजङ्गप्रयातच्छन्द ।

यदा जीवहिंसापरित्यागिनश्चेद्भवन्तस्तदा सम्प्रदायस्य जाले ।
जनान् सर्वतश्चात्र घोरे निवध्य, कथ कुर्वते ज्ञानचारित्रनाशम् ॥२५॥
अनेनाथ देहेष्वनन्तानुवन्धि-कषायस्य वन्ध कृत तत्र नूनम् ।
दृढ शृंखलावद्धजीवा भवन्त, पतिष्यन्ति चैव द्रुत शर्करादौ ॥२६॥
विपक्षानुरोधे महामोह एव, समानः स्त्रिया सर्वथा त्यागयोग्य: ।
सदा सेवनेनास्य नाश व्रजन्ति, भवद्ब्रह्मचर्यादिक शश्वदत्र ॥ २७ ॥

विपक्षास्त्वेषस्याऽनुरागोऽपदेश', सदा ब्रह्मचर्यानुरक्तैर्मेवम्हि ।
महावीरदेवस्य माया सकीम, मुदा जैनसंघ समन्ततश्च जैना ॥ २८ ॥
मतो बन्धनान्मुक्तभाव भजन्तु भवाम्बुराशिजन्मतो वापि तु स्यात् ।
यदास्य प्रसंग भवन्तश्च जैना, न बाधु स्पजन्ति मुदन्ति सवसा ॥२९॥
अतो ब्रह्मचारी न कोऽप्यस्ति लोके, निशान्त व्यभिचारवन्त म रम्य ।
महावीरसत्योपदेशस्य सारमनेकान्तवाद बुधाख्यानमन्ति ॥ ३० ॥
भवन्त सदैकान्तवादे मग्ना , सतश्चैववैरेपां न धार्मिकत्वाद्स्यम् ।
स्वक सम्प्रदाय विशुद्ध गदन्ति, तथाऽन्य च निंदां हि कुर्वन्ति नित्यम् ॥
मतो वर्धमानस्य वाचो भवन्तो, विलुपन्ति मिथ्यैव किं सत्यमेतत् ? ।
सदैव भवन्त हि जानन्ति सिद्धा, महाऽसत्यपापानुरागेऽनुरक्तम् ॥३२॥
भुवन्तीह पक्षानुराग विशेषमह चामुके सम्प्रदाये मयुक्तम् ।
सदा चेदृश भावरोग त्यजन्तु, न हि स्याच्च कस्याप्यमाव कदापि ॥३३॥
परित्यज्य भेदात्मकीं बुद्धिमुग्रां, तदा वर्धमानस्य सिद्धान्तमानम् ।
विजानन्तु भावाश्च वीरं भजन्तु, सदाक्षेपवन्तो भवन्तो भवन्तु ॥३४॥

गुरुर्मो दीक्षायां ग्रहणसमये क्षेयकरण, परित्याज्यं चेतं कव-मति भवरक्षेममनिशम् । परिशमयूम प्रतिपदविवाद च कुरुत्व, तदेवास्येयास्य क्षणमपि प्रयाह प्रतिदिनम् ॥ ३५ ॥ स्तो धर्मे नास्य प्रजति भवतां वृत्तिरखिला भवत्स्वपभीरो न हि सुगुवि कस्मिन्नु निभर । भतोऽनित्य सायो ! परिहर मदामप्रममहो ! न हि स्वात्क-स्याण कचिदपि विशेष भ्रमवर ! ॥ ३६ ॥ राग-द्वेषविमुक्तानां, समतामावमागता । वीतरागा मवर्तन्ते, साधवो न हि चेतरे ॥३७॥ त्वय्यस्ति यदि रागश्च, द्वेषमावस्तथापर । देहमावोऽप्यहम्भावो-मोहभावस्तथैव च ॥ ३८ ॥ नो गतो यदि वो देहान्मुभैव वेषभा-

रणम् । तथोज्वलतरो वेषो, धूर्तत्वं प्रतिभावयेत् ॥ ३९ ॥ कैतवं समनुप्राप्य, पापकृन्मुनिराडयम् । वीतरागा न केऽपीह, प्रवदन्तीति योगिन ॥ ४० ॥ अद्यप्रभृतिमुनिभिर्हीयिता पदवी मुहु. । मानापमानयोर्वुद्धिस्तुल्यैव परिधार्यताम् ॥ ४१ ॥ सर्वदा भिक्षुवर्य्यैश्च, समदर्शिभिरेव च । शासन जिनराजस्य, वर्धनीय विशेषतः ॥ ४२ ॥ ज्ञातव्य मुनिभिस्तत्वं, मानवधर्ममाचर ! वीरशासनसेवाया, प्रवृत्ताश्चेतसा यदि ॥ ४३ ॥ पदवीधारण मिथ्या, प्रवृत्तिस्तत्र निष्फला । नाग्रहस्तत्र कर्तव्य, इति चित्ते समाश्रय ॥ ४४ ॥ जगति *वहुलेशस्य, मान्यता च सनातने (धर्मे) । तथैव जैनधर्मेषु, (मुनिवर्य्येषु) वह्वाचार्यस्य मान्यता । इति रोगसमृद्धि स्याद्विपरीत कथ भवेत् ॥ ४५ ॥ स्वयं वैद्यश्च रोगार्तो, नान्येषा दु खहो भवेत् । आचार्य्याणा वहुत्वस्य, प्रथा हेया मनीषिभि ॥ ४६ ॥ अखिलजैनसघस्य ह्येकश्चाचार्य एव च । कर्तव्यः सर्वथा विद्वन् ! न पुनस्त विलोपयेत् ॥ ४७ ॥ समाजं कुष्ठवन्नित्य, क्लिश्यतीति विभावय । कथनेन च किं तद्धच्छ्रवणेन च कि वहु ॥ ४८ ॥ समाजोऽद्य प्रयागस्य तीर्थवत्क्रियता मुदा । धारात्रयं मिलित्वैव स्वच्छा स्याद्वादरूपिणी ॥४९॥ गगेवेय च ज्ञातव्य, मुनिभिः सुधिभि सदा । इत्येव प्रार्थना शश्वत्पुष्पेन्दोर्भिक्षुकस्य च ॥ ५० ॥


समाप्तोऽयं ग्रन्थः ।

* वहुला ईश्वरस्येति प[illegible]

परिशिष्ट नं० १ वीरस्तुति–गुर्जरगायन

कडखाकी–चाल

तार हो तार प्रभु मुझ सेवक भणी,
जगतमां पटलु सुजश लीजे।
दास अवगुण भर्यो जाणी पोतां तणो,
दयानिधि दीनपर दया कीजे ॥ १ ॥

भावार्थ—किसी समय श्रीविद्याभ्यासके अभ्यास द्वारा पैसार भ्रमण करते हुए, ज्ञानावरणादि आवरणोंसे ढँके जानेपर भी अपनी अनन्त शक्तिको जान कर अथवा परमात्मस्वरूपके बोधसे उद्दिम आत्मा अपनी व्यापक शक्तिसे न देखकर परम निर्ममत्वके समान २४ वें तीर्थंकर श्रीवर्द्धमान-महावीर भगवानके नामका शरण निर्धारित करता है, और श्रीवीरपरमात्माको अन्तरमें अनुभूत करके प्रार्थना सहित विनति करता है और अपनेको प्रभुका दास निश्चित रूपमें समझकर मानो पुकार पुकार कर कहता है कि—हे नाथ! हे दीनदयालो! हे प्रभो! मुझसा निर्बल दासभावक आपकी आज्ञाओंके पालन करनेमें कहां समर्थ है मुझे तो मात्र नामका सेवक समझ कर तार! तार! इस गुण-दोषरूप दुःखसे निस्तार! ओह प्रभो! दुःख से प्रभुको छोड़कर और किसे कहूं! यह दृढ़ आशा मुझको आपकी दीजिए और मुझे भवजलधिसे पार कीजिए! भगवन्! मुझे यह भी ज्ञात है कि—प्रभुको तो सुयशकी कुछ भी अभिलाषा नहीं है। परन्तु उपचारसे भक्तिवश आपके नाममें आतुर होकर यह सब कुछ कहकर मैं ही अपनी अज्ञानताका परिचय दे रहा हूं, यद्यपि मैं अपनेको आपका दास समझता हूं; मगर यह दास तो रागद्वेष-असंयम-अनुकम्पाभावादि दोष-एकान्तवादरोष-अनादर आदि दोषरूप अवगुणोंसे भरा हुआ है। तो भी मैं वैसा ही कहलाता हूं। अत एव हे दयानिधे! भावकरुणासमुद्र! मैं दीन-रंक-अशरण-दुःखित-तत्वशून्य-सम्यग्ज्ञानादिसे शून्य भावरहित तत्वमार्गका विराधक-असंयमधारी-महामिथ्यात्वी-आपकी आज्ञासे विमुख-अनादिकालका अज्ञान आदि २ अनेक दुर्गुणोंसे पूर्ण हूं। इसी लिए मुझ दीन-हीन पर दया कीजिए। जैसी कृपा ही भव-तरणके योग्य हो जायगी। यद्यपि 'अर्हन्' प्रभु सदा स्वप्नमय

ही होते हैं तब उन्हें और नवीन कृपा क्या करनी है? तथापि अर्थीको घर-गाठका विचार नहीं होता, इसलिए यह वचन मुझसे 'अर्थी' का ही है, और जो दयावान् होता है उसकी विशेषता इसी प्रकार वर्णन की जाती है। अत देव! तुम कृपाके भडार हो, तुम्हारा अवलम्बन लेकर ही पार हो सकूँगा, यह सत्य और निस्सदेह है।

राग-द्वेषे भर्यो मोह-वैरी नड्यो,
लोकनी रीतमां घणुंए रातो।
क्रोध वश धमधम्यो, शुद्धगुण नवि रम्यो,
भम्यो भवमांहे हुं विषय मातो ॥ २ ॥

भावार्थ—हा तो भगवन्! यह दास कैसा है? सुनिए, यह राग-द्वेषके कीचडमें फँसा हुआ है, जगत्-सागरमें डूबा पडा है, गुणी जनोंसे ईर्ष्या करता है, मोहके नशेमें बेसुध है, तत्वकी बातोंमें बिल्कुल अज्ञात है, विपर्यासका कुछ ठिकाना ही नहीं है। मोह वैरीने भारी झपट मारी है जिसके कारण अपने उस मोहभावसे स्वय उसके नीचे दब गया है। तथा लोककी रीतिभाति, चाल-ढाल, अन्धश्रद्धा, उलटी टेढी रूढी आदिमें खूब ही मस्त है, लोकोंकी गतानुगतिकता भेडचालमें ही सदा मग्न है, अपनी गाठकी अकलसे कुछ भी नहीं विचारता, लोकोंको प्रसन्न करनेकी बडी चाह लगी रहती है। लोकोंसे डरता भी खूब है इसी कारण गुप्त अनाचार सेवन करता है, तब लोकोंने भी बुगला-भक्तकी ही उपाधि दी है। क्रोधसे पारा गर्म हो जाता है, चडपरिणाममें धमधमाय-मान है। जिस प्रकार धौंकनीकी प्रेरणासे अग्नि तप उठता है इसी तरह क्या बल्के इससे भी अधिक क्रोधके द्वारा तप जाता हू। शुद्ध गुण जो सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-परमशुद्ध चरित्र-क्षमा-मार्दव-आर्जव आदि आत्मगुण हैं, उनमें कभी रमण नहीं करता, न कभी मैं उनमें तन्मय ही होता हू, अपने स्वरूपका ग्रहण भी कभी नहीं किया, सदैव तुसके समान निस्सार परभाव या विभावको ही स्वीकार किया है, नरक-तिर्यंच-मनुष्य-देव आदि चार गति रूप संसारचक्रमें इसी कारण मारा मारा फिरता हू। तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप सप्ततिमें, पाच इन्द्रियोंके विषय-स्वादमें उन्मत्त और उन्मग्न हो रहा हू। विषयग्रस्त हो कर इस भाति विश्वचक्रका कडुवा अनुभव ले रहा हू, मैं वही अधमदास हूं,

अतः मुझे तार तार! हे नाथ! दीनबन्धो! निष्कारण दयालो! मुझे तार मत तुम्हारे बिना बचा ॥ २ ॥

आदर्यो आचरण लोक उपचारथी,
शास्त्र-अभ्यास पण कोई कीधो।
शुद्ध श्रद्धान वळी आत्म-अवलम्ब विण,
तेहवो कार्य तेणे को न सीधो ॥ ३ ॥

भावार्थ—शायद कभी कोई यह कहे कि—आवश्यक करणादि आचरण बहुतवार स्वीकार किया है, मगर उस चारित्रको तो लोकोपचारसे ही किया था जिससे फिर वह आत्मामें विष तथा गरलके समान परिणत हुआ क्योंकि अध्यात्म दृष्टिसे क्या हो सकता है, यदि भावधर्म नहीं हो तो उसके बिना सब कुछ वृथा है और उसे उपचार-गतानुगतिकतासे अंगीकृत किया समझा जाता है। इसके उपरान्त कोई यह भी कहेगा कि—उपयोग-यशोनामकर्म आदिके विषयमें ज्ञानावरणीयके क्षयोपशमके योगसे शास्त्रोंका पूर्ण अभ्यास भी तो किया है, शास्त्रोंका पठन-पाठन किया है, शास्त्रके गर्भमेंसे यथार्थ अर्थोंको निकाल कर जगत्में उसका विस्तृत प्रचार किया है। तथा अध्यात्म-भावनासे सर्वज्ञप्रभुके बिना उस श्रुतका अभ्यास किया गया परन्तु शुद्ध और यथार्थ श्रद्धानोपेत भावधर्मके बिना शेष भावधर्मकी रुचिसे दान-धर्मादिक जो पुरुषार्थ किया गया है उन सबको कारण समझना चाहिए परन्तु मूल धर्म नहीं। धर्म तो वस्तुका सत्त्व है, और वह आत्माके अन्तर्गत-आत्मसत्तासे पारिणामिकभावकी दशामें स्थित है। उसमें से जो धर्म प्रकट होता है, वह शुद्ध-श्रद्धान सम्यग्दृष्टि तथा पुनः आत्माके स्वरूपको प्रकट करानेवाली रुचि तथा आत्माके स्वगुण-सम्बन्धी अवलम्बनके बिना जो आचरण किया जाता है तथा शास्त्राभ्याससे यदि वह कार्य किया जाता है जिस कार्यसे आत्माका सम्यक् साधन होता है उसे किसीने निर्मित नहीं किया प्रकट नहीं किया। जिसके कारण जो आत्मगुण प्रकट हो सकता था वह नहीं हुआ। अतः हे परमेश्वर! इस अधमाधम दासको तेरी ही कृपा पार कर सकती है इसलिए तार, तार, दास समझकर तार, अथवा दास जानकर तार ॥ ३ ॥

स्वामी दर्शन समो निमित लही निर्मलो,
जो उपादान ए शुचि न थासे।
दोषको वस्तुनो अहवा उद्यम तणो,
स्वामी सेवा सही निकट लाशे ॥ ४ ॥

भावार्थ—स्वामी श्रीवीतराग हैं, जो अन्यके कार्यके अकर्ता ह, परभावादिके अभोक्ता हैं, इच्छा लीला चपलता कौतुहल आदिसे सर्वथा रहित हैं, क्योंकि इच्छा तो ऊनतावान् अर्थात् न्यूनतावालेमें होती है, और परमेश्वरतो पूर्ण आनन्दी महजानन्दी है, इसीलिए स्वामी इच्छा रहित हैं, और लीला भी सुखकी लालसावालेको ही होती है, और लालचीपना सुखकी ऊनतासे होता है, इसीकारण प्रभुमें लालचीपना भी नहीं है। ऐसे निजानन्द-विहारी स्वामीके दर्शनके समान निर्मल निमित्तको प्राप्त करके, आत्माका उपादान–मूलपरिणति यदि शुद्ध न होगी तो जानना चाहिए कि यातो वस्तुका दोष (जीव अवगुणावृत) है, या शायद जीवका दल ही अयोग्य है, कहना न होगा कि इस जीवकी सत्ता किस ढगकी है? अथवा क्या अपने उद्यममें कुछ कमी है? क्योंकि कठोर प्रयत्न और सतत उद्यम करनेपर तो आत्माका सुधार अवश्य होना ही चाहिए था मगर अवतक कुछ न हुआ। इससे स्पष्टसिद्ध है कि–यह जीव अपनी ऊनताके कारण अपने आत्मीय गुणोंका स्मरण नहीं करता, इसलिए अव क्या करना चाहिए? और कोई उपाय भी तो नहीं सूझता। यही समझ कर श्रीअर्हन् भगवान् महावीर प्रभुकी सेवाको ही मैंने आत्म स्मरणके लिए अमोघ शस्त्र (साधन) समझा है। प्रभुसेवा ही प्रभुकी समीपताको दिलायगी। क्योंकि वहिरात्मभाव तो इस अवस्थामें अत्यन्त दुष्ट है। परन्तु जिनराजकी सेवनासे यह दुष्टता छूटजायगी ॥ ४ ॥

स्वामी गुण ओळखी स्वामीने जे भजे,
दर्शन शुद्धता तेह पामे।
ज्ञान चारित्र तप वीर्य उल्लासथी,
कर्म जीपी वसे मुक्ति धामे ॥ ५ ॥

भावार्थ—स्वामी अर्थात् शासनपति अर्हन् प्रभु, श्रीमहावीर भगवान्के गुणोंको पहचान कर जो प्राणी अरिहंतको भजता है उनकी सेवा करता है, वह दर्शन अर्थात् सामान्य केवलज्ञान सम्यक्त्व स्वभावरूपी ज्योति प्रगट प्राप्त करता है। उसे दर्शनकी निर्मलता होती है, यथार्थ आत्म ज्ञान भासता है, चारित्र स्वभावरूपमें रमण करता है, तप उसकी एकाग्रताको प्राप्त करता है, वीर्य आत्मसामर्थ्यको ग्रहण करता है उसके प्रभावसे ज्ञानावरणादि कर्मोंको जीत (क्षय कर) ता हुआ मोक्ष–निरावरण रूप सम्पूर्णसिद्धस्वरूप अनुपचरित पदमें जाकर निवास करता है ॥ ५ ॥

जगत् वत्सल महावीर जिनवर सुणी,
चित्त प्रभु चरणने शरण वास्यो।
तारजो बापजी! बिरुद निज राखवा,
दासनी सेवना रखे जोशो ॥ ६ ॥

भावार्थ—जगत् भर वत्सल (हितकारी) चौवीसवें महावीर जिन वरके गुणोंको सुनकर मेरा मन प्रभुके चरण (चारित्र) रूपी शरण (मगन) में बस गया है, अतः हे प्रभो! श्री परमेश्वर! मेरा आत्मा स्वयं जाकर आत्मस्व समतासाधन करे, ऐसी शक्ति तद्रूप तो मुझमें नहीं दीख पड़ता इसीलिए शरण भक्तिका आलम्बन लेकर कहता हूं कि बापू! तुम दासको आप ही पारकरना और आप अपनी तारकताका बिरुद सुरक्षित रखनेके लिए इस दासकी सेवना (भक्ति) के सामने मत देखना जो आपकी आज्ञानुसार भक्ति करता है वह निस्सन्देह पार होता है परन्तु जगत्तारक! मेरे लिए यह सब कुछ होना दुर्लभ है, लेकिन जिसप्रकार काठकी सहायतासे लोह और पत्थरभी पार हो जाते हैं इसी प्रकार आपके संयोगसे पार हो जाऊंगा और मुझे अब निश्चयसही यही एक अन्तिम आधार प्रत्यक्षरूपमें दीख रहा है ॥६॥

विनति मानजो शक्ति ए आपजो,
भाव स्याद्वादता शुद्ध भासे।
साधि साधकदशा सिद्धता अनुभवी,
"देवचन्द्र" विमल प्रभुता प्रकाशे ॥ ७ ॥

भावार्थ—प्रभो! मेरी इतनी विनय तो अवश्य मानलेना, और मेरा यह वचन भी सरल भक्तिकी प्रेरणासे निकला है। हा वह वात मानना कि मुझे एक वार आत्मसामर्थ्य अर्पण करना, और ऐसा भाव भी प्रदान करना कि–जिसभावसे वस्तुधर्म यानी स्याद्वादकी कसौटीसे नित्य-एक-अनेक-अस्ति-नास्ति-भेद-अभेदद्वारा छहों द्रव्योंके अनन्तशुद्ध धर्म, शकादि दूषण रहित भासने लगें। साधकदशाकी साधना करके वे भेदरत्नत्रयी, सिद्धता, निष्पन्नता, वास्तविकताका अनुभव करके उसे भोगने लगें। समस्त देवोंमें चन्द्रमा के समान सिद्ध भगवान्की विमल-निर्मल प्रभुताको प्रगट करे, अर्थात् स्याद्वाद ज्ञानके द्वारा साधकता प्रगट होती है, और उस साधकतासे सिद्धता प्रगट होती है, यही एक विलक्षण सार पद्धति है ॥ ७ ॥

गुजराती भावार्थ—कोइक अवसरे श्रीजिनागमना अभ्यासे करीने ससार भ्रमण निमित्त जे ज्ञानावरणादि आवरणे आवृत पोतानी अनन्त आत्म शक्ति जाणीने अनादि परभावानुषगता दोषने दु खे उद्विग्न आत्मा ते पोतानी साधकता शक्ति अणदेखतो परमनिर्यामक समान चौवीशमा श्रीवीरभगवान्नां चरण शरण निर्धारीने, श्रीमहावीरप्रभुनी आगल प्रार्थना सहित विनति करे छे जे–हे नाथ! हे दीनदयाळ! हे प्रभुजी! मुझ सरीखो जे तत्वसाधक तथा आज्ञानिर्वाह मा असमर्थ, तेने मात्र नामथी सेवक जाणी तार, तार। ए गुण-रोधक रूप दु खथी निस्तार, तुज सरीखा प्रभु विना बीजा कोने कहुं? जगत्मा एटलुं सुजश लीजे, यद्यपि प्रभु तो सुजशना कामी नथी, परन्तु उपचारे भक्ति आतुरताए कहे छे जे मुज सरीखो दास ते यद्यपि राग द्वेष असयम अनुष्ठानाशसादिदोष, एकतादोष अनादरादिदोषरूप अवगुणे करी भर्यो छे, तो पण ताहरो कहेवाय छे। ते माटे हे दयानिधि! भाव करुणाना निधान! दीन जे हु रंक, अशरण-दु खित-तत्वशून्य-ज्ञानादिसम्पदारहित-भावदरिद्री-मार्गनो विराधक-असयमसचारी-महाविकारी-तमारी आज्ञाथी विमुख-अनादिनो उद्धत एहवा मुझ ऊपर कृपा करीजे, ताहरी कृपा तेहीज त्राण (शरण) थशे। यद्यपि अरिहत तो कृपावतज छे तो नवी कृपा शी करवी छे, तो पण अर्था विचारे नहीं, माटे अर्थानु ए वचन छे, जे दयावंतनेज एम कहेवाय छे, जे हे देव! तमे दयाना भडार छो, तमनेज अवलबे तरीश। ए सत्य ज छे ॥ १ ॥

हास्य वेषधारी छ राग द्वेषे भर्यो बगलमा पक्को गुणनी ईर्ष्या करे छे मोह जे मुंझवणपणुं ते तत्त्वनी अयथार्थता—विपर्यासता, हेतुमें मोहथीज भर्यो तेथी रमाडयो छे तथा लोकनी जे रीत तेवो चाल ते मांहे भूलोज भम्यो छे लोकनी चाल (गतानुगतिकता) मांहे भम छे लोकरंजनमां पड्यो छे, जेम जे दाता चक्रपरिणाम तेहने विषे भमतो रह्यो छे जेम भमरा भमतो भमि तपे तेम तपी रह्यो छे आत्मगुण जे सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र-क्षमा-दया-मार्दव आर्जवादि आत्मगुण, तेने विषे रम्यो नहीं तन्मयी न थयो । ते हम व प्रभु थकी भम्यो=चतुर्गतिरूप भवचक्रमांहे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप संसार तेने विषे हुं विषय=जे पांच इन्द्रियना स्वाद ते मांहे मच्यो=लोभी मग थयो थको एम संसारचक्र अनुभव्युं छे हवे प्रभु मुजने तार, तार हे नाथ! दीनबन्धु! निष्कारण दयाळ! मुजने तार मत मुकावी समार ॥ १ ॥

कदाचित् कोई कहेशे के आत्मस्वरूपध्यानिक आचरण करवुं—तेमनी पर कर्युं परन्तु ते सर्व लोकोपचारथी एटले विष तथा परभव तथा अन्तरात्मा-नुगामनी भावना थयो विना उपचारे अंगीकार कर्युं, तथा कोई कहेशे के उच्च-गोत्र यशोनाम कर्मादिकना विपाके ज्ञानावरणीय क्षयोपशमना योगे शास्त्राभ्यास पण कीधो शास्त्र भण्या शास्त्रना यथार्थ अर्थ पण पाम्या तथा अध्यात्मनी भावनाए स्पर्शज्ञानानुभवविना शुद्धात्मस्व कीधो परन्तु शुद्ध अने यथार्थ स्याद्वादोपेत भावधर्म विना शेष भावधर्मनी समीपे जे शास्त्र-व्यावहारिक प्रवर्तन करे छे ते सर्व कारण समजवां परन्तु मूलमार्ग थकी धर्म ते वस्तुनी सत्ता आत्माने विषे स्व-स्वरूपपणे परिणमनस्वभाव रह्यो छे । ते मांहे जे प्रथमो ते धर्म एहवुं शुद्ध श्रद्धान शुद्धप्रतीति-तथा थकी आत्मानी स्वरूप प्रगट करवारूप रुचि तथा आत्माना अनुभवने आलंबन विना जे आचरण तेणे आचरवे तथा शुद्धात्माये तेहवुं धर्म—जे कार्यनी अत्माउं साधन थाय ते कोई नीपन्युं नहि, जे थकी आत्मगुण कोई प्रगटे ते थयुं नहि, ते माटे अहो परमेश्वर! तादृश कृपा धार उतारवे निष्कारण ते माटे तार! तार! ॥ २ ॥

स्वामी श्रीवीतराग जे परमार्थना करता परमात्मपरिणा अभोक्ता इच्छा लोभ-चपलता रहित एटले जे इच्छा होय छे ते तो कर्मचापल्य छे ते माटे इच्छारहित छे, वळी लोभ पण मुख्युं स्वरूप करवाएथे होय छे अने तत्त्वनी-पणुं ते गुणनी अनतरी थाय छे । ते माटे प्रभुमां लालचीपणुं नथी एहवा स्वामीना दर्शन (मत) समान निर्मल निमित्त नहीने पामे ए आत्माउं स्वरू-

दान=मूल परिणति पवित्र नहि थशे तो जाणवुं जोईये जे वस्तु=जीवनो ज दोष=अवगुण छे, एटले रखे ए जीवनो दल अयोग्य होय! ए जीवनी सत्ता केवी रीतनी छे? अथवा पोताना उद्यमनी खामी छे? केमके आकरे प्रयत्ने=उद्यम करीने तो आत्माने समरवो जोइये, तो ए जीव पोतानी कुणाशने लीधे आत्मा समरतो नथी। ते माटे हवे शुं करवु? जे बीजो उपाय कोई नथी, तो श्रीअरिहतनी सेवा तेहीज निश्चे निकट केता नजीकता लाशे, केता पमाडशे, एटले आ आत्मा तो हवे दुष्ट जेवो थइ रह्यो छे, परन्तु श्रीजिनराजनी सेवनाथी दुष्टता तजी देशे ॥ ४ ॥

स्वामी जे श्रीअरिहत तेहना गुणने ओळखीने जे प्राणी श्रीअरिहतने भजे=सेवे छे, ते दर्शन=सम्यक्त्वरूप गुणने पामे छे, दर्शननी निर्मलता पाम्या पछी, ज्ञान=यथार्थ भासन, चरित्र=स्व-स्वरूपमा रमण तप=तत्वमा एकाग्रता-वीर्य=आत्म-सामर्थ्य, तेहना उल्लासथी ज्ञानावरणादि कर्मोने जीपीने मुक्ति=निरावरणरूप सम्पूर्ण सिद्धतारूप धाम=स्थानकमा जइने ते वसे छे ॥ ५ ॥

जगत्रयवत्सल=त्रण जगत्‌ना हितकारी, एहवा महावीर भगवान् चोवीशमा जिनवर, तेहना गुण साभळीने मारो मन प्रभुने चरणने शरणे वसाव्यो छे। ते माटे हे प्रभो! परमेश्वर! माहरो आत्मा तो पल्टीने सर्वसाधन करे, एहवी शक्ति देखाती नथी, माटे भद्रक भक्तिए कहुं छु जे हे तात! हे दीनबन्धो! मुज दासने तमे तारजो, तमारु तारकतानु विरुद राखवा माटे दासनी सेवना भक्ति सामु जोशो मा, जे ए आज्ञा प्रमाणे भक्ति करे तो तरे, ए वात तो स्वामिन्! माहरामा थवी दुर्लभ छे, पण तमारे सयोगे तरीये, एहीज नियमा आधार छे ॥ ६ ॥"

"माहरी एटली विनति मानजो, ए पण भद्रिकपणाथी भक्तिनुं वचन छे, जे शक्ति=एवी सामर्थ्य आपजो, ते कहे छे, जे भाव=वस्तुधर्म, ते स्याद्वादरीते नित्य-एक-अनेक-अस्ति-नास्ति-भेद-अभेदपणे छ द्रव्यना अनताधर्म शुद्ध, शकादि दूषणरहित भासे,=जाणपणामा आवे, ते साधि=निपजावीने साधकदशा ते भेद रत्नत्रयी-सिद्धता-निष्पन्नता-अनुभवे=भोगवे, सर्वदेवमाहे चन्द्रमा समान, सिद्धभगवान् तेहनी विमल=निर्मळ जे प्रभुता, ते प्रकाशे=प्रगट करे, एटलेस्याद्वाद ज्ञाने साधकता प्रगटे, साधकताथी सिद्धता प्रगटे छे, एहीज सार पद्धति छे ॥७॥

देवचन्द्र—

वीरस्तुति—

वीर जिनेश्वर चरणे लागु, वीरपणु ते मागु रे।
मिथ्यामोह तिमिर भय भागु, जीत नगारु वाग्यु रे ॥ १ ॥

शब्दार्थ—वीर जिनेश्वर=चौबीसवें वीर प्रभुके चरणे लागुं=नमस्कार करता हूं, (और) वीरपणुं ते=उनके समान वीरपणुं=महावीर भाव मागुं रे=मैं उनके पाससे वाणि द्वारा माँग लेता हूं, (उनका वीरत्व ऐसा है कि—जिनके सम्मुख) मिथ्यामोह=मिथ्यात्व मोहनीय रूप तिमिर भय=अन्धकारका भय भाग्युं=दूर भाग गया हुआ है और—जीत नगारुं=जयका नगारा वाग्युं रे=बज रहा है।

भावार्थ—मैं चौबीसवें जिनेश्वर श्रीमहावीरस्वामीके चरण वन्दन करता हूं, और कर्मरूप शत्रुओंको जीतनेके लिए उनमें जो मोक्षरूप अथवा जैसा श्रीवीर भगवान्में वीरत्व है, मैं भी अपनेलिए वैसाही चाहता हूं, और जिनमें मिथ्यात्व मोहनीय कर्मरूप अंधकारका भय भग होगया है, और फिर जीतका डंका बजता है।

परमार्थ—मैं श्रीवीरभगवान्‌के चरणोंमें वन्दना करके अपने लिए वीरत्व पानेकी मांग पेश करता हूं, श्रीवीरभगवान् कैसे हैं ? जिनका कि—मिथ्यात्वादि मोह दूर होगया है, तथा कर्मरूपी शत्रुओंको पराजय करनेसे विजय नक्कारा बजने लग है ऐसे श्रीभगवान्‌को नमस्कार करके मैं वीरता मांगता हूं ॥ १ ॥

छउमस्थ वीरज लेश्या संगे अभिसंधिज मति अंगे रे,
सूक्ष्म थूल क्रियाने रंगे, योगी थयो उमंगे रे, वी० ॥ २ ॥

शब्दार्थ—छउमस्थ=छद्मस्थ अवस्थाकी वीरज लेश्या=क्षायोपशमिक वीर्यवाली लेश्या—आत्म परिणामकी एक दशा (उसके) संगे=संयोगके द्वारा (तथा) अभिसंधिज=अभिसंधि जनित—योगाभिसन्धिजनित—योगको प्रवृत्त करनेकी—अपने आप ही होनेवाली इच्छासे उत्पन्न-मति=बुद्धि, (उसके) अंगेरे=उसकी लोंयाके कारण (तथा) सूक्ष्म=आत्मिक (और) थूल=व्यावहारिक, क्रियाने रंगे=क्रियाका उत्साहपूर्वक करनेके उत्साहसे (श्रीवीरभगवान्) योगी थयो—योगी बनकर, उमंगेरे=उमंगके साथ—न कि जबरदस्तीसे

भावार्थ—छद्मस्थ अवस्थाकी क्षायोपशमिक वीर्यवाली आत्मपरिणतिके योगसे, और योगको ग्रहण करनेकी अपनी निजी इच्छासे उत्पन्न होनेवाली बुद्धिसे, आत्मिक और व्यावहारिक क्रिया करनेके उत्साह द्वारा श्रीवीर भगवान् बडी भारी उमगके साथ योगी हुए हैं।

परमार्थ—इस गाथाका भावार्थ भलि प्रकार समझमें नहीं आता, अत गुरुगम्यतासे इसका अर्थ समझना चाहिए। तथापि यथा मति लिखा गया है, छद्मस्थ अवस्थामें आत्माको क्षायोपशमिक वीर्यका उद्गम जब प्राप्त होता है और उस समय उसके साथ वैसी ही शुभ लेश्या मिलजाती है, अतः फिर अन्वयरूप वीर्यकेद्वारा कर्मग्रहण करता है, इस कर्मग्रहण करने की दशाको अभिसधिज कहते हैं, और तब फिर मति उपर्युक्त वीर्यको ग्रहण करती है।

देहकम्पनरूप सूक्ष्म-क्रिया, और शरीरसकुचनरूप, एव उसका प्रसरण करणरूप, प्रसारणकी क्रियाको स्थूल क्रिया कहते हैं, इस प्रकार स्थूल और सूक्ष्म क्रियाके रगसे सब आत्मा बडी उमगसे योगी होते हैं। अर्थात् वे मन-वचन- और कायके योगको प्राप्त होते है ॥ २ ॥

असख्य प्रदेशे वीर्य असखो, योग असखित कखेरे,
पुद्गल गण तेणे लेशु विशेषे, यथाशक्ति मति लेखेरे ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—असख्य प्रदेशे=आत्माके असख्य प्रदेश हैं, (अत उन उन प्रदेशोंका वीर्य एकत्र करने पर) वीर्य असखो=असख्य—जो गिना न जाय इतना आत्म-बल है, (इसीसे आत्मा) योग असंखित=असख्य योग-मन-वचन-काय के व्यापार, (उनकी) कखेरे=अभिलषित अर्थको पूर्ण करनेमें समर्थ होता है, [और] पुद्गल गण=पुद्गलकी विविध वर्गणाओंको, तेणे=इसी कारण, लेशु विशेषे=लेश्या विषेशसे-भिन्न भिन्न लेश्याओंसे, यथाशक्ति=शक्तिके अनुसार, मति=बुद्धि, अनुभवाकित रहती है, एकके पश्चात् एक को ग्रहण करके माप करती रहती है।

परमार्थ—आत्माके असख्य प्रदेश हैं, और उन एक एक प्रदेशमें असख्य वीर्य-शक्ति है, इससे असंख्य योगकी आकाक्षा उत्पन्न होती है, और योग सामर्थ्यके अनुसार आत्मा कर्म-वर्गणाके पुद्गलोंको यथाशक्ति ग्रहण करता है ॥ ३ ॥

उत्कृष्टे वीरजने वेसे, योग क्रिया नवी पेसे रे,
योग तणी ध्रुवताने लेसे, आतमशक्ति न खेसे रे ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—(लेकिन) उत्कृष्टे वीरजने वेसे=उत्कृष्ट वीर्यके आवेशमें-जब कि सबसे अधिक वीर्य-उल्लास होता है तब योगक्रिया=मन-वचन कायरूपी योगका व्यापार, नवी पेसेरे=प्रवेश ही नहीं करता होता ही नहीं (क्योंकि उस समय) योगतणी=योगकी ध्रुवताने=अचलताको लेसे= लवलेशमात्र भी आतमशक्ति=आत्मबल, न खेसेरे=हिलाता नहीं—योग स्थिर हो जानेके कारण।

भावार्थ—जब आत्मामें सबसे अधिक वीर्य प्रकट होता है तब मन-वचन और कायका कर्म बंधरूप कार्य प्रवेश ही नहीं करता कारण यह है कि—उस समय आत्मबल है उस योगके अचलत्वको लवलेश मात्र भी हिला नहीं सकता ॥ ५ ॥

परमार्थ—उपरोक्त कथनानुसार आत्मा योगकी शक्तिके अनुसार कर्म पुद्गलोंको ग्रहण करता है परन्तु यदि आत्मामें उत्कृष्ट वीर्य प्रकट होजाता हो तो फिर मन-वचन-कायके योग क्रमशः मंद हो जाते हैं और कर्मबन्धन रूप क्रियासे फिर आत्मामें कर्म-बंध नहीं होता।

योगकी ध्रुवता लेश सब आत्माओंमें होता है और उस लेशमात्रसे भी आत्माके आठ रुचक प्रदेश कर्मबन्धसे विरत (अलग) रहते हैं। यह दृष्टान्त है। अत एव ज्यों ज्यों आत्मामें उत्कृष्ट वीर्य प्रकट होता रहता है त्यों त्यों कर्मबन्ध भी कम हो जाते हैं, और अन्तमें सम्पूर्ण वीर्यत्व प्रकट होने पर वीरभगवान्की तरह समस्त कर्मबंधन नाश हो जाता है और शुद्ध चैतन्यत्व प्राप्त होता है, अतः हे भगवान्! मुझे वीरता अर्पण करो ! ॥ ४ ॥

काम वीर्य वशे जेम भोगी, तेम आतमा थयो भोगीरे,
सूरपणे आतम उपयोगी, थाय तेह अयोगी रे ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—कामवीर्य वशेजेम=संसारी उत्पन्न होने पर, वीर्य वशसे जेम=जिस प्रकार भोगी=भोग करता होता है, तेम=उसी तरह, आतम थयो भोगीरे=आत्मा (अपने वीर्योल्लास द्वारा अपने गुणोंका) भोगी बनता है

(और) शूर पणे=शौर्य गुणके वलसे, आतम उपयोगी=अपने भावमें उपयोगवान् रहकर, थाय तेह अयोगीरे=वह आत्मा उसी समय अयोगी गुणस्थान पर आरूढ होता है।

भावार्थ—स्त्रीसंगकी इच्छा होने पर वीर्य अर्थात् धातुके उल्लाससे जिस प्रकार जीव भोगकर्ता सिद्ध होता है, इसीप्रकार आत्मा अपने वीर्य उल्लाससे अपने गुणोंका भोगी वनता है, और शौर्यगुणके वलसे निजभावमें उपयोगवान् रहकर वह आत्मा तुरत अयोगी-गुणस्थानारूढ होता है।

परमार्थ—जिसप्रकार कामी पुरुषमें वीर्यकी अधिकता होनेके कारण उसे प्रवल कामेच्छा होती है, इसीकारण पुरुष स्त्री की, और स्त्री पुरुष की इच्छा करती है, अथवा काम अर्थात् इच्छा, वह द्रव्यादिककी इच्छावाला जिस प्रकार द्रव्यकी इच्छा करता है, और पर-भावकी वाञ्छा करता है, इसी तरह आत्मा भी स्व-स्वरूपको न जाननेके कारण पर-पौद्गलादिक भोगोंकी वाञ्छा करता है।

परन्तु जव आत्मामें शूरवीरताका सचार होनेपर वीरभाव प्रगट होता है, तव कर्मोंका क्षय होने पर अपने स्वरूपको जानता है। इससे उसे पर वस्तुओंपर अभाव-(अप्रीति) होता है, आत्मा निजगुणमें रमण करता है, मन-वचन और कायके योगको स्थिर करता हुआ नवीन कर्मोंको नहीं वाधता। और अन्तमें अयोगी हो जाता है। इस लिए वीरत्व प्राप्त होने पर आत्माका कार्य सिद्ध होने वाला समझ कर भगवान्‌के पास वीरता ही मांगी है ॥ ५ ॥

वीरपणु ते आतम ठाणे, जाण्युं तुमची वाणे रे,
ध्यान विनाणे शक्ति प्रमाणे, निज ध्रुव पद पहिचाणे रे, वी० ॥६॥

शब्दार्थ—वीरपणु=शूरवीरता, (उसे,) ते आतम ठाणे=वह आत्मगुणस्थानपर चढता हुआ, [परिपूर्ण होना चाहिए इस प्रकार] जाण्यु=मैं जान सकाहू, [किसके द्वारा जान सकाहू ?] तुमची=आपकी, वाणे रे=वाणी द्वारा–आपके प्रतिपादन किए हुए आगम द्वारा, (तथा) ध्यान विनाणे शक्ति

प्रभावे=अपनी शक्तिके प्रभावसे ध्यान और विज्ञानसे निज=अपना धुवपद=(परिणामकी स्थिरताको पाकर) शोभित अचल पद पहिचाने=पद जानते हैं।

भावार्थ—आत्मगुणस्वरूपपर पहलेसमय परिपूर्ण शुद्धवीरता होनी चाहिए जिसे मैं अब जान सका हूं, किसलिए? आपकी वाणी द्वारा अर्थात् आपके उपदेशसे पुनः मेरी निजी शक्ति के अनुसार ध्यान और विज्ञानके साहाय्यसे भी कुछ जाना है, यानी ध्यान और विज्ञानका जितना बल होता है, उतना ही अथवा उसी प्रमाणमें अपनी वीरताका स्थिरपद जीव इस निमित्तोंसे पहचान लेता है।

परमार्थ—भगवान्‌के पाससे वीरताकी याचना का विचार करते समय भगवान्‌के प्रतिपादन किए हुए उपदेशका स्मरण हुआ इससे वर्ण ही प्रसन्न होकर कहता है कि प्रभो! मेरी जो बड़ी भूल हुई है उसका मुझे भान हुआ अब तक मैं आपसे यही विनति करता रहा था कि—मुझे वीरता अर्पण करें परन्तु मांगनेसे पहिले आपने फर्माया है कि—समस्त आत्माएँ मेरे समान हैं। अतः जो वीरतामें पहले आपसे मांग रहा था वही वीरता मुझमें भी है। परन्तु खेद है कि इस बातकी मुझे जरासी भी खबर न थी परन्तु आपकी वाणीसे—आपके तत्त्वपूर्ण उपदेशसे मुझे विश्वास हुआ है कि वह वीरता मुझमें भी पर्य्याप्त और अखंड है।

तब यह प्रश्न होता है कि—जब आपके समान वीरता अपनेमें भी है तब तुम उसे क्यों नहीं जानते थे? और भगवान्‌ने कहा है कि—इसके अतिरिक्त वीरता अपने आत्मामें है इसका प्रत्यक्ष अनुभव हो सकता है, इसी प्रकार गुरु परम्परासे यदि विशेष ज्ञान प्राप्त हुआ हो तो उससे भी अनुभव हो सकता है जिस प्रकार ध्यान और ज्ञानकी विशेषता है, इसी प्रकार आत्मानुभवकी भी विशेषता जाननी चाहिए। मुमुक्षुओंको ज्ञान और ध्यान की मुख्यतासे ध्यान कर आत्मानुभव करनेमें प्रवृत्ति करनी चाहिए, क्योंकि इसका साधन यही है और हमारी धारणा भी यही है ॥ ६ ॥

आलम्बन साधन जे त्यागे पर परिणतिने भागे रे,
अक्षय दर्शन ज्ञान वैरागे, 'आनन्दघन' प्रभु जागे रे, ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—[पूर्ण वीर्योल्लाससे शूरवीर बन कर] आलवन=असमर्थ दशामें लियाहुआ आश्रय, (तथा) साधन=समस्त साधन-उपकारण, (उनको) जो=जो महात्मा, त्यागे=छोड देते हैं, पर परिणति=आत्मासे अन्य-पुद्गलादिका स्वभाव (उससे), भागेरे=दूर होजाता है, (वह) अक्षय=जिसका क्षय न हो, ऐसे शाश्वत, दर्शनज्ञान वैरागे=ज्ञान-दर्शन और चरित्रके द्वारा, आनन्दघन=आनन्दसे भरपूर, प्रभु=परम समर्थ-परमात्मा-ईश्वर, (होकर) जागेरे=(सदैव) ज्ञानसे जागृत रहता है ।

भावार्थ—सम्पूर्ण वीर्योल्लाससे शूर वीर होकर जो पुरुष असमर्थ दशामें पहले लिए हुए आलवनों को और समस्त (अत्यावश्यक) उपकरणोंको भी छोड देताहै, उस आत्मासे पर जो पुद्गलादिका विभाव है वह दूर होजाता है, पुन वह महात्मा पुरुष जिसका कमी क्षय न होने पावे, ऐसे शाश्वत ज्ञान-दर्शन और चरित्रसे, आनन्दपदसे भरपूर परमात्मारूप होकर सदैव ज्ञानपूर्वक जागता रहता है, अथवा 'आनन्दघन' कवि कहते हैं, कि-प्रभु-आत्मा जाग जाता है, यानी अनादिकी ऊघमेंसे आत्मा जागृत हो जाता है अर्थात् विभावदशाको त्याग कर स्वय परमानन्दरूपमें मग्न हो जाता है ।

परमार्थ—आत्मा अनादिकालके पुद्गल सम्बन्धी आधारसे अपना कार्यकरना त्यागदेता है, तव आत्माका अखड-शुद्ध-चैतन्यत्व सम्यग् ज्ञान-दर्शन और चरित्रद्वारा प्राप्त करता है । और अनादि-कालसे आत्मा जिस पुद्गलके सगमें पडा ऊघ रहा है, उसीसमय जग कर स्वय अपने स्वरूपको प्राप्त करता है अथवा 'आनन्दघन' कवि कहते हैं कि-यह आत्मा पर वस्तुका संग छोडदे और अपना निजी अवलम्ब रक्खे, तथा परानुयायीपन छोडदे तो उस रत्नत्रय के आराधनसे यह आत्मा तुरन्त मोक्षको प्राप्त होता है, ॥ ७ ॥

गुजराती भावार्थ—चोवीसमा जिनेश्वर श्री महावीर स्वामीना चरणोमां हु वन्दन करु छुं अने कर्मरूपी शत्रुओने हणवामां जे योद्धापणु, अथवा जेवु श्रीवीर भगवाननु वीरपणु छे, तेवु वीरपणु हु मागु छु, वळी जे प्रभुनो मोहनीय कर्मरूपी अन्धकार-भय नष्ट थयो छे, अने कर्मरूप शत्रुओनो पराजय करवाथी जेमनो जयपटह वाग्यो छे, एवा श्रीवीरभगवान्ने पगे लागीने हुं वीरपणु मागु छु, ॥ १ ॥

जो मायानो भावार्थ मने बराबर समजायो नथी माटे गुरुगमथी जाणवो, तो पण यथामति समज्यो छे अध्यवसायमां आत्मानुं क्षायोपशमिक वीर्य होय छे अने तेनी साथे तेवीज लेश्या मळे छे एटले योगसंज्ञक वीर्यें कर्म-ग्रहण करे छे आ कर्म ग्रहण करवानी दशाने अभिसंधिज कहे छे, अने सहि उपर्युक्त वीर्यने ग्रहण करे छे ।

देहकम्पनरूप सूक्ष्म क्रिया अने शरीर संकोचवा रूप तेमज तेनो प्रसार करवारूप प्रसारणनी क्रियाने स्थूल क्रिया कहे छे, एटले ते मन-वचन अने कायना योगने पामे छे । ॥ २ ॥

जेनी संख्या न थावे ते असंख्य कहेवाय आत्माना जघन्य वीर्या द्रव्योना सूक्ष्ममां सूक्ष्म ज्ञानकृत्य विभागमां रहेला जे भाग ते प्रदेश कहेवाय छे । आत्माना आवा असंख्य प्रदेशो छे अने ते एके एक प्रदेशमां असंख्य वीर्य छे तेथीज आत्मा मन-वचन-अने कायना असंख्य योगथी कांक्षा-अभि-लाषा थाय छे अर्थात् ते योगो साध्य-प्रगट करवाने समर्थ छे अने ते तेथी पुद्गलनी जुदी जुदी पर्यायोने विविध प्रकारनी लेश्याओथी अभियुक्त बुद्धि लेती रहे छे अर्थात् एक पछी एक ग्रहण करीने मापती रहे छे ॥ ३ ॥

आत्मा योगनी शक्तिने अनुसारे कर्मपुद्गल ग्रहण करे छे। पण जो आत्मामां उत्कृष्ट वीर्य प्रगट थयु होय तो पछी मन-वचन-कायना योग रूप मंद बंध थाय छे अने कर्मबांधवा रूप क्रिया थी आत्मामां कर्मबंध थतो नथी।

योगनी चुस्ततानो जेम जेम आत्मामां होय छे अने ते लेशमात्रनी पण आत्माना आठ रुचक प्रदेश कर्म बंधथी निरन्तर रहे छे ए सिद्धान्त छे। माटे जेम जेम आत्मामां उत्कृष्ट वीर्य प्रगट थाय तेम तेम कर्मबंध कमती थाय अने छेवटे सम्पूर्ण वीर्यपणुं प्रगट थतां वीर भगवाननी पेठे सघळा कर्म-बन्धनो नाश थाय अने शुद्ध चैतन्यपणुं प्रगट थाय तेवुं छे। माटे हे भगवान्! मने वीरपणुं आपो! ॥ ४ ॥

जेम कामी पुरुषमां वीर्यनो वधारो थतां तेने प्रबळ कामेच्छा थाय छे तेथी पुरुष स्त्रीनी अने स्त्री पुरुषनी इच्छा करे छे। अथवा काम एटले इच्छा ते द्रव्यादिकनी इच्छावाळो जेम द्रव्यनी इच्छा करे छे अने परमार्थे पोते

छे, तेम आत्मा पण स्व-स्वरूपना अजाणपणाथी पर जे पुद्गलादिक तेना भोगनी वाञ्छा करे छे।

पण ज्यारे आत्मामां शूरापणुं अथवा वीरपणु प्रगट थाय छे, त्यारे कर्मोंनो क्षय थतां ते पोतानु स्वरूप जाणे छे, तेथी पर वस्तुपरथी तेने अभाव थाय छे, आत्मा पोतामा रमण करे छे, मन वचन अने कायना योगने स्थिर करी नवां कर्मो बांधतो नथी, अने छेवटे अयोगी पण थाय छे। तेथी वीर्यपणुं प्राप्त थता आत्मानु कार्य थवानु जाणी प्रभु पासे वीरपणु माग्युं छे। ॥ ५ ॥

भगवान् पासे वीरपणु मागवानुं विचार करतां भगवाने करेला उपदेशनुं स्मरण थयुं। तेथी पोतेज खुशीथईने कहे छे के हे प्रभो! मारी जे भूल छे, ते मने जणाई,अत्यार सुधी में आपने विनति करी के मने वीरपणु आपो, पण मारी मागणी पहला आपे कहेलु छे के तमाम आत्मा मारा जेवा छे, एटले जे वीरपणुं हुं आपनी पासे मागु छु, ते वीरपणु मारामाज छे, पण ते वातनी मने खबर न होती, परन्तु आपनी वाणी थी एटले आपना उपदेशथी मारी खात्री थइ छे के ते वीरपणु मारामा छे।

त्यारे प्रश्न थाय छे के ज्यारे वीरपणु तमारामा छे तो तमे कैम न होता जाणता? अने भगवाने कह्यु छे के ते शिवाय वीरपणु पोताना आत्मामां छे। ते जाणवाने बीजु साधन छे के केम? तेनो उत्तर कहे छे के ध्यान करवाथी वीरपणु पोतामा उद्भव थाय छे, अने तेनो प्रत्यक्ष अनुभव थई शके छे तेमज गुरुपरम्पराथी विशेष ज्ञान प्राप्त थयुं होय तो तेथी पण अनुभव थई शके छे, ज्ञान अने ध्याननी जेम विशेषता थाय छे तेम आत्म अनुभवनी पण विशेषता जाणवी, मुमुक्षुओए ज्ञान अने ध्यानने गुरुगमथी जाणी आत्मअनुभव करवामा प्रवृत्ति करवी ए आ स्तवननु रहस्य छे एम हु धारु छु।

आत्मा पुद्गलना आधारथी पोतानु कार्य करवानु त्यागे, अने पुद्गलनुं आलम्बन जो छोडी दे तो अखड शुद्ध चैतन्यपणु सम्यग्ज्ञान-दर्शन अने चरित्रवडे प्राप्त करे, अने अनादिकाळथी आत्मा जे पुद्गलना सगमा ऊघलेतो पडेलो छे, ते जागीने पोतानु स्वरूप प्राप्त करे छे, अथवा आनन्दघन कवि कहे छे के आत्मा पर-वस्तुनो सग छोडे, पोतानुं अवलम्बन राखे, अने परानुयायी पणु तजे तो रत्नत्रयीना आराधनथी मोक्ष पामे।

[आनन्दघन]

वीरस्तुति—

धन धन जनक 'सिद्धारथ' राजा, धन त्रिशला देवी मात रे प्राणी।
ज्यां सुत जायो गोद खिलायो, वर्धमान विख्यात रे प्राणी, १
श्रीमहावीर नमो 'वर नाणी,' शासन जेहनो जाण रे प्राणी,
प्रवचन सार विचार हिए में, कीजे अर्थ प्रमाण रे प्राणी, २
सूत्र–विनय–आचार–तपस्या–चार प्रकार समाधि रे प्राणी,
ते करिये भवसागर तरिये, आतम भाव आराधि रे प्राणी, ३
ज्यों कंचन तिहुं काल कहीजे, भूषण नाम अनेक रे प्राणी,
त्यों जगजीव चराचर योनि, है चेतन गुण एक रे प्राणी, ४
अपणो आप विषे थिर आतम, सोऽहं हंस कहाय रे प्राणी,
केवल ब्रह्म पदारथ परिचय, पुद्गल भरम मिटाय रे प्राणी, ५
शब्द-रूप-रस गन्ध न जामे, नहीं स्पर्श-तप-छांह रे प्राणी,
तिमिर-उद्योत-प्रभा-कछु नाहीं, आतम अनुभव मांहि रे प्राणी, ६
सुख-दुःख जीवन मरण अवस्था, ए दश प्राण संगात रे प्राणी,
इणथी भिन्न विनयचंद रहिये, ज्यों जलमें जलजात रे प्राणी, ७

भावार्थ—'सिद्धार्थ' राजा और 'त्रिशला' देवी रानीको धन्यवाद है, जहां 'वर्धमान' जैसे पुत्र उत्पन्न हुए, उन्होंने अपने अंकमें उसको खिला रमा कर अपनी हौंस पूरी की और वर्धमान नामसे तो तीनों लोकमें विख्यात हुए, अपर नाम महावीर भगवान्। जो श्रेष्ठ और निर्मल केवलज्ञान युक्त हैं, जिनका इस समय शासन काल प्रवर्तित हो रहा है, और भावी कालमें भी १८५ वर्ष तक चलेगा उन्हें मेरा योग और करणकी शुद्धिसे नमस्कार है जिनके प्रवचनका सार आत्मभाव और परमात्म विचार है। यदि उसका मनन और निदिध्यासन किया जाय तो यह आत्मा मोक्षकी पूर्ति शीघ्र ही कर सकता है।

श्रमण-भगवान महावीरप्रभुने 'सूत्र' 'विनय' 'आचार' और 'तपस्या' ये चार प्रकारकी समाधि अन्य आगमोंके अध्ययनके अर्थ प्रतिपादन की हैं,

जो जितेन्द्रिय संयमी सदैव अपने आत्माका विनयसमाधि–श्रुतसमाधि–तपः समाधि और आचारसमाधिमें रमण करते हैं वास्तवमें वे सच्चे पण्डित होते हैं.

विनय समाधिके चार प्रकार—विनय समाधिके चार भेद इस प्रकार हैं जिस गुरुके पाससे शिक्षण प्राप्त किया है, उस गुरुको महा उपकारी समझकर उसकी सेवा करे, उसके समीपमें रहकर विनयका समाचरण करे। गुरुके वचनका यथार्थ रूपमे पालन करे। और विनयी होनेपर अहकारी न वने। मोक्षार्थी साधक सदा हितशिक्षाकी इच्छा रखता है, उपकारी गुरुकी सेवा करताहै, गुरुके समीपमें रह कर उनके वचनका पालन करता है, और अभिमानमें मदसे गर्विष्ठ नहीं वनता। वही विनय समाधिका आराधक समझा जाता है।

श्रुत समाधिके चार प्रकार—"अभ्याम करनेसे मुझे सूत्र सिद्धान्तका परिपक्व ज्ञान होगा" यह समझ कर अभ्यास करता है, "अभ्यास करनेसे मेरे मनकी एकाग्रता होगी" यह जानकर श्रुतका अभ्यास करता है। "अपने आत्माको उत्तम और सद्धर्ममें परिपूर्णतया स्थिर करूंगा" यह मान कर अभ्यास करता है, यदि मैं समता पूर्वक धर्ममें स्थिर रहूंगा तो औरोंको भी धर्ममें स्थापन करसकूंगा। श्रुतसमाधिमें अनुरक्त रहनेवाला साधु सूत्रोंको पढकर ज्ञानकी, एकाग्र चित्तकी, धर्मस्थिरताकी तथा औरोंको धर्ममें स्थिर करनेकी शक्तिका सम्पादन करता है, अत साधकको श्रुतसमाधिमें तल्लीन रहना चाहिए।

तपः समाधिके चार प्रकार—सच्चा साधक इस लोकके स्वार्थ–सुखके लिए तप नहीं करता, परलोक स्वर्ग सुखके लिए तप नहीं करता, कीर्ति, वर्णन (श्लाघा) के लिए भी तप नहीं करता, और पाप कर्मको वखेरनेवाली निर्जराके अतिरिक्त किसी भी अन्यकारणसे तप नहीं करता, वही तपसमाधिके योग्य होता है। तपसमाधिमें सदैव लगारहनेवाला साधक भिन्न–भिन्न प्रकारके सद्गुणोंके भण्डाररूप तपमें सदैव तन्मय होता है। किसी भी प्रकारकी आशा रक्खे विना कर्मक्षीण करानेवाली निर्जरा भावनाके लिए प्रयत्न करे तो तपकेद्वारा वह पुराने पापकर्मोको दूर कर सकता है।

आचार समाधिके चार प्रकार—कोई भी साधक इस लोकके स्वार्थकी पूर्तिके अर्थ श्रमणके सदाचारोंका सेवन नहीं करता, पारलौकिक

स्वार्थके लिए भी सदाचारोंका सेवन नहीं करता। कीर्ति-वर्ण-शब्दके लिए भी साधुके आचारोंका पालन नहीं करता। (अर्थात्) अर्हद्देवके कर्मोंके मुताबिक निर्जराके हेतुको छोड़ कर किसी भी स्वार्थके लिए आचारका पालन न करके मात्र निर्जरार्थ ही आचार पालन करता है। जो साधक दमितेन्द्रिय है, एकाग्र-चित्तसे आत्मसमाधिका अनुभव करता है, महावीरके वचनोंमें अपनेको अर्पण कर चुका है, वाद-विवादसे विरत और सम्पूर्ण क्षायिकभावको पाकर जिसका आत्मा मुक्तिके निकट हो जाता है। वह साधक इस चार समाधियोंसे आत्माका आराधक होकर-सुविशुद्ध होकर चित्तकी सुसमाधिके साथमें अपना परमहितकारी और अपना एकान्त सुखकारक कल्याणस्थान वह ही प्राप्त करता है। समाधिसे जन्म और मरणके बन्धसे मुक्त होकर शाश्वत सिद्ध होता है। यदि थोड़े बहुत कर्म बाकी रहगए हों तो महान् ऋद्धियुक्त उच्च और सर्वोत्तम् श्रेणिका 'देव' होता है ॥ १ ॥

आत्मा सुवर्णकी तरह है, आभूषणोंकी तरह यह पर्यायी है, नरनारी जगत् और चौरासीलाख जीवयोनि धारकहि इसके पर्याय है। परन्तु चेतना गुण सबका एक है, समान है, किसीका किसीप्रकारसे अन्तर नहीं है।"

'अपने आत्माको निजस्वभावमें स्थापन कर, तब सोऽहं का भाव होगा इस अनुभवके पश्चात् (हंस)परमात्मस्वरूप (आत्मा) हो जावगा परमात्माको मुझमें व्याप्त केवल-आत्मपदार्थका परिचय पुद्गलातीतका भान किया देग। इसीका अभ्यास चारित्र-आत्म रमणता है, जो कर्मरजको झाड़कर आत्मतत्त्वको पृथक् प्रगट करदेता है।"

'इस आत्मामें शब्द-रूप-रस-गंध-स्पर्श-आतप-छाया-अन्धकार-उद्योत-प्रभा-आदि कुछ भी नहीं है, और आत्म-अनुभव होनेपर बाह्य पदार्थोंका मोह और ये इस तरह वस्तुएँ आत्माके पास कभी फटक ही नहीं सकती।"

"तथा सुख-दुःख जीवन-मरण-सम्बन्धी अवस्थाएँ इस ? बाह्य प्राणोंके साथ है, इनका पवित्र और स्वामी-आत्माके साथ कोई संबन्ध नहीं निश्चयधर्मकी साधनामें कमलके समान शुद्ध और पवित्र महावीर प्रभु उनसे इस प्रकार भिन्न हैं जिस प्रकार कमल कीचड़ और गंभीर जलसे उत्पन्न होकर कमलपत्र पानी और कीचड़से अलग रहता है।"

विजयचंद (कुंमट)

महावीर थुई नो गुजराती काव्यानुवाद

आज सुधर्मा कहेता प्यारा जंबुने, वीरप्रभुना पंचम गणधर धीरजो,
संयमसागर शिष्य वडा ते जंबुजी, पूछे गुरुने प्रश्न मांगो गभीर जो।
कहो गुरु आ भवसिंधु उतारवा, कोणे आप्यो उत्तम अमने धर्म जो,
साधु संघने अन्य पंथना सज्जनो, पूछे आवी धर्म तणो सौ मर्म जो।
अनन्य मंगल धर्म दीधो जे व्यक्तिए, ते समजावो टळवा सौ अनर्थ जो,
गुरु ज्ञानी छो आप महा आ विश्वमां, तेथी पूछु प्रश्न तणो हु अर्थ जो १
कहो स्वामी ते ज्ञान धरे कइ जातना, कइ पंक्तिना तेना दर्शन शील जो,
श्रवण कर्युं के जोयुं जे आपे प्रभु, बोलो! खोली दिलना द्वार अखिल जो २
मधुर वाणी आ सुणी सुधर्मा बोलीया, जाणे चाली सुधा शब्दनी धारजो,
विश्वसकळनो दुःख जाणतो नाथ जे, वीरप्रभु ते आव्या आ संसार जो।
कर्मरिपु सहार करी ते पामीआ, अनन्त दर्शन-ज्ञान तणो भंडार जो,
सूक्ष्म विषये दृष्टि तेनी स्थिर छे, कुशल प्रभु ते दीप्या जग मोझार जो ३
सर्व दिशामां वसता जे त्रस स्थावरो, मान्या तेने 'नित्य' अने 'अनित्य' जो
द्रव्य थकी तो मानी तेनी नित्यता, पर्याये तो मान्या छे अनित्य जो।
घोर तिमिर जे विश्व महीं व्यापी रह्यु, अनन्य दीपक तेहना छे भगवान् जो
सर्व जीवोपर राखीने समभावने, अर्पण कर्तो धर्म तणु तो पान जो ४
सर्वदर्शी सर्व विषयने जाणता, जीत्या चारे मति-श्रुत आदि ज्ञान जो,
केवळज्ञानी निज आत्मामा स्थिरते, शुद्धचरितना गाता जन गुणगान जो
सर्वपुरुषमां पुरुषोत्तम ते ज्ञानी छे, परिग्रह केरो संग नहीं तलभार जो,
लोक तणा तो भय तेने नहि पामता, जन्ममरणनो स्पर्श नहीं लगार जो ५
प्रज्ञा तो बहु तीव्र हती भगवान्‌नी, बन्धन विण ते करता सदा विहार जो,
भवसिन्धुनी पार गया छे स्वामी ते, पाम्या ते श्री अनन्त ज्ञान भंडार जो।

महातपस्वी तपस्या करता घोरने, सूर्य सम दीपे छे तेनुं ज्ञान जो,
वैरोचनने सूर्यसमा ते बाळता, जगत् महिं जे व्याप्या सहु अज्ञान जो ६
स्वर्ग महीतो सहस्र देवो शोभता, रूपगुणमां सौथी शोभे इन्द्र जो,
सर्वलोकनी शोभा महीं ते शोभता, अतिप्रभावी ज्ञातपुत्र मुनीन्द्र जो।
ऋषभ आदि चौवीस तीर्थंकर थया, थेथी मसर्यो सर्व श्रेष्ठ जैन धर्मजो,
जैनधर्मनो नेता ते महावीर छे, काश्यप कुळमां थइने मांग्यो मर्म जो ७
महेरामणनो पार कदी नहीं आवतो, तेम प्रभुनी बुद्धिनो नहीं पार जो,
द्रव्यक्षेत्रने काळ-भावना मापथी, अक्षयसागर धीर ज्ञान अपार जो।
निर्मळ जळ तो महेरामणनु दीपतु, तेम प्रभुनी ज्ञानज्योत झळकाय जो,
कषायकापी कर्ममुक्त पाम्या प्रभु, देवाधिप ते इन्द्र समा लेखाय जो। ८
वीर्यवानमां अनन्त वीर्ये शोभता, जे वीरनी जगमां छे नहिं जोड जो,
गिरि वृन्दमां गिरि नहीं मेरु समो, मेरु सम जे शोभे जगमां श्रेष्ठ जो।
देव सकळतो मोज माणता मेरु थी, तेम प्रभुथी पामे सौ आनन्द जो,
रंग वदने गुणो रम्य छे मेरुना, गुणो प्रभुना आपे परमानन्द जो ९
गिरिराज ते ऊंचो योजन लाख छे, पृथ्वी परथी सहस्र नवाणु थाय जो,
पृथ्वी तलमां सहस्र योजन एक छे, अति मनोहर कटक जेने होय जो।
ऊपर कटके पडकवन विराजतु, ते तो आणे जाणे गिरिनी शाख जो,
गिरिराज ए व्यापक छे मध्यलोकमां, ज्ञान प्रभुना एवा व्यापक होयजो १०
गिरिराज ते गगन दोरने स्पर्शतो, नीचे तो ते करे भूमिमां वास जो,
ऊर्ध्व अधोने तिर्यक् लोके व्याप्त छे, विमान ज्योतिष्क फरता तेनी पासजो
गिरिराजनी ख्याति छे त्रिलोकमां, नन्दनवन तो आव्युं तेमां पार जो
अनेक वनमा क्रीडास्थळ त्यां शोभतां, इन्द्रदेवनी क्रीडानो नहिं पारजो ११
देव रमे त्यां सुखविलसे विभविभना, सुंदरध्वनिओ आनन्दनी ईच्छावजो,

प्रतिध्वनि तो 'तेज' थकी पण तीव्र छे, कंचनवर्णी पृथ्वीसम सोहायजो
गिरिराजमा प्रतिध्वनि जे थाय छे, एवी प्रभुनी ध्वनि दिव्य संभळाय जो,
गिरिराज तो दुर्घट छे सौ प्राणीथी, कंचन रंगी दुर्घट वीर गणाय जो १२
पृथ्वी मध्ये गिरिराज उभो रह्यो, सूर्यकांति सम सोहे पृथ्वी माय जो,
विध विध रंगे रंग चित्र विचित्र छे, सूर्यसमा ते शोभे दशदिश माय जो।
गिरिराज सम ऋषिवर्गमा महावीर, उज्वल मेरुसम शोभे ते अंग जो,
मेरु सम ते अष्टलक्ष्मी उपेत छे, स्वयं प्रकाशी बीजो सूर्य निशंक जो १३
उपमा प्रभुनी मेरु विण ना थइ शके, तेथी गाया मेरुना गुणगानजो,
ए उपमाए वीरप्रभुना गुण तु, समजी लेजे दर्शन शीलने ज्ञान जो,
जेवी छे आ जाति-कीर्ति मेरुनी, तेवी जाति-कीर्ति प्रभुनी मान जो,
गिरिराज तो व्यापक छे मध्यलोकमा, लोकालोके प्रभुना दर्शन ज्ञानजो,
गिरिवृन्दमा निषधसम लांबो नहि, गोळाकारे 'रुचक' विण नव होय जो,
नौतम तेवी प्रज्ञा प्रभुनी धारवी, मुनिवर्गमा श्रेष्ठ वीर गणाय जो १५
विश्वधर्ममा जैनधर्म प्रधान छे, दीधु रुडु धर्म तणु ए दान जो;
सर्वध्यानमा शुक्लध्यान अति श्रेष्ठ छे, धरता एवु उत्तम शुक्ल ध्यान जो,
शुक्लध्यान वळी फीणसमु छे श्वेत ते, जेवो धोळो शंख बहु सोहाय जो,
चंद्रसमु ते उज्वळ निर्मळ मानवु, श्वेत रंगथी वीर शुभ्र गणाय जो १६
वीर महर्षि मुक्तिदशाने पामिआ, परम स्थान ए लोक महिं लेखाय जो,
भस्म कर्या छे कर्मरिपुना शेषने, कर्मयोगमा कर्मवीर मनाय जो,
क्षायिक दर्शनने क्षायिक चारित्रथी, क्षायिक ज्ञाने सिद्धि पाम्या नाथ जो
ए सिद्धि तो आदि-अनन्ती जाणवी, विजय कर्यो छे राग-द्वेषनो साथजो;
विजय कर्याथी मोक्ष आदिने पामीआ, बाल्या जेणे सघळा पाप स्थानजो;
पापस्थानो फरी सजीवन थाय नहिं, तेथी सिद्धि जम्बू अनन्ती मानजो १७

वृक्ष महिं तो शाल्मलीने जाणवु, काननमां नहिं नन्दनवननी जोडजो,
शाल्मलीने नन्दनवनना आशरे, सुपर्ण सरखा देव करे प्रमोद जो
शाल्मलीने नन्दनवन तो क्यां मळे, अद्वितीय ज्ञानो लोक महिं पंकायजो,
शाल्मलीने नन्दनवेवा जखूवी, वीर सुशिने ज्ञान चरित अकम्प जो १८
शब्दमहीं तो मेघशब्द क्यांथी मळे ? मेघशब्द तो गम्भीरगर्जन होय जो,
ज्योमहीं तो चन्द्र सम छे ग्रह नहिं, मनहर जेनी शीतलता मसरम्य जो,
सुगन्धिओमां मळयजसम छे वासक्यां? लोकमहीं ए भदन श्रेष्ठ गणायजो,
मेघ चन्द्रने मळयज जेवा जाणवा, मुनिवर्गमां वीरना विरक्त मान जो १९
सिंधु महीं तो स्वयम् रमण जाणवो, क्रीडा करता देवो ज्यां सहर्ष जो,
भवनवासीमां मम्म नागकुमार छे, मल्यरूपथी मनपमे उत्कर्ष जो;
सर्व रसोमां ईक्षुरसने जाणजो, मधुरतायी मनडु शीतळ थाय जो,
ईक्षु-स्वयम्-देवनाग सम वीरजी, वीरमभुमा प्रधान तप जप होय जो २०
हस्ती महिं ऐरावत सम छे हस्ती नहिं, पशु महीं तो सिंहकेसरी एक जो,
निर्मळ जळमां गंगाजळने जाणवु, विहगोमां गरुड एक निशंक जो,
ऐरावत मनगमतीलक्ष्मी लावतो लक्ष्मी लक्ष्मी शिक्षण घर वीर बोध जो,
गरुड-गंगा-ऐरावतने हस्ती सम, मोक्षवादीमां वीरना मुक्ति बोध जो २१
योद्धाओमां वासुदेव मशहुर छे, भिन्न पुष्पमां पकज सम मन कोय जो,
क्षत्रीओमां चक्रवर्ती प्रधान छे, विरल गुणमां विरलां ज्ञानो होय जो;
वासु सणु बळ आश्चर्य वीरसमस्त, पकजने छे मनसी मीठी वास जो
वासु कमळने चक्रवर्ती सम जाणवा, ऋषिवर्गमां वीर महाविलास जो २२
दान महीं तो अभयदानने जाणवु, सत्य महीं तो 'निरवद्य' निश्चित जो,
सर्व तपो मां ब्रह्मचर्य विशिष्ट छे, आत्मबळनी आगे तेथी ज्योत जो,
अभयदाननी धूर कती हिंसा सहु, निरवद्यथी परपीडा नवी थाय जो,

ब्रह्मचर्यथी उत्तमबळ तो आवतुं, लोक महीं एम उत्तम वीर मनाय जो २३
सुरपदोमा सर्वार्थसिद्धि श्रेष्ठ छे, सुधर्म केरी सभा अनुपम थाय जो,
सर्वधर्म तो श्रेष्ठ मुक्तिने मानता, जीव मात्रनो परम हेतु ते होय जो;
सर्वार्थसिद्धिना सुखनी तो वातशी, सौधर्म केरी सभा अनेरी होय जो,
रतिमुक्तिनी वाणी तो नहिं कहीशके, प्रभुसमा उत्तमज्ञानी नवकोयजो २४
परिषहो तो धरे पृथ्वी सम नाथ ते, पृथ्वीवत् ते सौनो छे आधार जो,
अष्ट कर्मने नष्ट कर्या ते स्वामी ए, कर्यो गृद्धीने अभिलाष संहार जो;
पाम्या छे ते ज्ञान महा उपयोगनुं, प्रयास विण ते जाणे वस्तु रूप जो,
अनन्तभवने तरी गया छे वीर ते, अनन्तचक्षु नित्य अभयस्वरूप जो २५
महारिपुजे आत्मदोष ससारना, क्रोध मानने मोह लोभ पर्याय जो,
दूर करीने अर्हत् पदने पामीआ, करे करावे पाप नहीं ऋषिराय जो २६
विध विध पथो लोक महीं चाली रह्या, क्रियावादीके अक्रियवादी कोय जो
रमे कोई अज्ञानवाद के विनय मा सर्व पंथना ज्ञान वीरने होय जो;
क्रियावादीनी मुक्ति क्रिया मां रही, अक्रियवादी समजे मुक्ति ज्ञान जो
विनयवादितो विनय एज मुक्ति गणे, अज्ञानी तो मुक्ति गणे अज्ञान जो,
सर्व पथने समजीने आ स्वामीए, विकसाव्यो छे लोक महीं जैन धर्म जो,
ज्ञानक्रियामा मोक्ष मानता वीर ते, लीधोसंयम समजाववा सहुमर्म जो २७
मोक्ष तणो मार्ग कह्यो आरीति थी, करी बताव्यो जगने देवा बोध जो,
सकल पापने भस्म करीने स्वामीए, रोक्यो वहेतो कर्मरिपुनो धोध जो,
मनुष्य केरा के नरकादिक लोकना, वीरप्रभुए जाण्या पूर्ण स्वरूप जो,
स्वरूपजाणी लोक अने परलोकना सर्वलोकने छोड्या छे तद्रुप जो २८
धर्म परूप्यो अर्हते आ प्रेमथी, अर्थ पदोमा केवळ जे निर्दोष जो,
सुणी तत्व आ श्रद्धाथी जन पामता, इन्द्र सुखके मोक्ष लक्ष्मी सतोष जो २९

परिशिष्ट नं० २—प्राकृतस्तोत्रविभागे

(षड्भाषामयं वीरस्तोत्रम्)

विधानां जन्मकन्दस्त्रिभुवनभवनालोकनप्रत्यलोऽपि,
प्राप्तो दाक्षिण्यसिन्धुः पितृवचनवशात्सोऽरकस्य लेखशालाम् ।
जैनेन्द्रीं शब्दविद्यां पुरत उपदिशन् स्वामिनो देवतानां,
शब्दब्रह्मप्रमोदं स दिशतु भगवान् कौशलं त्रैशलेयः ॥१॥ (संस्कृतम्)

जो जोईसरपुंगवेहिं हियए निच्चंपि झाइज्जए,
जो सव्वेसु पुराणवेयपमिइग्गंथेसु गीइज्जए ।
जो हत्थट्ठियआमलं व सयलं लोयत्तयं जाणए,
तं वंदे तिजयग्गुरुं जिणवरं सिद्धत्थरायंगयं ॥ २ ॥ (प्राकृतम्)

देविंदाणवि वंदणिज्जचलणा सव्वेवि सव्वगुणो,
संसारा किर जायदा भवि दया अस्सप्पसादा दुदे ।
सो सिद्धत्थमहीपभूदिदस्सदो जोगिंदचूडामणी
महावीर भवदुक्खसव्वखरणो दिस्सदु सुह सासदं ॥३॥ (शौरसेनी)

दुस्टे संगमके शुले भयकले घोलोवसग्गावलिं,
कुव्वतेवि ण खोशपोशकलुशं येण कद माणशं;
इदे भविपले ण येह बहुम योगीशलग्गामणी,
शे वीले पलमेशले दिशदु मे णेउन्तपुण्णत्तणं ॥ ४ ॥ (मागधी)

कसंठविन्मितिमहद्ध नाथक्कफुहत्तभडम,
उच्छलनमहत्तव कडमरगुरुमेरुमय ।
पायग्गेन सुमेरुकम्पनकरं बालत्तनीयापल,
वीरस्स पहुणो जिनान जयतु वमोनीतिने पायर ॥५॥ (पैशाची)

इहो वेदणरेसि जासु महया हल्लोहलेणागओ,
जज्झाई मुणिहसओ हियडए अक्खे निरुंभेविणु,
साहु ओप्पिणु जासु कोइ महिमा नो तीरए माणवो,
पाए वीरजिणेसरस्सु नमहु सीसल्लडे अम्हहे ॥ ६ ॥ (अपभ्रंशः)

आसाढे धवलाइ छट्ठि चवण चित्तस्स तेरस्सिए,
सुद्धाए जणण सुकिण्हदशमी दिक्खायमग्गरस्सिरे ।
जस्सासी वइसाहसुद्धदसमी नाण जणाणदण,
मुक्खो कत्ति अमावसाइ तमह वदामि वीर जिणं ॥

कणयसमसरीरं मोहमल्लेगवीरं, दुरियरयसमीरं पावदावग्गिनीरं;
सुगहियभवतीरं लोअलंकारहीरं, पणमह सिरिवीरं, मेरुसेलेसधीरं ॥

जय जय जय जणवच्छल ! नवजलहरपवणवणयसमणयण नयणमणपमयवद्धण ! घणकणयलक्खणयसमण ! ॥ १ ॥ समणमणभसलजलसय ! सयत्थसत्थत्थपयडणसमत्थ ! मत्थयनमंतनर वर ! वरवरयवरंग गयसग ! ॥ २ ॥ सगरगररससयगय ! गयमच्छर ! रयणमयणदढजलण जलणजलसप्पभयहर ! हरहसधवलयरजसपसर ! ॥३॥ सरणपवण्णसरन्नय नयसयगमरम्मसम्ममयसमय ! मयमयगलनहपहरण ! रणरणयभयठममसवत्त ! ॥ ४ ॥ वत्तसयवत्तगहवर ! वरकलसलसतसखचक्क ! ककफलसरलनयण ! नयपमय असत्तअपमत्त ! ॥ ५ ॥ मत्तगयगमण ! गयमण मणगयससयसहस्सतमतवण तवणयप्पहपहयर ! हयतमपरमपयनयरस्स ॥६॥ इय पढमसरनिवद्धं घणक्खरं गहिय मुक्कयपयक्कु मत्तीए सथवण रइयं मुणिचंदमुणिणा ॥ ७ ॥

(वीरस्य चतुस्त्रिंशदतिशयस्तवनम्)

थोस्सामि जिणवरिंदे, अन्भुयभूएहिं अइसयगुणेहिं, ते तिविहा साहाविय, कम्मक्खइया सुरकया य ॥ १ ॥ देहे विमलसुगंधं, आमयपासेहिं वज्जियं अरयं, रुहिरं गोक्खीराभं, निविस्सं पंडुरं मंसं ॥ २ ॥ आहारा नीहारा, अदिस्सा मंसचक्खुणो, सययं नीसासो य सुगंधो, जम्मप्पभिई गुणा एए ॥ ३ ॥ खित्ते जोयणमित्ते, ज मिय-कोडीसहस्साओ माण, सब्बसमासाणुगय, वयण धम्मावबोहकरं ॥ ४ ॥ पुव्वुप्पन्ना रोगा, पसमंती ईयवयरमारीओ, अइवुट्ठी-अणवुट्ठी, न होइ दुब्भिक्खडमरं वा ॥ ५ ॥ देहाणुमग्गकम्मं दीसइ, भामंडलं दिणयराभं, एए कम्मक्खइया, सुरमक्खिमा इमे अन्ने ॥ ६ ॥ चक्क छत्त रयणज्झओ अ, सेयवरचामरा पउमा, चउमुहपायारतियं सीहासण दुंदुही असोगो ॥ ७ ॥ कंटय हिट्ठ हुत्ता, ठायंति समट्ठिय य महरोमं, पंचेव इंदियत्था, मणोरमा हुंति छप्पिरिऊ ॥ ८ ॥ गंधोदग य वासं, वासं कुसुमाण पंचवण्णाणं, सउणा पयाहिणगई, पवणाणुकूलो नमंति दुमा ॥ ९ ॥ भवणवइ-वाणमंतर-जोइसवासी-विमाणवासी-अ, चिट्ठंति समोसरणे, जहण्णयं कोडिमित्तं तु ॥ १० ॥ इतेहिं जतेहिं, बोहिनिमित्त संसयत्थीहिं, अविराहिय देवेहिं जिणपयमूलं समाकाले ॥ ११ ॥ चउद्दह जम्मप्पभिइ इक्कारस कम्मसंखए जाए, नव दस य देव जणिए चउतिसं अइएस वंदे ॥ १२ ॥ चउतीसजिणाइसया एए मे वण्णिआ समासेण दितु मम जिणवसमा सुयणाण बोहिलाभं च ॥ १३ ॥

(पञ्चत्रिंशद्वाणीगुणस्तवनम्)

योअणगमइमागइ सव्वमासाणुगाइणि वाणि, पणतीसपवरगुणकलियेण मुणिमो जिणवराण ॥ १ ॥ मेहगम्भोहरसुयगुहिरनिग्घोसं १ वस-

घसोहिल्ल, २ मुहुमुहुरमालओसियपमुहरायराय भवविरायं ३ ॥ २ ॥ सक्कयपमुहसलक्खण, सक्कारजुअप्पुडक्खरपयाई, गामाण......चउ-वचारपरं ४ उदात्तसरं ५ ॥ ३ ॥ पडिरवपूरिअगयणइ ६ सरलणु-कूलत्तओ सुदक्खिवण्णं ७ इअ सत्त सद्दअइसय.......सामि जिण-वयण ॥ ४ ॥ तह अत्थासय अडवीसअइसय अप्पगथसुमहत्थं १ अव्वाहयाभिधेयं पुव्वावरचक्क अविरोहा ॥ ५ ॥ सिद्धत्थसूइसिद्ध सिद्धं व... .... उत्तमाविक्खं ३ परदूसणाविसयओ अवहरिन्नुत्तराइसया ४ ॥ ६ ॥ संसय असमवेणा संदिद्ध ५ सोअजणमणाइहरं ६ देस-द्धाइ पत्थावुचिअ ७ उदिअत्थतत्तपरं ८ ॥ ७ ॥ अविकिण्णपसरि-अमसदिद्ध घिकारातिवित्थरविओगा वरसबधपसरणा ९ मिहपइवक्काइ सकखं १० ॥ ८ ॥ अइमिद्धमहुरिमगुण सुहियं सव्वेसि घयगुडाइव्व ११ नियविसए कयसोआरलोअवित्थिण्णअच्छरिअं ॥ ९ ॥ जमगा-इगुणविसेसो अतुच्छ अभिधेअओ वुदारत्थं अप्पयपरमूमि अणुसारि देसणाइहिं अभिजाय ॥ १० ॥ तिहुअणपरससणिज्ज परमंमावेहय च अविलब, १७ सथुइपरनिंदरहिअ १८ धम्मत्थब्भासपडिवद्ध ॥११॥ लिंगवयणकालतिए परुक्खपच्चक्खवकारगाज्झत्थो, उवणयवयणचउक्के अविपरीअत्थं अतुरिअ च ॥१२॥ पत्थिअवत्थिसरूवा वण्णणाणेगजाइ सुविच्चितं २२ चत्तपयवण्णवक २३ वयणतरओ विसेसजुअ ॥१३॥ अभिधेएमणमती अविब्भमोणादरो अविक्खेवो, किलिकिंचिय मिच्छा-भय रोसायसुजुगवमसइकरण च ॥ १४ ॥ इअ विब्भामाइमण-दोसविरहिअ सत्तसाहसोवेअ आ अत्थसिद्धिमच्छिन्नहेउमायासरहिअं २६ च ॥ १५ ॥ इअ सववयणपणतीसइसयसाहिअवओ जिणो थुणिओ, सद्धम्मकित्तिविज्जाणदयरं.......... हेउगिरं ॥ १६ ॥

(वीरस्य चतुस्त्रिंशदतिशयस्तवनम्)

थोसामि जिणवरिंदे, अब्भुयभूएहिं अइसयगुणेहिं, ते तिविहा सहजाविय, कम्मक्खयजा सुरकया य ॥ १ ॥ देहे विमलसुगंधं, आमयपासेहिं वज्जिअं अरयं, रुहिरं गोक्खीराभं, निव्विस्सं पंडुरं मंसं ॥ २ ॥ आहारा नीहारा, अदिस्सा मंसचक्खुणो सययं नीसासो य सुगंधो, जम्मप्पभिइं गुणा एए ॥ ३ ॥ खित्ते जोयणमित्ते, जं जिय कोडीसहस्साओ माण, सव्वसभासाणुगयं, वयणं धम्मावबोहकरं ॥ ४ ॥ पुव्वुप्पन्ना रोगा, पसमंती ईइवइरमारीओ, अइवुट्ठी-अणावुट्ठी, न होइ दुब्भिक्खडमरं वा ॥ ५ ॥ देहाणुमग्गलग्गं दीसइ, भामंडलं दिणयराभं, एए कम्मक्खइया, सुरमहिया इमे अन्ने ॥ ६ ॥ चक्कं छत्तं रयणज्झओ य, सेयवरचामरा पउमा, चउमुहपायारतिगं सीहासण दुंदुही असोगो ॥ ७ ॥ कंटय हिट्ठमुहा, ठंति अवट्ठिय य नहरोमं, पंचेव इंदियत्था, मणोरमा हुंति छप्पिरिऊ ॥ ८ ॥ गंधोदग य वासं, वासं कुसुमाण पंचवण्णाण, सउणा पयाहिणगई, पवणणुकूलो नमंति दुमा ॥ ९ ॥ भवणवइ-वाणमंतर-जोइसवासी-विमाणवासी-य, चिट्ठंति समोसरणे, जहण्णय कोडिमित्ता ॥ १० ॥ इतेहिं चतेहिं, बोहिनिमित्त संसयरवीहिं, अभिरहिय देवेहिं जिणपयमूल समाकाल ॥ ११ ॥ चउरो जम्मप्पभिइ इक्कारस कम्मसंखए जाए, नव दस य देव जणिए चउत्तिसं अइसए वंदे ॥ १२ ॥ चउतीसजिणाइसया एए मे वण्णिया समासेण, दिंतु मम जिणवसभा सुमनाण बोहिलाभं च ॥ ११ ॥

(पञ्चत्रिंशद्जिनवाणीगुणस्तवनम्)

जोअणगमद्धमागह सव्वभासाणुवाइणि वाणि, पणतीसपवरगुणकियणेण पुणिओ जिणदाण ॥ १ ॥ मेहमणोहरसद्दगुहिरनिग्घोस १ भस

धंससोहिल्लं, २ मुहुसुहुरमाल्ओसियपमुहरायराय भवविराय ३ ॥ २ ॥ सक्कयपमुहसलक्खण, सक्कारजुअप्पुडक्खरपयाई, गामाण......चउ-वचारपरं ४ उदात्तसरं ५ ॥ ३ ॥ पडिरवपूरिअगयणंइ ६ सरलणु-कूलत्तओ सुदक्खिवण्णं ७ इअ सत्त सद्दअइसय.......सामि जिण-वयण ॥ ४ ॥ तह अत्थासय अडवीसअइसयं अप्पगंथसुमहत्थं १ अव्वाहयाभिधेय पुव्वावरचक्क अविरोहा ॥ ५ ॥ सिद्धत्थसूइसिद्ध सिद्धं व ....उत्तमाविक्खं ३ परदूसणाविसयओ अवहरिन्नुत्तराइसया ४ ॥ ६ ॥ संसय असभवेणा सदिद्ध ५ सोअजणमणाइहरं ६ देस-द्धाइ पत्थावुच्चिअ ७ उदिअत्थतत्तपरं ८ ॥ ७ ॥ अविकिण्णपसरि-असदिद्ध धिकारातिवित्थरविओगा वरसवधपसरणा ९ मिहपइवकाइ सकंखं १० ॥ ८ ॥ अइमिद्धमहुरिमगुण सुहियं सव्वेसिं घयगुडाइव ११ नियविसए कयसोआरलोअवित्थिण्णअच्छरिअ ॥ ९ ॥ जमगा-इगुणविसेसो अतुच्छ अभिधेअओ वुदारत्थं अप्पयपरमूमि अणुसारि देसणाइहिं अभिजाय ॥ १० ॥ तिहुअणपरसंसणिज्ज परमंमावेहयं च अविलंब, १७ सथुइपरनिंदरहिअ १८ धम्मत्थब्भासपडिवद्ध ॥११॥ लिंगवयणकालतिए परुक्खपच्चक्खवकारगाज्झत्थो, उवणयवयणचउक्के अविपरीअत्थ अतुरिअं च ॥१२॥ पत्थिअवत्थिसरूवा वण्णणाणेगजाइ सुविच्चित २२ चत्तपयवण्णवक्क २३ वयणतरओ विसेसजुअं ॥१३॥ अभिधेएमणमती अविब्भमोणादरो अविक्खेवो, किलिकिंचिय मिच्छा-भय रोसायसुजुगवमसइकरण च ॥ १४ ॥ इअ विब्भामाइमण-दोसविरहिअ सत्तसाहसोवेअ आ अत्थसिद्धिमच्छिन्नहेउमायासरहिअं २६ च ॥ १५ ॥ इअ सव्ववयणपणतीसइसयसाहिअवओ जिणो थुणिओ, सद्धम्मकित्तिविज्जाणंदयरं........... हेउगिरं ॥ १६ ॥

चियमोहमहावीरो परमो 'तित्थयरो' 'महावीरो' ।
असमसमो असमसमो निरंतरं कुणउ कल्लाण ॥ १ ॥

श्रीवीरसप्तविंशतिभवस्तोत्रम्

तिसलासिद्धत्थसुअसीहंक सत्तहत्थ कणयमनिहं, भवसत्तावीसकहणेण, वद्धमाण थुणामि जिणं ॥ नयसारो सुगामे पढमे १ बीए भवे पहु ! सुहम्मे २ । तइए मरिइ तिदंडी ३, विणिआइ चउत्थए बंभे ४ ॥ कुल्लागि कोसिअदिओ, पंचमि ५ संसारचउरछट्टमवे ६ । थूणाइ पूसमित्तो सत्तमि ७ सोहम्मि अट्ठमए ८ ॥ नवमे अग्गिज्जोओ, चेइअगामम्मि ९ दसमि ईसाणे १० । इगदसमि अग्गिभूइ, मदिरि ११ बारसमि सणकुमारो १२ ॥ तेरसमे १३ सेअविआ, भारद्दाओ माहिंद चउदसमे १४ ॥ रायगिहि थावरदिओ, पनरसमे १५, सोलसे बंभे १६ ॥ रायगिहि विस्सभूई, सत्तरसि १७ अट्ठारसे महासुक्के १८ । गुण वीसे पोअणपुरि, तिविट्ठु १९ वीसे समत्तमाए २० ॥ पहु ! इगवीसे सीहो, २१ पकमाइ चुवीसमम्मि २२ तेवीसे । मूआपुरि पिअमित्तो चक्की २३, सोहम्मि चउवीसे २४ ॥ पणवीसे छत्तगाइ, नंदणो २५ पाणमम्मि छवीसे २६ । माहणकुंडग्गामे, सत्तावीसे महावीरो २७ ॥ मगसिरबहुदसमि वय कत्तिअमावसि सिव सिमासाढे, छट्ठि सुद्द विसाहदसमी माणु भवो चित्ततेरसिए । इमसिरिवीरजिणंदो थुणिओ भविअमरलमिरदेविंदो, वरधम्मकित्तिविहि विज्जाण देउ मह सिद्धिं ॥

श्रीमहावीरस्तोत्रम्

नमत्थु समणे भयवं महावीरे जिणुत्तमे । लोगनाथे सयंबुद्धे, लोगंतिमभिवोहिए ॥ १ ॥ वच्छरं ण्णिदाणोद संपूरियजिणासए । णाणत्तयसमाउत्त पुरे सिद्धत्थराइणो ॥ २ ॥ निया रज्जं च रट्ठं च,

पुरं अंतेउरं तहा । निक्खमित्ता अगाराओ, पव्वइए अणगारियं ॥३॥ परीसहाण नो भीए, भेरवाण खमाखमे । पचहा समिए गुत्ते, बंभयारी अकिंचणे ॥ ४ ॥ निम्ममे निरहकारे, अकोहे माणवज्जिए । अमाए लोभनिम्मुक्को, पसते छिन्नवंधणे ॥ ५ ॥ पुक्खरं व अलेवे अ, सखो इव निरंजणे । जीवे वा अप्पडिग्घाए, गयण व निरासए ॥ ६ ॥ वाएवा अपडिवद्धे, कुम्मो वा गुत्तइदिए । विप्पमुक्को विहगुव्व, खग्गिसिंगव्वएगगे ॥ ७ ॥ भारंडे वाऽपमत्ते य, वसहेवा जायथामए । कुंजरो इव सोंडीरे, सिंहो वा दुद्धरिस्सए ॥ ८ ॥ सागरो इव गभीरे, चदो वा सोमलेसए । सूरो वा दित्ततेउल्ले, हेम वा जायरूवए ॥ ९ ॥ सव्वसहे धरित्ति व्व, सायरिंदुव्व सच्छहे । सुट्ठु हुअहुआसव्व, जलमाणे स तेयसा ॥ १० ॥ वासी चदणकप्पे य, समाणे लेट्ठुकचणे । समे पूयावमाणेसु, समे मुक्खे भवे तहा ॥ ११ ॥ नाणेण दंसणेण च, चरित्तेणयणुत्तरे । आलएण विहारेण, मद्दवेणज्जवेण य ॥ १२ ॥ लाघवेण च खंतीए, गुत्तीमुत्ती अणुत्तरे । संजमेण तवेण च, सवरेण मणुत्तरे ॥ १३ ॥ अणेगगुणमयाइण्णे, धम्मसुक्काण झायए । घाइ-क्खएण सजाए, अणतवरकेवली ॥ १४ ॥ वीयरायय निग्गथे, सव्वन्नू सव्वदसणे । देविंददाणविंदेहि, निव्वत्तियमहामहे ॥ १५ ॥ सव्वभा-साणुगाए य, भासाए सव्वससए । जुगव सव्वजीवाण, छिंदिउ मित्तगोयरे ॥ १६ ॥ हिए सुहे अ निस्सेसकारए पावपाणिण । महव्वयाणि पच्चेव, पण्णवित्ता सभावणे ॥ १७ ॥ ससारसायरे वुड्डजतुसंताणतारए । जाणव्व देसिय तित्थ, सपत्ते पचमिं गइ ॥ १८ ॥ सेसिवे आलये निच्चे, अरुये अयरामरे । कम्मप्पवचनिम्मुक्के, जए वीरे जए जिणे ॥ १९ ॥ से जिणे वद्धमाणे य, महावीरे महायसे । असखदुक्ख-

सिण्णाण, भमराण वेउ निमुइ ॥ २० ॥ इम परमपमोआ संथुओ वीरनाहो, परमपसमवाणा देउ गुत्तरण मे । असमसुहदुहेसु समसिद्धिमवेसु, कण्णमकण्णवरेसुं सग्गुमिच्छेसु वा वि ॥ २१ ॥

पसकीय सइ पहाण, सीसेहिं जिणेसराण सुगुरूण ।
वीरजिणथुव एस, पढउ कय अमयसूरीहिं ॥ २२ ॥

परिशिष्ट नं० ३—वीरस्तुतिः—संस्कृतस्तोत्रविभागे

नमदमरशिरोरुहस्रस्तसामोदनिर्म्लिमन्दारमालारजोरञ्जितांहे धरित्री कृतावन वरतम संगमो दारतारोदितानङ्गमार्यावलीलापदे हेशिवामेयिदिताशो भवान् । मम वितरतु वीर निर्वाणसर्माणि जाताकारो भराभीष्टसिद्धार्थधामि क्षमालङ्कृता,—नमदमरतमसङ्गमोदारतारोदितानङ्गमर्यावलीलापदे हे शिवामो दिताशो भवान् ॥१॥ समवसरणमत्र यस्याः स्फुरत्केतुचक्रानकानेकपद्मेन्दुरुक्चामरोत्सर्पिसालत्रयी, सदवनमदशोकपृथ्वीक्षणप्रायमशोमातपत्रप्रभागुवराराद् परेताद्दितारोचितम् । मथितरजसमीहित साईतां संहतिर्भक्तिभाजां भवाम्भोधिसम्भान्तभव्यावली सेवितावा—सदवनमदशोकपृथ्वीक्षणप्रा यशोमातपत्रप्रभागुर्वराराद्परेताद्दितारोचितम् ॥ २ ॥ परमततिमिरोग्रभानुप्रभा भूरिभंगेगभीरा भृश विश्ववर्ण्ये निकाम्ये मितीर्म्यातरा, महति मतिमते हि ते ससमानस्य वासं सदावन्वतीतापदानन्दधानस्य सामानिनः । जननमृतितरङ्गनिष्पारसंसारनीराकरान्तर्निमज्जज्जनोत्तारणौर्भारतीतीर्थकृत्, महति मतिमतेहितेषस्य मानस्य वा संसदावन्वती तापदानं दधानस्य सा मानि मे ॥ ३ ॥ हरममननाकिनारीजनोरोजपीठीलुठत्तारहारस्फुरद्रश्मिसारक्रमाम्भोरुहे, परमपुरुतरमजा प्रथमजाधिवाराति भगवति महैसिनी हारधारा

लक्षेमदा । क्षणरुचिरुचिरोरुचञ्चत्सटासंकटोत्कृष्टकण्ठोद्भटे सस्थिते भव्यलोक त्वमम्बाम्बिके, परमत्र सुतरा गजारावसन्ना शितारातिभा राजिते भासिनीहारतारावलक्षेऽमदा ॥ ४ ॥

वीरस्तवः

त्रिजगदीक्षण ! केसरिलक्षण ! क्षणमपि प्रभुवीर ! मनोगिरौ ।
गुणगणान्मम मास्म विरज्यतामुदयिता दयितादयि तावकात् ॥१॥
भृशमदभ्रमदभ्रमदभ्रमप्रथमनः सुमनः सुमनः स्तुतः,
असुमतः सुमतः सुमतोऽवदातपरमः परमश्चरमो जिनः ॥ १ ॥
चलनकोटिविघट्टनचञ्चलीकृतसुराचल ! वीर ! जगद्गुरो !
त्रिभुवनाशिवनाशविधौ जिनप्रभवते भवते भगवन् ! नमः ॥ १ ॥
जयति यः सुरसङ्गममानहृत्, जगति वीरजिनो जगतीसुहृत् ।
भवतु भीतिहरो मम सर्वदा, स शरणं शरणं गुणसम्पदाम् ॥१॥



महानन्दशुद्धाश्रित देवदेव, महीनाथसिद्धार्थपुत्र पवित्रम् ।
यथाकामित दत्तवार्षिक्यदान, त्रिकाल स्तुवे श्रीजिन वर्धमानम् ॥
चतुष्षष्ठीदेवेन्द्रयोगीन्द्रवन्द्यं, सुधाशालिसशुद्धवाक्यं वरेण्यम् ।
दयासागरं शुद्धसन्मार्गयान, त्रिकालं स्तुवे श्रीजिनं वर्धमानम् ॥
अनन्तोत्तरज्ञानचारित्रलीन, जरारोगसम्मोहसन्तापहीनम् ।
क्षणोद्धूतनिर्मूलमायावितान, त्रिकाल स्तुवे श्रीजिन वर्धमानम् ॥
शमस्वादपाथोधिससर्गसक्त, सदा कर्ममर्मप्रपञ्चप्रमुक्तम् ।
प्रचण्डप्रतापेन भास्वत्समान, त्रिकालं स्तुवे श्रीजिन वर्धमानम् ॥
मनोहारिकल्याणवर्ण विशालं, विदीर्णान्तरारिप्रणालि कृपालम् ।
गभीरं विशालैर्गुणैर्वर्धमानं, त्रिकालं स्तुवे श्रीजिनं वर्धमानम् ॥

जयश्रीविसन्वोद्धलीनादिभूत, भवाम्भोधिरिक्त नमश्चक्रिभूतम् ।
स्वसल्लर्गिनिर्वाणलक्ष्मीनिवास, जिनेन्द्र स्तुवे श्रीजिन वर्धमानम् ॥
इत्थं भक्तिवशेन मुग्धमतिना श्रीवर्धमानः स्तुतः, मोक्षदेहपवि-
त्रकान्तिकलित श्रीज्ञातपुत्रो जिन । याचे नैव कलत्रपुत्रविभव
नो कामभोगश्रियं, किन्त्वेकं परमोत्तमं शिवपदं श्रीबालचन्द्रार्चितम् ॥

(वीरजिनस्तवनम्)

चिक्रमीह ! रतशिच्छदे गरिमवत्यावपनाशे क्षम,
स्वाप स्तुवयाम्यत परिहरन् क्षमास्सूर्य ! दुःसङ्गमम् ।
निस्तन्द्र तपन्ततु दुरितस्रुदारिकत ! वीर ! स्थिरं,
रम्यश्रीविरसोऽसकामनिकृति मत्रास्यं सहरम् ॥ १ ॥

[चतुर्गुणसमाहारचक्रम्]

तनुते यज्ञुतिं भव्याभिव्याश्री मुदिता भुवम्
स स्तुवे वीरतन्द्राविभव भावेन भास्वता ॥ २ ॥ [मुसलम्]
सत्याक्रस्रूपा मुक्तै, मा नीरुक्तमवे मता ।
तारमामार स्वपास स पावासर रव ताः ॥ ३ ॥ [शूलम्]
तपकायसलीलावलीमाल श्रीवरा रताः ।
सारराग स्तुतौ वीर स्वीकाम सुरास्तव ॥ ४ ॥ [छत्रं]
सज्ञासवमलेभ्याकुर्विद्यमेषुः क्षमितव ।
वरेण्यानस्य विभेद शरणं शुश्रुसेप्सवः ॥ ५ ॥ [श्रीकरी]
तम्नामीश विगस्ताक्षमवनन्द घनारव ।
वपवल्या वन्दिवपो, वरिवर्सि वशी वरः ॥ ६ ॥ [चामरम्]
शरणे निरस्तमतमस्तु चरणास्तर ।
रसिकस्तव भूयास, सेवनेऽनस्तमानस ॥ ७ ॥ [हलम्]

तत्यजेऽत्र तकाश्चण्डपार्श्वमिन्द्रस्तुताहस ।
सर्वदोषैस्तत्क्षयाशां, शान्ताघ ददतो विशाम् ॥ ८ ॥ [भल्लम्]

तरीवाचरसि ज्ञानोदारनिःशेषमूस्पृशाम् ।
शान्तितुष्टिकरापारभवाब्धौ विश्ववन्दित ॥ ९ ॥ [धनु.]

तम्यतिक्रम्यतेऽत्यन्तमोहदुःखमयीशितः ।
तवेन सेवयाऽवश्यं, भवैः स्थिरशिवस्थित ॥ १० ॥ [शम्यां खड्गः]

तमहं विनमामीततन्द्र वीर सता मत ।
तपो यस्त्व व्यधा विश्ववित्त वीतरिपोऽतमः ॥ ११ ॥ [शक्तिः]

तप शमरमारामतर शं गुणसत्तम ।
मम गुप्तश्रिताधीश ! मरणक्लेशहृद्दिश ॥ १२ ॥ [छत्रम्]

तविषे लसत्यमोहाशय चारुरुचायशः ।
शक्राली त्वन्नतेर्ज्ञानभासुराऽपपरा सुमीः ॥ १३ ॥ [रथपदम्]

तवीत्यवीतसाराज्ञा प्राणिनां प्रास्तमीः शुभा ।
भाराशेऽशेषभावारीन् शिवदा तव रंहसा ॥ १४ ॥ [पूर्णकलशा]

तत्त्वसार तरसा ना त्वयि राज्य दधीरसा ।
साराद्भुतेऽमोहधीरा रज्यते वीर मोदतः ॥ १५ ॥ [अर्धभ्रमः]

तरसाऽस्तमोहत्वेत तत्वेह प्रशमान्वित ।
तन्विमान्यवनीतात ततानीष्टान्यसारत ॥ १६ ॥ [कमलम्]

तवाही वन्दते माऽनुकम्प यः साऽय भावतः ।
तस्य नानागुणस्याऽन्यो, नम्यो नोदितैनसः ॥ १७ ॥ [शर]

तत्पर सतत शिश्रीयामि त्वां दारितांहसम् ।
सम्पदादाऽपससार, रसाऽमन्तमस मत ॥ १८ ॥ [त्रिशूलम्]

नमोऽनामिवदर्मांसु, नेहमन्वयमान्वित ।
तथा सत्त सुरेश त्वं, केतुमोमिनिमि हित ॥ १९ ॥ [यमक]
यस्तेऽध्यवसायचित्रचकविमल वीर ! तव संमिय,
मनस्येव कुसुमप्यनोऽस्व महाबालात्तनुमीशुम !
शुभमीशुतनन्दशोभरशुम्भात्म्यमसावावत्,
त सावाव भर स शान्ततम स मासा तव सन्तवम् ॥ २० ॥
[परिपिकाम्यम्]

पञ्चाम्भोजलघुलसदिते सुभीकरीपामरे,
वीरे मत्तसरासने मसिल्या सपन्यातिपभे रम ।
कुम्भार्भमनयदृयानि च धरस्तस्मात् मितृमसनी,
चित्रैरैमिरभिष्टुतः शुमभिर्मां वीर ! त्वमेपि मिमे ॥ २१ ॥

इति वीरस्तवः

(अथ वीरस्तवनम्)

चित्रैः स्तोष्ये जिनं वीरं, चित्रकृत् पावित मुदा ।
प्रतिलोमानुलोमाद्यैः, स्तवावैश्यातिचारुभि ॥ १ ॥
यन्नेऽमन्वयमं देवं, य समाय यमास्तम ।
यथेनम मया येनापाक्षसा ममसक्या ॥ २ ॥
[प्रतिलोमानुलोमपादः]

पास्त्वां तव मनारा, न चैमायमतामस ।
समतामनवान्वेने रामामयस्तां सदा ॥ ३ ॥ [अनुलोमप्रतिलोमः]
नरवानपरादिन्य न्यादिरायनवारव ।
मास्मदेव ममान्मास सन्याया मनदेप्मया ४॥[अर्धप्रतिलोमानुलोमः]

श्रीद वीर विरेम त्वं दमिताक्ष गताऽशुभ ।
वीभाक्षमारम्भितारे रक्ष मां सदरं गवि ॥ ५ ॥ [अर्धभ्रमः]

गीरता जनता रन्द्दे! धीरतास्थिरतारसा ।
सारतारश्रुताऽवन्ध्या, सुरताजनतावकी ॥ ६ ॥ [मुरजबन्धः]

ये पश्यन्ति तवेहास्यारविन्द भक्तिघन्धुराः ।
न पतंति भवे शस्यास्ते विदो भगवन्नराः ॥ ७ ॥ [गोमूत्रिका]

नमासाररसामान मारिताक्षक्षतारिमा ।
सातामयायामतासारक्षया म महाक्षरः ॥ ८ ॥ [सर्वतोभद्रः]

तिर्यग्नरसुराकीर्णा भासतेननते समा ।
त्वन्माहात्म्यात्कृताश्चर्य या श्रिता ततता श्रिया ॥ ९ ॥ [पद्मम्]

रेगौराङ्गोरुगीर्गङ्गगौरीगुरुररोगरुक् ।
गोरंगागाररागारिरैरीरोरै गुरु गिरिम् ॥ १० ॥ [द्व्यक्षरः]

लालल्लालोलल्लीलालं ततता तितिता तते ।
ममाममाममसुमाऽननानेनोननानन ॥ ११ ॥ [एकाक्षरपादः]

ककिकाककंकौक. केकाकोककंकेकिकम् ।
ककाकुककोकैककु. कौककाककाम् ॥ १२ ॥ [एकाक्षरः]

मरुभूमौ तप ऋताविव चारुसरोवरम् ।
कुत सुकृतहीनानां सुलभ तव शासनम् ॥ १३ ॥ युग्म [असंयोगाक्षरः]

सारणि पुण्यवन्याया ज्यायमौक्तिकसुक्तिक (!)
कामधेनुर्नयविदा, वोधोल्लासनसालसा ॥ १४ ॥

सार स्याद्वादमुद्रायास्त्रिपदी भवतोऽञ्जसा ।
सा मे सुहृदि कान्तैकाखिलेन रहितैनसा ॥ १५ ॥ [द्वाभ्यां खड्ग.]

श्रीसिद्धार्थकुलव्योमदिवाकर ! निरञ्जन !
न के सर्वैकान्तवादिमत तीर्थे तव मिता ॥ १६ ॥ [मुसलम्]
का मा त्वयि मन्यासी मन्या मरेम्स चेतसा ।
मता त्वमरसाकममकास्ता गतसागरम् ॥ १७ ॥ [त्रिशूलम्]
विसरकाकुक्षिपाथोजराजहंस ! जगद्गुरो !
भोगास्तृणमिव त्यक्तास्त्वया मोक्षदिदृक्षया ॥ १८ ॥ [हलम्]
सुरासुरनरास्तुभ्यं, नमस्यन्ति जिनोत्तम !
मनःप्रसादसन्दर्भ (?) वर्जिताऽशुभवासना ॥ १९ ॥ (धनुः)
क्व कर्तुं क्नो मोहम्पपोहमहह क्षम ।
मनसा सादरं यस्त्वां, न स्तौति तिमिरापहम् ॥ २० ॥ (शर)
यास्ये मेरुस्थिर कम्पसम्पत्प्रथितविक्रम ।
मनोऽशऽनोकहव्याल ! मम स्वामी मताऽऽभवम् ॥२१॥ (शक्ति)
मानितानेकमामार रमामाकान्तमाधव !
वधमार्गे ममाकास सकमा भी प्रतानिमा ॥२२॥ [अष्टदलकमलम्]
वन्त्यमान ! मनसानं ! ध्यानमौनकनन्दन !
ज्ञानस्थान ! जिन ! मीन ! मनमेन 'सनसंन ॥ २३ ॥
[षोडशदलकमलम्]
जय हेमवपु श्रीक ! अगन्मोहापहारक !
जराहिवीनरसिंहाह ! जन्मनीरधिनाविक ॥ २४ ॥
[स्वस्त्यामगर्भ बीजपूरम्]
तुभ्य नमोऽस्तुस्तनयसिद्धिकाय मीतिवन्यासु मथक ! सुरस्तुत !
वीर ! नेत । विपाकक्षाविपुलमण्डप ! हेमरूप ! कल्याणपीवरणवर
मतेवमीन ॥ २५ ॥ [हारबन्धः]

भग्नाकृत्यपथो जिनेश्वरवरो भव्याब्जमित्रः क्रिया-
दिष्टं तत्वविगानदोषरहितैः सूक्तैः श्रवस्तर्पणः ।
जन्माचिन्त्यसुखप्रदः सुरचितारिष्टक्षयो वः सदा,
दाता शोभनवादिधीः कजदलायामेक्षणः संविदा ॥ २६ ॥

[कविनामगुप्तः]

श्रीमद्धामसमग्रविग्रह मया चित्रस्तवेनाऽमुना,
नूतस्त्व पुरुहूतपूजित! विभो! सद्य प्रसद्येधि माम् ।
ख्यातज्ञातकुलावतंस! सकलत्रैलोक्यकूपान्तर-
स्फारक्रूरतरज्वरस्मरतरत्सरव्धरक्षारतः ॥ २७ ॥

वीरस्तवः

मुक्तोमन्दोदयोर्वी शमद कलकलाऽऽसातमोहारिदोऽश्री-
मुक्तोमन्दोदयोर्वीश मदकलकलासाऽतमो हारिदोश्रीः ।
नीरागो वर्धमानाऽयमहजयमयासामहीन. सुधीरा-
नीरागो वर्धमानाऽयमहजयभया साम हीनः सुधीरा ॥

प्रवरकुण्डनराधिपनन्दनं, वरमहाव्रतपञ्चविकाशकम् ।
कृतसुराधिपमोक्षमहोत्सवं, चरमतीर्थपतिं सुतरां स्तुवे ॥ १ ॥

कणयसमसरीरं मोहमल्लेगवीरं, दुरियरयसमीरं पावदावग्गिनीरम् ।
सुगहियभवतीरं लोअलंकारहीरं, पणमह सिरिवीरं मेरुसेलेसधीरम् ॥

त्रिदशविहितमानं सप्तहस्तांगमानं, दलितमदनमानं सद्गुणैर्वर्धमानम् ।
अनवरतममानं क्रोधमत्यस्यमानं, जिनवरमसमानं संस्तुवे वर्धमानम् ॥

भक्तिलो मतिज्जुषो भजन्ति यं, वर्धमानमहमानमामि तम् ।
जन्तुजाततमसो निशात्मन, वर्धमानमहमानमामितम् ॥

श्रीवर्धमान नतमाममशोप यन्ति, वैरं यशांसि शुभ्र तव क्षोभयन्ति ।
शुभ्रा चकोरनिकरा शतशो पयन्ति, चन्द्र प्रुवामपरवेषयक्षोभयन्ति ॥

मोहावतीतस सयेश ! वीर ! सुधीर ! सौभाग्यभुवममामात् ।
सुचयगमाशोभन ! य स्तुते स, सुधीरसौ माम्यभुवममामात् ॥१॥

(वीरस्य सप्तविंशतिभवोत्कीर्तनस्तवनम्)

पूर्व स्व नयसारभूपति १ रम्यः सौधर्मसन्धारक २ श्च्युता नाम मरीचि ३ रत्र सुमना सेपथके ४ कौशिक । ५ देव मास्थिवि ६ पुष्यमित्र ७ इति य सौधर्मकल्पे सुरो ८ ऽग्निघोत ९ स्त्रिदशो द्वितीयतविषे १० विमोऽग्निभूत्यान्हय ॥ ११ गीर्वाणस्तु सनत्कुमारत्रिपे १२ विमाप्रणीर्मभतो, भारद्वाजपूर्वी १३ चतुर्थवतविषे मेसो १४ ऽग्निमस्थावर । १५ नाकी पञ्चमके सुराम्यवरे १६ श्रीविश्व मूर्तिर्नृप, १७ शुक्रे निर्जरकुमारो १८ ऽत्र भरते विष्णुस्त्रिपृष्ठोऽभव १९ ॥ सप्तम्यां भुवि नारको २० मृगपति २१ स्तुर्यावनी नारकी, २२ चक्री च प्रियमित्रक २३ सुरवर शुक्रे २४ नृपो नन्दन २५ । श्रीपुष्पोत्तरके विमानप्रवरे श्रीमाप्तस्वर्गगेनाकी २६ कीर्तिसप्तविंशतिभवो भूयाः स वीर ! श्रिये ॥ (त्रिभिर्विशेषकम्)

(शासनाधीशवर्धमानजिनस्तवनम्)

श्रीश्रेयस्य ! त्रिजगद्गुरुयापकल्पे भवन्त्व जिन ! यो जजाप । महामतिरोपितसर्वपापकलो न चकोऽपि नरः ववाप ॥ १ ॥ निजसहरूपस्त

मनस्यपापजनिर्भवान् स्वीयवचांस्युवाप । यतिप्रियः क्षितविश्वतापशिलं वचः शीततम ललाप ॥ २ ॥ शुभा भवद्दृष्टिरितानुतापहेला जनं यं भगवन्नवाप । मत्ताशयः कोऽपि न हि प्रलापविपच्चिपच्चिस्तमरिस्तताप ॥ ३ ॥ जज्ञे भवान् वीर ! लसत्कलाप ! यस्याशये प्रीणितसत्कलाप । कृत्येष्वनैर्षद्धिवदीयलापतिग्मद्युतिस्त्वं प्रणताचलाप ! ॥ ४ ॥ इति मुदितमनस्को मूर्धगाचार्यनामाऽक्षरकमलनिबन्धैर्बन्धुरैः संस्तुतो यः । कमलविजयसङ्ख्यावद्विनेयाणुरेणौ, स भवतु मयि देवो दत्तदृष्टिः सतुष्टिः ॥ ५ ॥ इति षोडशदलकमलबन्धबन्धुरं श्रीशासनाधीशवर्धमानजिनस्तवनम् ॥



अनवरतममरनरवरशतनतपदकमलयमल ! मलदलन ! अनपशदचरणचयमय ! ततरभरधरणधवल ! जय ॥ १ ॥ जयसरसवचनवशजन ! समधन ! सदवयवसरलकरचरण ! जलजदलनयन ! गतमल ! शशधरवरवदन ! गजगमन ॥२॥ जय सदय ! सनय ! भवदवकवलन [शमन] नवजलदसमयसम ! अचलबल ! सकलमयहर ! शमदमलयभवन ! जगदवन ! ॥ ३ ॥ अदमतमकरणगजगणखरतरखरनखरनखरभवघरण ! अवतमसमसममघमयमपहर मम समयतपनपद ! ॥ ४ ॥ हतसततभवजगमचर मत कर लसदभय दहन कमनग ! अपनय मम भवरसमरमशरणजनशरण ! गतमरण ! ॥ ५ ॥ असदयवशभवदवकरगतरसदलपटलहरणखरपवन ! मम वचनमनसमहमहरवतर कनकनगवदतरल ॥ ६ ॥ जनमथनमदनघनमदफणधरगरलदरदमनपतगवर ! हतशकलभव मम जननजलगतलवणकणवदमलय ॥७॥ नमदमलनयनकजवनदशशतकरवहलगहनभवदहन ! अकरणगम-

परवक्ररणजयमन् ! अय परमपदसदम ! ॥८॥ इति मतिरचित-विमल-श्रमाल्या महावीर ! शुभमावदेवसूरिस्तुत ! केवलमक्षरं देहि ॥९॥

त्वया जितान्यदेवर्द्धिर्वर्धमानप्रमाथस ! त्वमि देवाधिदेवत्वं वर्द्धमान ! प्रमाथस ॥ १ ॥ आवस्थमी नमो दर्द्धि, वर्द्धमान ! प्रभो, दधाम् ! देहिमय विधेहि त्व वर्द्धमानममोदधाम् ॥ २ ॥ वीरो जिनपति पातु, सन्मान श्रानमिमम् । विश्रमेषु निस्सीमां सन्था मकामन भिमम् ॥ ३ ॥ वरिवस्यति व श्रीमन्महावीरं महोदयम् । सोऽश्नुते चिरसम्मोदमहावीरं महोदयम् ॥ ४ ॥

श्रीवीरजिनस्तवनम्

जय श्रीसवसिद्धार्थ ! श्रीवीर ज्ञातनन्दन ! सुमेरुधीर ! गम्भीर ! महावीर ! जिनेश्वर ! ॥ १ ॥ योऽप्रमेयप्रमाणोऽपि, सप्तहस्तप्रमोपित, पूर्णेन्दुवर्णवर्णोऽपि स्वर्णपर्णसवर्णकः ॥ २ ॥ सदस कौशिके यके, सर्पे च क्रमसंस्पृशि । पीयूषवृष्टिसमा यं, दृष्टा दिशा विद्युता ॥ ३ ॥ विश्वपवित्रयोरसंगरतदुष्तकीर्तिंगा, सनाथ येन नाथेन, विश्व विश्वम्भरातलम् ॥ ४ ॥ यद्यौ पके नम सेवाहेवाकोस्सुकमानसै । श्रीराम गतवैराम मर्त्यामत्यसुरेश्वरैः ॥ ५ ॥ यत्पादैपादको दोषा, क्षिप श्रीमा क्षमातले । दोषा पूषमयूखेस्य, इव हर्षसस्यप्रणाद ॥ ६ ॥ यदेदपुतिसन्दोहसन्देहितवपुर्दधौ, रवि लघोतपोत्सुताडम्बर विडम्बनाम् ॥ ७ ॥ मविर्जा यत्र निपतसे, सुर्णीहृसिसिधय । त वध-मानमामीम्मि वर्षमानमुमावन ॥ ८ ॥ इति मयो मास्तव पठति वीर ! जिनचन्द्र ! आदरोमात्र । मास्यपवर्ग स द्रुतमतर्यगर्वारिवर्गजयी ॥ ९ ॥

सकलकमलदलकरपदनयन ! प्रहतमदनमद ! भवभयहरण ! सततमभरनरनतपदकमल ! जय जय गतमद ! मदकलगमन ! ॥ १ ॥ अमलकनकनगवर ! गतरमण ! क्षतजननमरण ! शमरससदन ! श्रमणकमलवनतपन ! गतभव ! भवभयमपहर मम जनमहन ! ॥ २ ॥ अभयद ! भवदरजलधरपवन ! सबलमदनवनदहनजलधर ! व्यपगतमद ! शशधरवर वदन ! जगदघहर ! जय ततनयसमय ! ॥३॥ तरलकरणहयवरदमनकर ! कनककजनवक्रगमन ! वरवच. ! प्रथमपरमपदमपदर धवलध्वज ! घनघनवररव ! जनशरण ! ॥ ४ ॥ परमपदरमण ! कमनकजरद ! शशधरकरहरनगधवलयशः परमतकजगज ! सकलजनमन फलकरलसदमरनग ! रचय शम् ॥ ५ ॥

सिरिवद्धमाण सिरिवद्धमाण सिरिवद्धमाण जिणचंद । परमाणव परमाणव परमाणवणसि वेदिज्जा ॥ १ ॥ सुहसायर सुहसायर सुहसायर भवसमूहनिम्महण ! जयणायग जयणायग जयनायगइं निवारिज्जा ॥२॥ रयणायर रयणायर रयणायर नाणदसणसिरीण, सुरमोहण सुरमोहण सुरमोहणय पय कुज्जा, ॥ ३ ॥ सरणागय सरणागय सराणागय वज्जपंजरपइट्ठ, कमलासण कमलासण कमलासण सरिसमहहुज्जा ॥ ४ ॥ सबविजय सबविजय सबविजय थुणियगरिट्ठपहो, महसययं महसययं महसयय सिवपय नयसु ॥ ५ ॥

परिशिष्ट नं० ४–हिन्दी कविता विभाग

(महावीर प्रभाती)

श्रीमहावीरजी कृपा करो अब, मैं आधीन तुम्हारा ॥टेक॥ सिद्धार्थराजा के नन्दन, त्रिशला अंगज प्यारा। कंचनवरणी काया सोहे, रहे जगत् से न्यारा

॥ १ ॥ संयम लेकर समता धीधी, कर्मक्रिया चकचूर । केवलज्ञान प्रकाश भयो जब, लोकालोक निहार ॥ २ ॥ सुरनर आवें हर्षभावें, वाणी अमृतधार । श्रद्धा प्रतीति प्रकट सुनैया, पावे भवजलपार ॥ ३ ॥ समव सरणमें साहिब बैठे, और है परिषद बार । जिन वाणी सुन अमृत सरखी, पीवत पीवत हार ॥ ४ ॥ चतुःसम्पदा सुरनर सोहे, समतागुण भण्डार । जिनकी करणी अधिक दीपती, जगत जावत हार ॥ ५ ॥ कर्मेन्धनको यहां प्रभु तपस्यो, पायो कलिमुगभार । ज्ञान सुमरु मेलो मुझ तारो ए है तारणहार ॥ ६ ॥ कर्म जंजीर पड़ी पग मेरे भारी दीनदयार । मोह महापाश विषयविषयोंकी जन्ममरणदुःखभार ॥ ७ ॥ पर उपकारी बिरुद तुम्हारा आप बिना कुन तारण । केई अपराधी कर्म दूर कर, पहुंचे मुक्ति मंझार ॥ ८ ॥ चंडकोशियो पाप उपासो और मच्छर मच्छार । धन्नीयेन प्रभो ! आप उबारे, चौर सिंह अणगार ॥ ९ ॥ अनकेको पाक रसको उसको तारो मेघकुमार । गोशालेसे जगमाही तारे तारे तीर्थ चार ॥ १० ॥ चन्दनबाला पर प्रभुजन कोप्यो सरणा लिया तुम्हारा । इत्यादिक प्रभु बहुत उबारे मैं भी सेवक थारा ॥ ११ ॥ हूं सेवक चरणाम्बुज थारे मैं छो साहिब म्हारा । कविजनानन्द कर जोडी कहे, आनन्दमङ्गल निहारा ॥ १२ ॥

(महावीर प्रभुकी तपश्चर्या का जोड़)

गौतमस्वामी पूछे हैं विवेक आपहि कहो वचन श्री महावीरजी जैसे तप किनो देवलो कहूं श्री विचार । धन्य धन्य प्रभु श्रीवीर तपस्या ॥ १ ॥ श्रीजिनशासन एक मन पूछ गौतम पूछ करे सदा सेवा सुमति जाण जाण क्रिया श्री पावे बलवान दुर्मति दूर पतन । धन्य धन्य ॥ २ ॥ बार बरसे वीरजीने तप कियो जबे धन्य तेरे पास । मैं कर जोडी सेवक वीरके आपसरे साथ ॥ ३ ॥ नव चौमासी वीरजीरा जाणिए, एक कियो छ मास । पांचे दिन कमी छमास जाणिए, बारे एक-एक मास ॥ ३ ॥ बहत्तर पाख खमण कम दीपतो छ दोय मासी जाण । तीन अढाईमास दोय २ किया दोय दोय मासी बखाण ॥ ४ ॥ भद्र-महाभद्र-प्रतिमा जाणिए, दोय-चार-दश दिन होय । तिनमें पारणो वीरजीने कियो हम सोचे दिन जोय ॥ ५ ॥ तीन बारमासी प्रतिज्ञा बारमी, दुष्कर बारे श्री पार, दोयसे बेला वीरजीरा महान

आयबिल उनत्तीस उदार ॥ ६ ॥ नित भोजन वीरजीए नहीं कर्यो, न लियो चौथो आहार। थोडो तप बेलो कियो, सगलो तप चौविहार ॥ ७ ॥ मनुष्य पशु देवे जे दिया, सह्या परिषह ते आप, दोय घडी उपरात नींद नवी लही, षट् दोय तेरे पाख ॥ ८ ॥ वीरजी कीधा तीनसे पारणा, अने वली उनपंचास, इण वले स्वामी केवल पामियो, विचर्या देश मंझार ॥ ९ ॥ बारा परिषद नर नारी सांभले, वीर तणो समास, शूरवीरोए तप कियो, षट् ऋतु मन हुलास ॥ १० ॥ गणधर ग्यारा जाणिए, चवदा सहस्र अणगार, सहस छतीस वीरजी रे साध्विया, ते प्रणमूं सुखकार ॥ ११ ॥ लाख श्रावक पडिमाधरें, ऊपर उनसठ हजार, तीन लाख तेहनी श्राविका, अरुपुनी सहस अठार ॥ १२ ॥ धन्य त्रिशलादेवी मातने, धन्य सिद्धार्थ राय, ज्ञातनन्दन धन्य जन्मिया, नाम लियां जाय पाप ॥ १३ ॥ गौतम आदिक सातसो केवली, अजिया चउदासौ सार, निजकर दीक्षित एटला पहुचां मुक्ति मझार ॥ १४ ॥ (कलश) इम वीर जिनवर सकल सुखकर, एवा दुक्कर तपकरी। संयम पाली कर्म गाली स्वामी शिवरमणी वरी। सेवक यूं जपे वीर जिनवर! चरण सेऊ तुम तणा। संसार सागर पडत राखो, टालो स्वामिन्! दुखमना ॥ १५ ॥

(दीवाली)

पूर्व दिशामें हुई पावापुरी, धन्य धान्य ऋद्धि समृद्धिसुं भरी, हस्तीपाल वसे तिहा भूपाली, वीर मुक्ति विराजे दिन दिवाली ॥ गौतमने सेवाकी मनमानी, एक रातमें हुए केवल ज्ञानी, चौदाराजु रह्या भाली ॥ वीर० ॥ १ ॥ अठारह राय हुआ भक्ता, दोय दोय पोसा कीना रगाता। वीर सन्मुख रह्या निहाली ॥ वीर० ॥ २ ॥ दिन दोयरो सथारो सीझो, सोला पहर लगे उपदेश दीधो। प्रभु मुक्ति गया कर्मने वाली ॥ वीर० ॥ ३ ॥ सातसे चेला ने चवदासो चेली, जाने मुक्ति महलमें दिया मेली, ज्यारा कर्मोरा बीज दिया बाली, वीर० ॥ ४ ॥ प्रभु तीसवर्षवये सयम लीधो, निज आत्म कार्यने सिद्धकीधो, वर्ष बयालिस दीक्षा पाली, वीर० ॥ ५ ॥ एक राणी वरी हूई एक वेटी, जिके मुक्तिगयां दुख दिया मेटी, जामाता हुओ ज्यारो जमाली, वीर० ॥ ६ ॥ प्रभुने एक वहन अने एक भाई, जिके स्वर्गे गया समकित पाई। श्रावकना

मत छुड पायो वीर ॥ ७ ॥ ऋषभदत्तने देवानन्दा माता ब्रामणी निरखी थनें धारा छोड मुखियए कृपा किया स्वामी वीर ॥ ८ ॥ सिद्धार्थराज त्रिशला राणी सांचे संथारो कियो समय आयो १२ में देवलोके उपपन्ना पायो वीर ॥ ९ ॥ जिन शासनमें वीरे मुक्ति पायी केवलज्ञान कियो मोक्षगामी प्यारो आपणो बजरगामी वीर ॥ १ ॥ सुधर्मा स्वामी हुआ पाट धणी चारी गणधरिनि महिमा घणी जिनमार्ग कियो उजवाली, वीर ॥ ११ ॥ त्यारि पछे जंबू वैरागी ।आठराणी परणीने प्रभाते स्वामी । छोड्या नवमि करी धर्मे जागी वीर ॥ १२ ॥ ध्यानमें मामिनी वैरागे भीनी प्रभवा पिताकाचे चौदासीयी माता पिताने संयम पण लियो स्वामी वीर ॥ १३ ॥ प्रभव पण राजानो बेटो जिनरो जंबू कर्वे रे हुओ चेलो पांचसे शुं वैराग्य पाया सत्यगामी वीर ॥ १४ ॥ वीस जिन सम्मेदशिखर चौदह अष्टापद गिरनार दोय चौदा, वासुपूज्य चौसा चम्पा स्वामी वीर ॥ १५ ॥ महावीर पए मुक्ति पावापुरी कार्तिक वदी अमावस्याने मुक्तिरी सुमता मगती मंगल माली वीर ॥ १६ ॥ जिन दिवालीरोपावो राखो धर्मि मोक्ष पण नहीं चालो त्यारो आपणो चौदसपामी वीर ॥ १७ ॥ गुरुचैत्यरी जोडी सुखसंपी कवि रामचंद्र कहै मारे मनमैत्री मुक्तिमे जोड जोडी डंकसामी वीर ॥ १८ ॥

(दिवालीका दिन बड़ा)

दोहा—नमन करो भगवान् का गणधर गौतम स्वामी जप प्रगटे तारन तरन नित उठ करो प्रणामि ॥ १ ॥ दीवाली दिन आवियो राखो धर्ममें वीर, गौतम केवल पामियो मुक्ति गये महावीर ॥ २ ॥ दीवाली का दिन बड़ा मत कर मोटे पाप निम्बा मिथ्या परहरो करो जिनजीरो जाप ॥ ३ ॥ दीवाली दिन आवियो ॥ टेक ॥ सामायिक पौषध करो पडिक्कमणो तोमत इम आतम उजवालको धर्म मत करो जमाल ॥ ४ ॥ मन माहीने समजनमें देव धमराज रम वीर धर्मीये आमिये दीवा पौषध सब ॥ ५ ॥ कार्तिक वदी अमावस्या अमल आतम दोष मन औपधने सदरो वीर पहुँता मोक्ष ॥ ६ ॥ देवदेवी बना आविया जगी बगमग ज्योति । अवरत एक करो दिशां, रातें लगी उद्योत ॥ ७ ॥ मोह कर्मने हणने, पायो उत्तम ध्यान । अविचल

पणो भायो इस्यो, पाम्यो केवल ज्ञान ॥ ८ ॥ मोक्ष नगर का दायका, भगवान् श्रीमहावीर, तेहना मुख आगल हुआ, गौतम स्वामी वजीर ॥ ९ ॥ मोटा जिन शासन धनी, पहोंचा शिवपुर ठम । गौतम लब्धि तणा धणी, जगमें राख्यो नाम ॥ १० ॥ तिन कारण मगलीक दिन, नाम जपो मनवीर । आरंभ समारभ छोडिने, निर्मल पालो शील ॥ ११ ॥ वार २ मानुष देही, पामवी नहीं रे गवाँर, डोरा डाडा राखवी, मन्त्र यंत्र निवार ॥ १२ ॥ झाडा झपटा मत करो, मत करो षट्‌ काय घात, चार जाप जपो भला, मोटी दिवाली की रात ॥ १३ ॥ काया रूपी देहरो, ज्ञान रूप जिन देव, तस सज्झाय शंखझल्लरी, कर सेवा नितमेव ॥ १४ ॥ दया रूपी दिवलो करो, सवर रूपी वात, समकित ज्योति उजाली ने, ज्यों मिथ्या तम नश जात ॥ १५ ॥ सवर रूप करो ढाकणो, ज्ञान रूपी करो तेल, आठ कर्म प्रज्वलित करो, घोर अधेरो ठेल ॥१६॥ काया हाट तेल जालणो, ज्ञान वस्तु महिं सार, स्मरण करो जिनराजनो वाणिज्य परउपकार ॥ १७ ॥ धीरज मन घर धूपणो, तप कर अगरन खेय, सरधाधूप ज्ञान जल थकी, इम सेवा निजदेव ॥ १८ ॥ सीमंधर आदि देइने, जघन्य जिनेश्वर वीश, अढाई द्वीपमें परगठ्या, उत्कृष्ट एकसो सितेर ॥ १९ ॥ भजन करो भगवान् को, ज्यू थारो सुधरे काज, काल अनन्त गयो मृथा, अवसर लाध्यो हाथ ॥ २० ॥ हिंसा से देव राजी हुए, भोला ! यह मत भूल, साचोमन नवकारनो, एम चढावो फूल ॥ २१ ॥ दुःख कोईने देणो नहीं, प्रवचन सामो निहार, जिनवरना गुण गूथिने, ऐसी चढाओ माल ॥ २२ ॥ दानशील तप भावना, मनवच काय सुध्याय, ज्ञान दर्शन चरित्रना, यह तू अक्षत चढाय ॥ २३ ॥ करण करावण अनुमोदना, हणवो जीव न कोय, नव तत्व धारो निर्मला, एहवो नैवेद्य होय ॥ २४ ॥ अवली गत संसारनी, धन लक्ष्मी के काज । टिचकारा करता थका, धीठा कूटे छाज ॥ २५ ॥ टिचकारा करता थका, दाव पाछा भीरे जाय, लक्ष्मी इम करता थका, किम पैसे घर मांय॥ २६ ॥ लीपणो ढोलणो मांडणो, करो जीवांरो जतन, भव भव माहि दोहिलो, मानव भव रतन ॥ २७ ॥ वाणी श्री जिन देवकी, मुख उघाडे मत भाय, यत्ना करजो जुगत स्यु, ज्यों शिव मगल थाय ॥ २८ ॥ भाख्यो दिवाली दिन मोटको, बांधे पापना पूर । इम करतां रे प्राणियां, शिवपुर करे दूर ॥ २९ ॥ ज्ञान रूपी दिवलो करो, तपस्या कर उज्वाल, नियम व्रत कर

मेटयो मिथ्यात्व विवेक दी भाग ॥ १ ॥ समाधानी आतम करो वैराग्य शुद्ध भरपूर, उपशम श्रेणि मांडने क्षपक मोतीचूर ॥ ११ ॥ भाव दिवाली इम करो उतरो भवजल पार जप तप सेवा भावसुं, लाहो ल्यो सुखकार ॥ १२ ॥ दीवाली दिन जाणिये जन्म निवारण माहीं धर्मध्यान मनभावसे अजर अमर पद पाही ॥ १३ ॥ पूजे दिवाली वै दिने नहीं दिवाली मनीपाल एम समजने विध पूजवी पावे पुण्यना ठाठ ॥ १४ ॥ पर्व दिवाली जाणिने वजावे वर हाथ, इम तुम मत उपजावजो दीपे आतिशि भात ॥ १५ ॥ कर ज्ञान घर वालय विम भाव लागे तोय दैवो मेह करो धर्मसुं, ज्यों सुणि सुख होय ॥ १६ ॥ आस्था धर्मो धारण करे, तो वीरको महिमा जो अवसरि वालवी करसी व अवगामीपद ॥ १७ ॥ ध्यान स्वाध्याय सभी करो, पुण्यो मोक्ष वै भाव आवजो दिवके मोदक्ये दीवाको मत भाव ॥ १८ ॥ पर्व दिवाली आवने धार पत्ता मत भूल धर्मध्यान ध्यावो सदा आमे पर्व नो मूल ॥ १९ ॥ चैत्र सुदी तरस दिने जनम्या श्री वर्धमान कार्तिक वदी अमावसी पाम्या मोक्ष निधान ॥ ४० ॥ मनुष्य जन्म ते दोहिलो पाम्यो आरज खेत जोग मिल्यो सांचो तब्यो चेत सके तो चेत ॥ ४१ ॥ वैमात्तो सुगुरु तणी पायो ज्ञान बन वेर, योग नहीं सुख पावई वसुन्दराणी फेर ॥ ४२ ॥ जोग बणायने हेतसें जीव दया मत पाल। तासें मुनि धनमल कहे, इमी दिवालीने माल ॥ ४३ ॥

(महावीर स्तवन)

वीर जिनेश्वर शासन धणी जिन त्रिभुवनस्वामी। ज्यारे चरण कमल नित नित नमूं, प्रणमूं शिरनामी। सुर सिद्धि नगरी पिता नाथ सिद्ध सम ध्यादरा धर्म आसु सुची कुमर पद उपशम परमात्मा। चरित्र वल प्रभु गुण गणा है क्षमागल केवल ज्ञान तीर्थ वलभर केवली जिन शासन परमाण ॥ १ ॥ देवलोक दशवें बीस सागर पूर्णस्थिति पाय क्षत्रियकुंडपुर नगरी में प्रगटे श्री जिनवर आप। पिता सिद्धार्थ गुण मात त्रिशलादेवी गर्भमां अवतरी सुविधि अवतरे श्रीवीर जिनन्दा। ज्यारे चरण कमल शिरमोर जगदाधार कर साथ तप संयम करी पोषता ए प्रणमूं जगनाथ ॥ २ ॥ महावीर वर्षनो आयुषो पाम्यो सुखकारी तीसवर्षे केवलसें राज अभिमान धारी। उपसर्ग परिषह सहन करवा पुनी परमरस भीने जगमगपनी मनपसन्द नाम वीर नाम ॥ देवो

ज्यारा मातपिता स्वर्गति लह्याए, पुनी लियो संयम भार। तपसा कीधी आकरी, साढा बारह वर्ष मझार, ॥ ३ ॥ नव चौमासी तप कियो, इक कियो छमासी। पाच दिन ऊणा अभिग्रह। षट्‌ मास त्रिमासी। एक एक मासी तप कियो, प्रभु द्वादश विरिया। वहत्तर पक्ष दोय २ मास छवेरिया करियां। दोय अढाई दिन दोय ए वली डोढमासी दोय। भद्र-महाभद्र शिवभद्र तप करी, इम सोलह दिन होय, ॥ ४ ॥ भिक्खुनी पडिमा अष्ट भक्तिनी द्वादश कीनी। दोयसे ने गुणतीस छठम तप गिनती लीनी। ग्यारह वर्ष छमास पच्चिस दिन तपसा केरा। ग्यारह मास उगणीस दिवस पारणा भलेरा। इन विधि स्वामी तप कियोए पछी उपज्यो केवलज्ञान। तीस वर्ष ऊणां विचरिया, ते प्रणमूं वर्धमान, ॥ ५ ॥ प्रथम 'अस्थि' बीजो 'चम्पा' दो कहिए, 'वैशाला' ने 'वाणिज्ज' दो मिल। द्वादश लहिए। चतुर्दश 'नालंदे' पाडे 'मिथिला' छभणिया, 'भद्दलपुरमें' दोय, सबे मिल अडतिस गिणिया। एक 'आलभिका' एक 'सावत्थी', एक अनार्य में जाण, चरमचौमासो 'पावापुरी' जहा पहुचे निर्वाण ॥ ६ ॥ मुनिवर चवदे सहस, सहस्र छत्तीस आर्यिका, इकलख गुणसठ सहस्रश्रावक, तीनलाखश्राविका, अधिक अठारह सहस ग्यारह गणधर की माला, गोतमस्वामी शिष्य वडा, सती चन्दनबाला। ज्यारे केवलज्ञानी सातसो, प्रभु पहोंचे निर्वाण। शासन वर्ते स्वामीनो, अब्द इक्किस सहस्र प्रमाण ॥ ७ ॥ पूर्वी तीनसो धार, तेरासौ अवधि ज्ञानी, मन पर्यय पांचसे जान, सातसौ केवलज्ञानी ॥ विक्रिया लब्धिधरा जान, सातसो मुनिवर कहिए। वादी चारसौ वडे, भिन्न भिन्न चरचा लहिए ॥ एकाकी चारित्र लियो, एकाकी निर्वाण। चौसठ वर्ष तक चालियो, दर्शन-केवल ज्ञान ॥ ५ ॥ वारह नरवल वृषभ, वृषभ दश ज्यों ए हय वर, वारह हय एक महिष, महिष पाचसौ सुं गयवर। पाचसें गज हरि एक, सहस हरि इक अष्टापद, दश लख अष्टापद एक राम, दोय राम एक वासुदेव। दोय वासुदेव एकचक्री, क्रोड चक्री इक सुर लियो, कोडी सुरा इक इद अनन्तासु नहीं नमे, चिट्टी अगुली अग्र जिनेंद्र ॥ ९ ॥ आप तणां प्रभु गुण अनन्त, कोई पार न पावे, लब्धि प्रभावे कोडि, काय कोडी सीस बनावे। सिर २ कोडा कोडी वदन, कोड कोड जिभ्यानी, जिभ्या २ सु कोड २ गुण करे सुज्ञानी। कोडा कोडी सागर लगेए, करे ज्ञान गुण सार। आपतणा प्रभु गुण अनन्त, कोई कहत न आवे जी पार ॥ १० ॥

भमरे एम अनेक भरे अमरा कमिता एवं जीवनी रोमराज नहीं बने लिखिया। एक मुख तप करे गुण मन करे अनन्त पूज्य प्रसार आमि अकर्मन कहे नहीं आवे अन्त। संवत् १८९२ एमाघ शु सप्तमि चंद। समपुरे गुणमणिया कन १ वीर जिनेंद्र ॥ ११ ॥

वीरस्तुति–परिशिष्ट नं० ५

शान्तरसपूर्ण शान्तिप्रकाशः

प्रार्थनाष्टकम्–

प्रेमसहित वन्दौं प्रथम, जिनपद कमल अनूप।
ताके शुभरस अनुभवत होयत शांत स्वरूप ॥ १ ॥
पूर्वं नमामि सप्रेमं, जिनपादाब्जमत्र शुभम्।
यस्य रसस्य पानेन जायन्ते शान्तिरूपकाः ॥ १ ॥
तुम शरणे आयो प्रभु, राख टेक निज एक।
निर्विकल्प मम सिद्धजी देवो विमल विवेक ॥ २ ॥
शरणं ते प्रभो! प्राप्तः, रक्षस्व निजभक्तकम्।
कल्पनातीतसिद्धेश! बोधं वितर निर्मलम् ॥ २ ॥
करूं वंदना भावयुत त्रिविध योग चिर धार।
रतन! रतन सम देय मुझ ज्ञान अपारह सार ॥ ३ ॥
कृत्वा सौम्यं त्रियोगेन वन्दनं प्रणमाम्यहम्।
देहि मे रत्न! विज्ञानं रत्नतुल्यं शुभं परम् ॥ ३ ॥
उपाध्याय अध्ययन श्रुति निशिदिन करत अभ्यास।
दीनबन्धु मुझ दीजिए, ज्ञान सम ज्ञानविकास ॥ ४ ॥
श्रुताध्ययनसंसिद्धा निशमभ्यासतत्पराः।
उपाध्यायाः प्रयच्छन्तु, ज्ञानं ज्ञप्ति वरं परम् ॥ ४ ॥
सो साधु माया हरो कर्मवाद्य रणजीत।
निपुण जौहरी ज्यों लख्यो आतम रतन पुनीत ॥ ५ ॥
कर्मवाद्यं रणे जित्वा रत्नपरीक्षकवत्तु।
आत्मरत्नं शुभं येन, वीक्षितं ज्ञानचक्षुषा ॥
साधवः कृपया शश्वत्, मम मायां हरन्तु ते ॥ ५ ॥

अधिक प्रिय नव रसनमें, है रस शान्ति विशेष।
स्थायी भाव निर्वेदसे, मेटो सकल कलेश॥ ६॥

नवस्वपि रसेष्वत्र, प्रेष्ठ शान्तो विशेषत।
निर्वेदात्स्थैर्य्यमायात, कृत्स्न क्लेशं हरत्वयम्॥ ६॥

विकलमति अभिलाष अति, कपटक्रिया गुणचोर।
में चाहत कछु शान्त रस, तुमसे करी निहोर॥ ७॥

महेच्छुर्विमति स्वामिन्! निर्गुणो दम्भसयुत।
त्वा प्रणिपत्य याचेऽह, किञ्चिच्छान्तं रस प्रियम्॥ ७॥

कापे जाचुं जायकर, तुम सम नहीं दातार।
करुणानिधि करुणा करी, दीजे शान्त विचार॥ ८॥

गत्वाऽहमत्र क याचे, त्वत्समो नहि दायक।
दयानिधे! दयां कृत्वा, शान्ति मे यच्छ सस्थिराम्॥ ८॥

में गुलाम हौं रावरो, मेरो विगरत काज।
ताहि सुधारे वनि रहे, मेरी तेरी लाज॥ ९॥

दासोऽस्मि ते प्रभोऽह वै, कृत्य नश्यति मेऽधुना।
साफल्ये तस्य मे ते वै, लज्जा स्यास्यत्यसशयम्॥ ९॥

शान्ति छवि निरखत रहूं, जाचूं नहीं कछु और।
अरजी हुकम चढाय द्यो, पर्यो रहूं तुम पौर॥ १०॥

नान्यत्किमप्यह याचे, याचेऽह केवल विभो!
लोकेऽस्मिन्वीक्षण द्युत्या, शान्तेरस्तु सदा मम॥
आवेदने मयाऽऽदेशस्त्वया देय प्रभो! ह्ययम्।
भूत्वा चैव कृतार्थोऽह, द्वारे तिष्ठामि ते सदा॥ १०॥

जिहिं गुणतें खुश होहु तुम, सो गुण नहिं लवलेश।
तुम चर्णन आश्रित रहूं, सो वुध देहु जिनेश॥ ११॥

प्रसादस्ते गुणेन स्याद्येन स्वल्पोऽपि मे स न।
मतिर्जिनेश! सा देया, यया स्यां चरणाश्रित॥ ११॥

तडफत दुःखिया में अति, पलक परत नहिं चैन।
अव सुदृष्टि करि निरखिए, ढीले रहे वने न॥ १२॥

निष्प्रभोऽपीश दुःखेन दुःखं प्राप्नोमि न क्षणम् ।
अनुनेयः सुतस्तात, शिशिरोऽपि तपे क्वचित् ॥ १२ ॥

यह सम्बन्ध भलो बन्यो हम तुमसों सर्वज्ञ ।
त्यागे ताहि न संग रखो, पिता पुत्र कहि प्राज्ञ ॥ १३ ॥
मया त्यक्ता न सर्वज्ञ ! तातः सुतः सुखोत्सवः ।
नो भाव्यस्त्वया त्यक्तः पितेवाप्तोऽपि पुत्रकः ॥ १३ ॥

मैंक्यु कठिन कठोर तुम, परमातम परमेश ।
दीन जानिकर बकसिये दिन दिन नाम निवेश ॥ १४ ॥
परमात्मन् ! परेश ! त्वं किं कठोरं विभाषसे ।
दीनं मत्वा न देहि त्वं नित्यं धर्मं कर्म मम ॥ १४ ॥

कृपा करो निर्बुद्धि पै अनु दुं अनुभव रीति ।
अशुभ और शुभ देखके करूं न कबहु प्रीति ॥ १५ ॥
कुरु कृपां च निर्बुद्धौ देहि देह्यनुभवक्रमम् ।
यस्माच्छुभं शुभं चैव कुर्यां यो तत्र संप्रीतिम् ॥ १५ ॥

सब प्रकार धनवन्त हो सुनहु गरीब निवाज ।
आरतवन्त कृपाजगते बकसि बकसि महाराज ॥ १६ ॥
प्रभु त्वं दीनबन्धोऽसि सर्वैश्वर्यसंयुतः ।
आर्तदीनाकृपानाथ सदा तारय मां प्रभो ! ॥ १६ ॥

धर्म शुक्ल ध्यावत रहूं, कोप ध्यान सुखकार ।
या जग ममता जलधि ते दीजे पार उतार ॥ १७ ॥
ध्यायामि शुक्लं ध्यानं धर्म्यं धर्मं च निश्चयः ।
निस्तारय विभो ! मां तु, लोकसम्मोहसागरात् ॥ १७ ॥

करुणा करिके मेटिये विषय वासना रोग ।
मैं कुपथी बेदम प्रबल कहि मत योग अयोग ॥ १८ ॥
दयां विधाय देव ! त्वं विषयेच्छामयं हर ।
ममोऽप्यार्तेन सम्पापो योग्यायोग्यं न पश्य मो ॥ १८ ॥

मैं गरजी अरजी करूं, सुनिहो जग प्रतिपाल ।
बार सतावे दास को यह दुःख दीजे टाल ॥ १९ ॥

निवेदयाम्यहं व्यथां, शृणु ? त्वं लोकपालक ! ।
तर्षस्तु बाधते दास, दु समेतद्विनाशय ॥ १९ ॥

प्रभु तव सन्मुख हो रहूं, जगकूं देऊं पूठ ।
कृपादृष्टि अस करहु तुम, ज्युं भव जावे छूट ॥ २० ॥

लोकं तु पृष्ठत. कृत्वा, त्वत्समक्ष. प्रभो ह्यहम् ।
स्यामेव तु कृपादृष्टि , कर्तव्या भवमोचनात् ॥ २० ॥

मैंने जे कुकरम किये, दीखत हैं सब तोय ।
महर करो ज्यूं दीन पे, फेर न दु'ख दे मोय ॥ २१ ॥

मया कृतानि पापानि, सर्व्वाणि देव ! पश्यसि ।
तथा दीने कृपा कार्य्या, बाधन्तां नो यथा पुन ॥ २१ ॥

विपत्ति रही मो घेरके, सुनी न अजहु पुकार ।
मेरी विरिया नाथ तुम, कहां लगाई वार ॥ २२ ॥

नाधुनाप्यशृणोर्लाप, विपन्मां परित स्थिता ।
मम वारे त्वया नाथ ! विलम्ब क्रियते कथम् ॥ २२ ॥

ऐसी विरियां में किधौं, टरि गये दीनदयाल ।
विना कह्यां कैसे रहूं, अब लो करि प्रतिपाल ॥ २३ ॥

ईदृश्या किल वेलाया, दीनबन्धो ! कुतस्त्वगा ।
उक्त्या विना कथ स्थेयामधुना रक्ष मा विभो ॥ २३ ॥

जो कहलाऊं और पे, न मिटे मम उर झार ।
मेरी तेरे सामने, मिटसी मनकी रार ॥ २४ ॥

अन्येनोक्तौ न शान्त स्याच्चित्तोद्वेग कथंचन ।
समक्ष एव चातस्ते, मनोवादो* विनङ्क्ष्यति ॥ २४ ॥

दुष्ट अनेक उधार के, थकि रहे किधौं दयाल ।
धीरे धीरे तारिये, मेरो भी लखि हाल ॥ २५ ॥

गतिं ममाऽपि सवीक्ष्य, शनै सन्तारय प्रभो !
उद्धार्य्याऽनेकदुष्टान्वा, जात. श्रान्तो दयानिधे ! ॥ २५ ॥

॥ इति प्रार्थनाष्टकम् ॥

---

* मनका झगडा ।

॥ अथ पापनिवारणाष्टकम् ॥

अरे जीव भव वन विषे, तेरा कवण सहाय।
जाके कारण पचि रह्यो ते सब ठेरे माय ॥ २६ ॥
भवारण्येऽत्र रे जिव! सहायः कोऽस्ति ते वद।
यदर्थं खिद्यसे मिथ्या तव ते सन्ति नो भुवि ॥ २६ ॥
संसारी को देखके, सुखी न एक लिगार।
अब तो पीछा छोड़के, मत धर सिर पर भार ॥ २७ ॥
मया संसारिणं वीरं न कोऽपि सुखभाग्भुवि।
अनुपश्यति सर्वेषामी [illegible] मा धर भारकम् ॥ २७ ॥
झूठे जगके कारणे तू मत कर्म बंधाय।
तू तो रीता ही रहे धन पैसा ही जाय ॥ २८ ॥
मिथ्यासंसारमुद्दिश्य कर्मबन्धं तु मा कुरु।
रिक्तो यास्यसि जीव! त्वं [illegible] धनम् ॥ २८ ॥
तन धन संपत् पायके, मगन न हो मन मांय।
कैसे सुखिया होयगा, खोवत *आयु अगाय ॥ २९ ॥
तनुं वित्तं विभूतिं च लब्ध्वा हृष्टो मा भव।
[illegible] त्वं कथं सुखी ॥ २९ ॥
सठ देख मूठे मति यह पुद्गल पर्याय।
देखत देखत ताहुदे, कासी थिर न रहाय ॥ ३० ॥
मूर्ति दृष्ट्वा भ्रमात् त्वं [illegible] ।
[illegible] न स्थिरेयं कदापि च ॥ ३० ॥
लूटेंगे कामादि धन ठगसम यह संसार।
मीठे वचन उचारिके †मोह फांसी गल डार ॥ ३१ ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ ३१ ॥
किधौं मूढ तोकौं सप्यो करे न तनक विचार।
या माने तो परपके मतलबको संसार ॥ ३२ ॥

---

* [illegible]। † [illegible]।

भूताऽऽविष्टोसि यद्वा हि, विवेकं न करोषि वै ।
नो प्रत्येति परीक्षस्व, ससार स्वार्थसङ्गत ॥ ३२ ॥

काया ऊपर ताहरे, सयसुं अधिकी प्रीत ।
यातो पहले सवनमें, देगी दगो नचीत ॥ ३३ ॥

यस्मिन् काये तव प्रीतिरभ्यधिका विशेपत ।
सर्वेभ्य प्राक् स एव त्वा, प्रवञ्चयिष्यते ध्रुवम् ॥ ३३ ॥

विपय दुःखनको सुखगिने, कहूं कहां लग भूल ।
आंख छतां अन्धा हुआ, जाणपणामें धूल ॥ ३४ ॥

विषयोत्पन्नदु खानि, सुखरूपेण मन्यसे ।
कथ ब्रूयात्तव भ्रान्ति, प्रमाद वा शृणुष्व भो ! ॥
नेत्रे सत्यपि चान्धत्व, धिग्ज्ञान मम निष्फलम् ॥ ३४ ॥

नितप्रति दीखतही रहे, उदय अस्त गति भान ।
अजहुं न भयो ज्ञान कछु, तू तो वडो अयान ॥ ३५ ॥

उदयास्त गतिर्भानोर्नित्यशो दृश्यते ध्रुवम् ।
नो जात ज्ञानमथापि, मूढोऽतीव प्रदृश्यसे ॥ ३५ ॥

किसके कहे नचीत तू, सिर पै फिरे जु काल ।
बांधे है तो वांधले, पानी पहली पाल ॥ ३६ ॥

निश्चिन्त कस्य चोक्तिस्त्व, काल शीर्षे तु तिष्ठति ।
बधान चेदभिप्सा ते, जलात्पूर्वं वृतिं *खलु ॥ ३६ ॥

आया सो सब ही गया, अवतारादि विशेष ।
तू भी यों ही जायगा, यामें मीन न मेष ॥ ३७ ॥

आयातो यो गत सोऽपि, ह्यवतारादिकोऽपि च ।
एव त्वमपि यातासि, नास्त्यत्र कोऽपि सशय ॥ ३७ ॥

यह अवसर फिर ना मिले, अपना कारज सार ।
चुकते नाम चुकायदे, अव मत राख उधार ॥ ३८ ॥

न लब्धावसरो ह्येष, स्वकार्यं साधयाऽधुना ।
कुरु कृत्यानि सर्व्वाणि, नावशिष्ट तु रक्ष वै ॥ ३८ ॥

---

* परित्र पालिम् ।

कैसे पापिष्ठ हो रहा, मैला मात करार ।
निपजी खोटी प्रेय क्यों पायी छटे गवाँर ॥ ३९ ॥
प्रमत्तोऽसि कथं भ्रातरावासस्त्वमुत्तमन्तिकम् ।
प्रतिच्छसि रोऽमर्थं *कर्म सखातपत्तनम् ॥ ३९ ॥
धर्मविहार कियो नहीं, कीन्हो विषय विहार ।
गांठ खाय पीते चले आके जग दरबार ॥ ४० ॥
धर्म्माचारः कृतो नाऽत्र विहारो विषये कृतः ।
भोगमपने समत्पल, भूमधी रिक्तको गतः ॥ ४० ॥
काज करत पर, परलके, अपनो काज विसार ।
सीस विचारे जमत्का, अपनी झोंपरी बार ॥ ४१ ॥
विनाश्य त्वं कथं कर्म कुरुषे परकर्मणम् ।
कुर्वी निज तु सम्मान शोककीर्ति व्यपोहसि ॥ ४१ ॥
नहिं विचार तैंने किया करना था क्या काज ।
तब होयगा कर्मफल, तब उपयोगी काज ॥ ४२ ॥
कार्योत्तरे तत्र कर्त्तव्यं कृता नाऽत्र विचारणा ।
कर्मविपाककाले च मीता गामसि वै तदे ॥ ४२ ॥
छूँटी संसारीमयी छूटेगी जब काज ।
तब सुखिया तू होयगा इनते बलगा भाज ॥ ४३ ॥
असत्संसारिभोगानां यदा संस्थति वै रुचिः ।
एतेभ्यस्तु पृथग्भूत्वा तदा सौख्यमवाप्स्यसि ॥ ४३ ॥
अपनी पूंजी सीं करो, निश्चल कार विहार ।
यांप्या सोही भोगले मत कर और उधार ॥ ४४ ॥
आत्मीयैनैव वित्तेन धर्ममाचर निश्चलम् ।
यदाप्तं हि भुंक्ष्व तत् नवमन्यत्तु मा कुरु ॥ ४४ ॥
नया कर्म मत काटके करसी कार विहार ।
ऐसा पकसी पारखा किम होसी छुटकार ॥ ४५ ॥
कर्मैव नूतनं कृत्वा यदि कर्म विधास्यसि ।
तदा तत्र कर्म भावी तावत्संसारसागरः ॥ ४५ ॥

---

* कारपरिश्रमेणेति भावः । † नूतनं कृत्वा ।

विषय भोग किम्पाक सम, लखि दुःख फल परिणाम।
जब विरक्त तू होयगा, तब सुधरेगा काम॥ ४६॥

भोग किम्पाकतुल्योऽस्ति, तदन्ते वीक्ष्य सङ्कटम्।
विरक्तस्तु यदा भावी, तदा कार्य्यं तु सेत्स्यति॥ ४६॥

एरे! मन मेरे पथिक, तू न जाव वहँ ठोर।
बटमारा पांचों जहां, करैं साहको चोर॥ ४७॥

मम पाथ मनस्त्वं रे! गच्छ मा तत्र कर्हिचित्।
दस्यवो यत्र पञ्चापि, साधु चौरं प्रकुर्व्वते॥ ४७॥

आरम्भ विषय कषायकौं, कीनी बहुतिक बार।
कारज कछु सरिया नहीं, उलटा हूवा ख्वार॥ ४८॥

भोगारम्भकषायास्तु, बहुशो विहितास्त्वया।
कार्यसिद्धिस्तु नो जाता, जात प्रत्युत लज्जित॥ ४८॥

चारों संज्ञामें सदा, सुते निपुण चित्त लाग।
गुरु समझावे कठिनसौं, उपजे तउ न विराग॥ ४९॥

प्रबोधयति सञ्ज्ञाभिर्गुरुश्चतसृभिर्ध्रुवम्।
ज्ञानाय चित्तवैराग्य, जायते ते तथापि नो॥ ४९॥

खैर हुआ जो कुछ हुआ, अब करनो नहिं जोग।
विना विचारे तैं किया, ताका ही फल भोग॥ ५०॥

अस्तु जात तु यज्जात, प्रमादं नाधुना कुरु।
असमीक्ष्य कृतं यत्तु, भुंक्ष्व तस्य फल ध्रुवम्॥ ५०॥

इति रागनिवारणाङ्गम्

अथ द्वेषनिवारणाङ्गं कथ्यते

वुरो कहे कोऊ तो भनीं, तो तू भला जु मान।
बूरा मीठा होतहै, सब वनिहै पकवान॥ ५१॥

अप्रिय *वक्ति यस्तुभ्य, त्व तु जानीहि तत्प्रियम्।
†बूरा ‡मिष्ठ भवत्यत्र, पक्वान्न तेन जायते॥ ५१॥

---

* 'वुरा' इति भाषायाम्। † 'भला इति भाषायाम्। ‡ 'वुरा'। इति शब्दस्य दीर्घोकारत्वेन प्रयोगस्तदा भाषाया शर्करापर्याय'।

कटु तीक्षण मति विषभरी, भाखी भाख समान ।
मधुमकर्म गुम्मट मिथो, यों जिय मुख्दी जान ॥ ५२ ॥
कटुतीक्ष्णा विषोपेता भाषतुल्या हि यान्मिथः ।
कुर्वेति त्वां विजानीहि, स्फोटो मिथः कुष्मेवमः ॥ ५२ ॥

कटुक वचन कोऊ कह दिया लगे जु हियमें तीर ।
समदृष्टि यों समझके, मोय जान्यो अतिवीर ॥ ५३ ॥
कटुकि परसम्प्रोच्य भाषयत्यतिमति सा ।
समदृष्टिर्विजानीयात्स्फोटोऽयं वीरसुत्तमः ॥ ५३ ॥

बैरी होता तो कबहु, नहीं कहता कटु बात ।
सज्जन दीखत मानरो, रुख कसि कटुक बचात ॥ ५४ ॥
यदनिष्टं वदुर्जनैस्तस्य कटुः ।
सज्जनो दृश्यते मेऽयं कटुत्वमति रोमहृत् ॥ ५४ ॥

मनगुण सुनिके आपणा रे मन ! सुखदी थाए ।
मो गरीबकों जानिके छीना बोझ उतार ॥ ५५ ॥
आत्मनो दोषमाकर्ण्य सर्वं धारय हे मनः ।
ज्ञात्वाऽमेव तु मां दीनं दीर्घोद्धारोऽवधारित ॥ ५५ ॥

मैं भूल्यो गुम राहको हलों हरे बताय ।
दुर्जन जानि पेरे नहीं सज्जन हो दर्शाय ॥ ५६ ॥
सुमार्गे विस्मृते मूर्खं मया मार्गं प्रबोधवत् ।
ज्ञायते दुर्जनो नायं सज्जनस्तु विभाव्यते ॥ ५६ ॥

मान मदत सुरम डूमा में भूल्यो निजकाद ।
मिथ्या रूप मसालके हमे दिखाई राह ॥ ५७ ॥
मार्गं गते हि मोहार्थे भ्रातोऽयं मिथ्यात्वाचका ।
मिथ्याप्रदीपमादाय भ्रातोऽयं मार्गदर्शकः ॥ ५७ ॥

सुनि निन्दकके वचनकों चित मति करे उचाट ।
यह दुर्गन्धित पवन मति बहती हूँ मति डाट ॥ ५८ ॥
निन्दकोक्तिं समाकर्ण्य मामनी मा कुरु मानसे ।
कम्पि मा त्वं तथे । पूतिपवनं मर्द सम्मीरणम् ॥ ५८ ॥

कुवचन शर क्या कर सके, तू होजा पाषाण।
तेरा कुछ बिगरे नहीं, वाका ही अपमान ॥ ५९ ॥

सखे! पाषाणवद्भूया कूक्तिषु किं करिष्यति।
न स्यात्ते कापि वा हानिर्ह्यपमानस्तु तस्य च ॥ ५९ ॥

कुवचन गोलीके लगे, जो ले मनको मार।
आपही ठंढी होयगी, होजा शीतल गार ॥ ६० ॥

कूक्तिगोलीसमाघाते, मन शान्तं करोति य.।
भविता सा स्वयं शीता, शान्तस्त्व भव हे सखे! ॥ ६० ॥

तैंने ऊपरसौं कही, मैंने समझी ठेठ।
खटका सबही मिटगया, एक रह्य गयो पेट ॥ ६१ ॥

उपरिष्टात्त्वया प्रोक्त, तत्त्व बुद्ध मया किल।
चिन्ता कृत्स्ना विनष्टा मेऽवशिष्टा समता खलु ॥ ६१ ॥

रे चेतन सुलटी समझ, तेरा सुधरा काज।
कुवचन धर वर ताहरी, इणने सौंपी आज ॥ ६२ ॥

सम्यक् चेतन! बुध्यस्व, सिद्ध कार्यं तवाद्य वै।
तावक कूक्तिनिक्षेपोऽनेनेदानीं समर्पित. ॥ ६२ ॥

होगी सोई नीसरे, वस्तु भरी जिहि माहिं।
याका गाहक मत बने, तेरे लायक नाहिं ॥ ६३ ॥

यस्मिन् वस्तु यदेवास्ति, निस्सरिष्यति तत्किल।
नोचित वे समस्त्येतद्ग्राहकस्त्वस्य मा भव ॥ ६३ ॥

अपणा अवगुण सुणकरी, मत माने जिय रीस।
मनमें तू यों समझले, मुझको देत असीस ॥ ६४ ॥

आत्मदोष समाकर्ण्य, चित्ते खेद तु मा कृथा ।
आशिष मे ददात्येष, कार्या चैषा विचारणा ॥ ६४ ॥

क्रोध अगन दिल मत लगा, सुनि अयथारथ बोल।
क्षमारूप जल छिडकिए, नेक न लागे मोल ॥ ६५ ॥

असदुक्त वच श्रुत्वा, क्रोधाग्नौ क्षिप मा मन ।
सिञ्च वारि क्षमारूप, भवेत्तापो न कश्चन ॥ ६५ ॥

दुर्लभ धुप तो है नहीं तू तो छिन धुप साथ ।
तप बिन परिहे अगनि कछु, आपहि होय समाप ॥६६॥
न तूष्णी दुर्लभ सात्त्व त्वं तु तूष्णी भव क्षणम् ।
विस्तृते पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति ॥ ६६ ॥

तू तप सम कछु वचन सुन क्रोध अगन मत डार ।
उपशम मीर सम करहु मन तब मिलिहै शिवराज ॥६७॥
श्रुत्वा तृणमिमां कुक्तिं कुग्नि मा प्रदीपय ।
कुरु मीरसमं शान्त मुक्तिराज्यं तदैष्यसि ॥ ६७ ॥

भाई गाई कर गालियाँ क्रोध अंगार समान ।
न हर पियमनि अंगारमिमी पड्डो पकरे मान ॥ ६८ ॥
उपेक्षस सर्वे । व्यर्थं मम कोपं समापय ।
समपालयनुपता मोवेदुशीना मनसन्तस्थः ॥ ६८ ॥

प्रभु सहाय नहीं होयँगे रे जिय सांची मान ।
क्रोध करी ज्यूं होगयो साधु रजक समान ॥ ६९ ॥
ईशोऽपि नो सहायः स्यात्सत्य मन्यस्व चित्त ! हे ।
यस्म कोपं विधानेन साधू रजकवत् मतः ॥ ६९ ॥

आरम करम सेवा करी इणमें हीना मोय ।
कटुक वचन साधुन करी निपट जातिके मोय ॥ ७० ॥
निर्धन मीरस मामेप आसमर्थं मतीमहम् ।
कटुविसाधनेनाऽऽस्तु तत्वानामिमस्य ॥ ७० ॥

जौहरी जैसे मति करे कुंजरी के संग पार ।
ठगन पियारसी ठाकुरा माजी सठे गर्वार ॥ ७१ ॥
निर्भरं साधुभिर्भेव्या एभिरस्तं हि मा चर ।
मभिता रजभिलेपो आश्चर्यं मूढ ! सत्वरम् ॥ ७१ ॥

साक्षाधि माली हर्ष याह विचार चित ठार ।
अपिनी सम इनकी विपा मोप समझ्यो मतवार ॥७२॥
श्रुत्वा सत्यमनयाभि ह मिते विस्मय सत्वरम् ।
मार्गस्थानसमेति सम्मतुर्दं मर्ते मम ॥ ७२ ॥

किरतघनी वननो न ह्यॉ, दइ गारि इण मोहि,
अस आतम शीतल करौं, मम उधार तव होहि ॥ ७३ ॥
दत्ता मम गालिरेतेन, कृतघ्नो भवितास्मि नो ।
एव कुर्यां यदा शीत *स्व तदोद्धारमाप्नुयाम् ॥ ७३ ॥

गाली एक ही होत है, बोलत होत अनेक ।
रे जिय! तू बोले नहीं, तो वही एक की एक ॥ ७४ ॥
गालिरेका प्रतीवादेऽनैका सैव विजायते ।
विचार्य्यैव तु मा ब्रूहि, सा स्यादेकैव चित्त! ह ॥ ७४ ॥

अनन्तकाल पहले प्रभु, देख रखे यह भाव ।
परिहैं कटु वच श्रवणमें, ते किम टाल्यो जाव ॥ ७५ ॥
प्रागेवानन्तकालाद्वै, जिनो भाव निरैक्षत ।
कटूक्तिपतन श्रोत्रे, शक्य वारयितु कथम् ॥ ७५ ॥

इति द्वेषनिवारणाङ्गम्

अथ धैर्य्यधारणाङ्गम्

अय दिल चाहे परमपद, उर धीरज गुण धार ।
निन्दा स्तुति रिपु प्रिय, एक हि दृष्टि निहार ॥ ७६ ॥
निर्व्वाणेच्छामनस्ते चेत्तदा धैर्य्यं गुण धर ।
निन्दास्तुति रिपुप्रीतौ, समदृष्ट्या विलोकय ॥ ७६ ॥

धीरज धर भ्रमको तजो, एह पुद्गलको ख्याल ।
पर परछांही पर रही, तू तो चेतन लाल ॥ ७७ ॥
धैर्य्यं धृत्वा त्यज भ्रान्तिमेतत्पुद्गलनाट्यकम् ।
चेतनोऽसि प्रिय! त्वं तु, त्वयि बिम्ब पर गतम् ॥ ७७ ॥

चञ्चलताको छोडिदे, धीरजकी कर हाट ।
कर विहार गुण माल को, ज्यूं होवे बहु ठाट ॥ ७८ ॥
त्यक्त्वा स्थैर्य्यं विधेहि त्व, धैर्यहट्ट सखे! मम ।
आद्रियस्व गुणग्राम, येन सर्व्वं शुभ भवेत् ॥ ७८ ॥

---

* आत्मानम् ।

निजगुणमें थिर ठहर तू, परगुण पर मति धार।
पर रमणीसे राचि करि, मत कहलावे जार ॥ ७९ ॥
निजात्मनो गुणे धीर! मा परात्मगुणे परम्।
परकान्तानुरक्तः सन्, मम मा जारसंज्ञभाक् ॥ ७९ ॥

तम रजनी नाशे नहीं, दीपककी कही बात।
पूरण ज्ञान उद्योत बिन, हृदय भरम नहीं जात ॥ ८० ॥
प्रोक्य वार्ता प्रदीपस्य नश्यति किं निशातमः।
पूर्णज्ञानप्रकाशेन, विना नो याति सम्भ्रमः ॥ ८० ॥

यथालाभ सन्तोष कर चाहे न कछु हिय धीर।
या विधि सुख अति अनुभवे, क्यों न कैसे दुःख कीर ८१
यो यथालाभसन्तुष्टो वाञ्छां चित्ते न धत्त वै
दुःखपङ्के न मग्नो वा सोऽतिसौख्यं लभेद्ध्रुवम् ॥ ८१ ॥

मोह जनित दुःख विकल घन अथवा सुखको रूप।
गिने दुहूं सम धीर धर, तो न परे भवकूप ॥ ८२ ॥
मोहदुःखमथोत्कर्षं यद्वा तत्सुखं त्वपि।
मन्यते यः समं धीरो भवकूपे न मज्जति ॥ ८२ ॥

अपने अपने गुणनमें थिर हैं सब ही वस्तु।
तू पुनि थिर कर आपको तो सुख लहे समस्त ॥ ८३ ॥
सर्वाण्येव हि वस्तूनि स्थिराण्यात्मगुणेषु च।
स्थिरं कुर्वंस्त्वमात्मानं लभेथाः सर्वसौख्यकम् ॥ ८३ ॥

सुखदुःख दोनों फिरत हैं धूप छांह ज्यों मीत।
हर्ष शोक क्यों करहिं मन! धीरज धार नचीत ॥ ८४ ॥
छायाऽऽतपनिभे मित्र! भ्राम्यते सुखदुःखके।
तत्र ते कुरुषे किं त्वं हर्षशोकौ हृदि वद! ॥ ८४ ॥

अनहोनी होवे नहीं होनी नाहिं टरात।
पीछी परसी आगले ज्यों होनी आ जाय ॥ ८५ ॥
अभाव्यं नो भवेदत्र भाव्यं याति न कर्हिचित्।
भविष्यति तु भव्यार्थं दृश्यते या तथाप्यता ॥ ८५ ॥

चाह किए कछु ना मिले, करिके जहँ तहँ देख।
चाह छांडि धीरज धरहु, पद पद मिलत विशेष ॥ ८६ ॥

इच्छयाऽऽप्नोति नो किञ्चित्पश्य कृत्वा तु मानव।
विहायेच्छा कृते धैर्ये, विशेषाप्ति. पदे पदे ॥ ८६ ॥

सुनि उझले मति रे जिया! कर विचार चुप साध।
यही अमोलिक औषधि, मेटे भव दुःख व्याध ॥ ८७ ॥

श्रुत्वोत्पत मनो मा त्व, मौन धृत्वा विचारय।
अमूल्यमौषध ह्येतद्भवतापाऽऽमयाऽपहम् ॥ ८७ ॥

रे चेतन! संसार लखि, दृढ कर नेक विचार।
जैसी दे तैसी मिले, कूपकी गुंजार ॥ ८८ ॥

चेतन! वीक्ष्य ससारं, कुरु धृत्वा विचारणाम्।
लभ्यतेऽत्र यथादत्त, कूपप्रतिध्वनिर्यदा ॥ ८८ ॥

चञ्चलताकौं छांडीके, काट मोह गल फांश।
सम दम यम दृढता किये, निज गुण होय प्रकाश ॥८९॥

त्यक्त्वा चापल्यमाच्छिन्धि, गलपाश च मोहजम्।
शमे दमे यमे दार्ढ्ये, कृते स्वगुणभासनम् ॥ ८९ ॥

अभिलाषाकौं त्यागिके, मनकौं रख मजबूत।
तव कुछ सूझे अगमकी, यह सांची करतूत ॥ ९० ॥

अभिलाष परित्यज्य, मानस कुरु निश्चलम्।
तदायत्यासुकर्तव्य, द्रक्ष्यते च यथार्थत ॥ ९० ॥

वो तो ह्यां ही वस्तु है, जाकी तेरे चाय।
क्षण इक धीरज धारले, सहजे ही मिलजाय ॥ ९१ ॥

अभिलापोऽस्ति ते यस्य, तद्वस्त्वत्रैव विद्यते।
क्षण धैर्य्यं कुरु स्वान्ते, विनाऽऽयासेन लप्स्यते ॥ ९१ ॥

मतकर परगुणमें रमण, ज्यौं न लगे गल तोप।
निश्चल रह निज गुणनमें, आपही होगी मोक्ष ॥ ९२ ॥

रमस्वाऽन्यगुणे मा त्व, येन दोपो भवेन्नहि।
निश्चल स्वगुणे भूया, स्वतो निर्व्वाणमेष्यति ॥ ९२ ॥

निष्फलतासु होयगा, रे प्रिय ! मथन समान ।
दूध का ही घृत होत है, नाय करे पय पान ॥ ९३ ॥
स्थैर्येण मथितो धीर ! धर्मस्तु धर्मसंभवम् ।
सर्पिस्तेन दुग्धं स्यान्नापरादि जलेन च ॥ ९३ ॥
जो तू चाहे अमर पद, करि दृढता अवलम्ब ।
चाह न बाँका होयगा, जीवत ही मनमार ॥ ९४ ॥
पदममरणपेक्ष्य चेत् धैर्यमङ्गीकुरुष्व वै ।
यदि मनस्तु जीवात्र नैव केशस्य वक्रता ॥ ९४ ॥
धीरज गुण धारण किये सब ही दुःख कट जाय ।
जैसे ठंडे लोहसे, तत्ता लोह कटाय ॥ ९५ ॥
एतद्धैर्यगुणे सर्वं दुःखं नश्यति सत्वरम् ।
यथा शीतेन लोहेन तप्तायश्छिद्यते ध्रुवम् ॥ ९५ ॥
जल जिम निर्मल मधुर मृदु करत सबको मस्त ।
इम धीरज गुण धार कवि करो महण गुणवन्त ॥ ९६ ॥
निर्मलं मधुरं वारि मृदुलमाविनयवम् ।
एवं चतुर्गुणं धैर्यं धीरस्य सन्ति वै गुणाः ॥ ९६ ॥
फल मरत मत वरत है नहीं धारिमण्डक आग ।
जन्म मरण भवि देहकी, यों कवि धीरज आन ॥ ९७ ॥
धानिरवी पदामाव नहीन्दुमण्डलस्य च ।
देहस्यैव मति जन्म मानुं धीरस्य धर्म वर ॥ ९७ ॥
सुखदुःख दोनों एकसे हैं समयसमको फेर ।
एक हाथ हो भर्म ज्यों आया टकेकी सेर ॥ ९८ ॥
सुखदुःखे उभे वै तु योगमेकस्य मन्यते ।
लोके "भाजा टकाकी सेरेति" दृष्टान्तस्मरण ॥ ९८ ॥

* "भाजा टका की सेर" इदं वाक्यं लोके दृष्टान्तमस्ति तथ्या—एक दृष्टान्तेन भाषा प्रख्यमिता मिलतीति प्रथमोऽर्थः । समार्थसमानसमगुणौः मिलि-तसमस्तप्रभसहतीति मिलति इति च द्वितीयोऽर्थः ।

सुखदुःख दोऊ वेदे मति, वेदे तो सम भाव।
जैसे मकरी जालकौं, पूरै अरु खा जाय ॥ ९९ ॥
सुखदु खानुभूतिं मा, कुरु नो चेत्समानत ।
लूताजाल यथा पूर्णं, कुरुतेऽश्नाति तच्च वा ॥ ९९ ॥
समताको धारण किये, क्यों न डटे मन लहर।
भरणी सुण २ कर मिटे, स्यापां हंदा जहर ॥ १०० ॥
समताधारणे किं वा, मानसोर्मिर्न शाम्यति ।
पश्य सर्पविष श्रुत्वा, गारुडीं नश्यति ध्रुवम् ॥ १०० ॥

इति धैर्य्याङ्गम्

अथानुभवविचारज्ञानाङ्गम्

कूकस विषय विकार सम, मति भखि मूढ गवाॅर।
अनुभवरस तू चाखिले, गुरु मुख करि निर्धार ॥ १०१ ॥
मूढ! ग्रामीण! मा भुङ्क्ष्व, भोगान्कूर्चकसन्निभान्।
गुरोर्मुखात्तु सम्प्राप्य, ह्यनुभूतिरस पिब ॥ १०१ ॥
किये पाठ अनुभव विना, न मिटे भीतर पाप।
वाहर शीशी धोयके, करी चहै तू साफ ॥ १०२ ॥
अनुभूत्या विना पाठात्पाप नश्यति नान्तरम्।
काचकूपीं वहिर्धावाञ्भिर्मला कर्तुमिच्छसि ॥ १०२ ॥
अलपभार पाषाणको, जिमलागत जल माहिं।
तिमि अनुभव विच कर्मको, वहुवन्धन ह्वै नाहिं ॥१०३॥
अल्प एवाश्मनो भारो, यथा तोये प्रतीयते।
अनुभूत्या तथा कर्मवन्धो भूरिर्न जायते ॥ १०३ ॥
मन वच-तन थिरतैं भयो, जो सुख अनुभवमाहिं।
इन्द नरिन्द फनीन्दके, ता समान सुख नाहिं ॥ १०४ ॥
स्थैर्ये देहमनोवाचामनुभवे तु यत्सुखम्।
तादृक् सुखं न शक्रस्य, मानवेन्द्रफणीन्द्रयो ॥ १०४ ॥
अनुभवसौं प्रभु मिलतहै, अनुभव सुखको मूल।
अनुभव चिन्तामणि तजि, मति भटके कहुं भूल १०५

अनुभूत्या प्रभोः प्राप्तिः सैव मूलं सुनृतं च ।
अकृत्वा निम्नगामपि मूढाऽनुभूतिं क्वापि ना व्रज ॥ १ ५ ॥
अति अगाध संसार नद विषय नीर गम्भीर ।
अनुभव बिन पार न लहत कोटि करहु तदबीर ॥१०६॥
भवो नदोऽस्त्यगम्भीरोऽत्र विषया वा वारिवत् ।
क्षेमुपायेऽपि पारं नो यात्यनुभूतिमन्तरा ॥ १ ६ ॥
जिहिँ विचारतें पाप है मनकी थिर सुखठौर ।
ताकौं अनुभव जानिये अनुभव नहिं कुछ और ॥१०७॥
मनःस्थैर्ये सुखस्थानं येनाऽऽप्नोति विचारतः ।
तुष्यत्वनुभवं तं च परस्त्वनुभवो न हि ॥ १ ७ ॥
बिना विचारे ज्ञानके तू अङ्गुलको रोज ।
मिथ्या यों ही पचत है क्यों न करे अब खोज ॥ १०८ ॥
बिना ज्ञानविचारेण आयासकरो भव ।
व्यर्थं क्लेशमवाप्नोति कुरुषे किं न विचारणाम् ॥ १ ८ ॥
मन मतङ्ग वश करनकौं ज्ञानअंकुश चित धार ।
समाधानसे बांधकर, तृष्णा मूंदन द्वार ॥ १०९ ॥
मनो गजं वशं कर्तुं, चित्ते ज्ञानाङ्कुशं धर ।
तृष्णा समाधानेन बध्वा च क्षिप बन्धं द्रुतागमम् ॥ १ ९ ॥
भ्रमतो मन वश करिके, ज्ञान मुकुरके ध्यान ।
निज शुभ उपयोगसे कर्म तूलकी हान ॥ ११० ॥
भ्रमन्मनो वशी कृत्वा ज्ञानदर्पणके पश्ये ।
निजशुभ उपयोगेन कर्मतूलविनाशनम् ॥ ११ ॥
सीसा सम संसार है गुरु कृपा पारिस ।
ज्ञान भेष बिन किम बने आपनपो सुवरिस ॥ १११ ॥
संसारो दर्पणवत्, पारस्योऽस्मिन् गुरोः कृपा ।
विज्ञानरसायनोपस्तु, ज्ञानेन विना न हि ॥ १११ ॥
विषय-वासना करत जो भावै ज्ञान अगीध ।
मेघाच्छन्न जन समयमें जिनमें दोष छपीस ॥ ११२ ॥

भोगानां वासनाया चेज्ज्ञानमुद्द्योतते सखे !
षट्त्रिषष्टिसङ्ख्यायाः, षट्त्रिंशज्जायते ध्रुवम् ॥ ११२ ॥

जो तू चाहे ज्ञान सुख, तो विषियन मनफेर ।
और ठौर भटके मती, अपने ही में हेर ॥ ११३ ॥

व्यावर्तय मनो भोगाद्बोधसौख्यं यदीच्छसि ।
रे रे ! त्वं भ्राम्य माऽन्यत्र, तदाऽऽत्मनि च मार्गय ॥ ११३ ॥

ज्ञानरूप दीपक कने, न बचे कर्म पतङ्ग ।
जो रहे तो दोनोनमें, झूठो एक प्रसङ्ग ॥ ११४ ॥

अन्तिके ज्ञानदीपस्य, नो कर्म्मशलभ स्थिर ।
तिष्ठतो यदि तौ द्वौ वा, मृषैकस्तु प्रसङ्गक ॥ ११४ ॥

ज्ञान सञ्चरे जिहि समैं, न रहे कर्म समाज ।
और न पंछी उड सकै, जहां बसेरा बाज ॥ ११५ ॥

यदा सञ्चरति ज्ञान, कर्मजालं तु नो तदा ।
श्येनवासो भवेद्यत्र, तत्र तिष्ठन्ति नो खगा ॥ ११५ ॥

घर नहिं छूट्यो एकसौं, छूट्यो कर्म कुढंग ।
ज्ञान तणे सत्सङ्गथी, देखो ठाणायंग ॥ ११६ ॥

गृह त्यक्त न चैकेन, त्यक्त कर्म तु कुत्सितम् ।
सत्सङ्गोत्पन्नबोधेन, पश्य स्थानाङ्गसूत्रकम् ॥ ११६ ॥

क्षण इक ज्ञान विचारले, विषय दृष्टि कौं फेर ।
मेरी मेरी त्यागदे, यौं होवे सुखसेर ॥ ११७ ॥

भोगाद्दृष्टिं परावृत्य, क्षण चिन्तय बोधकम् ।
त्यज सद्यो ममत्व च, सर्वं सम्यग्भविष्यति ॥ ११७ ॥

आठ पहर ढिग राखले, ज्ञान सरूपी ढाल ।
मोह अरीके विषय शर, लगे न ताकी भाल ॥ ११८ ॥

संरक्षाष्टासु यामेषु ज्ञानरूप तु चर्म्मकम् ।
विषयेषुर्न-मोहारेर्मस्तके न लगिष्यति ॥ ११८ ॥

माया मोह निवारके, विषयनसौं मनखींच
जो सुख चाहे आपणा, तो रहो ज्ञानके बीच ॥ ११९ ॥

मामामोर्दे निवार्य्यैवं विषमेभ्यो मनो दृढ़ ।
वाञ्छसपरमपूर्व चेदि, ज्ञाने स्थिर मे सदा ॥ ११९ ॥

भेद ग्रहे बिन प्राणके, मल मूसे जिम साम ।
लोग गडरिया चाल तज आपमपो पहिचान ॥ १२० ॥
न कुरु मनर्थे त्वेव ज्ञानमेवाभिमन्यता ।
लोकमेषीमपि त्यक्त्वा आत्मानं परिशोधय ॥ १२० ॥

कामधेनु अरु कल्पतरु, इह भव सुख दातार ।
ज्ञानमय परमय पुरुषमें ज्ञान करत निस्तार ॥ १२१ ॥
कल्पद्रु कामधेनुश्च लोकेऽत्र सुखप्रदौ ।
निस्तारयति बोधस्तु जगत्स्तु परत्र च ॥ १२१ ॥

जगत् मोह फांसी प्रबल कटै न और उपाय ।
सत्सङ्गति कर ज्ञानकी, सहज मुक्ति हो जाय ॥ १२२ ॥
मोहपाशो दृढो लोके छिद्यते नान्ययत्नतः ।
कुरु बोधस्य सत्सङ्गं मुक्तिः स्यात्सहजेन हि ॥ १२२ ॥

जिम पारस अरु ज्ञानके, अन्तर जान महन्त ।
वह लोहा कञ्चन करत, यह गुरु देय अनन्त ॥ १२३ ॥
पारसस्यापि बोधे च जानीहि महदन्तरम् ।
लोहं स्वर्णं करोत्येष स त्वनन्तगुणप्रदः ॥ १२३ ॥

प्रथम ज्ञान पीछे दया यह जिनमतको सार ।
ज्ञान सहित किरिया करै, तब उतरै भव पार ॥ १२४ ॥
जैनसिद्धान्तसारोऽयं पूर्वं ज्ञानं ततो दया ।
सज्ञानां चेत्क्रियां कुर्यां तदा स्यां भवपारगः ॥ १२४ ॥

ग्रन्थोपसंहारः

अति आलस परमादियो मन्दबुद्धि मुझ नाम ।
ज्ञानोद्यम कछु ना बनै किम सुधरै मुझ काम ॥ १२५ ॥
अहं च मन्दबुद्धिश्च प्रमत्तश्च ह्यालसकः ।
ज्ञानोद्यमो न मे कश्चित्कार्यं नु सेत्स्यति ॥ १२५ ॥

दर्शन पुनि निश्चल नहीं, नहिं निश्चल चरित्र।
मन भ्रमतो निशिदिन रहे, नहिं ठहरे एकत्र ॥ १२६ ॥
सम्यक्त्व निश्चलं मे नो, चारित्रमपि नैव च ।
नित्य भ्राम्यति चित्त तु, तदेकत्र न तिष्ठति ॥ १२६ ॥

ऐसी करी विचारणा, रे जिय! अवतो चेत।
चार वरण गुरु 'रतनजी', ऐसो करि सङ्केत ॥ १२७ ॥
एव जाते विचारे तु, चेत जीव! किलाधुना ।
चतुर्वर्णगुरु 'रतनजी', सङ्केत कृतवानिमम् ॥ १२७ ॥

चार वर्ण गुरु 'रतनजी', तास भेद चौवीस।
तामें भेद जु तेरवें, करी ज्ञान बकसीस ॥ १२८ ॥
चातुर्वर्ण्यगुरू 'रतनजी', तद्भेदा युगविंशति· ।
त्रयोदशे तु भेदे च, ज्ञानदान व्यधादसौ ॥ १२८ ॥

ज्ञान पाय तुलसी मती, शुक्ला छठ मधुमास।
संवत् रस-अग्नि-अंक-भू, रच्यो शान्ति परकाश ॥ १२९ ॥
ज्ञानं प्राप्य मतिर्हृष्टा, रसाऽग्न्यङ्केन्दुरब्दके ।
सिते षष्ठ्या मधौ "शान्तिप्रकाशो" रचितो मया ॥ १२९ ॥

आशिर्वचनम्

अरिहंत-सिद्ध-गण-ईशजी, उपाध्याय सब साध।
पंच परमगुरु दीजिये, निर्म्मल ज्ञान समाध ॥ १३० ॥
अर्हन्सिद्धोऽथवाऽऽचार्य, उपाध्यायो मुनिस्तथा ।
पञ्चैते गुरवो दद्यु, शुद्धबोधसमाधिकौ ॥ १३० ॥

इति श्रीमज्जैनाचार्यमज्जुलालकृतशान्तिप्रकाश समाप्त· ॥

"सुसंस्कृतानुवादस्तु, कृतः पुष्पेन्दुभिक्षुणा
शान्ते वीररसं प्राप्य, मोक्षः सञ्जायते ध्रुवम्"

वीरस्तुति–परिशिष्ट नं० ६

वीरस्तु भगवान्स्वयम्

१

वैनेदं निखिलमप्रमादऽयुतपदं सर्वान्तरावापदं सर्वभावान्तरमी च योग-
परमं भावैकगम्यं परम् । येनारादवपेतस्य निखिलमध्यऽनन्तगमनं लभते,
न्यायेन घनसा विना च सततं वीतरागमार्गं जिनम् ॥ १ ॥ महावीरमहं समुत्पन्न,
साक्षात्सर्वाधिपतिं जिनम् । नियते तथ्यमपूर्तं भव्यार्च्यं हितमेतवै ॥ २ ॥
यथार्थबोधसारभवः श्रीवीरभगवान् प्रभुः । यस्येदं शासनं यस्य तत्तुल्याने मनोऽ-
र्पय ॥ २ ॥ अतएव तत्त्वबोधाने भगवन्तः स्वयंपादिना । सम्यग्ज्ञानविधि
निर्दोषबोधरूपाभासके मुदा ॥ ३ ॥ सम्यक् भावितबोधसमग्रमं सत्पदं यत्र ।
सम्यगेऽपि निरवधिकप्रभेदकेऽपि ॥ ४ ॥ समन्ततादुपचारस्य चाभिमुखा-
गमने । वीरमाभावरेतोत्र मनो मधुकरो च हि ॥ ५ ॥ मनःखेदमयं
चेदं, विज्ञानमय एव परम् । तत्त्वस्य प्रमाणेन दृष्टान्तसमावर्त ॥ ६ ॥
कुमारस्वार्थं चार्षीत मध्यस्तत्त्वनिर्णयः । नास्त्येतान्य चैतस्य कार्यं
किंचिदति हि ॥ ७ ॥ अतः विज्ञानमात्रेण प्रसन्ने मन्ये पुनः । शाश्वतं
न सम्यक्समविषयसरेऽपि नः ॥ ॥ शास्त्रबोधस्वभावप्रमाणसमर्थो निरविचार-
णः । मकरन्दः किमाभवति प्रोक्तावसरसमुद्भवे ॥ ॥ 'वीरस्तु भगवान्
स्व'मिति वाणी एवम हि । अभिव्यक्तो यदेतस्यावसरा पाठकस्य
॥ १ ॥ किंचित्वस्य वैर्य तु मतः सर्व प्रमाणतः । नियम्यमानस सम्यग्मे
कथयीत नियम्यया ॥ ११ ॥ प्रथमं प्रतिपादस्य विषयस्यैवमति हि ।
सिद्धिः प्रमाणतो ज्ञेया सिद्धान्तमेति सम्मतम् ॥ १२ ॥ यत्र सिद्धान्त-वाक्यस्य
मार्गमेवं प्रवर्तति । वैतण्डाद्य एवेद सुकृतेन सुनिश्चितम् ॥ १३ ॥
सम्यक्पूर्णं प्रमाणं च प्रत्यक्षेतरभेदत । द्विविधं प्रमाणो ज्ञेयं सुनिश्चयी
भवत । ॥ १४ ॥ अनभिमतपर्यायसाक्षिभिरेवमभावो । केवलं सर्वप्रत्यक्षं
परोक्षं मतिश्रुतेऽपि च ॥ १५ ॥ इति भीता सुनिश्चितं प्रमाणमनन्तम् ।
प्रत्यक्षं च परोक्षं वा कथ्यत्विति एवद् पुनः ॥ १६ ॥ एतद्यप्रमाणे वै
कालसंयोऽपक्षम हि । अतवैतद्यसीन विपर्ययेऽभिविषयोजनम् ॥ १७ ॥
हि वेदाभिव्यते च सर्वेषयोरन्तरं पुनः । मत्यतदात्मभावे, पर्वे हि
पदुमिव ॥ १८ ॥ सुपर्येपोपलभितम्या येन विषय पुनः । विषा-

रणीया यत्नेन, नात्र कार्या विचारणा ॥ १९ ॥ वार्ताऽन्याप्यस्ति चात्रैव, लेखवृद्धि प्रजायते । वास्तवज्ञानशून्यं स्यात्काठिन्य विदुषा भवेत् ॥ २० ॥ इति शका भिया नैव, प्रत्येकविषयस्य हि । प्रमाण स्पष्टरूपेण, न निर्दिष्टमिह स्फुटम् ॥ २१ ॥ जिज्ञासूना विजिज्ञासा, दृढाय ह्यनुरूपत । तदा वेषा विनिर्देशोऽवश्य स्यात्प्रकट पुन ॥ २२ ॥ हेतुस्तृतीयो ज्ञातव्यो, विवेचनमवाप्स्यति । प्रस्तुतविषयस्यापि, *सम्प्रदायानुसारत ॥ २३ ॥ लक्ष्ये विशेषं संस्थाप्य, सूक्ष्ममात्रैकदृष्टित । प्रत्येकस्यात्र लेखस्याऽनुभवाच्छास्त्रतस्तथा ॥ २४ ॥ सर्वसिद्धान्तत सार्वभौमस्य व्याप्तिरूपत । अस्ति सम्भावना चास्य, ज्ञानं सम्यक्त्वपूर्वकम् ॥ २५ ॥ कस्यचिद्धेतुतश्चित्ते, शङ्कोत्पत्तिर्भवेन्न हि । विचारानन्तरं तेषा, शङ्का स्यान्निर्मूलिका ॥ २६ ॥ सर्वत्र मेऽस्ति विश्वासो, नैवं शका कदापि हि । चतुर्थी च सुवार्तेय, कस्याऽपि विषयस्य च ॥ २७ ॥ प्रतिपादयितुं शश्वत्कयापि भाषया भवेत् । चतुर्विधत्व सामग्र्या, अपेक्षा जायते ध्रुवम् ॥ २८ ॥ विज्ञेया सा च सामग्री, निम्नलेखक्रमेण च । निर्णयस्तत्वसधाना, प्रथमानुयोगरूपत ॥ २९ ॥ विचारार्थं च वस्तूना, साक्षाद्विषयवर्णनम् । कथनोपकथनाचेति, नान्यो हेतुर्मनागपि ॥ ३० ॥ शास्त्रे पूर्वानुयोग च, धर्मकथानुयोगकम् । कथ्यतेऽत्र विचारेण, तत्वज्ञानार्थिभिर्मुदा ॥ ३१ ॥ "धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम् । पूर्ववृत्तकथोपेतमितिहास प्रचक्षते" ॥ ३२ ॥ दृष्ट्यैतयेतिहासोऽपि, चेतसा कथ्यतेऽधुना । स्थानाङ्गेऽपि कथा सेय, चतुर्धाऽभिनिगद्यते ॥ ३३ ॥ मुख्य फल कथायाश्च, तत्वनिर्णयमेव हि । य शब्दो यत्परश्चास्ते, तदर्थोऽपि स एव हि ॥ ३४ ॥ लक्ष्ये धृत्वा पदार्थं य, शब्दस्य कस्य चैव हि । प्रयोग यदि कुर्वीत, स शब्दश्चार्थवान् भवेत् ॥ ३५ ॥ सर्वेषा सम्मत चेद, सिद्धान्तं सस्फुट सदा । तदा सम्पद्यते भाव , सर्वत्रैव विचारय ॥ ३६ ॥ वक्ता बोधयितु य हि, वाञ्छयोच्चार्यतेऽसकृत् । श्रोत्राऽपि शब्द स एव, ज्ञायतेऽर्थसमन्वित ॥ ३७ ॥ ततोऽन्यार्थप्रतीतेश्च, श्रोतुर्भवति विभ्रम- । भोजनावसरे यद्वत्सैन्धवेति पदात्तत ॥ ३८ ॥ जन्यते लवणाऽऽबोधो न चान्योऽर्थोऽप्रतीयते । अस्थाने हयबोधश्च, तद्वल्लक्ष्ममधारय ॥ ३९ ॥ श्रोत्रैव सुविचार्य्यार्थो, नान्योऽर्थ प्रतिपद्यते । अबोधार्थज्ञापकत्वे, सति शास्त्रप्रमाणकम् ॥ ४० ॥ प्रमाण तु तदैतत्स्यात्प्रमाण-

* गुरुप्रदत्तज्ञानानुभवानुसारत इत्याशय ॥

विषयस्य च । शान्तिमिदं च *सत्यं च येन सार्धं प्रजायते । आत्मा-
धर्मे परं योऽयं रमतेऽहर्निशं पुमान् । तत्पदाम्भोजयुग्मेऽस्तु निश्चलं मम
चञ्चला ॥ ४१ ॥ असांसारिकविषयस्य सर्वसद्वस्तूत्तमम् । सुखं निश्चये
नित्यं निजमानन्दपूरितम् ॥ ४२ ॥ आत्मन्यपेक्षया नित्यं नित्यमित्येवमस्त्यपि
च । यस्तो हि जगदर्थो नित्यमयं मतोऽस्ति च ॥ ४३ ॥ एकैकमनो नित्य
स्वात्मस्थानन्दमय एव हि । अस्याऽऽनन्दाभिषेकोऽयमतश्च प्रतिपादिता ॥ ४४ ॥
अधिगन्तुं तमानन्दं निजधर्मो हि साधनम् । तत् धर्मेण प्राणिनो नैवाप
न्नावैकोऽप्यपीपवत् ॥ ४५ ॥ आत्मन्यपेक्षया सन्ति प्राणिनः सदृशाः समे ।
व्यक्तिव्यपेक्षया किन्तु भवत्यत्र समानता ॥ ४६ ॥ आत्मन्यस्मिन्निमित्ते
मानवा सुममोदराम् । आत्मर्वकाशुपत्वाभावेऽनेकत्र विरमन्ति ते ॥ ४७ ॥
आत्मानन्दस्य प्राप्त्युपायेषु, मनुष्यत्वविवेषु च । सर्वोत्तम उपायस्तु, धर्म एवाति
चेतनम् ॥ ४८ ॥ आनन्दस्य कारणं हि, सुखं प्राणिनामिनाम् । सामर्थ्य-
मात्मनस्तुल्यमस्ति प्रत्येकदेहिनाम् ॥ ४९ ॥ सुखं शान्तिमिदं स्वस्मादेव प्रत्येकदे-
हिनम् । सर्वेषां साधनधर्मस्य सर्वेषां तुल्यतोचिता । तथात्मनैव तत्पूर्णमस्ते-
तदनुसारत ॥ ५ ॥ मनुष्यस्यास्य प्राणी प्रतीयतमोऽस्ति यत् ।
आत्मानन्दाभिवृद्धिं स कर्तुं शक्नोति निश्चितम् ॥ ५१ ॥ एतावदेव न परमन्य-
प्रभुत्व सज्जनाः । अनन्तानुभवं प्राप्ता आत्मानन्दस्य ये नराः । ते सप-
यातूनिष्यन्दा भवन्ति कृते सदा । प्रत्यक्षमसाधनाधर्मं स्वकीयं सम्यक् विश्वं
नराः ॥ ५२ ॥ तेन धर्मस्यैव साधनेनैव नराः । आत्मनो लौकिकमानन्द-
मथातुं शक्नुवन्ति च ॥ ५३ ॥ लोकेऽस्मिन्नामितभास प्रत्यक्षमतः सदा ।
अलौकिकप्रमाणुवैशेषिकानन्दानुभवाः ॥ ५४ ॥ परस्मिन् मनुष्याणां सर्वेषु
धर्म नित्य । नित्यानन्दमया भूत्वा सर्वज्ञानन्दसम्पदा ॥ समस्तमिथ्याभिमानाऽऽ-
नन्दानन्दाभिवर्धनम् । तथापि सुखं च निर्वाणं प्रापयन्ति च ॥ ५५ ॥
यो धर्मोऽस्ति सुखी लौकिकानन्दसम्पदा । अभिव्यक्तिसर्वसमोऽस्तीति
विभाज्यताम ॥ ५६ ॥ इयं स्तुतिरुपसंहारतत्त्वाभिलाषी । अनन्तकाल-
स्थेषु यथार्थप्रवर्तते ॥ ५७ ॥ आत्मीयानन्दतत्त्वेषु, सा सर्वसुखसम्पदा ।
अलौकिकस्यास्य आनन्दस्वरूपतः । अनन्तकालपर्यन्तं समवायवस्यात ।

---

* अत एतस्य धर्मम्–

अलौकिकानन्दरूपे, नित्याऽवस्थाऽस्य ते स्थिरा ॥ ५८ ॥ विचित्ररूपेयं सृष्टिरस्त्यलौकिकवस्तु च । स्थिरा नित्या च साऽस्तीति, सृष्टिर्नामागका जगुः ॥ ५८ ॥ अस्त्यालौकिकसामर्थ्यमृतालकरणेषु च । सर्गस्य धर्म एवैक, सर्वोत्कृष्ट विभूषणम् ॥ ६० ॥ धर्ममीमासका लोकेऽनेके समभवन्निह । ते लौकिकपरिष्काररूपेण हितकाक्षिण ॥ नैजधर्मविचारात्मकप्रसादेन मञ्जुना । एतन्महीतल चाल, चक्रिरेऽल कृपालव ॥ ६१ ॥ इदानीं समये चैषामलौकिकप्रसादिनाम् । निम्ननिर्दिष्टनामानो, भवन्तीक्षणगोचरा ॥ ६२ ॥ वेदान्त साख्ययोगौ च मीमासा द्वितयी पुन । न्यायो वैशेषिको शैवो, वैष्णवस्त्वात्रिकास्तथा ॥ स्वामीनारायणो जैनो, बौद्धो मोहम्मद पुन । ईशायी पारसीयश्च, यहूदीयादय परे ॥ ६३ ॥ एषा तदितरेषाञ्च, भिन्नभिन्नमताश्रिताम् । धर्मालङ्कारभूतानामुद्देश्य त्वन्ति केवलम् । आत्मानन्दाधिगमनमित्थ तत्वविदो विदु ॥ ६४ ॥ उद्देश्ये सर्वधर्माणामेकीभावमुपागते । तत्साधनानि सर्व्वाणि, भजन्तीहैकरूपताम् ॥ ६५ ॥ पृथक् पृथक् देशकालावाधारीकृत्य ते ननु । अन्योऽन्यभिन्नरूपैश्च, सम्प्रवृत्ता भवन्ति च ॥ ६६ ॥ तत्रार्हताना तूद्देश्य, ज्ञानं केवलमात्मन । किं च तस्य हि कैवल्यप्रापण केवलोदयात् ॥ ६७ ॥ एतदेवाभिमन्यन्ते, योग-वेदान्ति-वैष्णवा । स्वामिनारायणश्चापि, जैनेनेत्थमिहोच्यते ॥ ६८ ॥ "जे एग जाणइ से सव्व जाणइ" एकं जानाति यो नाम, सर्व्वान् जानाति स ध्रुवम् ॥ ६९ ॥ वेदान्तीया भगवती, श्रुतिरप्याह तद्यथा । "आत्मनि विज्ञाते सर्वमिद विज्ञात भवति" ज्ञाते सत्यात्मन ज्ञात, भवतीदमशेषत ॥ ७० ॥ "अप्पा सो परमप्पे"ति, जैना अभिदधत्यथ । वेदान्तकान्तसिद्धान्तभारतीत्थमुदीर्य्यते ॥ "अह ब्रह्मास्मि" "तत्वमसि" "प्रज्ञान ब्रह्म" "अयमात्मा ब्रह्म" ॥ ७१ ॥ अह ब्रह्माऽस्म्यसि त्व तत्, प्रज्ञान ब्रह्म कीर्त्यते । अयमात्माऽपि तद्ब्रह्म, सच्चिदानन्दरूपि यत् ॥ ७२ ॥ सन्ति वेदस्य चत्वारो, भागास्तेषु चतुर्षु च । अस्त्येकैक महावाक्यं, दर्श्यते तद्यथाक्रमम् ॥ ७३ ॥ "अह ब्रह्मास्मि" 'यजुष' साम्नस्तत्वमसीति च । "प्रज्ञान ब्रह्म", ऋग्वेद' "स्यायमात्मेत्यथर्णव" ॥ ७४ ॥ चतुर्ष्वेतेषु वाक्येषु, वाक्य तत्वमसीति ह । उपयोगितर शश्वन्मननीय च विद्यते ॥ ७५ ॥ जैनानेकान्तसिद्धान्तनियमश्चायमस्ति च । "नाणे पुण नियमा आया" ज्ञानेतु नियमेनात्मा, वर्वर्तीति विदेदिमम् ॥ "प्रज्ञान ब्रह्म" इत्येतद्वेदान्तेनाभिधीयते

विषयस्य च । बालभिर्वं च *सुखं च पेयं सुखं प्रमन्यते । बाल्या-
स्मृते परं योऽरं रमतेऽहर्निशं पुमान् । तस्य तास्मोक्षसुखेऽस्तु विचार्य मत
न्दता ॥ ४१ ॥ असारमौलिकविषय सर्वथा दूरमभुक्तमम् । सुखं निरावृतं
नित्यं विषमाणमपूरितम् ॥ ४२ ॥ आनन्दापेक्षया नित्ये निर्मलोऽवश्यस्ति
च । यस्मो हि यत्स्वरूपं निषमित्र मतोऽस्ति च ॥ ४३ ॥ एवेक्ष्यपी निश-
माऽसमानन्दमय एव हि । अस्मानन्तःप्रियसेवामत्वानपेक्षया ॥ ४४ ॥
अपिपरतु समानन्दं निषमा हि मापनम् । तान् धर्मेव प्रमिनो वैश्वा-
स्मामैवोदपीपदन् ॥ ४५ ॥ आनन्दापेक्षया सन्ति प्राणिनः सदृशाः यथे ।
न्यविद्यापेक्षया किन्तु, मता पञ्चप्राणिनः ॥ ४६ ॥ आनन्दस्याभिव्यक्तं
मायया सुमनोहरान् । आत्मचतुष्पार्श्वमात्मेऽपान् निरवयन्ति ते ॥ ४७ ॥
आत्मानन्दस्वरूपाणेषु, मनुष्यादिषु च । सर्वोत्कृष्ट सपावस्तु, मर्म एकलिङ्ग
केवलम् ॥ ४८ ॥ आनन्दस्य स्वरूपं हि, सुखं प्रत्येकप्राणिनाम् । सामर्थ्य-
मात्मनस्तुल्यमस्ति प्रत्येकदेहिनाम् ॥ ४९ ॥ सुखं बालमिदं समस्ति प्रत्येकदे-
हिनाम् । मनोऽत्रापलपनेऽस्य सर्वेषां तुल्यतोचिता । समानमेव सम्पूर्णमस्ते-
तदनुसारत ॥ ५ ॥ मनुष्यात्तस्य प्राणी प्रवीणतरोऽस्ति यत् ।
आत्मानन्दाभिव्यक्तिं स कर्तुं शक्नोति निश्चितम् ॥ ५१ ॥ एतावतैव च परस्पर-
मनुष्यत्व सत्यता । अनन्तसुखमर्थं प्राप्ता आत्मानन्दस्य ये नराः । ते च
आत्मनिष्पन्ना नरत्वे दृष्टे च । प्रसम्पसद्भावनानामं स्वर्ग समस्य नि
गताः ॥ ५२ ॥ तेन धर्मीस्वरूपेण तादात्म्येन नराः । आत्मनो लौकिकमर्य
मवाप्तं प्राप्नुवन्ति च ॥ ५३ ॥ लोकेऽन्यप्राणिवर्गस्य प्रमाणमतः वस्तु ।
अलौकिकभ्रमपूर्णैर्मेलनाभस्तु शिक्षा ॥ ५४ ॥ परस्मिन् मनुष्यात्मप्रेरितस्य
सर्व किल । निजानन्दमयाः भूत्वा तथानन्दसम्पदः ॥ समचिभिरप्रतिमाऽऽ-
नन्दानन्दाभिवर्धनम् । रूपाद्यं सुरम्यं च निर्मलं धारयन्ति च ॥ ५५ ॥
यो धर्मोऽस्ति भूयो दैवलौकिकानन्दसम्पदा । अमितलौकिकसर्वस्वरूपोऽसावीति
निश्चयताम् ॥ ५६ ॥ इदं सदैवनालमनन्ततत्त्वानुगामी । अनन्ततत्त्व-
रूपेषु यथावत्संप्रवर्तते ॥ ५७ ॥ आत्मीयानन्दतत्त्वेषु, स परिपूर्णस्वरूपता ।
अलौकिकस्वरूपे आनन्दतत्त्वस्वरूपता । अनन्तशक्तिपर्यन्त समतापरस्वता ।

---

* अत्र सप्तम्यर्थम्–

अलौकिकानन्दरूपे, नित्याऽवस्थाऽस्य ते स्थिरा ॥ ५८ ॥ विचित्ररूपेय सृष्टिरस्त्यलौकिकवस्तु च । स्थिरा नित्या च साऽस्तीति, सृष्टिमीमांसका जगुः ॥ ५८ ॥ अस्त्यालौकिकसामर्थ्यमृतालंकरणेषु च । सर्गस्य धर्म एवैक, सर्वोत्कृष्टं विभूषणम् ॥ ६० ॥ धर्ममीमांसका लोकेऽनेके समभवन्निह । ते लौकिकपरिष्काररूपेण हितकांक्षिण ॥ नैजधर्मविचारात्मकप्रसादेन मञ्जुना । एतन्महीतलं चाल, चक्रिरेऽल कृपालव ॥ ६१ ॥ इदानीं समये चैषामलौकिकप्रसादिनाम् । निम्ननिर्दिष्टनामानो, भवन्तीक्षणगोचरा ॥ ६२ ॥ वेदान्त सांख्ययोगौ च मीमांसा द्वितयी पुन । न्यायो वैशेषिको शैवो, वैष्णवस्तात्रिकास्तथा ॥ स्वामीनारायणो जैनो, बौद्धो मोहम्मद पुन । ईशायी पारसीयश्च, यहूदीयादय परे ॥ ६३ ॥ एषा तदितरेषाञ्च, भिन्नभिन्नमताश्रिताम् । धर्मालङ्कारभूतानामुद्देश्यं त्वस्ति केवलम् । आत्मानन्दाधिगमनमित्थ तत्वविदो विदु' ॥ ६४ ॥ उद्देश्ये सर्व्वधर्माणामेकीभावमुपागते । तत्साधनानि सर्व्वाणि, भजन्तीहैकरूपताम् ॥ ६५ ॥ पृथक् पृथक् देशकालावाधारीकृत्य ते ननु । अन्योऽन्यभिन्नरूपैश्च, सम्प्रवृत्ता भवन्ति च ॥ ६६ ॥ तत्राऽर्हताना तूद्देश्य, ज्ञानं केवलमात्मन । किं च तस्य हि कैवल्यप्रापण केवलोदयात् ॥ ६७ ॥ एतदेवाभिमन्यन्ते, योग-वेदान्ति-वैष्णवा । स्वामिनारायणश्चापि, जैनेनेत्थमिहोच्यते ॥ ६८ ॥ "जे एग जाणइ से सव्व जाणइ" एकं जानाति यो नाम, सर्व्वान् जानाति स ध्रुवम् ॥ ६९ ॥ वेदान्तीया भगवती, श्रुतिरप्याह तद्यथा । "आत्मनि विज्ञाते सर्वमिद विज्ञात भवति" ज्ञाते सत्यात्मन ज्ञात, भवतीदमशेषत ॥ ७० ॥ "अप्पा सो परमप्पे"ति, जैना अभिदधत्यथ । वेदान्तकान्तसिद्धान्तभारतीत्थमुदीर्य्यते ॥ "अह ब्रह्मास्मि" "तत्वमसि" "प्रज्ञान ब्रह्म" "अयमात्मा ब्रह्म" ॥ ७१ ॥ अहं ब्रह्माऽस्म्यसि त्व तत्, प्रज्ञान ब्रह्म कीर्त्यते । अयमात्माऽपि तद्ब्रह्म, सच्चिदानन्दरूपि यत् ॥ ७२ ॥ सन्ति वेदस्य चत्वारो, भागास्तेषु चतुर्षु च । अस्त्येकैक महावाक्यं, दर्श्यते तद्यथाक्रमम् ॥ ७३ ॥ "अह ब्रह्मास्मि" 'यजुष' साम्नस्तत्वमसीति च । "प्रज्ञान ब्रह्म", ऋग्वेद' "स्वायमात्मेत्यथर्णव" ॥ ७४ ॥ चतुर्ष्वेतेषु वाक्येषु, वाक्य तत्वमसीति ह । उपयोगितर शश्वन्मननीय च विद्यते ॥ ७५ ॥ जैनानेकान्तसिद्धान्तनियमश्चायमस्ति च । "नाणे पुण नियमा आया" ज्ञानेतु नियमेनात्मा, वर्वर्तीति विदेदिमम् ॥ "प्रज्ञान ब्रह्म" इत्येतद्वेदान्तेनाभिधीयते

॥ ७६ ॥ कार्यैरिष्यते जन्ममृत्युभ्यां तु संसृतिः । कर्मैतत्तु प्रभवति तच्च कर्म चरं स्मृतम् ॥ ७७ ॥ कर्मणोऽस्य निवृत्त्यर्थमाश्रयीसेव सर्वसम्मतम् । अविघ्नेन कर्मजन्म संसारसारोऽमरित च ॥ ७८ ॥ वेदान्तेष्वोच्यते व्यापारो जन्मादिसम्भवम् । आत्मस्वरूपबोधस्यनिवृत्तिमनुपेक्ष्यते ॥ ७९ ॥ व्यापारिणो वरस्यैवं कर्मोपायो वर्ग मते । आत्माऽयं जन्ममरणबन्धनान्मुच्यते ततः ॥ ८० ॥ वेदान्तवस्तुविद्यान्यायाभेत्यं प्रवर्तते । मायोपायो कर्म मार्गे महात्मा विमुच्यते ॥ ८१ ॥ वैनेयाऽपुनरावीती पुरुषमविचीनवे । मनसपुनरावृत्तिर्मयि मुक्तस्य चासनः ॥ वेदान्तोऽभिधानस्य पुनरावर्तते न हि । गीतायां कृष्णवचनमेव प्रोक्तमित्यं महात्मना ॥ "यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम" ॥ ८२ ॥ "एगे आये" इति वाक्येन जैनसिद्धान्ते प्रमाणते । 'एकोऽस्मात्मा'-गुण-द्रव्य-पर्यायापेक्षया च ॥ "एकोऽहमिति" वेदान्तोऽप्यार्थे कृतसम्मतिः ॥ ८३ ॥ जैनानां च मते "तमेव नात्मानं वेत्ति" तत्त्वतः । तथा वीतरागस्सर्वं हि, नातु प्राप्नोति वाक्यम् ॥ ८४ ॥ †यतो निवर्तते वाणी सहैव मनसा ध्रुवं । जैना वदन्ति चात्मानं परिपूर्णतमं परम् ॥ ८५ ॥ वायन्ति वै च ‡तादृत्यैकमं प्रमुच्यन्ति ते । वेदान्तिनोऽप्यविकं चासिम्नमै ब्रह्म सनातनम् ॥ ८६ ॥ व्यापकं सच्चिदानन्दस्वरूपं वर्णयन्ति च । ध्यातोऽन्ते चैवमसेवं च तथाऽऽत्मानमनोपमम् ॥ ८७ ॥ ज्ञानस्य सचितपदि, चात्मा नैव प्रमाणते । कस्यापिकर्मणश्चान्ये प्रभुत्वस्य निवर्तिता ॥ ८८ ॥ सच्चिदानन्दरूपस्य जीवात्मा हि समानतः । निजकायप्रमूलेषु महत्त्वेऽपि सर्वत ॥ ८९ ॥ परिपूर्णतमयात्मनैकव्यगुणसंयुतः । जीवात्मा चैतन्यसत्सच्चिदानन्दविभुः ॥ ९० ॥ न तदिदं किंचिदपि स्वार्थं चास्ति मचेतनमित् । नैवनाथमजीवस्य तत्त्व सर्वं निरात्मकम् ॥ ९१ ॥ जनमात्मा च । धर्मीन इति वेदान्तिनोऽब्रुवन् । तथा जैना वदन्तीत्यमात्माऽनन्तव ध्रुवम् ॥ ९२ ॥ सम्पदं व्यापकं च मतवेदान्तिनो विदुः । तत्रं प्रमो निजस्य निजात्मा-सम्पदस्वभावात् ॥ ९३ ॥ धर्मेणा सर्वदर्शिके जैनाचार्या वदन्ति हि । §आत्मा-

* "तत्र जल न विज्ज, मइ तत्थ न गाहिया ।" † "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" । ‡ "केवलपरमब्रह्म वै" । § "निर्दोषपूर्णगुणविग्रह आत्मतत्त्वो निश्चेतनात्मकशरीरगुणैश्च हीन । आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि सर्वत्र च स्वगतभेदविवर्जितात्मा ॥ १ ॥

चार्यसिद्धान्ते, स्थितिरेषा सनातनी ॥ ९४ ॥ निर्दोषः पूर्णगुणवानात्मानन्दगुणाश्रितः । स्वतन्त्रः सर्ववित्साक्षी, शरीरगुणवर्जितः ॥ ९५ ॥ तथात्मा करपादादिमुखादीन्द्रियवर्जितः । स चावयवादिभेदेन, कल्पनाकरणेऽपि च ॥ ९६ ॥ सदानन्दमयो नित्यो, वासनारहितो विभुः । श्लोकोक्तात्मतत्वस्य, कल्पनावयवस्य च ॥ ९७ ॥ केवलानन्दरूपश्च, नास्त्यत्र च विकल्पनम् । जन्ममृत्युजरादिभ्यो, व्यतिरिक्तश्च सर्वदा ॥ ९८ ॥ जन्मोत्पत्तिप्रभङ्गादिभेदशून्योऽस्ति निर्मलः । जन्मादित्रिविधो भेदस्तद्भिन्नं चात्मरूपकम् ॥ ९९ ॥ वल्लभाचार्यस्य मते, ज्ञेयं तत्तत्वदर्शिभिः । सज्जैनमतसिद्धान्ते, नात्मा कर्तेति निश्चयः (निश्चयनयेनेत्याशयः) ॥ १०० ॥ साङ्ख्यशास्त्रविदश्चाह, *कर्ताऽहङ्कार एव च । न कर्तृत्वं चात्मनश्च, निर्लेपत्वादविक्रियात् ॥ १०१ ॥ किन्तु पुरुषोऽकर्तैव, प्रवदन्ति मनीषिणः । ईश्वरः सर्वविन्नित्यो, रागद्वेषादिवर्जितः ॥ १०२ ॥ ज्ञानविज्ञानसम्पन्न, इत्येवं वर्णयन्ति च । जैनाश्चेत्थं योगशास्त्रं, †क्लेशकर्मविपाकतः ॥ १०३ ॥ आशयेनापरामृष्टश्चेश्वरः पुरुषोत्तमः । रागद्वेषादयो भावा, न स्पृशन्ति सदीश्वरम् ॥ १०४ ॥ ‡सर्वज्ञत्वमीश्वरे चास्ति, आत्मा चैतन्यरूपवान् । एवं निगद्यते शास्त्रे, चानन्तो निष्कलोऽव्ययः ॥ १०५ ॥ निर्विवादं सदात्मास्ति, चैतन्यगुणसंयुतः । निष्क्रियो निष्कलस्तद्वद्व्यापको गुणतः पृथक् ॥ १०६ ॥ तन्माया जगतां कर्त्री, चिच्छक्तिर्गुणविग्रहा । §सत्यज्ञानमनन्तश्च, ब्रह्मेति श्रुतिसम्मतम् ॥ १०७ ॥ ब्रह्मस्वरूपे पापपुण्ये, न स्तो दुःखसुखे तथा । नास्ति किञ्चिज्जगत्यस्मिन्व्यापकत्वं विना स्थितम् ॥ १०८ ॥ सच्चिदानन्दरूपेण, §शिवोऽहं नेतरः क्वचित् । केवलज्ञानसम्पन्नोऽत्रैव मोक्षानुभावकः ॥ १०९ ॥ इति जैनमतं शश्वज्जागर्ति प्रभुरीश्वरः । इदमेव मतं ज्ञेयं, **सहजानन्दस्वामिनः** ॥ ११० ॥ अक्षरस्थानमात्मैव, स्वयं चाक्षयरूपवान् । **आत्मानं च विजानीयादक्षरं परमं परम् ॥ १११ ॥ तज्ज्ञानं सत्यमित्युक्तं, तदन्यत्सकलं मुधा ।**

---

* "अहङ्कारः कर्ता न पुरुषः इति साङ्ख्यः" । † "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।" ‡ "तत्र सर्वज्ञबीजम् ।" § सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । § न पापं न पुण्यं न दुःखं सुखं न, चिदानन्दरूपं शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥

मामयामितसके यत्र ज्ञानं मिथ्यामतं च तत् ॥ ११२ ॥ प्रथममित्र्यपक्ष-
मित्रो देवकन्धरसो मुहुः । सत्सम्प्रदायके मित्रं निश्चयमसत्त्वं चतुः
॥ ११३ ॥ तस्मात्मना दर्शनेन भारतेऽत्र प्रवर्तिनाम् । वनानामारम्भकस्य
सिद्धान्तप्रासये मुदा ॥ ११४ ॥ माहात्म्यद्रोऽपि वदति मयैऽस्मिन्सरप्रतीयते ।
मैत्र्यमेव तत्सर्वं चान्यस्विकीर्तिभोग्यते ॥ ११५ ॥ सदा निरञ्जनः साक्षी
निराकारोऽप्रतिपालमान् । तेजोमयो ध्यानस्तत्र सर्वत्र इति निश्चयः ॥ ११६ ॥
मोममिमात्मयम सकलं ज्ञानं वासमीपगम् । परमसेवं प्रदाऽयं च चतु-
र्दशी निवासम ॥ ११७ ॥ जिनिसाधनात्मदमतं तात्पर्योमसमपरि ।
मिमुनिरावते स हि, भक्तस्य परिकीर्तितः ॥ ११८ ॥ मत्वाय तं प्रपद्यन्ति)
तथा भूमण्डलेऽखिले । निरालम्बिर्निर्मुक्तोऽपि सर्वं समुन्नामिति ॥ ११९ ॥
“मेमेयारमा” नमनस्मिन्, प्रत्येकं प्राणिनो मुदे । स्वापमीयं च प्रेमेयामेव्यमान-
समावधैः ॥ १२ ॥ तत्रप्रापस्य तथा तु, तत्त्वेन प्रतीयते । वैनो वेदान्त-
योगी च संस्कृतपीको तथा पुनः ॥ १२१ ॥ मनुमय वैकल्पताया कुर्वन्
त्यीति विभावय । मेर्तुं वै वेलव्यामास्तु, तत्सम्बन्धिनिरवे ॥ १२२ ॥
मित्रं च साधयं सर्वं, मित्रत्वमेवता पुनः । मित्रो देवकथा चाक्षे मिमिता
पतति पुनः ॥ १२३ ॥ मीमांसवैमिमिर्विना मिमिर्तं सर्वागमम् । अत
एव चाहितैना ज्ञायते मतकर्मणाम् ॥ १२४ ॥ मेवामेवमिना सर्वो तथापि
तत्त्विन्यान्वयम् । कुर्वात्त्वमेदभावं च मन्यते प्रेमभावतः ॥ १२५ ॥ वैवाचा-
मुमेयमतं वीतात्मस्वरूपवीक्षणम् । *योगे चतस्रकं प्राह धर्मं समरसादिकम्
॥ १२६ ॥ वेदान्ते प्रवर्तनीयो नियमाऽपि महारसमिः । प्रत्येकं धर्मनीतिरिति,
ययापरोपकारिता ॥ १२७ ॥ प्रेमादिसामान्यमिति सर्वसामान्यमिणोदे ।
नियमोऽपि यत्स्वानां तथा धर्मे समानता ॥ १२८ ॥ तपोमिशोपमोक्ष
कुर्वन्तीति विशाम्यताम् । मैत्र्यमनसर्वं तत्तत्समत्व मुख्यमेव च
॥ १२९ ॥ सर्वत्र ज्ञाप्य वैकमेवमिति सम्पार्थतां मुहुः । ज्ञानिनां सर्वेषां
तत्र वैभवानां दर्शनं तथा ॥ १३ ॥ †सर्वप्रमितिमिरिमेन सर्वं माव
समाश्रया । स्वापनीयं च न्यूनाधिकमितया मित्रयत्नया ॥ १३१ ॥ ‡मयीति

---

* “समरसोपरतिसिविधामवरारूपा समयावाताः । † “मितिमे सम्व मपश्च” ‡ “आत्मवत्सर्वभूतेषु” मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ॥ यजुर्वेद १८-२ ॥

नियम चैव, ज्ञायतामित्यत पुन । **सर्वं मित्रवदापश्येदात्मवत्सर्वप्राणिषु** ॥ १३२ ॥ ज्ञानी जनो निजात्मान, जीवात्मान तथैव च । एकीभावेन सम्पश्येदिति प्राह श्रुतिर्मुहु ॥ १३३ ॥ देहमीमांसकाना च, अनेकान्तिकदृष्टित । औदारिक तेजस च, कार्मण यच्च कथ्यते ॥ १३४ ॥ शरीरं चैव वेदान्तमतालम्बनतत्परा । स्थूल सूक्ष्म कारण च, त्रिविध वर्णयन्ति च ॥ १३५ ॥ ज्ञानविज्ञानयोर्यच्च, कारण प्रोच्यते बुधै । **जैना** यज्जाग्रत स्वप्नं, तुरीय प्रवदन्ति च ॥ १३६ ॥ **वेदान्ते**ऽपि तथैवास्ति, त्रिधाऽवस्था स्वरूपत । तथा **संसृतिमीमांसाज्ञानज्ञाः** प्रवदन्ति च ॥ १३७ ॥ मनसः परिणामेन, वन्धो मोक्षो हि जायते । **सृष्टिः सङ्कल्पतो ज्ञेया,** वेदान्तमतशालिन ॥ १३८ ॥ मानसिक तु **जैनानां,** *परिणाममथाऽपि वा । अध्यवसाय च वेदान्ते, सकल्प चैकमेव हि ॥ १३९ ॥ प्रत्यक्ष दृश्यते चैक, साधनाभेदभावत । साध्यश्चात्मा हि प्रत्यक्ष, ज्ञायतेऽभेद एव हि ॥ १४० ॥ अनुभवेऽप्येवमेव, प्रत्येक च मुमुक्षुभि । **जीवात्मनि प्रेमभाव, स्थापनीयं** सदैव हि ॥ १४१ ॥ सर्वावस्थासु सर्वत्र, ममैवास्ति स्वरूपकम् । पठित्वेदमभेदेन, प्रेमैव स्थाप्यता सदा ॥ १४२ ॥ एतत्प्रमाणतश्चात्मानन्दाप्ति साधनानि च । कुर्वन्समन्वय सर्वाभेदभावेन सर्वदा ॥ १४३ ॥ चलँस्तिष्ठन्नुपविशन्पिवन्खादन्स्वसन्स्वपन् । सर्वक्रियासु सर्वत्र, शुद्धश्चैतन्यरूपवान् ॥ १४४ ॥ अहमात्मा चेदृशी वै, भावना स्थाप्यता मुहु । न चैतावद्धि विज्ञान, भूतमात्रं मदीयकम् ॥ १४५ ॥ स्वरूप प्रत्युतैव च, ज्ञातव्य च विशेषत । ज्ञातव्यं प्रतितान्भक्त्या, प्रेमभावप्रवर्षणम् ॥ १४६ ॥ कर्तव्यमित्थ ये चैव, पुरुषा जगतीतले । स्थापयन्त्यभेदभाव, वीतरागास्त एव हि ॥ १४७ ॥ पूर्णाश्च कृतकृत्याश्च, ते सन्ति भुवि चोत्तमा । वीतरागो देवदेवो, महावीर प्रतापवान् ॥ १४८ ॥ धन्योऽस्ति योहि निष्पक्षपातेन सुन्दरो मुहु । मार्गोऽभेदात्मको भावो, दर्शितो जनतामुदे ॥ १४९ ॥ विनि स्वार्थतया यो हि, प्रकटं कृतवान्मुहु । सत्यस्वरूप एवास्ति, स एव परत. पर । स्वतन्त्रत्वस्य यश्चास्ति, द्वारमेतत्प्रधार्य्यताम् ॥ १५० ॥ **भावार्थ** —जो पुरुष केवल आत्मानन्दमे ही अहर्निश रमण करते हैं, उनको त्रिकाल वन्दना है। इस

---

*परिणामे वधो, परिणामे मोक्खो ।

अलौकिक विश्वके सुरम्य और सौन्दर्यपूर्ण रसकी ओर दृष्टि फेंकनेपर स्पष्टतया नजर आता है कि अखिल विश्व आनन्दसे परिपूर्ण है। यद्यपि अखिल विश्वमें आनन्दकी अपेक्षासे एकता है। अतएव उसके धर्म भिन्न नहीं हैं जिससे प्रत्येक प्राणी आनन्दमय है, उन्हें आनन्द ही प्रिय है अतः उसीकी इच्छामें तन्मय है। उस आनन्दको प्राप्त करनेके लिये साधन रूप ही विश्वके धर्म हैं और इन धर्मोंको प्राणियोंने अपने 'आनन्द' के लिये ही उत्पन्न किये हैं, और आनन्दकी अपेक्षा जगत्के सब प्राणी समान हैं। तथापि व्यक्तिकी अपेक्षासे यदि देखा जाय तो मनुष्य एक उत्कृष्ट प्राणी है और वह आनन्दकी अभिवृद्धिके लिये अनेक आश्चर्य एवं सुरम्य उपायोंकी रचना करता रहता है। मनुष्यके रचे हुए आत्मानन्दकी अभिवृद्धिके उपायोंमें धर्म ही एक सर्वोत्कृष्ट उपाय है। प्रत्येक प्राणीके अन्तर्गत आनन्दका स्वरूप समान है। प्रत्येक प्राणीके आत्माका स्वरूप समान है। प्रत्येक प्राणीका वास्तविक स्वरूप भी समान है। तब तो इस अपेक्षासे साधन रूप धर्मोंका होना भी समान ही ठीक है, और उसके अनुसार सम्पूर्ण समान ही हैं। मनुष्य एक ऐसा प्राणी है कि वह आत्मानन्दकी अभिवृद्धि बहुत जल्दी कर सकता है। इतना ही नहीं बल्कि जो जो मनुष्य आत्मानन्दका अनन्त अनुभव प्राप्त कर चुके हैं वे वे मनुष्य अपने पीछेकी अर्थात् भविष्यकी मनुष्य जातिके लिये बना हुआ आत्मानन्द साधन रूप धर्म मूलस्थायी मनुष्य जातिके लिये स्मारक रूपसे छोड़ गये हैं। इस धर्म रूपी उपकरण या साधन द्वारा इतर मनुष्य आत्मानन्दके अलौकिक अनन्तत्वको प्राप्त कर सकते हैं। जगत्के अन्य प्राणी इस प्रकार विश्वकी अलौकिक प्रभासे आनन्दित होते हैं। परन्तु मनुष्य ऐसा प्राणी तो स्वयं निजानन्दमय बन कर उस अपने आनन्द द्वारा अखिल विश्वके अप्रतिम आनन्दमें सुरम्य तथा उत्तरोत्तरकी अभिवृद्धि कर सकता है। मनुष्योंका जो धर्म है वही अलौकिक आनन्दकी अभिवृद्धि करनी रूप है। यह सृष्टि अनन्त कालसे अनन्ततत्त्वके रूपमें ज्योंकी त्यों चली आ रही है, और इस रूपसे अनन्त कालमें अनन्त काल रूपसे अलौकिक तत्त्वमें अनन्त काल तक शाश्वत स्वरूपमें ही—इस स्वरूपमें ही अलौकिक आनन्द रूपसे स्थिर और नित्य रहेगी। सृष्टि मीमांसक शास्त्री भी यही कथन करते

हैं कि यह सृष्टि अलौकिक वस्तु है, और यह नित्य तथा शाश्वत है। इस सृष्टिके अलौकिक सामर्थ्योंसे भरपूर अलकारोंमें धर्म ही एक सर्वोत्कृष्ट अलकार है। जगत्‌में अनेक धर्ममीमासक हो गये हैं, और वे अलौकिक अलकार रूपसे अपने धर्मविचाररूप प्रसादोंसे इस भूतलको अलकृत कर गये हैं। इन अलौकिक प्रसादियोंमें इस समय वेदान्त, जैन, बौद्ध, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व मीमासा, उत्तर मीमांसा, शैव, वैष्णव, स्वामी-नारायण, मुस्लिम, इसाई, यहूदी, पारसी आदि मुख्यतासे दृष्टिगोचर होते हैं। इनका तथा इनके अतिरिक्त और और अनेक धर्मालकारोंका हेतु केवल आत्मानन्दको ही प्राप्त करनेका है। सर्व धर्मका हेतु एक होकर उनके साधन भी एक ही हो जाते हैं, और वे अलग अलग देश कालपर आधार रखकर अलग अलग रूपोंमें प्रवृत्त हो रहे हैं। जैनका हेतु केवल आत्माका पहचानना और उसे मोक्ष तक ले जाना ही है। वेदान्तिक, वैष्णव, स्वामीनारायण, तथा योगीजन भी यही कहते हैं। जिनमें जैन कहते हैं कि—'एगं जाणइ से सव्व जाणइ' जो एकको जानता है वह सबको जानता है। वेदान्तकी भगवती श्रुति भी कहती है—'आत्मनि विज्ञाते सर्वमिद विज्ञात भवति।' एक आत्माके जाननेसे यह सब कुछ जाना जा सकता है। जैन कहते हैं कि—"अप्पा सो परमप्पा" आत्मा ही परमात्मा है। तब वेदान्त कहता है कि—'अह ब्रह्मास्मि, तत्वमसि, प्रज्ञानं ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म।" 'मैं ब्रह्म अर्थात् परमात्मा हू' 'तू भी वही है' प्रकर्ष तथा सम्यग्ज्ञान ही ब्रह्म है' 'यह आत्मा ब्रह्म है'। वेदके चार खड हैं, इन चारों खडोंमें एक एक महावाक्य है। 'प्रज्ञान ब्रह्म' यह ऋग्वेदका, 'अह ब्रह्मास्मि' यह यजुर्वेदका, 'अयमात्मा ब्रह्म' यह अथर्ववेदका और 'तत्त्वमसि' यह सामवेदके छांदग्योपनिषद्का महावाक्य है। जैन सिद्धान्तका नियम है कि—"नाणे पुण नियमा आया।" 'ज्ञानमें नियमसे आत्मा है' वेदान्त भी यही कहता है कि—"प्रज्ञानं ब्रह्म" 'प्रज्ञान ही आत्मा है' जैन कहते हैं कि—जन्ममृत्यु रूपक ससृति कर्मके द्वारा चलती है, और वे कर्म जड हैं। इन कर्मोंका नियामक आत्मा है। यानी आत्मा कर्मजन्य सृष्टिका अधिष्ठान है। वेदान्त कहता है कि—मायाके द्वारा ये जन्मादि हैं और इसका नियामक आत्मारूप ईश्वर है। जैन कहते हैं कि—कर्मों-

पाधिका प्रलय होनेपर आत्माका मोक्ष होता है। वेदान्त कहता है कि मायो-पाधिका प्रलय होनेपर आत्माका मोक्ष है। जैन कहते हैं कि—आत्माका मोक्ष होनेपर 'अपुनरावित्ति' संसारमें पुनरागमन नहीं होता अर्थात् आत्माको फिरसे जन्म मरणके चक्रमें नहीं आना पड़ता। वेदांत कहता है कि—"न पुनरावर्तते" आत्माकी पुनरावृत्ति नहीं होती। गीताजीमें भी कृष्णचन्द्रजीने कहा है कि— 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम' 'जहां गये बाद फिर आना नहीं पड़ता' वही मेरा परमधाम है। अर्थात् परमात्माके धामको परमपद कहते हैं या मोक्ष कहते हैं। वहां जानेपर फिर वापस नहीं आना होता। जैन कहते हैं कि—'एगे आया' आत्मा द्रव्य गुण पर्यायकी दृष्टिसे एक है। वेदान्त कहता है कि "एकोऽहम्" मैं एक हूं। जैन कहते हैं कि—"तक्का तत्थ न विज्जइ, मइ तत्थ न गाहिया" तर्क आत्माके स्वरूप तक नहीं पहुंच सकता और मति उस आत्माके स्वरूपको ग्रहण नहीं कर सकती। वेदान्त कहता है कि—"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" जहांसे वाणी वापस फिर जाती है वह आत्म-स्वरूप मन द्वारा अप्राप्य है। भावार्थ यह है कि—मन और वाणी उस आत्मा का वर्णन नहीं कर सकते। जैन कहते हैं कि—आत्माको सम्पूर्ण या अखण्ड रूपमें जानने वाले मनुष्य केवल ज्ञानको पाते हैं। वेदान्त कहता है कि—"कैवल्यपदमश्नुते" आत्मा कैवल्य पदका अनुभव करता है। वेदान्त कहता है कि—अखिल विश्वमें सच्चिदानन्द परब्रह्म सर्वव्यापक है। जैन कहते हैं कि—अखिल विश्वमें मारनेसे मरता नहीं जलानेसे जलता नहीं काटनेसे कटता नहीं भेदन करनेसे भेदित नहीं होता और शस्त्र द्वारा छीज नहीं सकता, ऐसा सच्चिदानन्द स्वरूप जीव आकाशास्तिकायमें सघन रूपमें भरे पड़े हैं। आकाश पर्वत पृथ्वी समुद्र आदि कोई भी स्थान जीवसे खाली नहीं है। अर्थात् चैतन्यस्वरूप जीवकी दृष्टिसे देखनेपर चैतन्यदेव समस्त लोकमें भरपूर है। वेदान्त कहता है कि आत्मा स्वयं सर्वज्ञ है जैन भी यही कहते हैं कि आत्मा अनन्त ज्ञानमय है। वेदान्त कहता है कि ब्रह्म सनातन है। जैन कहते हैं कि आत्मा स्वयं शुद्ध-बुद्ध आनन्द स्वरूप है और सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी है। वेदान्त और सांख्यादि भी यही कहते हैं। शङ्कराचार्य सप्तदर्शन कहते हैं कि—निर्दोष

पूर्णगुणविग्रह आत्मतन्त्रो, निश्चेतनात्मकशरीरगुणैश्च हीनः। आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः सर्वत्र च त्रिविधभेदविवर्जितात्मा॥
आत्मतन्त्र अर्थात् मात्र आत्म-स्वरूप निर्दोष है। पूर्णगुण विग्रह है। पुन जडात्मक शरीर और गुणसे भिन्न है। इस आत्म स्वरूपके हाथ, पैर, मुख, उदर इत्यादि अवयवोंकी कल्पना करने पर मात्र आनन्द ही है अर्थात् सम्पूर्ण आनन्दमय भेद भाव रहित है। आत्म-तत्वके अवयवोंसे श्लोकमें की गई कल्पनामें केवल आनन्द ही इसके अवयव हैं। यह स्पष्टतासे समझमें आ जाता है। इस आत्म-स्वरूपमें जन्म, जरा और मृत्यु रूपी भेद नहीं है। उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय रूप त्रिविध भेदसे यह आत्म-स्वरूप भिन्न है। जैन कहता है कि—निश्चय नयसे तो आत्मा अकर्ता ही है। सांख्य शास्त्र कहता है कि—"अहकार कर्ता न पुरुष।" कर्ता, धर्ता अहकार है पुरुष नहीं, अर्थात् आत्मा कुछ नहीं कर्ता, प्रत्युत अकर्ता है। जैन कहता है कि—"ईश्वर सर्वज्ञ होता है, तथा उसमे राग द्वेष आदि कुछ भी नहीं हैं। योग शास्त्र कहता है कि—"**क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।**" क्लेश, कर्म, विपाकके आशयोंके साथ असस्पृष्ट-अलिप्त है, वही पुरुष विशेष पुरुषोत्तम और ईश्वर है यानी ईश्वरको राग द्वेष क्लेश कर्मविपाक नहीं छू सकते। "**तत्र सर्वज्ञबीजं**" उस ईश्वरमें सर्वज्ञत्व होता है। आत्मा अनन्त तत्व रूप है। वेदान्त कहता है कि—"सत्यं ज्ञानमनन्त ब्रह्म।" ब्रह्म स्वरूपमें पाप, पुण्य, सुख या दुख नहीं है। पुन-वेदान्त कहता है कि—"**न पापं न पुण्यं न दु:खं सुखं न। चिदानन्दरूपं शिवोऽहं शिवोऽहं॥** "मेरा आत्म-स्वरूप शिव है, और उस शिवस्वरूप आत्मामें पाप, पुण्य, सुख दु ख नहीं है, क्योंकि वह सच्चिदानन्द रूप है। जैन कहते हैं कि—केवलज्ञानी यहा ही मोक्षका अनुभव करते हैं। इसीसे मिलता जुलता स्वामीनारायण मत प्रवर्तक श्री सहजानन्द स्वामीका भी यही मत है कि—'अक्षर धाम यहीं है, आत्मा स्वयं अक्षर स्वरूप है। जो आत्माको यहांके लिये भी अक्षरधाम समझता है उसीकी समझ सच्ची है, और जो अक्षरधामको किसी अन्य स्थल आकाशादिमें समझते हैं उनकी समझ मिथ्या है। प्रणामीपथ अर्थात् खीजडापथ प्रवर्तक महेराज ठाकुर तथा श्री देवचन्द्रजी

अपनी सम्प्रदायको निर्वाणमय सम्प्रदाय कहते हैं। इस दृष्टिसे देखनेपर पता चलता है कि भारतके महात्मा पुरुषोंका सिद्धान्त आत्मानन्दके पानेका ही है। मुहम्मद साहब भी यही कहते हैं कि जगत्में जो भी कुछ चैतन्य प्रतीत होता है वह खुदाकी रोशनी है, खुदा निरंजन निराकार, तेजोमय और सर्वशक्तिमान् तथा सर्वज्ञ है। मोमिन तो उस खुदाको अपने पास ही देखते हैं। खुदाका अर्थ भी खुद ही होता है। जिसिसक्राइस्टका भी यही उपदेश है कि चौथे आसमानपर प्रभु विराजमान हैं। वह प्रभु सर्वोत्तम आत्मा है, और परम भक्त उस प्रभुको प्राप्त करते हैं। अखिल भूमण्डलमें सर्वोत्कृष्ट कीर्तिको पानेवाले बुद्धदेव भी स्पष्ट कह गये हैं कि प्रेम ही आत्मा है। अतः जगत्के प्रत्येक प्राणीमें अभेद प्रेम रक्खो। तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे देखा जाय तो जैन वेदान्त योग सांख्य बौद्ध आदि सब एकताका ही अनुभव करते हैं। एकता पानेके लिये अर्थात् आत्मानन्दमें अभिवृद्धि करनेके लिये साधकोंको भिन्न भिन्न वहाँ मीमांसकोंने भिन्न भिन्न देश कालमें भिन्न-भिन्न पद्धतिसे समझाया है। अतएव बहिर्दृष्टिसे देखा जानेपर उन मतोंकी क्रियाओंमें भेद जान पड़ता है। तथापि उन क्रियाओंका समन्वय किया जाय तो वे भेद भी अभेद भाव भजने लगते हैं। जैन जिसे पाँच महाव्रत कहते हैं बौद्ध उन्हें पाँच शील कहते हैं और योगी उन्हें पाँच यम कहते हैं। वेदान्तके शम दम उपरति तितिक्षा श्रद्धा और समाध भी ऐसे ही हैं। परमहंसोंके पालन करने योग्य नियम भी अन्तमें एक ही हैं। प्रत्येक धर्मके नीति दया परोपकार, प्रेम आदिके सामान्य और सर्वमान्य नियम भी प्रत्येक धर्ममें समानता तथा उपयोगिताका उपभोग करते हैं। समत्वादि वैराग्यके लक्षण भी सबमें समान रूपसे ही पाये जाते हैं। इन्हीं गुणोंकि दर्शनकी ओर दृष्टि डालते हुए जैनोंका कर्तव्य "मित्ति मे सव्व भूएसु" सब प्राणियोंके साथ मित्रता अर्थात् समान भाव रखना चाहिये न्यूनाधिक न होना चाहिये। वेद भी कहता है कि—
'मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।' 'सबको मित्रकी दृष्टिसे देखना चाहिये।' 'आत्मवत्सर्वभूतेषु' ज्ञानी पुरुष अपनी आत्माके समान सब जीवोंको देखते हैं। वेद मीमांसकोंकी तरफ दृष्टि डालनेपर जैन सुल-

तासे, औदारिक, तैजस, कार्मण शरीर कहते हैं। इसी प्रकार वेदान्ती भी उन ही शरीरोंको स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर कहते हैं। जैन जिसे जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और उजागर या तूर्यावस्था मानते हैं, उन अवस्थाओंका वर्णन वेदान्ती भी उसी प्रकार करते हुए सन्तोष प्रगट करते हैं। सम्प्रति मीमासकोंके कथनको देखते हुए जैन यह कहते हैं कि—"**परिणामो वन्धो परिणामे मोक्खो।**" "मनके परिणामसे ही वन्ध और मोक्ष है।" वेदान्ती सकल्पसे सृष्टि मानते हैं। जैनोंका मानसिक अध्यवसाय और परिणाम तथा वेदान्तका सकल्प एक ही वात है। इन प्रमाणोंसे आत्मानन्दकी अभिवृद्धिके साधनोंका यानी धर्मोंका समन्वय करते हुए वे सब अभेद भावमें प्रत्यक्ष समाये हुये दीखते हैं। साधन अभेद होनेसे साध्य आत्मा भी प्रत्यक्षमें अभेद ही समझा जाता है, और अनुभवमें भी यही आता है। अत प्रत्येक मुमुक्षु जीवको प्रत्येक जीवमें प्रेम भाव रखना चाहिये, और सब जगहोंमें ही सर्वत्र मेरा ही स्वरूप है, यही पाठ पढकर अभेद प्रेम रखना चाहिये। हलते, चलते, उठते, बैठते, खाते, पीते इत्यादि सब क्रियाओंमें शुद्ध चैतन्य आत्म-स्वरूप हू यही भावना रखनी चाहिये। इतना ही नहीं, वल्कि—जगत्के सब भूत भी मेरे ही स्वरूप हैं। यह जानकर उनके प्रति अभेद प्रेमकी वर्षा करनी चाहिये। इस प्रकार जो पुरुष सब जगत्पर अभेद भाव रखते हैं, वे ही वीतराग हैं, पूर्ण हैं, और कृतकृत्य हैं। धन्य उस वीतराग देवको है कि जिसने निष्पक्षपातसे ऐसा सुन्दर अभेद मार्ग जगत्के कल्याणके लिये निस्स्वार्थभावसे प्रगट किया है।

ज्ञातार्थस्य पदार्थस्य, ज्ञान प्रबोधनाद्भवेत् ॥ १५१ ॥ तदनुवादरूपं हि, विज्ञेयं न प्रमाणता। प्रवन्धस्याथ शास्त्रस्य, निर्णेतु यस्य कस्यचित् ॥ १५२ ॥ विचारोऽत्र प्रकर्तव्यो, नान्यथा सिद्धिरुच्यते। यथोपक्रमप्रारम्भावुपसहार-समाप्तिकौ ॥ १५३ ॥ अभ्यास स हि विज्ञेयो, यद्विचारं समभ्यसेत्। अपूर्वं नूतन किञ्चिद्यद्ग्रन्थो विनिरूपितम् ॥ १५४ ॥ फल सुपरिणाम चाप्यर्थवा-दस्तथैव च। प्रशसात्मकवाक्य च, सोपपत्त्युपपादनम् ॥ १५५ ॥ सम्प्रधा-र्योक्तवाक्य च, प्रकृतमकरन्दकम्। तद्रसास्वादन सम्यक्, कर्तव्यं रसतत्त्ववत् ॥ १५६ ॥ कृतस्समस्तजीवास्तु, भव्यमुख्यरसस्य हि। आस्वादनार्थमेवात्र, प्रवृत्ताश्च तृषार्दिता ॥ १५७ ॥ सुवार्तेय द्वितीयाऽस्ति, तच्चेष्टा करणेऽपि च।

प्राप्यते नाऽपि योगेन लभ्यते ध्यानतं ततः ॥ १५८ ॥ तदेतदपि ज्ञातव्यं
मौनतोपाधिवर्जनम् । शुद्धात्मस्यैव सम्यग्ज्ञायते न च वस्तुतः ॥ १५९ ॥
सवितुर्वै तु यौगत्वमेतदर्थमपेक्षते । यदस्त्यविसमाधेन बहिरात्मयेन हि
मन्दप्रज्ञात्मना तु, केवलमन्तरात्मना ॥ १६० ॥ अस्मादनन्तधर्मैकवर्षेण
कल्पितो भवेत् । 'गुणविषयाः पर्यायाः पर्यायेण समन्विताः ॥ १६१ ॥
धर्मापदस्तु सर्वत्र सर्वदा परिवर्तते । परिवर्तने परं साक्षादात्मस्वभावं भवेत्
॥ १६२ ॥ तयोरात्मविशेषयोर्येषामन्योऽन्यं मिलिताः स्थिताः । मातेरप्यनन्यताः
संविभागवैव ज्ञायकः ॥ १६३ ॥ सम्यग्ज्ञानसमभावप्रवृत्तिः साम भावना ।
कार्यं करोति सर्वत्र धैर्यं सर्वं विचारतः ॥ १६४ ॥ सविवादमहत्त्वम
सत्तामात्रेति बोधनम् । गुणस्यैव संसिद्धेरिपपेक्ष्यधिकप्राप्तिता ॥ १६५ ॥
अनुमानात्मनस्य करणं भाव्यते ततः । परिणामस्य यस्यापि नियतत्वं ततः
स्फुटम् ॥ १६६ ॥ अतो नास्त्येव धर्मपर्यायाणामभावतः । अमन्दमाद एव
स्वाभिमुखं भयस्वरम् ॥ १६७ ॥ लभ्यते तर्हि परमं भावना योऽस्यकृतः ।
परं यत्र गुरुदेवेन सहितो भयपस्यपि ॥ १६८ ॥ चतुष्कमनन्तं च अस्ति
तत्वगतस्वरम् । अर्वाग्भावविवक्षिताविन, ज्ञानमोऽक्षरमेव च ॥ १६९ ॥
धर्मिभिरैस्तदर्थैश्च यतो धर्मैव ज्ञानम् । श्रीवीरस्य तथा मोक्ष इमे
यदर्थस्य गुणाः ॥ १७० ॥ चतुर्दशस्य यान्येषु, 'भगवंतं' प्रकीर्तिता ।
भगवत्तम्बन्यस्य ज्ञान चतुर्दशानम् ॥ १७१ ॥ कुण्डिनेशाननैराम्य,
सिद्धार्थनन्दनेन च । त्रिशलासुकुमारेण त्रिजगद्गुरुणा मुदा ॥ १७२ ॥
सम्पूर्णदिशा विहारात्मेन तथापि लक्षणम् । इति विवरणेनैव "वीरस्तु भगवान्
नाम" ॥ १७३ ॥ इत्यस्मात्स्तवकार्यों भविष्यति समर्पणम् । नित्यं तथ
इस सर्वेष्वपि विचारतः ॥१७४॥ 'देवायतस्य समवसर" इत्यस्यार्थोऽन्तर
कथा । भगवद्वीरदेवस्य जन्मकल्पतो मुदा ॥ १७५ ॥ निम्नप्रदायरस्त्रतार्थ
कल्पमायतुल्यात् । मिथिलसेविदेवस्य प्रत्येकं स्तुयतः ॥ १७६ ॥
विद्योन्नीति महावीरो भगवानादिपुरुषः । तस्माच्च पूर्वदेव चतुर्दश
वर्णनम् ॥ १७७ ॥ अनन्तप्रतियोगेन सर्वतत्त्वं तथा तदा । भगवत्तेन
तत्र प्रवचनातरमस्य गुणा ॥ १७८ ॥ ततनैवदर्शनात्वेन गुणपादैश्च
यावत् । सर्वज्ञानदर्शनीयपि कृत्वा तत्र ॥ १७९ ॥ तदत्राडेव
देवगु वीरदेवैश्च तथा । एतत्सारात्मपूर्णं इत्थं स्वयं ततोऽस्ति

॥ १८० ॥ त्रिशलाया समुद्भूय, चतुर्दशविध पुन । महास्वप्नं प्रदृष्टं च, स्वर्णवृष्टिरसख्यका ॥ १८१ ॥ जन्मोत्सवं सुराणा वै, शक्रस्यागमनं तथा । विधातुमुत्सव सर्वे, सुरेन्द्रसेवन पुन ॥ १८२ ॥ प्रतिक्षणसपर्याया, सामग्र्या च मुहुर्मुहु । नेयमल्पस्य वीर्यस्य, वार्तास्ति सुप्रबुध्यताम् ॥ १८३ ॥ स्वसयमस्य वेलायां, तेनानन्तस्ववीर्यत । ऐश्वर्यस्यानुकूलत्वप्रतिकूलस्वयातना ॥ १८४ ॥ इति परिषह जित्वा, सम्प्राप्य विजय तथा । जिनत्वं तेन सलब्धं, तदाऽसख्यसुरासुरै ॥ १८५ ॥ नरैर्नरेन्द्रैर्देवेन्द्रै, समुत्कृष्टक्षयोपशमात् । एतद्वारैव सद्भावाऽनुभवश्च कृतो महान् ॥ १८६ ॥ "स्वयन्तु भगवान् वीर" इति निश्चित्य मानसे । रागाद्यान्तरिकाञ्शत्रून्, विनिर्जित्य विभुर्जिन ॥ १८७ ॥ अतश्चानन्तरूपेण, प्राप्त्यनन्तरमेव हि । भगवद्वीरदेवस्य, समग्रैश्वर्यरूपकम् ॥ १८८ ॥ सुस्पस्ट लक्षण चास्ति, विवरणत्व तदाधिकम् । निरूपणत्वमेव च, नावश्य तस्य वर्णनम् ॥ १८९ ॥ "**समग्रस्य च धर्मस्य**", लक्षण सनिरूप्यते । तथा साधनसामग्र्या, धर्मो नाम्नोच्यते बुधै ॥ १९० ॥ दुर्गतौ यतमान यो, जीव धारयते मुहु । स एव धर्मो विज्ञेयो, यतोऽनन्तसुखोद्भवः ॥ १९१ ॥ दुर्गतौ पतित्त तद्वदुदन्त जीवमित्यपि । सरक्षत्युन्नतिपथि, तिरोभाव करोति न ॥ १९२ ॥ "स चात्मपुरुपार्थस्य, धर्म इत्युच्यते बुधै ।" तदाऽऽत्मपुरुषार्थस्य, धर्मसज्ञा ब्रुवन्ति च । एतद्दृष्ट्या तु भगवान्, सदा वीरो हितावह ॥ १९३ ॥ धर्ममूर्तिस्तथा साक्षादभूदिति निशामय । "परमेष्ठी परज्योतिर्विरागो विमल कृती । सर्व्वज्ञोऽनादिमध्यान्त सार्व्व शास्तोपलाल्यते ॥" इत्युक्त्यनुरोधेन, भूत्वा सर्व्वोपदेशक ॥ १९४ ॥ सच्छास्त्रद्वादशाङ्गस्य, गिरा प्रख्यानक पुन । विधाय शास्त्ररूपे च, कृतवान् परिणतं मुदा ॥ १९५ ॥ "आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्यमदृष्टेष्टविरोधकम् । तत्वोपदेशकृत्सार्व्वं, शास्त्र कापथघट्टनम् ॥" शास्त्रमित्थ च निरवद्यं, प्रदाय भगवान् जिन । स्वीयामृतमयं रूप, तथेष्ट सकल पुन ॥ १९६ ॥ अनेकान्त समाश्रित्य, श्रेष्ठोपदेशकैरपि । तथाऽऽदर्शमयाऽनन्त, चरित्र न प्रदर्श्य च ॥ १९७ ॥ एवं चानुपम दिव्य, श्रावकश्रवणार्हकम् । गृहिधर्ममनागारं, साधुधर्मरहस्यकम्, ॥ १९८ ॥ कृतकृत्य भव्यसृष्टे, कृतवान् य समासत । विनिर्व्वाणपथादर्शो, भूत्वा भव्यात्मना मुहु ॥ १९९ ॥ कार्मणवर्गणाना च, भारमुत्तार्य यत्नत । लघूंस्तान् कृतवान् सर्वान्, वर्धमानो नयान्वित ॥ २०० ॥ नयात्मक यथो

गिरौ, एवं भवभ्रमणक्षयम् । तत्तन्निक्षेपसंदेहे मयीरत्नं महत्तमम् ॥ २ १ ॥ परिपूर्णं तदाऽस्माभीयत्प्रभुत्वमहत्वयोः । मधुरसेन वै व्याख्यानकाले श्रेयसे तथा ॥ २ २ ॥ यमैर्नं इन्द्रियरौद्र, नैयमस्याभिचारत्वत् । स्वाध्यायेष्वभ्या- सेन प्रत्येकं बहुभावतः ॥ २ ३ ॥ किञ्चिन्मुक्तत्वमायेन त्रिस्पर्शनमतोऽ- करोत् । निगद्यते पुनः स्पष्टं भगवद्वीरस्वामिनः ॥ २ ४ ॥ निर्व्याजे परमार्थेन सह व्यावहारिकी दशा । किन्तु व्यतिरूपेण तथा पुण्यकमायतः ॥ २ ५ ॥ भावीपतः सहसेषु, जयत्यमन्यमामतः । गार्हस्थ्यजीवनं तेषां समुत्पन्न- मपात्रित चेत् ॥ २ ६ ॥ तत्प्रमापात्रमूर्तं हि, सपत्सुखप्रमाणे । सतोऽपि भिपते तत्कालमितः तत्र हस्तवम् ॥ २ ७ ॥ गृहाश्रमे यद्भिये पर्याप्तवेद- स्तपिभि । कुर्वन् परिपर्यं त्यागीस्वार्थं तत्र निपातय ॥ २ ८ ॥ (१) 'वीरस्तु भगवान् प्रभु', मितपञ्चमितः प्रति । पूर्वं पर्यायये मातुर्गर्भस्य च सेवनम् ॥ कृत्वाऽत्र दर्शनार्थेन ज्ञानसुभवतत्पा ॥ २ ९ ॥ कर्म प्रतिज्ञां कृतवान्, यावन्मे जननी पिता । जीवतस्तावदस्मत्यमर्हदीक्षां सुपेषमम् । योग्यस्थाने च चाहं वै स्वीकरोमि कदापि हि ॥ ११ ॥ यतो मे जनको माता मोहदभाऽ- नुरागवान् । न तु समत्वया दत्ता इति निश्चयतोऽभवत् ॥ ममोऽप्रमनयो- स्तस्मै संस्थाप्य संयमं मतम् ॥ २११ ॥ परित्यामि प्रसंगेऽपि न हेयोऽन्य- थयोर्मम । हृदये पुनरावयोः सामग्रामिति मे मति ॥ २१२ ॥ मुक्ताभ्ये च मनीतस्मात्सहर्षं चेतसा कृतः । जीवनसत्यस्था दीक्षा,, सेवारम्भरीकिदि ॥ २१३ ॥ यतनयाऽन्यथा शिक्षा कम्पते मो निरामय । पित्रोरस्मां विना स्वलोपालीर्म्यं च काञ्चित् ॥ २१४ ॥ कोऽपि सत्त्वा गृहारम्भे सुमिपर्यं च धारयेत् । यदलयाऽनया तेषां जरासुपात्मं तयोः ॥ २१५ ॥ नियता- गस्तवतेभ सेवायाव कियत्सकम् । सेवाम्य दर्शनं तत्र मौलिक च विमानयेत् ॥ २१६ ॥ दीर्घहर्षोऽपि भगवान्, प्रथमे वीरवेऽपि यत् । सेवावभेस्वरूपमे वै कुरुते नियमान्वय ॥ २१७ ॥ कल्पतां किं च वीरस्य स्वामिन्यमेवमद्भुतम् । आदर्शकर्मं सेवमाः, पितृणां विनयान्वयम् ॥ २१८ ॥ महत्वं निरवधारित सुस्पष्टजात्मबोधवाक्यम् । प्रतिस्पर्धं भ्रातरं च सानुमेपारणीक्य ॥ २१९ ॥ मन्वीपर्यवयामर्षं भ्रातरं नगवान् रहः । एकस्मिन् दिवसेऽमोषन् मयीयोऽ- 'भिमहोऽमुना । समासेऽनूपचमाव अपगतां मपम च ॥ २२ ॥ दीक्षितेषां करोम्यम तदा त्योऽविभ्रमपीडया: । निर्वेदं च प्रभुं ज्ञात्वा सर्वं तु मोहपीडितः

॥ २२१ ॥ भवन्तं ज्ञायते शुद्धं, स्वर्गारोहणयोगत । पितुर्मातु स्फोटकोर्ध्वे, लवणक्षेपणे सम ॥ २२२ ॥ भविष्यति न सन्देह, इति कृत्वा दया भवान्। मदीयकथनेनैव, समुषित्वा गृहे पुन ॥ २२३ ॥ अब्दद्वयसुपर्य्यन्त, दर्शनार्थमुदारताम्। दर्शयेच्चेन्महान् देवानुग्रह स्यान्मयि प्रभो! ॥ २२४ ॥ तथैव भगवान् वीर, कृतवान्नान्यथा क्वचित् । भ्रातु पूज्यतमस्यापि, चेच्छया वापि सम्मत ॥ २२५ ॥ त्यागोऽनुकूलगमन, नोचितोऽथ निवृत्तित । तथापि भगवान् वीर, स्वय च जगदीश्वर ॥ २२६ ॥ ज्येष्ठो भ्राता दर्शनेन, विनयेन च तोषित । तद्वच्च सुखिन कृत्वा, ज्येष्ठभ्रातु सुसेवनै ॥ २२७ ॥ पाठोऽपि पाठितस्तेन, वर्षद्वयमभूद्गृही । भ्रातुराज्ञानुरोधेन, दीक्षाऽपि नैव धारिता ॥ २२८ ॥ एव सयमसकल्प, हित्वा निर्वाणद ध्रुवम्। प्राशुकभोजी भूत्वा च, गृहमेवाश्रयत्पुन ॥ २२९ ॥ धन्योऽसि! भगवँस्त्व हि, नाऽप्रसन्न कृतोऽनुज । अत पाठमिम लोक, स्वयमाप विना श्रमम् ॥ २३०॥ भगवद्वीरवत्स्वस्य, भ्राता पितृसम स्मृत । इति ज्ञात्वा सेवया च, सुखिन त विधाय च ॥ २३१ ॥ सन्तुष्टत्वेन सस्थाप्यस्तथा मान्योऽनुजो मुहु । तेऽपि रक्ष्या प्रयत्नेन, धर्मोऽय व्यावहारिक ॥ २३२ ॥ तद्गार्हस्थ्ये च वैराग्यमष्टाविंशतिसख्यके। वयसैव सुसम्पन्ने, पित्रो स्वर्गतयोस्तदा ॥ २३३ ॥ तदा वर्षद्वयं स्थित्वा, गृहेऽध्यात्मस्वरूपके। चिन्तन योगिचर्याया, समारम्भोऽप्यकारि च ॥ २३४ ॥ तेनास्माद्योगत सम्यग्बोधिता दीक्षणेप्सव । दीक्षाधारणत पूर्व, गृहिधर्मे समभ्यसेत् ॥ २३५ ॥ विशेषतो योगचर्यां, यया विशदया सदा। चर्यया च सुभाविन्या, स्यान्निवृत्तिर्यथाक्रमम् ॥ २३६ ॥ इत्थ तस्या स्वयं ज्ञान, जायेत तदनन्तरम् । सहिष्णुतायास्त्यागस्य, भवेज्ज्ञान तथा पुन ॥ २३७ ॥ अद्यावधिक्रियज्जातमुदारोत्तीर्णता यदि । अभिप्रायोऽस्ति मे चाद्य, सच्चर्याया विपाकत ॥ २३८ ॥ भूत्वा दृढस्तत पादौ, धर्तव्यस्साधुसाधने। न तु पूर्वं ततश्चैवं, विज्ञाना गतिरीदृशी ॥ २३९ ॥ (३) **राजनैतिकशिक्षाया', शिक्षको** यत्र कालके। अमात्यनृपतीना च, पुत्राणां भूभुजा पुन. ॥ २४०॥ यदाऽभूज्ज्ञानमेतद्धि, नरराजसिद्धार्थकात् । महिष्या त्रिशल्याऽदर्शि, स्वप्नश्चतुर्दशविध ॥ २४१ ॥ यौवने सार्वभौमश्च, चक्रवर्ती भविष्यति । एतद्वृत्तान्तश्रवणाच्छ्रेणिकेन्दुप्रद्योतनौ ॥ २४२ ॥ दधिवाहनप्रभृतिराजपुत्रा समागता । भगवद्वीरसेवाया, सलमाश्च मुहुर्मुहु. ॥ २४३ ॥ क्षत्रिया-

रिं, रत्नं नयप्रमाणकम्। तत्रनिक्षेपसंज्ञं वै गभीरत्वं महत्त्वकम् ॥ २ १ ॥
परिपूर्णं तथाऽव्याबाधसुखमहत्त्वतो। मधुरत्वेन वै तत्त्वानामने कैवले
तथा ॥ २ २ ॥ वर्णने कविरत्नोऽहं, हैमसन्न्यविचारणात्। स्वल्पबुद्ध्यनुकम्पा-
येन प्रत्येकं यथामानतः ॥ २ ३ ॥ किञ्चिन्मुख्यत्वभावेन विस्तरेणस्ततोऽ-
करोत्। निमग्नो वै पुनः स्वार्ये, सप्तसद्वीरस्वामिनः ॥ २ ४ ॥ सिद्धार्थे परमार्थेन
सह व्यवहारिकी प्रभा। किञ्चुपविरूपेण तथा पुण्यमयाऽत ॥ २ ५ ॥
आसीयता सहयेषु, वयस्सम्यक्त्वमागतः। गार्हस्थ्यजीवनं तेषां समुज्ज्वल-
तयाऽस्ति चेत् ॥ २ ६ ॥ तत्सम्यक्त्वप्रभूतं हि उपासकधारके। सुतेऽपि
भिन्ने चासनीमित्थं तत्र दृश्यताम् ॥ २ ७ ॥ गृहाश्रमे वर्तमाने कर्तव्यदर्शक-
रूपिणि। कुर्वन् परिचर्यां स्वाधीनस्थानं तत्र निशामय ॥ २ ८ ॥ (१) वीरस्तु
भगवान् प्रभुः, पितराव्रभितः प्रति। पूर्वं गर्भाशये मातुर्वेदनाञ्च न वेदनम् ॥
कृपया स्म दर्शनार्थे प्राप्तसुमवतरणा ॥ २ ९ ॥ स्वप्नं प्रतिज्ञां कृतवान्,
यावज्जीवे जननी पिता। जीवतस्तावदस्मन्तमहंदीक्षा सुदर्शनम्। बोधयाम्यर्थं न
चाहं वै दीक्षितोऽस्मि कदापि हि ॥ २१ ॥ यतो मे जननी माता मोहरक्ताऽ-
नुरागवान्। न तु समतया रक्षा इति निश्चयपरोऽभवत् ॥ यदोऽष्टचयनमो-
स्त्वती सेन्यार्थे संयमे मतम् ॥ २११ ॥ चरिष्यामि मदीयेऽपि न हेतोऽन्य-
मनोर्गतः। इदं वै पुनरागताः साम्प्रतमिति मे मतिः ॥ २१२ ॥ कुर्याच्च
न मदीयतस्तारसदृशं चेतसा कृताः। जीवनस्ताऽभवा तीव्रा,, संसारस्यार्थेऽपि
॥ २१३ ॥ चरनवाऽस्य पित्रा कस्माद्वो निशामय। पित्रोराज्ञां विना
तत्परीणसीम्ने न कर्हिचित् ॥ २१४ ॥ श्लोकेऽपि सकलं महारम्भं शुभिचर्यं
न चारयेत्। चरन्नाज्ञया तेषां तथाज्ञापालनं तमो ॥ २१५ ॥ विरागा-
वस्थकत्वेन सेवायाम् निजस्थकम्। संसाग्य दर्शनं तस्य मौक्तिकं च विभावयेत्
॥ २१६ ॥ तीर्थंकरोऽपि भगवान् प्रथमे यौवनेऽपि यत्। सेवाधर्मस्तत्परं
वै कुरुते विनयान्वितम् ॥ २१७ ॥ कथ्यतां किं न वीरस्य, सामिनयेऽरमद्भुतम्।
आदर्शमेव सेवया पितृणां विनयान्वितम् ॥ २१८ ॥ महत्वं विनयादिभि
लभ्यतेऽनन्तम्। महतिस्तोत्रं भ्रातरं च अनुमोदनस्तोत्र ॥ २१९ ॥
नन्दीवर्धननामानं भ्रातरं भगवान् ततः। एतस्मिन् विनयेऽपोषत् यदीबोऽ
भिमतोऽस्तुप। समाधोऽभूपतामाव भगवता महन्म च ॥ २२ ॥ दीक्षितेऽहं
करोम्यद्य तदा त्यागेऽज्ञयोत्सवा। निर्वेदं च प्रभुं ज्ञात्वा स्वयं तु मोहपीडितः

॥ २२१ ॥ भवन्त ज्ञायते शुद्ध, स्वर्गारोहणयोगत । पितुर्मातु स्फोटकोर्ध्वे, लवणक्षेपणे सम ॥ २२२ ॥ भविष्यति न सन्देह, इति कृत्वा दयां भवान् । मदीयकथनेनैव, समुषित्वा गृहे पुन ॥ २२३ ॥ अब्दद्वयसुपर्य्यन्तं, दर्शनार्थमुदारताम् । दर्शयेच्चेन्महान् देवानुग्रह स्यान्मयि प्रभो ! ॥ २२४ ॥ तथैव भगवान् वीर, कृतवान्नान्यथा क्वचित् । भ्रातु पूज्यतमस्यापि, चेच्छया वापि सम्मत ॥ २२५ ॥ त्यागोऽनुकूलगमन, नोचितोऽथ निवृत्तित । तथापि भगवान् वीर, स्वय च जगदीश्वर ॥ २२६ ॥ ज्येष्ठो भ्राता दर्शनेन, विनयेन च तोषित । तद्वच्च सुखिन कृत्वा, ज्येष्ठभ्रातु सुसेवनै ॥ २२७ ॥ पाठोऽपि पाठितस्तेन, वर्षद्वयमभूद्गृही । भ्रातुराज्ञानुरोधेन, दीक्षाऽपि नैव धारिता ॥ २२८ ॥ एव सयमसकल्प, हित्वा निर्व्वाणद ध्रुवम् । प्राशुकभोजी भूत्वा च, गृहमेवाश्रयत्पुन ॥ २२९ ॥ धन्योऽसि ! भगवँस्त्व हि, नाऽप्रसन्न कृतोऽनुज । अत पाठमिमं लोक, स्वयमाप विना श्रमम् ॥ २३० ॥ भगवद्वीरवत्स्वस्य, भ्राता पितृसम स्मृत । इति ज्ञात्वा सेवया च, सुखिन त विधाय च ॥ २३१ ॥ सन्तुष्टत्वेन सस्थाप्यस्तथा मान्योऽनुजो मुहु । तेऽपि रक्ष्या प्रयत्नेन, धर्मोऽयं व्यावहारिक ॥ २३२ ॥ तद्वार्हस्थ्ये च वैराग्यमष्टाविंशतिसख्यके । वयस्येव सुसम्पन्ने, पित्रो स्वर्गतयोस्तदा ॥ २३३ ॥ तदा वर्षद्वय स्थित्वा, गृहेऽध्यात्मस्वरूपके । चिन्तन योगिचर्याया, समारम्भोऽप्यकारि च ॥ २३४ ॥ तेनास्माद्योगत सम्यग्बोधिता दीक्षणेप्सव । दीक्षाधारणत पूर्वं, गृहिधर्मे समभ्यसेत् ॥ २३५ ॥ विशेषतो योगचर्यां, यया विशदया सदा । चर्यया च सुभाविन्या, स्यान्निवृत्तिर्यथाक्रमम् ॥ २३६ ॥ इत्थ तस्या स्वयं ज्ञान, जायेत तदनन्तरम् । सहिष्णुतायास्त्यागस्य, भवेज्ज्ञान तथा पुन ॥ २३७ ॥ अयावधिकियज्जातमुदारोत्तीर्णता यदि । अभिप्रायोऽस्ति मे चाय, सच्चर्याया विपाकत ॥ २३८ ॥ भूत्वा दृढस्तत पादौ, धर्तव्यस्साधुसाधने । न तु पूर्वं ततश्चैव, विज्ञाना गतिरीदृशी ॥ २३९ ॥ (३) **राजनैतिकशिक्षाया**, **शिक्षको** यत्र कलके । अमात्यनृपतीना च, पुत्राणा भूभुजा पुन ॥ २४० ॥ यदाऽभूज्ज्ञानमेतद्धि, नरराजसिद्धार्थकात् । महिष्या त्रिशलयाऽदर्शि, स्वप्नश्चतुर्दशविध ॥ २४१ ॥ यौवने सार्वभौमश्च, चक्रवर्ती भविष्यति । एतद्वृत्तान्तश्रवणाच्छ्रेणिकेन्दुप्रद्योतनौ ॥ २४२ ॥ दधिवाहनप्रभृतिराजपुत्रा समागता । भगवद्वीरसेवाया, सलग्नाश्च मुहुर्मुहु ॥ २४३ ॥ क्षत्रिया-

दौहित्र सेना ततोऽसौसिके विधये । प्राप्ता मातृस्थाने शुभाशोभित-
कर्मणि ॥ १४४ ॥ तेभ्योपि समयान् वीरो मातापितरावपि । तोषयित्वा
च सदस्यं सर्वेतान् समापृच्छ्य च ॥ १४५ ॥ स्वयमपरेऽथ भ्राते च नियुक्ते
सत्कर्मणि । नियुक्त राजपुत्रायै नान्दरामस्तमस्मात ॥ १४६ ॥ ततश्च
पोषधेयस्य धर्मपीवतुरन्तकः । पश्यन्ति तपाऽऽस्य हि, भविष्यति न संशयः
॥ १४७ ॥ तत्रिरिहमित्यारोपात्तान्प्रति कर्मबद्धतः । प्रमाणबोध ते सर्वे
कारयन्ते शुभाननम् । पालिमहे च सन्तोषं प्राप्याऽऽत्मता पपाराम् ॥ १४८ ॥
राज्यपालपक्षपाती द्वयं प्रभावतो बभूव । प्रभावसमनिवासम्, मूल्य तत्र
धर्म कृत्यम् ॥ १४९ ॥ 'स्मर्ते तु सदासां भावममसम्यतां तथा । सम्यक्त्वमार्ग
मरणं राज्यविरमिति स्मृतम् ॥ १५ ॥ चरित्रममितयुक्तेन कर्म
कार्य निरन्तरम् । भवतः सम्प्रवक्ष्यामि सर्वविकल्पसमुत्तमम् ॥ १५१ ॥
अथ सांवत्सरिकदानम्—दीक्षाभारपत्र पूर्वमेवमर्थमप्रमाणतः । विवाहस-
मारम्भे विवाहारम्भमाश्रय ॥ १५२ ॥ निरीहस्यैव चाहर्न दीयतेऽस्तुपयादिवे ।
इच्छानिरोधधर्मस्य प्रारम्भं कृतवान् मुदा ॥ १५३ ॥ सर्वेभ्योऽपि शुभस्तेभ्यो
भावेभ्यः भवतवान् । पुण्यमस्तीन दानं चास्मै दैवाऽऽपत्या कृपा ॥ १५४ ॥
केऽपि कस्यापि न जाता बालिन हृदि कुत्रचा । तथा पुरुषार्थे च धमर्म तु
तपाहत्यम् ॥ १५५ ॥ दीक्षाऽऽगमो पुनर्देवो न मोहस्मृतिविभ्रमः । न कार्य
च तत्पदं भिक्षा नः स्थापित पुरा ॥ १५६ ॥ धीरा सेव्यातदैवरूपं
भीतिमयम् तपोवती । समुत्तीर्य पदाम्भोज, यतो भावितकर्मणि ॥ १५७ ॥
नात्मानपोऽभवे यातैव समारम्भपरिग्रहात् । विरतोऽप्यतिरतः मुक्ताऽभ्यामाम्य
माममा । ततो विवेको माषाय मयीदम न संशयः ॥ १५८ ॥ अथ दीक्षायै
निर्मयमहोत्सवम् । बन्धुतोऽपन्नवर्षमर्षे निर्भयत्वेन सीमिता । यरं मने
न वास्मेऽपि दयवान् च स्मरापि हि ॥ १५९ ॥ मिथ्याभितोऽसौ रघुमिते-
रवाप्य मधिष्यते । पापराशीपर्यन्तं राज्यपथमन्तरेभया ॥ १६ ॥ करीति
का मवन्द च दृढेन परमागमम् । महतो भयाद्रात्रेभयष्ठुतम् राज्यदीक्षया
॥ १६१ ॥ बलिनो विशिष्टसाद्दृशायतेन लीलया । मिश्रिम चमकोर्थी
पंचमं मास अर्हमित् ॥ १६२ ॥ अथाशोपाभीरकाश्यकरणम्-अशोकाख्य-
मीररम्यानां येमार्हन्मार्गिणामित्याम् । ब्रह्मणैति च देवो वै वीरं 'पार्श्वं' इति
कथ्यते ॥ १६३ ॥ चयक्षितसेतुके घातं हुवैर मानुषर्जनम् । अहम

क्रोधकरणं, क्षेत्रविध्वसनं तथा ॥ २६४ ॥ प्रतिद्वन्द्विनामिदं कर्म, तेषां सुगम-मस्ति हि । ध्यानमग्नो वने सस्थ , कायोत्सर्गे व्यवस्थित ॥ २६५ ॥ तत्क्षणेऽ-ज्ञानावस्थाश्च, रज्जुभिस्ताडयन्ति च । निर्माय तस्य पार्श्वे तु, चुल्हिका पायसं यदा ॥ २६६ ॥ पाचयन्ति क्षणे तस्मिन्, तापयन्त्यभितस्तथा । स च वीरतया सर्वं, सोढवान्न च दु खभाग् ॥ २६७ ॥ एकमेव कोप्यबोधो, विनोदेन शला-कया । वशस्य तीक्ष्णया कर्णे, भेदितो रक्तधारया, आप्लुतश्च तत काये, दुर्बलत्वमजायत । तथाऽप्यनुग्रहस्तस्मै, कृतस्तेन महात्मना ॥ २६८ ॥ नानिष्टं प्रोक्तवाँस्तस्मै, किञ्चिदपि च दु खत । दृष्ट्या समानया तद्वत्समभावनया तथा ॥ २६९ ॥ यातना सहनशीलोऽप्यभूदादित एव स । ध्यानावस्था दृढा जाता, मानसीवृत्तिरीदृशी ॥ २७० ॥ मेरुवत्तस्य सञ्जाता, ध्यानवृत्ति सुनिश्चला । सागरवच्च गम्भीरा, सूर्यवत्सा प्रकाशिका ॥ २७१ ॥ सहिष्णुता समुत्पन्ना स्वर्गेऽपि तत्प्रशसनम् । सभाया शक्र इन्द्रोऽपि, प्रशंसां कृतवान्मुहु ॥ २७२ ॥ दुर्विदग्धा सभाया ये, ज्ञानशून्या सुरास्तथा । विश्वास नैव कुर्व्वन्ति, दर्शना-शेन वर्जिता ॥ २७३ ॥ देवाङ्गनासहस्राणि, गृहीत्वैक समाययौ । परीक्षार्थं भगवत , संङ्गमश्चाब्रवीत्सुर ॥ २७४ ॥ "ध्यानव्याजेत्यादि" चेति, वाक्य तद्विबुधाधर्म । ध्यान तु केवल देव! व्याजमात्र प्रदर्श्यते ॥ २७५ ॥ नेत्रे सम्मील्य भगवन्! प्रिया कामपि ध्यायसे । देव! त्वदग्रे कामोऽपि, हावभावसु-विभ्रमै ॥ स्त्रिय कटाक्षपात हि, कुर्व्वन्ति स्म मनोहरम् ॥ २७६ ॥ किञ्चिदु-न्मील्य नेत्रे च, दृश्यता नो जगत्प्रभो! कामबाणार्दितास्तास्तु, सम्पीड्य हृदयं मुहु । स्थिता क्षिप्र गृहीत्वैव, बाहु स्ववशमानय ॥ २७७ ॥ भवान् दयालु षट्कायरक्षणे सम्प्रवर्तते । परं नो मन्मथो देव! सन्तापं कुरुते रह ॥ तत्प्रतीकारहेतुश्च, भवानेव हि दृश्यते ॥ अतो वय भगवत , शरण च समा-गता ॥ २७८ ॥ वचनार्थमत स्वामिन्! तवाङ्के पतिता वयम् । देहि नो स्थानं भगवन्! ज्ञात्वा त्वा हि कृपानिधिम् ॥ २७९ ॥ शरणागता इति ज्ञात्वा, दीनाना त्राहि भारत । महान् खेदस्य विषयो, यन्न वा रक्षतीश्वर! ॥ २८० ॥ न किञ्चिच्छ्रूयतेऽस्माकं, न चोत्साह प्रदीयते । त्राता भूत्वा न कुरुते, रक्षामपि दयापर ॥ २८१ ॥ सुस्पष्टं ज्ञायतेऽनेन, मिथ्याकारुणिको भवान् । वर्षतस्ते वय कुर्म , सेवा न त्वं प्रसीदसि ॥ २८२ ॥ कर्णान्ते ते न यूकाऽपि, चलते किमत परम् ।वयं पराजय मत्वा, ज्ञातवन्तास्ततोऽधिकम् ॥ २८३ ॥ नान्योऽ-

त्रिविष्टपतरो कठोरहृदयोऽपि च। त्वत्समो नास्ति संसारे नरिपन्थो दया
निधे। ॥ १८४ ॥ एवमुक्त्वा वाक्यमसौ ध्यानात्तुष्टिमवाप सः। समाश्रित्य
समार्य त्वा गता सद्वचनं प्रति ॥ १८५ ॥ मत्तोऽस्मात्परमिदं शिक्ष ताम्रा
लिप्ते च संवरे। अपथे प्रतिक्रमणे समारम्भके श्रमे ॥ १८६ ॥ एवमीशे
इसी धर्मो यतः स्वात्मप्रकाशपः। भूत्वा निष्पत्तदश्रद्धियत्नास्त्यज्ञानमाद
॥ १८७ ॥ इत्युपदेश्य सम्भ्रान्तो ज्ञायतां मनसा हरा। अथ धारण्यामतास्
इत्यपम्—अपार्थम्भितपस्याम्यहो वीरस्य चतुरोः। कथानस्य स्वाप्यं,
निष्क्रमणोपितं ततः ॥ निर्वाणति संसारे, तपश्चर्यान्तरेण च ॥ १८८ ॥ माता
पित्रापितामहम्नैवैश तत्स्वरूपमयता। तेषामामहासमावो हि, प्रबोधितं च यथा-
विता ॥ १८९ ॥ तत्त्व ध्यानं तपश्चर्या तेषां रक्षा कृताऽभिधम्। महतोऽ-
साम्प्रदायेन सुरसपति तान् प्रमाद् ॥ १९० ॥ स धर्मेन्द्रो हि पञ्चस
प्राप्तमार्गं निवाय वै। पञ्चस्तोऽसनिपाताद्बुध्वार्थं च तत्र हि ॥ १९१ ॥
ध्यानं पदपद्मस्य सम्भ्रमस्य सजीवनम्। सामेन्माई न तेजुं तं तेनेस्तुतं यदा
प्रभु। ततो रक्षितपोर्थं च वीरः सद्वचनाम् जिनः ॥ १९२ ॥ एकदा
मध्ये देशे महावीरस्य योगाभ्यास। यदा तत्पुण्यो यज्ञो वीरसमेतं तपस्विनम्
॥ १९३ ॥ परस्तु प्रसादात्मने सम्यक्समत्व चिरः। कृत्वोपाध्यायं यथोर्म तप
स्थापति निस्पृहः ॥ १९४ ॥ रुद्रस्यप्रकृत्यो कृष्ण नित्याय पतितं मुनि। तदा
स्व वयसा कुष्टः पुनः सम्पन्नमर्पये। स्थापयति च तं रक्षा योगकक्ष
प्रहस वै ॥ १९५ ॥ ततश्च नेहतो रुद्रो बुद्धाश्चर्यान्तरात्मना। इति तु
समायेन समवाक् कृपान्पुन ॥ १९६ ॥ सर्ठ प्रति च साम्यं वै कुर्वन्निति
विचार्य च। कोपावेशसमाविष्टतपसो सतपोधनम् ॥ १९७ ॥ नेत्रद्वारेण
प्रति तं तेजोऽध्यवसितस्मतः। पातितो येन तपितो मास्वपवितुस्वस्
॥ १९८ ॥ अथ पुर्णं प्रणम्यो सरसम्बोन प्रभु च। सत्यमपरं च यो
मासिकेषं धर्मं चपाप सः ॥ १९९ ॥ तदा पितामहस्तैर्यं स्तवो कृत्वा
सदैवत। हिमवत्कीर्तय तैस्मा तपोपरिप्रतिसमम् ॥ २ ॥ तमस्यां
पश्चुपापानमुल्याम् कृपया प्रभुः। विभो! तं हि सम्यक्तरत्नपीयेर्य कृपा यमि
॥ २ १ ॥ न कृतिमा धारणिमि स्तुतं मे प्रमर्षयते। श्रीमद्भ्रमणवर्य,
चरितं निष्कल्मषम् ॥ २ २ ॥ प्रतिमामिति तपिते, पदस्मत्प्रतिपत्कम्म्।
पंचकल्याणोत्सवं च प्रथमं चोपवेशनम् ॥ २ ३ ॥ कल्पतीय कर्म ताता

हृदये चावधार्य्यताम् । अपुनरावृत्त भावस्य, पन्था तेनैव दर्शित ॥ ३०४ ॥
अथ मनुष्यवन्मूकपशुरक्षणम्—मनुष्यवन्मूकपशूनरक्षयत्स्वय जिन. । यदा हि वाममार्गीणा, प्रसारमधिक ह्यभूत् ।, तदा ते दयया हीना, व्याजाद्यज्ञाच्च कोटिश । पशवो वहवस्तैश्च, हता मूका निरागस ॥ ३०५ ॥ तस्मिन्काले च शमिना, घातकास्ते तपोवलात् । अवरुद्धाश्च वीर्येणानन्तशक्त्या तथा पुन. ॥ ३०६ ॥ न हन्तव्या न हन्तव्या, घोषणेयं मुहु कृता । अवरुध्य भीषणं काण्डं, ससारस्थितप्राणिनाम् ॥ ३०७ ॥ रक्षिताश्चानन्तजीवास्तथाऽसिघातनादपि । तस्यायमुपकारस्तु, धर्मोऽय च पुरातन ॥ ३०८ ॥ मुद्राङ्किता कृतास्तेन, तत्स्मृतिर्वर्ततेऽधुना । महोदयो **वालगङ्गाधरतिलकसंज्ञकः** ॥३०९॥ **नेता श्रीभारतस्यासीद्धन्यवादं प्रदत्तवान्** । जैनसमाजवृन्देभ्यो, नैतच्चाल्पमहत्वकम् ॥ ३१० ॥ अपकर्तॄपशूद्धारो, मनुष्य इव सत्कृत । हिंसकादेरपकर्तु, पशोरप्यपकारणम् ॥ ३११ ॥ सदोपेक्षैव मद्भावा, कृता तेनेति सस्फुटम् । हिंसावृत्तिरताना तु, पशूना वृत्तिपाशवीम् ॥ मोचयित्वा समाधेश्च, दत्वा वोधमनामयम् ॥ ३१२ ॥ सदाचाराधिकार च, ददाति स्म न सशयः । यथा चण्डकौशिकेन, विपाक्रान्तमहोरगे ॥ ३१३ ॥ वेदना दशजा शश्वच्छान्त्या सर्वं विशोढवान् । कृपया त च सन्मार्गे, सदाचारे तथा पुन ॥ ३१४ ॥ स्थापयित्वा प्रवोधेन, श्रीमुखेन च भाषितम् । चण्डकौशिक! वुध्यस्व, शान्तियुक्तो निशामय ॥ ३१५ ॥ शव्दा एवं प्रकथिता, नरकाधेन रक्षित । पतनतोऽवन जातो, जगद्गुरुप्रसादत ॥ ३१६ ॥ शान्त्यैव सुवोधितोऽपि, सुप्तावस्था गतोऽप्यसौ । क्षिप्र जागरितो वुद्धो, विवेकसमशक्तित ॥ ३१७ ॥ साधयति स्म कार्यं च, किं मया श्रूयतेऽधुना ॥ एव विचारितस्तेन, किं शव्दोऽयं कृपामय ॥ ३१८ ॥ पूर्णा दया च तस्याऽस्ति, न वा चेति विचार्य्यते । एतद्वाक्यकदम्वानां, न जाने स्वाशय पृथक् । एतद्रुधिरपानेन, सितां च शर्करामपि ।, तिरस्करोति स्वादेन, नो लव्धा चेदृशी मया ॥, ज्ञाते मयाद्य सँचार , शान्तेरस्य च नाडिषु ॥ ३१९ ॥ आशा नामापि नास्त्यत्र, मृत्युभयस्य का कथा । परमस्ति क्षमायास्तु, पराकाष्ठेति धारय ॥ ३२० ॥ अपकारकारेण्यपि, क्षमा स्वाभाविकी कृता । आवश्यकाधिकानन्ता, शान्त्याख्यकवचोपरि ॥ ३२१ ॥ सन्मार्गे मा च ह्यानेतुं, कियच्छ्लाघ्यो महानपि । समालोचनपूर्वं हि, तस्मै स्वदर्शन वभौ ॥ ३२२ ॥ जातिस्मृतिक सञ्जातं, ज्ञानं गतजन्मस्मार-

त्रिभिर्युक्ततरो घोरातपस्योऽपि च । त्वत्समो नास्ति संसारे परिपक्वो दयानिधे । ॥ १८४ ॥ एवमुक्त्वा चाभ्यन्तो व्याघात्पुद्गिमयागताः । तमाभिषसमर्पणं तत्र पश्य सम्पदनं प्रति ॥ १८५ ॥ मत्तोऽस्मत्कर्मिणं त्रिया छाद्मस्थिके च संसारे । प्रेपथे प्रतिक्रमणे समाराधनके तपे ॥ १८६ ॥ रत्नत्रये दृष्टौ चर्या गतः पन्चपञ्चमज्ञया । भूत्वा विपश्यतव्याहीमनस्सपत्नुमपाद् ॥ १८७ ॥ इत्युपदेश सच्चतो शायतां मनघा हता । अथ शरण्यागतान् प्रतानम्—यथार्थेमनरमनश्चाम्प्रति वीरस्य सद्गुरोः । कथामस्य समपदं, निष्कामजीवनं तदा ॥ निर्योमाति संसारे, तपश्चर्यानतेन च ॥ १८८ ॥ वार्ताः सन्तापिताश्चाम्येवैषा तत्करणाकृता । तेषामाम्नायमार्गी हि, गच्छेति च यथार्थतः ॥ १८९ ॥ तस्य चार्म तपश्चर्या तेषां रक्षा कृताऽभीतम् । महतोऽसाम्यकचाय सुरवपति तान् ममाद् ॥ १९ ॥ स चर्मेन्द्रो हि चकस्य सम्मार्गं विचार वै । पश्चमतोऽसमिपातापृथमार्थं च तस्य हि ॥ १९१ ॥ तरव पदपयस्य सम्यक्स्य कार्योपयम् । पक्षोऽम्यार्थं च केतुं तं तेनेत्युर्य यदा प्रभु । ततो रक्षितवर्येवं च वीरः सद्गुणवान् जिनः ॥ १९२ ॥ एकदा मगधे देशे मस्करीस योषाक्कः । यदा तत्पुरुषो चागतो वीरस्मेवं तपस्विनम् ॥ १९३ ॥ परस्तु दृष्टवाक्ये सम्यक्मनमच शिरः । कृत्वोर्ध्वपादं स्वयोर्मं तपस्पति त्रिकालः ॥ १९४ ॥ तस्मात्प्रभृतो भूम निस्सार पतिता भुवि । तदा तु वचना पुष्टः पुनः सत्क्षमम्बके । स्थापयति च तं राजा योषाक्कस्य वै ॥ १९५ ॥ यथार्थ मेरुयो रक्षो पूर्वकल्यावरस्थया । इति तु समापेन स्वयर्थं स्थापयन्तुत ॥ १९६ ॥ षष्ठं प्रति च कार्यं वै कुर्यादिति विचार्यं च । चोपावैससमाविश्यपयो तत्पोवचनद् ॥ १९७ ॥ नेत्रद्वारेण प्रति तं तेजोऽस्यतीश्वरस्मय । पतिता चैव तस्तितो वातपैवपदिदुम्बकम् ॥ १९ ॥ प्रथम पुर्व दरराभो वारमम्येन प्राह च । वरमपर्त च मां माद्धीमेवं मार्ग चपार षः ॥ १९९ ॥ तदा पितामहस्येवं दर्शं हत्वा कनेत्रतः । हिमवर्षीमवाद् वैप्या तसोपतिप्रविशपत् ॥ २ ॥ तपश्चर्यां भाषुपाधाम्युपमान् कृपया प्रभुः । मिमो । त्वं हि कम्पतरत्नपीवेर्ण कृपा मयि ॥ २ १ ॥ न कृतिमा चात्मविधि स्पूर्नं मे कुप्रतीपते । भीमकूपतावर्णे, चारित्रे चिरकमरम् ॥ २ १ ॥ प्रतिक्रमिति तपिते पदकमापिषकम् । संकम्पमोपकीर्य च मनसे चोपदेपणम् ॥ २ १ ॥ इत्येवं तत्र सात्म

हृदये चावधार्य्यताम् । अपुनरावृत्य भावस्य, पन्था तेनैव दर्शित ॥ ३०४ ॥ **अथ मनुष्यवन्मूकपशुरक्षणम्**—मनुष्यवन्मूकपशूनरक्षयत्स्वयं जिन । यदा हि वाममार्गीणा, प्रसारमधिक ह्यभूत् ।, तदा ते दयया हीना, व्याजायज्ञाच्च कोटिश । पशवो वहवस्तैश्च, हता मूका निरागसा ॥ २०५ ॥ तस्मिन्काले च शमिना, घातकास्ते तपोवलात् । अवरुद्धाश्च वीर्येणानन्तशक्त्या तथा पुनः ॥ ३०६ ॥ न हन्तव्या न हन्तव्या, घोषणेयं मुहु कृता । अवरुध्य भीषणं काण्डं, ससारस्थितप्राणिनाम् ॥ ३०७ ॥ रक्षिताश्चानन्तजीवास्तथाऽसिघातनादपि । तस्यायमुपकारस्तु, धर्मोऽय च पुरातन ॥ ३०८ ॥ मुद्राङ्किता कृतास्तेन, तत्स्मृतिर्वर्ततेऽधुना । महोदयो **वालगङ्गाधरतिलकसंज्ञकः** ॥३०९॥ **नेता श्रीभारतस्यासीद्धन्यवादं प्रदत्तवान्**। जैनसमाजवृन्देभ्यो, नैतन्माल्पमहत्वकम् ॥ ३१० ॥ अपकर्तृपशूद्धारो, मनुष्य इव सत्कृत । हिंसकादेरपकर्तु , पशोरप्यपकारणम् ॥ ३११ ॥ सदोपेक्षैव सद्भावा, कृता तेतिति सस्फुटम् । हिंसावृत्तिरताना तु, पशूना वृत्तिपाशवीम् ॥ मोचयित्वा समाधेश्च, दत्वा वोधमनामयम् ॥ ३१२ ॥ सदाचाराधिकारं च, ददाति स न सशय । यथा चण्डकौशिकेन, विषाक्रान्तमहोरगे ॥ ३१३ ॥ वेदना दशजा शश्वच्छान्त्या सर्वं विशोढवान् । कृपया त च सन्मार्गे, सदाचारे तथा पुन ॥ ३१४ ॥ स्थापयित्वा प्रवोधेन, श्रीमुखेन च भाषितम् । चण्डकौशिक! वुध्यस्व, शान्तियुक्तो निशामय ॥ ३१५ ॥ शब्दा एव प्रकथिता, नरकाधेन रक्षित । पतनतोऽवन जातो, जगद्गुरुप्रसादत ॥ ३१६ ॥ शान्त्यैवं सुवोधितोऽपि, सुप्तावस्था गतोऽप्यसौ । क्षिप्त जागरितो बुद्धो, विवेकसमशक्तित ॥ ३१७ ॥ साधयति स कार्यं च, किं मया श्रूयतेऽधुना ॥ एव विचारितस्तेन, किं शब्दोऽयं कृपामय ॥ ३१८ ॥ पूर्णा दया च तस्याऽस्ति, न वा चेति विचार्य्यते । एतद्वाक्यकदम्वानां, न जाने स्वाशय पृथक् । एतद्वधिरपानेन, सिता च शर्करामपि ।, तिरस्करोति स्वादेन, नो लब्धा चेदृशी मया ॥, ज्ञाते मयाद्य संचार., शान्तेरस्य च नाडिषु ॥ ३१९ ॥ आशा नामापि नास्त्यत्र, मृत्युभयस्य का कथा । परमस्ति क्षमायास्तु, पराकाष्ठेति धारय ॥ ३२० ॥ अपकारकारिण्यपि, क्षमा स्वाभाविकी कृता । आवश्यकाधिकानन्ता, शान्त्याख्यकवचोपरि ॥ ३२१ ॥ सन्मार्गे मां च ह्यानेतु, कियच्छ्लाघ्यो महानपि । समालोचनपूर्वं हि, तस्मै स्वदर्शनं वभौ ॥ ३२२ ॥ जातिस्मृतिक सञ्जात, ज्ञानं गतजन्मसार-

कम् । कोपोऽयं घातिपापात्मा सम्मतिमाप मां पुनः ॥ ११३ ॥ पातितवानत्र
योन्यै निहन्म्यहमिति स्थितिः । जन्मत्रयेऽप्यत्र यशो विभो । वन्दितास्य
मम् ॥ ११४ ॥ वीरपञ्चपञ्चकल्याणं मोचय मामिति प्रार्थना । प्राप्य
नैवं विसंवादं विवेकश्चाति गतः ॥ ११५ ॥ सम-संवेग-निर्वेदं, वत्सरस्यात्मकं
दशम् । पितृवाक्ये सुखेनैव नानुरन्तिमवाप्नवम् ॥ ११६ ॥ स्नात्वोप-
वासपर्यन्तं परमुत्तमसमाधिना । सर्वमायाः प्राग्जन्मे कृतवान् सर्वि-
रतस्तु ॥ ११७ ॥ जन्मसप्तपातालमहानायः पञ्चमके दिने । सप्तदशसमसहस्र-
रसर्वातिपिपासायत ॥ ११८ ॥ वन्योऽस्मि सर्वदैवत्वं हि, पद्मसपि महत्तमपत् ।
भास्वद्धर्माधिकारं च तत्र देवत्वोऽपि तापसः ॥ ११९ ॥ मम्मासमर्थकम्य
यक्षे मानुषभव भावतः । वसमवाऽऽगम सर्वं, सिद्धे वार्तं पुरातनम्
॥ १२० ॥ यथा मम प्रिया प्राणात्ययाऽप्येषा हि देहिनाम् । तत्सुखेन यथा
देषाऽहिंसानुनतपारये ॥ १२१ ॥ 'कोपाद्युग्रक्षयवियोगेऽपि कर्मारादिविरोप-
कम् । महाव्रतारोपणया हिंसायाः परिवर्जिता" । वीरसन्त्यपि वर्षकोवे,
देव्यन्तमासमतपोयमत् । चिरात्समपासमयोमस दृत्तपश्चात्तपोयतः ॥ १२२ ॥
यतसे मनसो मुख्य पादतामिति कथ्यताम् ॥ अथात्स्पृश्यामासुध्यारम्-
पवित्रोऽभ्युत्सर्पणेऽसार, इति निरुन्धमायनाम् । संस्थाप्य धर्मसत्तीर्थं मनु
ष्येषु तव प्रभुः ॥ १२३ ॥ मुनयर्माधिकारस्य मुक्तो भिकाशत । "सर्वे
भवति धर्मोरमा प्रापकार्क्ष्विं निवपत्ति" इति कृपातुपार्श्च रुपाकम्-
विमासपत ॥ १२४ ॥ दृश्यतामुक्तसन्निधानस्य पंचतत्त्वानुवृत्तम् । न च
निर्गतभेदे से 'हरिकेशबले यथा ॥ १२५ ॥ यादृशा चाण्डालमोमिलो
मुनिसद्वे स्वाममासयत् । ऐहिहासिकरम्य तु याथमेऽप्यापि तत्र हि ॥ १२६ ॥
वस्तप्रथमयसृष्ट्येषु, सुताम्नर्यार्थव च । रापदे मूरदे चाति तत्र हेतुत्वं
पुनः ॥ १२७ ॥ यथा 'तस्मुक' देवोऽपि तदर्थं मनिमाप्य । तमेवमेव
मन्तर्म्यं गुणस्थानप्रतिपन्नम् ॥ १२८ ॥ तत्र तत्र यथावसो न पौर्वं तस्य
भावम् । मनुष्यसामर्थ्यमिदरतपोत्तरमावत ॥ १२९ ॥ न हि तस्य विन्नो-
प्युषणयतिनविधिम् । यतोऽन्यो धार्मिके तद्वद्भावतानिदने पुनः ॥ १३० ॥
यो निषाऐऽस्ति व्यस्य कीर्तिप्रतिबनाऽऽयता । धामवस प्रायश्च
वीथर यद्युपावद्यः ॥ १३१ ॥ आदीपस्थ्यमनेरेव विजानो निश्चितस्तदा ।
नायोऽयं तत्र सिद्धेव दृश्याद्भरतस्य बन्धनम् ॥ १३२ ॥ विचित्रं अद्यैव

ामूल तद्विनाशितम् । प्राचीनव्यवहारस्य, सन्मतेन स्थिरं पुरा ॥ ३४३ ॥
श्चाखिलावतारैस्तैरेवं निर्वहण कृतम् । यथा शासनपतेर्वीरभगवत शास-
ादनु ॥ ३४४ ॥ अयं सारतरश्चेत्थ, विचारस्य हृदा पुन । **अथ शत्रूणामुप**
ग्रपि-परोपकारिता–शत्रु प्रत्युपकारस्य, करणे रक्तान्स्वय प्रभु । सङ्गमः
ूलपाणिश्च, व्यन्तरीकटपूतना । दानवै पशुभिश्चैवोपसर्गं च महत्कृतम्
। ३४५ ॥ इति शत्रुगणैर्दत्तां, यन्त्रणां दारुणा तथा । सहित्वा साम्यभावेन,
कृत परिषहे जयम् ॥ ३४६ ॥ षण्मासान्त च सततं, ददन्कष्टं महाऽसुर ।
तदाऽवस्थगितो भूत्वा, हारित स गतस्तथा ॥ ३४७ ॥ तदा तन्नयनाम्भोजा-
दश्रुविन्दुद्वय त्रिकम् । पतित च यथा न्याये, इत्यवेहि च मानसे ॥ ३४८ ॥
"कृतापराधेपि जने" इत्याद्युक्त पुरैव च । अभिप्रायोस्ति तस्यायमपराधगुरुस्तथा
॥ ३४९ ॥ पात्रोऽय सञ्चितस्यास्य, कुत्सितस्य च कर्मण । भावि तत्परिणाम
हि, कथं सक्ष्यति कुत्र वा ॥ ३५० ॥ दुस्सहं यद्भवेच्चैतदेतदर्थं निशामय ।
अहो विज्ञायते चाय, शत्रूपरिशिवस्पृहाम् ॥ ३५१ ॥ कृतमाध्यस्थभावेनौदार्य-
गाम्भीर्य्यशौर्य्यकम् । इति गुणसमूहाना, वैलक्षण्य क्षमा वरा ॥ ३५२ ॥
महिमा चेति नान्यस्मिन्वीराद्भिन्ने प्रदृश्यते । अनार्यदेशेऽपि तथा, विहारो
भ्रमण तथा ॥ ३५३ ॥ निरन्तरं नावरुद्ध, धर्मात्मसदृशं मुहु । दर्शनम-
नार्य्यसघेभ्यो, धर्म्मकोटिनयाय च ॥ ३५४ ॥ म्लेच्छदेशेऽपि तस्यासीदनि-
वार्य्यभ्रमण मुहु । तत्राऽपि च भवन्त हि, कश्चिन्नानाति दूरग ॥ ३५५ ॥
देशान्तरस्थं कश्चिच्च, भेदक तस्कर तथा । ज्ञात्वा घ्नन्ति च वध्नन्ति, कूपाधो
लम्ब्यन्ति च ॥ ३५६ ॥ ते केचित्तच्छरीरे च, मृगयारसिका मुहु । सारमेया-
नवोधाश्च, लगयन्ति च ते पुन ॥ ३५७ ॥ स्वतीक्ष्णनखाघातैर्दन्तैश्च तच्छ-
रीरके । क्षत कुर्व्वंश्च जातास्ते, सशङ्का स्थगिता रह ॥ ३५८ ॥ पर स्वय
स गिरिवदचलोऽभूदवनीतले । तथाऽधमा नराश्चेद, दृष्ट्वा धैर्य्यं सहिष्णुताम्
॥ ३५९ ॥ प्रभावाद्भाविता भूत्वाऽऽश्चर्यचुक्ताश्च तेऽभवन् । तत पराजिता
जाता , पतितास्तत्पदाम्बुजे ॥ ३६० ॥ ततश्च श्रद्धया जैने, भूत्वा श्रद्धालवो
मते । महाव्रताऽणुव्रतयोर्लीना ससाधने मुदा ॥ ३६१ ॥ अनन्ता यातनां
भुक्त्वा, मिथ्यावादिष्वनार्यकेष्वनिवार्यजनेष्वत्र, जैनधर्मस्य चोत्तमा ॥ सस्कारः
स्थापितस्तेन, सत्यं सत्याग्रहात्मनाम् । कठोरहृदयाना च, लब्धवान् विजयं
तया ॥ ३६२ ॥ चर्य्ययाऽनया नश्च, शिक्षा सञ्जायते परा । भगवतो वीर-

देवस्य सुपुत्रो निमग्नो भवेत् ॥ १६३ ॥ धनार्म्यमहिषी छद्मवेषधरा वीर
स्वामिन् । धर्मेऽप्यनादिपरेऽपि मया न प्रसरेदिति ॥ १६४ ॥ तत्प्रयोग-
पदादनुसम्मेलनकर्म्मसमिति । प्रमितो वै न तथापि धर्मोऽस्यैकान्तिकस्य हि
॥ १६५ ॥ संस्थापितो मूलधरत्वेन श्रीवीरस्वामिना । सुधर्मस्वाम्यनुगामिन-
स्तथास्य दयापरः ॥ १६६ ॥ इत्थमित्थमहं वस्ये मनीषा मुनिसत्तमः ।
न इतं ध्यानमथापि कदापि न हि सम्मतम् ॥ १६७ ॥ भूत्वा प्रभुवरोपमं
ग्रामस्य नगरस्य च । पिण्डोलकस्य मोक्षस्य ममताथां प्रमादके ॥ १६८ ॥
कृत्वा धर्मेषु तं च नोचितं स्थापनतो गतम् । तत्रैतत्सम्प्रदायं तैर्धं प्रार्थनाय
मुनेरिदम् ॥ १६९ ॥ धारणकीर्ति पदवीश सेवे भगवतः परम् । वीरस्य
सुविस्तृतपुरी विस्तारं मयमे पुनः ॥ १७० ॥ विहारदत्तैप्तनाशय मध्यके
वर्तते च वा । पुष्कलदेश भावात् मुनिप्रसन्नमपि ॥ १७१ ॥ धर्मप्रचारं
भवने नायातय वदामये । भगवतो वीरदेवस्य वैभवविस्तृतसमन्मम् ॥ १७२ ॥
पाठनस्य प्रचारः स्यात्तदा किं कारणं वद । तन्मतसंघसमाजानाम अपि
तस्य च पूज्यपाद । प्रवक्ता वै धनाढ्यश्रेष्ठसज्जनमुनि मानवाः ॥ १७३ ॥
तेषु धर्मप्रचारोऽपि न भवेदिति चिन्त्यते । शोचनीया सुधर्मेयं धर्मामतम्य
भ्रातरः । एतद्भवितव्येऽपि मयास्त्वेवमतं परम् । जैनं तस्य गौरवार्थं
प्रपन्नि परिचयो महान् ॥ १७४ ॥ धर्म्मं भवतां नाम संस्थापि
कर्मेमम्नत् । यतो हि विदुषां वासिनामाऽऽपञ्चमुनीनपि ॥ १७५ ॥ सुधर्म
प्रतिज्ञानां सम्पूर्णा सर्वसम्मते । न्यासन्यायासवीर्य', सन्याससारिणां
तथा ॥ १७६ ॥ चिन्तयामि सदा सम्यक्त्वप्रचारस्य क्षेत्रकम् । भगवता
वीरदेवेन धर्मं कुरु विशालकम् ॥ १७७ ॥ जैनधर्मं तथा पापविध्वस्तं
तथा कुरु । भवन्तो तेऽपि चासेव रोपस्य परिमार्जकाः ॥ १७८ ॥ सन्तोष-
विज्ञानाय न वा चेति विचार्य्यताम् । अथ मत्कापूर्वस्यागत्यस्ति—समयान्त-
रस्यागमति श्रीजैन-सौभाग्यविशिकम् ॥ १७९ ॥ पूर्व्वमिति कालग्रे च दक्षेति
विशुद्धम् । यस्यैन तथा चातीतस्यर्धा न वर्णिता ॥ १८० ॥ श्रीवीरस्य यदि-
मानता पूर्वकाल समानिकम् । सुविवेका मुनिकेति सदापि श्रीविश सुधा
॥ १८१ ॥ साम्प्रतिकं पवित्रं च श्रीजिनस्याऽप्यनुमतम् । जैन संसारकल्पान्ते
न हि तत्प्रतिस्थिति ॥ १८२ ॥ इतोऽप्रतिरिक्ते तस्यापि सुखापमानत्वथा ।

यदा भव्यानुभावेभ्यो, भक्तेभ्यश्चापि जायते ॥ ३८३ ॥ नगराच्च बहिर्देवो, निर्जने कानने स्वयम्। वीरश्च भगवान्स्वामी, समायातोऽतिपुण्यत ॥ ३८४ ॥ शक्रादिदेवै सर्वैश्च, समवसरणनिर्मितम्। महान् कलरवो जातो, नगरेऽपरिमिता जना. ॥ ३८५ ॥ धर्मानुरक्ता श्रोतारो, जिज्ञासव इतीतरे। तेभ्योऽतिरिक्तपश्वादिश्वापदा पक्षिणस्तथा ॥ ३८६ ॥ आयान्ति समितौ ते तु, रचिते समवसरणके। महत्सम्मेलन जात, तदा ते जातिभावनाम्। स्वाभाविकं पाशविक, त्यक्त्वा हि वैरभावनाम्। शान्तिच्छटा नीतवन्तो, जातास्ते धर्म्मतत्परा: ॥ ३८७ ॥ उपदेशानन्तर भूपा, सार्वभौमास्तथाऽपरे। राज्यसत्ता परित्यज्य, गृहीतमुनिसुव्रता ॥ ३८८ ॥ गृहिणोऽपि गृहे स्थित्वा, पञ्चाणुव्रततत्परा.। तृष्णाभार समुत्तार्य, सम्यक्त्वभावमागता। जीवन सफल जाता, कुर्वन्तस्ते परं परम्। औदासिन्य रूक्षभाव, भोग्यं कर्मोपभुज्य च ॥ ३८९ ॥ अन्ते निवृत्तिमार्गं च, लब्ध्वाऽक्षयसुख पुन। अनेकानि प्रमाणानि, लभ्यतेऽनेकशस्तथा ॥ ३९० ॥ **अथ शास्त्रार्थप्रकरणम्**—अथ शास्त्रार्थवृत्तीना, वादिना प्रतिवादिनाम्। ऋजुवालुकानद्याश्च, तटे श्यामाकक्षेत्रगे ॥ चतुष्टयानन्तमापन्ना, सद्धर्म्मप्रतिपत्तये ॥ ३९१ ॥ गोरखमण्डले ग्रामे, 'पडरोणेति' विश्रुते। पावापुर्यां चोपवने, भ्राजते स जगत्प्रभु ॥ स्याद्वादमहावाचा, महानादेन शब्दिता. ॥ ३९२ ॥ दिशा कुर्वंस्तदा काले, कस्यचिद्ब्राह्मणस्य हि। महाध्वरोत्सवो जातस्तत्रैकादश पण्डिता ॥ ३९३ ॥ आहूतास्तेनेन्द्रभूतिर्महामान्यश्च वेदग। आसीत्तस्यामवँश्छात्राश्चत्वारिंशच्छतसहस्रगा ॥ ३९४ ॥ वेदाध्ययनसम्पन्ना, विद्यार्थिन इति स्फुटा। अगणितानां च देवानामायन्त्ययाद्धि गौत्तम ॥ ३९५ ॥ ज्ञानं जातं तथैवात्राऽनेकान्तवादवित्तथा। समायातो जिनेन्द्रश्च, सर्व्वज्ञो विश्वरक्षक: ॥ ३९६ ॥ शास्त्रार्थे तेन साक वै, शर्म्मा समवसरणकम्। गच्छति स तदाऽऽयान्त, दृष्ट्वा त जगत प्रभु ॥ ३९७ ॥ आगन्तुकस्य सच्छिष्टाचार शिक्षणाय च। स्वभाविगणधरस्य, स्वागतं चेन्द्रभूतये ॥ ३९८ ॥ तत्कमानसिकं भावं, तस्य सशयशसिनम्। तन्निवृत्ति कृता तेन, तथा सवेदिनी मुहु ॥ ३९९ ॥ शिक्षा दत्ता प्रभावोत्था, चार्हती चोपकारिणी। तदिन्द्रभूतये तद्वद्वेदवेदमिताय च ॥ ४०० ॥ महानुभावश्रेष्ठेभ्य सुप्रदत्ता गरीयसी। हेयं ज्ञेयमुपादेयमिति च त्रिपदी मता ॥ ४०१ ॥ ज्ञानोत्पादयित्री सा, सोत्पादव्ययध्रौव्यकम्। षड्द्रव्यात्मक चैव, द्वादशाङ्गिगिरा सह ॥ ४०२ ॥ चतुर्दशात्मक पूर्वं, यदुक्त

देवस्य सुपुत्रो निर्भयो भवेत् ॥ १६३ ॥ यथाम्र्भमहिमा समाप्तोत्पन्ना वीर-
स्वामिनः । धर्मोऽप्यपारिसहोऽपि परसा च प्रचरेदिति ॥ १६४ ॥ तथारोग्य-
मरणसहस्रमन्दसत्कर्मसंचिता । स्वामिनो ये च तथापि धर्मोऽप्यपरिच्छिन्नस्य हि
॥ १६५ ॥ संस्थापितो भूमण्डलेऽस्मिन् श्रीवीरस्वामिनः । सुधर्मस्याप्यनुगामिनः
स्वपाम्य दयापरः ॥ १६६ ॥ हयासिरमर्थं यस्मै यथैवा मुनिभावतः ।
न दत्तं ध्यानमत्रापि कदापि न हि सम्मतम् ॥ १६७ ॥ गृहस्य प्रभुवर्यस्य
प्रमस्य ममरस्य च । पिण्डोऽस्मै मोक्षपदे ममतायां प्रमादके ॥ १६८ ॥
कृत्वा कर्मक्षितं स च मोक्षिदं भगवतां पदम् । तमेतत्स्मरणं हेतं प्रार्थयाम
मुनेरिदम् ॥ १६९ ॥ वाराणसीति पार्श्वस्य क्षेत्रं भगवतः परम् । वीरस्य
कुण्डिनपुरी सिद्धार्थं भगवे पुनः ॥ १७० ॥ विहारधरीप्रामस्य मण्डके
वर्तते च वा । पुष्करस्थेन मायार्तं मुनिभ्रमण्यमिसापि ॥ १७१ ॥ धर्मप्रचारं
भगवे मायास्तव सदाभये । भगवतो वीरदेवस्य वैकल्पिकधरम्बम् ॥१७२॥
शासनस्य प्रचार स्मातया किं कार्यं मत । तत्कालसमवशरणं यदि
तस्य च पूज्यपात् । प्रथमं वै यथाधार्यैवजन्ममुनि मानवाः ॥ १७३ ॥
तेषु धर्मप्रचारोऽपि न भवेदिति चिन्त्यते । लोकवीना सुधार्थे सहास्मदन्य-
मातरः । एतद्युक्तिचयेऽपि भगवत्येममर्थं परम् । कैवं तस्य मोक्षार्थं
जगदिव परिचसो महान् ॥ १७४ ॥ शास्त्रम्यं भगवां नाम पंचसादि
पत्रेमनवत् । यतो हि निपुणं तत्त्विकाऽऽपसमुत्वीनपि ॥ १७५ ॥ पुनरस्य
प्रसिद्धानां वचनूपं सर्वसम्मते । व्याख्यानपापसहीनां, संन्यासधर्मेर्ण्
तथा ॥ १७६ ॥ चिन्तयामि सदा सम्यक्त्वप्रचारस्य क्षेत्रम् । भगवता
वीरदेवेन धर्मं कुरु निधानकम् ॥ १७७ ॥ वैनधर्मं तथा यथाविधिमार्यं
तथा कुरु । भगवतो तेऽपि चास्मैव रोगस्य परिमार्जना ॥ १७८ ॥ सम्यक्त्व-
चिन्तनस्य च वा चेति विचार्यतम् । अथ महापुरुषस्यान्मति—प्रथमम्
दस्नागमस्य वीरैकन्यसेवीरकारिकम् ॥ १७९ ॥ पूर्वमिति चकम्मी च दशवेति
मितुम्यकः । सरस्य तथा चासीत्तस्मर्वधा च वर्णितः ॥ १८० ॥ जैनस्य धर्मि-
मायया पूर्वापस्य सामान्यिकम् । मुनिविदु पूर्विहेति यदापि जैविक पुनः
॥ १८१ ॥ वामाचिके पविधं च सौविक्याऽऽपद्यस्यम् । वैन संसारकन्वर्थं
न हि तद्विस्मरिष्यामि ॥ १८२ ॥ एतोऽधीतिके तथापि सुखापनयसूचया ।

यदा भव्यानुभावेभ्यो, भक्तेभ्यश्चापि जायते ॥ ३८३ ॥ नगराच्च बहिर्देवो, निर्जने कानने स्वयम्। वीरश्च भगवान्स्वामी, समायातोऽतिपुण्यत ॥ ३८४ ॥ शक्रादिदेवै सर्वैश्च, समवसरणनिर्मितम्। महान् कलरवो जातो, नगरेऽपरिमिता जना ॥ ३८५ ॥ धर्मानुरक्ता श्रोतारो, जिज्ञासव इतीतरे। तेभ्योऽतिरिक्तपश्वादिश्वापदा पक्षिणस्तथा ॥ ३८६ ॥ आयान्ति समितौ ते तु, रचिते समवसरणके। महत्सम्मेलन जात, तदा ते जातिभावनाम्। स्वाभाविक पाशविक, त्यक्त्वा हि वैरभावनाम्। शान्तिच्छटा नीतवन्तो, जातास्ते धर्म्मतत्पराः ॥ ३८७ ॥ उपदेशानन्तरं भूपा, सार्वभौमास्तथाऽपरे। राज्यसत्ता परित्यज्य, गृहीतमुनिसुव्रता ॥ ३८८ ॥ गृहिणोऽपि गृहे स्थित्वा, पश्चाणुव्रततत्पराः। तृष्णाभारं समुत्तार्य, सम्यक्त्वभावमागता। जीवन सफल जाता, कुर्वन्तस्ते पदं परम्। औदासिन्य रूक्षभाव, भोग्य कर्मोपभुज्य च ॥ ३८९ ॥ अन्ते निवृत्तिमार्गं च, लब्ध्वाऽक्षयसुख पुन। अनेकानि प्रमाणानि, लभ्यतेऽनेकशस्तथा ॥ ३९० ॥ **अथ शास्त्रार्थप्रकरणम्**–अथ शास्त्रार्थवृत्तीना, वादिना प्रतिवादिनाम्। ऋजुवालुकानद्याश्च, तटे श्यामाकक्षेत्रगे ॥ चतुष्टयानन्तमापन्ना, सद्धर्म्मप्रतिपत्तये ॥ ३९१ ॥ गोरखमण्डले ग्रामे, 'पडरोणेति' विश्रुते। पावापुर्यां चोपवने, भ्राजते स जगत्प्रभु ॥ स्याद्वादमहावाचा, महानादेन शब्दिता ॥ ३९२ ॥ दिशा कुर्वंस्तदा काले, कस्यचिद्ब्राह्मणस्य हि। महाध्वरोत्सवो जातस्तत्रैकादश पण्डिता ॥ ३९३ ॥ आहूतास्तेनेन्द्रभूतिर्महामान्यश्च वेदग। आसीत्तस्याभवँश्छात्राश्चत्वारिंशच्छतसहस्रगा ॥ ३९४ ॥ वेदाध्ययनसम्पन्ना, विद्यार्थिन इति स्फुटा। अगणितानां च देवानामायस्थ्ययाद्धि गौत्तम ॥ ३९५ ॥ ज्ञान जातं तथैवात्राऽनेकान्तवादवित्तथा। समायातो जिनेन्द्रश्च, सर्व्वज्ञो विश्वरक्षकः ॥ ३९६ ॥ शास्त्रार्थं तेन साकं वै, शर्म्मा समवसरणकम्। गच्छति स्म तदाऽऽयान्त, दृष्ट्वा त जगत प्रभु ॥ ३९७ ॥ आगन्तुकस्य सच्छिष्टाचारं शिक्षणाय च। स्वभाविगणधरस्य, स्वागतं चेन्द्रभूतये ॥ ३९८ ॥ तत्कमानसिकं भावं, तस्य सशयशासिनम्। तन्निवृत्ति कृता तेन, तथा सवेदिनी मुहु ॥ ३९९ ॥ शिक्षा दत्ता प्रभावोत्था, चार्हती चोपकारिणी। तदिन्द्रभूतये तद्वद्वेदवेदमिताय च ॥ ४०० ॥ महानुभावश्रेष्ठेभ्य सुप्रदत्ता गरीयसी। हेय ज्ञेयमुपादेयमिति च त्रिपदी मता ॥ ४०१ ॥ ज्ञानोत्पादयित्री सा, सोत्पादव्ययध्रौव्यकम्। षड्द्रव्यात्मक चैव,

तद्विपाकके । ग्रामे परिषदं कृत्वा स्वमिराम् स्वसंस्मरन् ॥ ४ ३ ॥ पञ्चमर पदे पञ्चकस्यापिताः सर्वसंगते । प्रथमं चेतसमिदं सम्भेगानन्तसङ्गके ॥ ४ ४ ॥ समभुत्पाद तेम्नश्च समिति ४४ द्विजातये । तत्र त्रिमार्गे च तत्त्वपि पश्चिमः कृता ॥ ४ ५ ॥ अथागामपवासिकोज्ज्वलम्–अप-वाचयाभिव्यया सहस्र कृतं वचनम् । सार्धसहस्रपर्यन्तं तथा पञ्चदशे दिने ॥ ४ ६ ॥ [ज्ञानवतो दुष्करं च तप कुर्वन् निवारय] तदैवसिद्धि भवेऽस्य प्रयोजनमितरम् । कृतो मीमांसामिमज्ज्व कृतवान् पञ्चवारणम् ॥ पञ्चमासान्तं च मत्पूर्वं न कर्त्तुं मनिद्धं पुनः ॥ ४ ७ ॥ परन्तपं तपसिद्धस्य मासपक्षमा-प्तमुः । प्रतापमभवत्तस्यैवात्मनी नगरी ततः । प्रमथ्यैवमस्वात्मनाम्-वाक्मया- कर्मपुत्रक । सुसारं वनवासस्य वेष्टितश्च गाढवने ॥ ४ ८ ॥ सर्व-मस्य सिरस्यामसुरस्यास प्रयोज्यके । द्वारमे च सती वाक्य चमत्काराद्वीप-भक्तिता ॥ ४ ९ ॥ स्वस्मनिपर्यंदा विपरीति विशेषेण च । अभीष्टदे तथा मार्गे मयमतो कर्मतत्परा ॥ ४१ ॥ अयाचा वन्दिमी वीरं मयमम्बं निरीत्य च । शुश्रूप प्रथम कृत्वा कुर्वती मामयम्यथाम् ॥ ४११ ॥ प्रभु वभाषते ! देव ! सूर्ये लोकमये पुन । मामाचवाकुली चास्ति गृहीत्वा च मां पुन ॥ ४१२ ॥ कृतस्त्वां हर्ष कुर्या इति मे प्रार्थनं प्रभु । प्रमत्तेऽस्मान तस्मात्र मयुचितमुद्धा-मुखम् ॥ ४१३ ॥ परं ममतत्त्वमस्या कल्मषादिकमिभ्यते । तथाऽपमभुमकार-मनुष्यं चावमर्दित ॥ ४१४ ॥ कर्म स च पराक्रम, बन्धनमीक्षप्रसिक्ता । चन्दनमपि तथाऽपश्चम्भीता पदं मवि ॥ ४१५ ॥ कर्म देवतो मातु समागमनार्थं मम । तत्प्रसादे समाहत परमत्ता मे गतोऽस्मम् ॥ ४१६ ॥ अस्यां सवत्सां वीणापाणामनगा प्रयोजनम् । निरुज्जमार्धेन तस्मै चास्ति मस्य प्रयोजनम् ॥ ४१७ ॥ चतुर्थ्यं मनुष्यपतामपतो भवति द्विधा । महापदमवीरस्य-मिदं पूर्वोक्तं मतम् । सामिमत्स्य पूज्य तु, चारूप्य भक्तितत्परा । तथा सत्पुरुषाय [परस्य] मातमात्मस सत्यम्* । पतिस्य तन्मतिसद्धेर्मुक्तश्च कन्यपत् । केवलरूपमनन्तस्वरूपचार्पत्माप्सति ॥ ४१८ ॥ तस्य सन्तानं तस्मै वीतमुक्तत्वपोमतः । सवितव्याविशेषेण तस्य तत्पदमुत्तमम् ॥ ४१९ ॥ देवमानं प्रभुसत्ता च निर्माणस्वरूपतम् । वीरसेवि प्रमापया सम्यक्त्वमात्मार्थ

---

* सतिसत्यसत्यमात्मस सप्तमसीति भावाम् ।

कृतम् ॥ ४२१ ॥ निजाधीनो जनो यश्च, न कुर्यात्स्वसमं नरम्। स धनी निन्दितो ज्ञेय, इति जानीहि सस्फुटम् ॥ ४२२ ॥ **अथ सदाचारिशिष्यान्**–सदाचारवत शिष्यान्, प्रति जागयते पुन । यस्तस्य चरणाम्भोजसमीप सुसमाहित ॥ समागत्य च दीक्षाया भागवत्या प्रसादकम् ॥ ४२३ ॥ भगवत प्राप्तवान्शाश्वत्तमेवाभेदभावत । कुर्यात्तमुन्नतं चैव, भाविन सोऽपि स्वस्य च ॥ ४२४ ॥ अध्यात्ममार्गं सम्प्राप्तुं, योग्यत्वमुपलब्धवान्। तथाऽभयकुमारस्य, धन्यस्य च महामते ॥ ४२५ ॥ शालिभद्रातिमुक्तस्यायोरुदाहरणानि च। श्रेणिकेन नृपेणैव, मगधेशेन चैकदा ॥ ४२६ ॥ उत्कृष्टक्रियायाश्च, साधना धन्यस्वामिन । दृष्ट्वा च भगवान् पृष्टो, धन्यनाम्नो मुनेरथो ॥ ४२७ ॥ सुक्रियोत्कृष्टपात्रस्तु, मुनीश सम्प्रतीयते। परं भगवता चेदं, गदित तन्निशामय ॥ ४२८ ॥ श्रुतचारित्रपारीणचतुर्दशसहस्रकम्। मुनीना सपरिवाराणा, मुक्तमालामणेर्निभम् ॥ ४२९ ॥ यथोचितमिद श्रुत्वा, चोत्तर श्रेणिकस्य हि। समस्तमुनिसङ्घे च, जाता श्रद्धा समा धिया ॥ ४३० ॥ **अथ पितुर्मित्रं प्रति**—मित्र प्रति पितुश्चैकवारं छद्मदशास्वपि। भूमण्डले भ्रमन्नस्मिन्नेकसन्यासिनो मठे ॥ ४३१ ॥ निवसितु निशामात्रमिच्छया समुपागत । मठाधीशो मित्रपुत्र, ज्ञात्वा तत्प्रेमरश्मिना ॥ ४३२ ॥ वद्धो भूत्वा बाहुपाशे, गृहीत्वा त च सङ्गत । तथेय च कृता तेन, प्रार्थना भगवन्! पुन ॥ ४३३ ॥ भवान्मित्र च सिद्धार्थराजस्य तनयोऽस्ति च। अतो मनस्तनुश्चेय, स्थान चेद तवैव हि ॥ ४३४ ॥ अतश्चागामिनि वर्षे, चातुर्मास्यव्रत महत्। अत्रैव कृत्वा पूत हि, कुरु स्थान मदीयकम् ॥ ४३५ ॥ मौनावस्थास्वपि भगवान्, ददौ वै स्वीकृतिं पुन । शेषकाल यापयित्वा, तन्मठस्य च सन्निधौ ॥ ४३६ ॥ तृणमयीं कुटीं स्थित्वा, कृत्वा ध्यान स्थिरं पुन । कायोत्सर्गे लयो जातश्चातुर्मास्येषदेव हि ॥ ४३७ ॥ व्यतीते दिवसे जातो, दुर्भिक्षस्तु महाँस्तत । तृणाभावाच्च पशव, क्षुधार्ता वेदनोदये ॥ ४३८ ॥ तदा तत्पर्णशालायास्तृणपुञ्ज मुहुर्मुहु । निष्कास्य भक्षयामासुस्ते तदा कालयोगत ॥ ४३९ ॥ नावरुद्धा मठाधीशो, दृष्ट्वेदं वृत्तमद्भुतम्। आश्चर्ययुक्तोऽभूत्तस्मिन्नैतादृश कदापि हि ॥ ४४० ॥ निस्पृहत्व मया दृष्ट, न कृत गृहरक्षणम्। पर तस्य मनोभाव, ज्ञातवान् क्रमश प्रभु ॥ ४४१ ॥ ज्ञात्वाऽप्रियकरं स्थानं, विहारं झगिति कृतम्। शान्तिभङ्गा न मे भूयादिति तेन विचारितम् ॥ ४४२ ॥ "सकडे सकड ठाण", दूरत परिवर्जयेत्। सिद्धान्तस्येति सारं वा, स्थापन कृतवान्मुहु ॥ ४४३ ॥ **अथ धर्माद्विचलितान् प्रति**—

पत्तनान्ते धर्मोपगमनक्रियानिमित्तमिमपदे । वर्णिभिस्तमते राजराजपीठः
सुमेरिवः ॥ ४४४ ॥ तनयस्तस्य मेघोऽस्ति मेघकुमारनामकः । सुखोपैर्वै
वीरस्य संवेगपरमश्रियपदे ॥ ४४५ ॥ दीक्षोत्तमा तदा तस्य दीक्षितस्य वयस च ।
सर्वमुनीनां पश्चात्तु तदाऽऽसनमपद्यत ॥ ४४६ ॥ परन्त्वासनके सर्वे चर्या-
यान्ति यान्ति च । मुनयोऽनुयोगपरविचारकाः समन्ततः ॥ ४४७ ॥ तेषामी-
र्यामात्रपादस्पर्शैः मुहुर्मुहुः । जातस्तु पराभूय व्याकुलोऽभून्महामनाः
॥ ४४८ ॥ निद्राऽभावसमापन्नो विचारे तत्परोऽभवत् । किं मेघकुमारैर्वै च
पारम्पर्यकारणम् ॥ ४४९ ॥ अजीर्णं व्यतीतं स्पर्शोऽसौ मुनिर्मतः । प्रातरेव
हि स्वीये, धर्मोपकरणे मुदा । पत्न्यं च जननीं वर्ते च मिलिष्यामि सुमेरतः
॥ ४५ ॥ चतुरयेव सम्भूय रजित- पारम्पत । मेरुवं विनिवेदितवान्, सर्वं
पूर्वमेव तत् ॥ ४५१ ॥ तदा भगवान् मत्वैव तदाऽभ्यागतोऽभवत् । अथ मुखा
सुसंयमभावं यान्ति कर्मचन ॥ ४५२ [न यान्ति सर्वं याप निभावर्षमतः
परम्] निशम्यत्र भावर्षि, मुनिर्मेघकुमारकः । वीरस्य चरणाम्भोज
सम्प्रणाम्य समागतः ॥ ४५३ ॥ गुरो मर्ह सस्नेहा कथा तस्य सुमेरतः ।
सर्वं चिरकालपद्, कुमारः कनिष्ठस्य च ॥ ४५४ ॥ स तत्त्वेषणी मूल्य च
तस्य च सद्गुणमय । संसारसागरे घोरे निमज्जन्त च प्राणयन् ॥ ४५५ ॥
सर्वतत्त्वे निश्चयमन्यं विनय पुनस्तस्मान् । रात्रौ क्व ! सुधीनां च पादस्पर्श
तस्त्वथ ॥ ४५६ ॥ कथा निद्रा न सम्यगी देवमार्गव्याप्तमापतम् । कालो
निद्रा मुनिभिर्भिया निद्राऽऽगतोऽभिवस्तृ ॥ ४५७ ॥ यं निवेदयामास मार्गस्त
स्नानात् । तथा सम्पूर्णं ज्ञानं कस्य पापानि तत ॥ ४५८ ॥ तत्र चर्ये
भक्ति च निद्रापरमहारम् । एतचन्द्र मतिमुखः मेघनाथे मुनेर्हितम् ४५९
जातिस्मरोऽभवत्पूर्वजन्मप्रभवतस च । निर्विमानपत्ये वार्ता स्मरस्त स्वको
पयम् ॥ ४६ ॥ पूर्वसंवेगिनी तदासा वातोत्सम्भूय । तत्र योगी पुनर्जातो
दीक्षाप्रमविप्रमतः ॥ ४६१ ॥ सर्वेषामपरस्त्वर्न्तेन तस्य स्वेषस्य गुरोः [कन्ये
धर्मितितसर्वसम्यग्जिनोऽभवतः ॥ ४६२ ॥ समयवनार्य येन सुभिर्ये प्रण-
म्यतु । मध्यगामी रतेस्य प्रजन्मद्युतर्म तत ॥ ४६३ ॥ प्रायसत्यमर्यसमा-
मणिस्त्वं प्रमरत्यालके । मम मोक्षपुत्र वीरदेवैव मरणकतः ॥ ४६४ ॥ मय
म्मोक्षेच्छारत्नवतरतः परिपीयते । निपुण प्रतिमारचय कर्मसिप च सम्यते
॥ ४६५ ॥ मय यद्द्रं प्रति-मरम्मनवमरेपमिश्वनं परमेविनाम् । यद्रिप

श्रावका ये च, जैनधर्मानुगास्तदा ॥ ४६६ ॥ *वस्त्रात्मकविधौ स्थूलसूत्रज वसनं-मुदा । तत्तत्सामयिका लोका, धारयन्ति स्म तन्मुहु ॥४६७॥ तत्क्षौमयुगलं प्राह्नुस्तत्कालीना नरा भुवि । निर्माय वसनागारं, स्थूलसूत्रस्य तै पुन ॥४६८॥ ततोऽन्यद्वर्जयित्वा च, धार्यतेस्म तदेव हि । प्रति ससारिण सर्वाञ्चरान्स्वस्य स्वकीयकम् ॥ ४६९ ॥ द्विसप्ततिमिताब्दान्त, चायुरुक्त समासत । सज्ञानानन्ततेजोभिश्चतुर्थसमयस्य हि ॥ ४७० ॥ सृष्टिमुल्लासयामास, भव्याना कोटिशो विभु । शंकाऽऽकाङ्क्षा विरहिता, विचिकित्सा विवर्जिता ॥ ४७१ ॥ अमूढदृष्ट्युपगूहश्च, स्थितिभावस्तथेतर । स्ववात्सल्यमहिम्नैतान्, कृतवान्स प्रभावितान् ॥ ४७२ ॥ स्त्रिय, शूद्रास्तथा नीचास्तथोच्चाश्चेत्यभेदताम् । धर्मसाधनसमानाधिकारत्व स्थिरीकृतम् ॥४७३॥ तन्महत्व कियच्चेति, विचारय मुहुर्धिया । भगवन्महावीरेण, यत्किंचिद्दर्शित खलु ॥ ४७४ ॥ आदर्शरूप तस्याद्यतुल्ना कर्तुमक्षम । इतिहासपुराणादिजाते भुवि गवेषणे ॥ ४७५ ॥ नान्यत्र कुत्रचिल्लाभो, दृश्यते तस्य नैव हि । प्रत्येकस्य समुल्लेखो, लक्षश कोटिशस्तथा ॥ ४७६ ॥ व्याख्यानस्य निबन्धस्य, जायते रचना बहु । कोऽनन्तसुगुणान्वक्तु, प्रभो शक्तो भवेन्नर ॥ ४७७ ॥ अतोऽस्य लेखने शश्वद्विषयो न प्रपूर्यते । एतदर्थं केवलं च, समुल्लेखनक कृतम् ॥ ४७८ ॥ कृत्वा चाशामह कुर्व्वे, दृष्टान्तैरेभिरन्वहम् । पाठका स्फुटरूपेण, ज्ञायेरन्सर्वथा यथा ॥ ४७९ ॥ भगवाँश्च महावीरो, वर्धमानस्तथापर । शासनाधिपतिस्त्वद्वद्धर्म्म मूर्तिर्जिनेश्वर ॥ ४८० ॥ तीर्थङ्करो वीतराग, साक्षाद्धर्म्मप्रवर्तक । जगदुद्धारकश्चासीत्सन्मतिश्च स एव हि ॥ ४८१ ॥ सन्ति ससारगा सर्वे, समवसरणे स्थिता । यदा मुन्योर्द्वयोस्तेजोलेश्यया च विहिंसनम् ॥ ४८२ ॥ हातु तेजस्तदेवाशु, भगवन्तमुपरि तदा । न क्षमो निर्घृणश्चास्य, गोशालस्य विशेषत ४८३ शत्रुभाव गतस्यापि, क्षमादृष्टि स्वभावत । कृता यैरादर्शरूपो, देवाधीशोऽप्यसख्यया ॥ ४८४ ॥ दयादेव्या स्मारकोऽय, सन्देहो नात्र कस्यचित् । **'धर्मस्य च समग्रस्य'**, लक्षण तत्र वर्तते ॥४८५॥ न वा पूर्णतया चेद, विचारेण विभाव्यताम् । समग्रस्य च धर्मस्य, लक्षण प्रतिपादितम् ॥४८६॥ **अथ यशसश्च समग्रस्य**—भगवन्महावीरस्य, दिगन्तव्यापिनी शिवा । कीर्तिर्या वितता लोके, तद्विषये निगद्यते ॥४८७॥ पारमार्थिकदृशा वक्तु, शक्यते चेदृग पुन । न केऽपि सन्ति ससारे, प्राणिना भगवद्गुणे ॥ ४८८ ॥ मुग्धभावं न जायन्ते, न

* यदाधुनिकभाषाया 'खद्दर'श्चेति गीयते ।

पतनाम्ने धर्मोपगताद्वितानिधिमिवपठे । धर्मिविश्वमवे राजगृहपतीशः सुधर्मितः ॥ ५४४ ॥ तमवकस्य मेघोऽपि मेघकुमारनामकः । कुम्भोपदेशं वीरस्य संवेग्यावतिजगृहे ॥ ५४५ ॥ दीक्षोत्तमा तदा तस्य दीक्षितस्य भवस्य च । सर्वमुनीनां पश्चात् तदाऽऽसनमपेक्षत ॥ ५४६ ॥ परस्वाध्यायार्थं वर्षे वर्तुंमानानि यानि च । कुमतोऽनुपयोगस्याविद्यायाः समवलम्ब ॥ ५४७ ॥ तेषामी धामप्रत्यापाचसर्वे सुसुप्तः । पातस्त्वा: पराभूव म्याउन्योऽभूम्मदमना ॥ ५४८ ॥ निद्राऽभावस्मास्यो निवारे तस्योऽभवत् । कि मेघकुमोऽपि च पारमदस्याऽज्ञम् ॥ ५४९ ॥ प्रसवैर्वं नवीर्व स्वाध्योऽस्मि मुनिर्मनः । मातैव हि दयेरे धर्मोपदर्शे गुरुः । गत्वा च जननी वा च निवेदयामि दुष्करा ॥ ५५० ॥ ताडुरदीव गम्भूव रचिता पारसमनाः । मेरवं निर्विदेताय, मर्दं पूर्वभव न्त् ॥ ५५१ ॥ गत्वा चावारी मतपेव तदाऽस्मादस्योऽऽशरत् । अथ भूत्वा सुमेरुमवाय जानन्ति सर्वेषम ॥ ५५२ [न पायमित वर्षे चाय निवर्कर्माण्यम] निशामनराद मन्दीं मुनिर्मेघकुमारकः । वीरस्य चरणाम्भोजं पर्युपासितं समागतः ॥ ५५३ ॥ गुरोः मुहुं समुन्नता तस्मा तस्य दुर्भेदाः । मनं स्थिरतागु कुमार उचितमम च ॥ ५५४ ॥ न तम्भेदती भूप च तस्य च [illegible] । [illegible] वीरो निद्याने च [illegible] ॥ ५५५ ॥ [illegible] निद्रार्थं निगद पुनरच्चरत् । [illegible] मुनीनां च [illegible] ॥ ५५६ ॥ [illegible] ॥ ५५७ ॥ [illegible] ॥ ५५८ ॥ [illegible] ॥ ५५९ ॥ [illegible] ॥ ५६० ॥ [illegible] ॥ ५६१ ॥ [illegible] ॥ ५६२ ॥ [illegible] ॥ ५६३ ॥ [illegible] ॥ ५६४ ॥ [illegible] ॥ ५६५ ॥ [illegible]

श्रावका ये च, जैनधर्मानुगास्तदा ॥ ४६६ ॥ *वस्त्रात्मकविधौ स्थूलसूत्रज वसन-मुदा । तत्तत्सामयिका लोका, धारयन्ति स्म तन्मुहु ॥४६७॥ तत्क्षौमयुगलं प्राहु-स्तत्कालीना नरा भुवि । निर्माय वसनागारं, स्थूलसूत्रस्य ते पुन ॥४६८॥ ततोऽन्यद्वर्जयित्वा च, धार्यतेस्म तदेव हि । प्रति ससारिण सर्वाम्बरान्स्वस्य स्वकीयकम् ॥ ४६९ ॥ द्विसप्ततिमिताब्दान्त, चायुरुक्त समासत । सज्ज्ञानानन्ततेजोभिश्चतुर्थ-समयस्य हि ॥ ४७० ॥ दृष्टिमुद्भासयामास, भव्याना कोटिशो विभु । शंकाऽऽ-काङ्क्षा विरहिता, विचिकित्सा विवर्जिता ॥ ४७१ ॥ अमूढदृष्ट्युपगूहश्च, स्थिति-भावस्तथेतर । स्ववात्सल्यमहिम्नैतान्, कृतवान्स प्रभावितान् ॥ ४७२ ॥ स्त्रिय शूद्रास्तथा नीचास्तथोच्चाश्चेत्यभेदताम् । धर्मसाधनसमानाधिकारत्व स्थिरीकृतम् ॥४७३॥ तन्महत्व कियच्चेति, विचारय मुहुर्धिया । भगवन्महावीरेण, यत्किंचिद्दर्शित खलु ॥ ४७४ ॥ आदर्शरूप तस्याद्यतुलना कर्तुमक्षम । इतिहासपुराणादिजाले भुवि गवेषणे ॥ ४७५ ॥ नान्यत्र कुत्रचिल्लाभो, दृश्यते तस्य नैव हि । प्रत्ये-कस्य समुल्लेखो, लक्षश कोटिशस्तथा ॥ ४७६ ॥ व्याख्यानस्य निबन्धस्य, जायते रचना बहु । कोऽनन्तसुगुणान्वक्तु, प्रभो शक्तो भवेन्नर ॥ ४७७ ॥ अतोऽस्य लेखने शश्वद्विषयो न प्रपूर्यते । एतदर्थं केवल च, समुल्लेखनक कृतम् ॥ ४७८ ॥ कृत्वा चाशामह कुर्वे, दृष्टान्तैरेभिरन्वहम् । पाठका स्फुटरूपेण, ज्ञायेरन्सर्वथा यथा ॥ ४७९ ॥ भगवाँश्च महावीरो, वर्धमानस्तथापर । शासनाधिपतिस्तद्वद्धर्म्म-मूर्तिर्जिनेश्वर ॥ ४८० ॥ तीर्थङ्करो वीतराग, साक्षाद्धर्म्मप्रवर्तक । जगदुद्धार-कश्चासीत्सन्मतिश्च स एव हि ॥ ४८१ ॥ सन्ति ससारगा सर्वे, समवसरणे स्थिता । यदा मुन्योर्द्वयोस्तेजोलेश्यया च विहिंसनम् ॥ ४८२ ॥ हातु तेजस्व-देवाशु, भगवन्तमुपरि तदा । न क्षमो निर्घृणश्चास्य, गोशालस्य विशेषत ४८३ शत्रुभाव गतस्यापि, क्षमादृष्टि स्वभावत । कृता यैरादर्शरूपो, देवाधीशोऽ-प्यसख्यया ॥ ४८४ ॥ दयादेव्या स्मारकोऽय, सन्देहो नात्र कस्यचित् । **'धर्मस्य च समग्रस्य'**, लक्षण तत्र वर्तते ॥४८५॥ न वा पूर्णतया चेद, विचा-रेण विभाव्यताम् । समग्रस्य च धर्मस्य, लक्षण प्रतिपादितम् ॥४८६॥ **अथ यश-सश्च समग्रस्य**-भगवन्महावीरस्य, दिगन्तव्यापिनी शिवा । कीर्तिर्या वितता लोके, तद्विषये निगद्यते ॥४८७॥ पारमार्थिकदृशा वक्तु, शक्यते चेद्दृश पुन । न केऽपि सन्ति ससारे, प्राणिना भगवद्गुणे ॥ ४८८ ॥ मुग्धभावं न जायन्ते, न

* यदाधुनिकभाषायां 'खद्दर'श्चेति गीयते ।

जयन्ति ! च तद्गुणम् । गुणरूपत्व जनयापि नृणां तद्गुणेन वै ॥ ४८९ ॥
ज्ञातपुत्रमहावीरस्यानन्तचरित्रम् । गुणरूपेण तस्यापि सर्वेशत्वं प्रदर्शितं
॥ ४९० ॥ आध्यात्मिकस्य तत्त्वस्य पदार्थे तत्त्वचिन्तया । ये ये प्रश्निता लोकेऽ-
स्मिन्महाप्रभुणा भाषिताः ॥ ४९१ ॥ यान् यान्सद्विषयकाने प्रश्नान्प्रति सुधी-
मतः । भगवन्महावीरस्याचरणीयत्वस्तवम् ॥ ४९२ ॥ परिक्षेपदेशनां च,
प्रमाणं पठितो भुवि । सूत्रोपनिबद्धं सर्वेषां तदुपन्यासः ॥ ४९३ ॥
एतत्सर्वेण संक्षेपरूपमिदं च महोदयैः । एतादृशो जनः भाषया सद्विवेकनिर्दि
॥४९४॥ संसारे विरक्तस्य प्रवृत्तस्य विशेषतः । भगवन्महावीरस्य शिवस्य
प्रतिपादनम् ॥ ४९५ ॥ अनेकान्तस्याद्वादतत्त्वस्य सैद्धान्तिकोपदेशके । अस्मिन् लोका-
पिते लोकोत्तरगतं परमार्थं ॥ ४९६ ॥ यत्र श्रीधर्मस्य तस्य विस्तरं न हि
शक्यते । चित्रं किंचिन्महत्त्वं सर्वत्रैव विचारय ॥ ४९७ ॥ सामान्यजनसमर्थानां
महत्त्वं न वक्तव्यमपि । परं मानवजन्मस्य नान्तरीक्षितव्यं ॥ ४९८ ॥ महान्तो
मनुष्या नात्रबोधगम्यं वीरस्तवमिदम् । येन केन प्रकारेण स्तवयन्ते सद्गुणैः
॥ ४९९ ॥ इति वर्तमानमिदं च सिद्धं जातमिति स्तुतम् । विशेष पूर्वोक्त-
श्रेया वर्तमानविभवस्य च ॥५०० ॥ चरित्रे सामान्यस्य सिद्धान्तस्य प्रभावम् ।
पठितं परमार्थितं नानाप्रकारमिदं पुनः ॥ ५०१ ॥ पठनपाठस्य ज्ञाततो
ज्ञास्यन्तीति विशेषतः । पाठ्यश्रेणिर्मयैवेत्येवमयं पठ्यते ॥ ५०२ ॥
तथापि महावीरस्य चरित्रे जीवनस्य हि । तत्र सद्गुणैकस्य विशेषो दुष्प्र-
र्युक्तम् ॥ ५०३ ॥ तदा किंचिन्मात्रं वै न वर्तुं शक्यते मया । यथाशक्त्यामिमि
सर्वे वीरस्य विस्तरमपि ॥ ५०४ ॥ प्रमादोऽवकाशतस्या ज्ञानस्य वा
मुधा । मनुष्यस्यास्मातस्वभावेन संस्तुतम् ॥ ५०५ ॥ सुपाठकैश्चैवमिदं
वर्णितं गुणरूपतः । भगवतो लोकत्वं मन्यन्ते ज्ञानमात्रतः ॥ ५०६ ॥
सुखस्वर्गमिदं तस्य सममपदाशः परम् । अर्हन् च महावीरे, परिपूर्णस-
मस्त ॥ ५०७ ॥ प्रिया समप्रायाः—श्रीवीरं भगवन्तीर्थे जन्मजन्मान्तरा-
नुपः । तीर्थ त्यागरूपमेत्रमुक्तिरूपे शिवाय च ॥ ५०८ ॥ विपश्चिद्य-
सर्वज्ञानं सर्वेषां ज्ञानचक्षुषम् । चतुर्दशपूर्वज्ञानं तस्मै श्रीगौतमाय च ॥ ५०९ ॥
पूर्वपरस्तुतेऽपरपारीणं मुनिनाथं तम् । पञ्चमं मुनिपुङ्गवं, सुधर्मास्वामिनम्
॥ ५१० ॥ प्रत्यक्षज्ञानस्य मैत्रीं धर्मं च रोचक । यत्नोपविश्वस्यस्य
समस्तं पठनाद्वके ॥ ५११ ॥ इत्यौपचारिकेन ज्ञातस्य सम्पठके । कि

तन्मुक्तावसङ्ख्याना, प्राणिनां प्रेषके पतौ ॥ ५१२ ॥ मुक्तौ श्रिय समग्राया, लक्षणेति समन्वये । निरूपणे तथाऽवश्य, यत्न कार्यो विशेषत ॥ ५१३ ॥ यश्च सङ्घपतेश्चापि, वसुसम्पत्तितो *रह । सम्पत्तिमन्त कृतवानिति जानीत ज्ञानत. ॥ ५१४ ॥ **वैराग्यस्य समग्रस्य**—चतुष्टयाऽनन्तसम्पत्प्रातिहार्य्याद्यनेकधा । धर्मसम्पत्सङ्घसम्पत्कीर्तिसम्पत्तथाऽपरा ॥ ५१५ ॥ अष्टैव प्रातिहार्य्याख्यासुरवैभवसम्पद । एतावन्त्यो यत्र सन्ति, भगवत्यखिलेश्वरे ॥ ५१६ ॥ तद्वार्हस्य्योऽपि वैराग्यसम्पत्तिरुपबृंहिता । तथाऽनासक्तिसम्पत्तिर्वैरीवर्ति स तत्र वै ॥ ५१७ ॥ [तदद्भुत चमत्कारं, को वा वर्णयितु क्षम ॥] पुष्कल भोगमासाद्य, तत्रोत्पद्य स्वयं प्रभु । पङ्कज पङ्कजमिव, पृथगेव विभाव्यते ॥५१८॥ सेयं तत्त्यागवैराग्यसम्पत्ति· सिद्धिदायिनी । विद्योतते भगवति, वैराग्यस्येति लक्षणम् ॥ ५१९ ॥ **मोक्षस्याथ समग्रस्या**पुनरावृत्तिरूपक । समन्वयो यथार्हं वै, जायते तन्निशम्यताम् ॥५२०॥ आचाराङ्ग तथा व्याख्यासुप्रज्ञप्त्यादिरूपका । **आधारभूतेतिहासाच्च, सिद्धं तन्निर्विवादतः** ॥५२१॥ महावीरभगवान् दीक्षादशात पूर्वतोऽपि वा । पुद्गलस्यप्रबन्धेषु, पदार्थे बन्धने पुन ॥५२२॥ भावसयतयुक्तोऽभून्नापेक्षा विद्यते विभो । सर्वथा ते च मुक्त्यर्थं, सचेष्टा सन्ति भावत ॥ ५२३ ॥ सम्बन्धे चात्र चैतावत्कथन जातमल तथा । अनन्तचतुष्टयमाप्य, जात सिद्ध सकायिक ॥ ५२४ ॥ जीवन्मुक्तोऽभवत्तत्र, विज्ञेयं तच्चरित्रकम् । प्राणिनस्तस्य शरण, समायाताश्च येऽनिशम् ॥ ५२५ ॥ स्वय तेभ्य सुमोक्षस्य, सम्प्रदायरहस्यकम् । स्वसमास्ते कृतास्तेन, तत्सहाशु निसेवनम् ॥ ५२६ ॥ मुक्तिमूलं परं स्थान, तदस्तीति विभावय । तत्र मोक्षसमग्रस्य, समन्वयप्रसाधित ॥ कथ प्रश्नावकाश स्यादित्थ च बुध्यता धिया ॥ ५२७ ॥ अतो भगवते **मोक्षसमग्रस्य** समन्वय । षष्ठमलक्षणस्याऽयं, समन्वय इति स्फुटम् ॥ ५२८ ॥ **अथोपसंहारः**—एवमुक्तपडाख्यानाऽऽलक्षणाना समन्वयात् । सिद्धो जातस्तु जगति, "वीरस्तु भगवान् स्वयम्" ॥५२९॥ अस्ति सर्व्वज्ञ इत्थ य, समदर्शी च वीर्यवान् । हितैषी सर्वजीवाना, तथाप्तोऽनन्तशक्तिमान् ॥ ५३० ॥ शास्ता सार्व्व स एव स्याज्जगद्गुरुरिहार्तिह । अतस्तल्लक्षण प्रोक्त, निम्नग तन्निबोधत ॥ ५३१ ॥ "गुकारस्त्वन्धकारस्तु, रुकारस्तन्निरोधक । अन्धकारविनाशेन, गुरुरित्यभिधीयते" ॥ अज्ञानं च **गुशब्दस्य**,

---

* आचार्याणामष्ट सम्पदिति भाव ॥

तत्त्वमस्तविमर्शकः । मिलित्वा च द्वयोरर्थो गुम्फितुं वक्ष्यते बुधैः ॥ ५१२ ॥
भवत्समाधानमात्रतो वस्तुतत्त्वोऽप्यते । सर्वत्रापि सोऽस्त्रैव "वीरस्तु भग-
वान्स्तवम्" ॥ ५१३ ॥ अतोऽस्मत्प्रमाणसार्थं कृत्वा च स कार्यं प्रभु । "विचार"
विकासविधौ न्यायस्तत्र प्रवर्तते ॥ ५१४ ॥ तत्त्वज्ञस्य "वीरस्तु भग-
वान्स्तवम् ।" धारयित्वा सम्यक्तो दैवतैर्वै तत्स्तवम् ॥ ५१५ ॥ तथा धर्म-
राज्ञ च सम्यक्त्वस्य सर्वं प्रभु । सर्वसंसारसुखेषु मार्गं वैराग्यमीश्वरी ५१६
स्थापितोऽप्यस्ति यस्तेषां करुणावश्यमस्य हि । भगवन्माम्भोजस्य साधनाऽऽ-
सपर्येतरः ॥ ५१७ ॥ यथा हि मिलिता सम्यक् वीर्यं प्राप्नुवन्ति तत्समता । अतो
हि भगवान्वीरो भवसागरतारकश्च ॥ ५१८ ॥ यतोऽस्मत्तीर्थतीर्थंकरो चतु-
र्विंशतिप्रभवः । तीर्थंकरोऽन्तिमोऽप्यस्ति गुणैर्न्योऽपि विशेषैरेव ॥ ५१९ ॥
तादृशितोऽपि स्वयं न्यासे धर्मे विमलतरे । जैनधर्मे स एवात्र सर्वोपरि
नाऽपरः क्वचित् ॥ ५२० ॥ इत्थं भगवतो महावीरस्योपदेशतः । ज्ञानध्यानेन
परमात्मानिर्मोक्षोपेत्कृष्टः ॥ ५२१ ॥ यथार्थं तत्त्वमीमांसां कृत्वा सम्यक्त्वमेव च ।
तपश्चर्यासिद्धान्तमार्गस्य भवतां तथा ॥ ५२२ ॥ कर्मसंघट्टभवं तत्त्वज्ञानमाधि-
वेशनम् । महाप्रभुनिकटेन मार्गमनुपमम् ॥ ५२३ ॥ सम्यं मा प्रमादी
भवेति धर्मसमाहितः । अमूल्यसमयं ज्ञात्वा यावज्जनु प्रमादतः ॥ ५२४ ॥
यस्य स एव लोकेऽस्मिन्निर्मोक्ष सुधीर्गुणी । कृत स एव संसारे, साधाप-
भूतो वरः ॥ ५२५ ॥ तत्तत्पदं सर्वमैहिक चास्तिमत्सुखम् । श्रीजैनेन्द्रं मोक्ष-
सम्पत्सुखतरातिरेकम् ॥ ५२६ ॥ सत्सुखमयं लोके यावज्जनं वर्जितम् ।
सुखित्व सैव विज्ञेय सम्यक्त्वस्य धामनि ॥ ५२७ ॥ यतो होनेयमूलत्वं मिथ्या-
र्थेष्य संगतिः । महामारीऽस्य वाक्ये यतो दशमीसप्तमी ॥ ५२८ ॥ निबन्धोऽयं
समासेन श्रीपुष्पभिक्षुणा कृतः । श्रीमत्पवीरस्तवस्य सुधीः विशेष
भीमत ॥ ज्ञातपुत्रमहावीरस्तवनमनुपमिमा ॥ ५२९ ॥

मङ्गलं भगवान्वीरो, मङ्गलं गौतमः प्रभुः ।
मङ्गलं स्थूलभद्राद्या, जैनधर्मस्तु मङ्गलम् ॥

शिवमस्तु सर्वजगतः परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः ।
— दोषाः प्रयान्तु नाशं सर्वत्र सुखिनो भवन्तु लोकाः ॥ १ ॥

वीरस्तुति-परिशिष्ट नं० ७

॥ अथ वीरयोगतरङ्गः ॥

॥ मङ्गलाचरणम् ॥

योगाज्जानाति स्वात्मानं, योगः शान्तिं प्रयच्छति। योगान्मोक्षोऽभिसंयाति, योगाद्देशसमुन्नतिः ॥ योगान्निर्वैरतामेति, समाधिरचला भवेत्। योगेन समताऽऽयाति, तस्माद्योगात्मने नमः ॥ १ ॥ योगिनां सर्वतो मैत्री, योगी सम्मुदितां गतः। करुणान्वितो भवेद्योगी, योगे माध्यास्थ्यभावना ॥ २ ॥ योगशास्त्रे तथाऽन्यत्र, योगस्य प्रतिग्राहिता। तेन योगतरङ्गस्य व्याख्या पद्येन गीयते ॥ ३ ॥ योगेन भित्वा षट् चक्रं, वायु सस्थाप्य मूर्द्धनि। ब्रह्मरंध्रस्थकमले, सहस्रदलसवृते ॥ ४ ॥ स्वान्तमाकृष्य विषयाज्जलबुद्बुदसन्निभात्। सस्थाप्य ज्ञानतो बध्वा, ध्रुव ब्रह्मणि निष्कले ॥ ५ ॥ द्विविध कर्म सन्यस्य, योगी यात्यपुनर्भवम्। तस्माच्च योगमाहात्म्य, वर्तते सर्वतोऽधिकम् ॥ ६ ॥ अतश्च योगशास्त्रस्य, महत्व वर्णित बुधै। तद्व्याख्यान मयेदानीं, गीयतेऽभीष्टसिद्धये ॥ ७ ॥ योगो निर्मलचेतसा वितनुतेऽप्यष्टाङ्गसिद्धिं पुनर्योगाङ्गेन मनो नियम्य यतयो याता पद निर्भयम्। योगोऽज्ञानमयान्धकारतरणिर्योगाच्च चान्योऽपरस्तस्माद्योगमुपाश्रयन्त्वनुदिन यो योगिनामिष्टद ॥ ८ ॥ ससारेऽत्र सुख ग्राह्य, हेय दु खमिति स्थिति। इत्यनुसृत्य वाञ्छन्ति, सुखं प्रत्येकप्राणिन ॥ ९ ॥ दु ख तत्कारण वेति, ते नेच्छन्ति कदाचन। तस्मात्सुखाप्तये योग, सेवनीय सुखार्थिभि ॥ १० ॥ न ह्येतावद्धि मात्रेण, प्रत्युतैव सुखर्द्धये। नित्य कुर्वन्त्युपाय ते, शतशो यत्नतो मुदा ॥ ११ ॥ तैरुपायैर्यदात्यन्त, जायते सफला क्रिया। तदानन्तसुखावाप्तिं, लब्ध्वा यान्ति कृतार्थताम् ॥ १२ ॥ इत्य मत्वा सुखाप्त्यर्थं, सर्वसाधकसाधने। मुख्यो धर्मो न चान्योस्ति, तस्माद्धर्ममुपाश्रयेत् ॥ १३ ॥ स च योगात्परो नान्यो, ज्ञातव्यो योगसाधकै। एव धर्मो धारणीय, सत्सुखाप्तिकरो यत ॥ १४ ॥ योगतो लभ्यते स्वर्गोऽपवर्गश्च महात्मभि। कायस्य चैधते कान्तिरुज्ज्वलात्मसुखोदया ॥ १५ ॥ वर्तमाने युगे चास्मिन्ननेकमतवर्त्मनि। पार्टिबाजी सम्प्रदायसद्वाडागच्छटोलका ॥ १६ ॥ वर्तन्ते ये च धर्मस्य, नामोपरिचलन्ति ते। तेऽमरगृहीटका भूत्वा विहरन्ति यथेच्छया ॥ १७ ॥ योगसाधनतस्ते च, विमुखा निजशिष्यके। सुखसाधनदानार्थं[illegible]

निर्वाहार्थं मतुक्रियाः । परम्परया विख्यातं बोधयन्ति स्वधर्मिणः ॥ १९ ॥ तथा परम्परावग्रनुसारेणैव शिष्यवत् । कुर्वन्ति ताः क्रियाः सम्यक्तदीर्थमर्तनैपुरा ॥ २० ॥ यस्यां स्थाप्यं केचित्तु, स्वात्मनिस्तुयथाम्यया । प्राप्तिनषेधया समित मेधो मिते न मुक्तिरम् ॥ २१ ॥ सन्तोष- मुपाशिष्यवैमसक्त्यपाद्वेदयी । महाप- रिमानवन्तो योगः सुखमिष्वते ॥ २२ ॥ एवं लोके च कुर्वन्ति सर्वमेमान- मास्थिता । एवः सोपमेऽप्येवं न पूर्वमवामनुते ॥ २३ ॥ सुखं तस्याप्यं तद्रस्मा पे चाप्नुवन्ति ते । मान्यपाऽन्यन्तरोपयोगैस्तामिह चार्मिभिः ॥ २४ ॥ एव प्रवर्तितं चार्ह, तस्मे समाधिमवेत् । समालम्बस्य सर्वेस, सुखस्य साधनं बहु ॥ २५ ॥ समये मनुष्यस्योर्व न चाचेति समाधनम् । दृत्वं स्वात्मनी तयी स्थिति प्रतिवृध्यन्यते ॥ २६ ॥ सर्वं सार्दं स्थामिनं च सुखं सात्मिकं पुनः । समसाधनसचारं, कर्तुमन्यालपसावम् ॥ २७ ॥ समसाधनयोभे हि, सर्वोपरि विराजते । तथाऽपितीयं सेमान्यं चमत्कारकं पुनः ॥ २८ ॥ नास्ति साधके पुण्यं प्राप्यतं तद्गुरोर्मुपात् । उपयोगे मनुष्येन्द्र समयप्रयोग तत्स्वयम् ॥ २९ ॥ सत्तत्रमेव ब्रह्मम्यस्तव्यसमन्वयं ध्रुवम् । योगमीवार्थं यस्य, न यत्र ज्ञायते क्वचित् ॥ ३ ॥ योगयुक्तयात्मनिरः नम्रयदपि महात्मनः । ज्ञातम्यो विस्मा- तव्यमाप्यते स हि योगिनः ॥ ३१ ॥ यथोदरमये योगी संसारपरायोसतः । अध्ययः सातुपूर्तिकसौ योगेऽपि च दुर्लभ ॥ ३२ ॥ एवं मूलस्योऽस्मिन जन्यते योगसाधनम् । तस्मात्साधनयोयेयः शिवशीयो महात्मनः ॥ ३३ ॥ योगिनोऽत्र न कम्यन्ते मारते योगचारमे । एवं प्रभावकरत्नस्रोतयन्ता योगिनोऽद्भुता ॥ ३४ ॥ सुयोगमभ्यासतो नित्यं समाधानेव चेतसः । अपच दूरत लोकं धनियोगमिह जनम् ॥ ३५ ॥ समाप्यन्तु येन स्मरणाभ्यासमनुत्तमम् । पर स्थिताय कर्तव्यं मारतं साधनं विना ॥ ३६ ॥ प्राप्यते तत्स्थं नैमित्तिकि चानन्तु साधकाः । परन्तु यस्मीपेऽपि तत्सुखं नात्मनि स्थितम् ॥ ३७ ॥ कर्तव्यविशेऽभ्यासमाभ्यस्यन्ति सुखं परम् । येषां समाधनश्रीर्थं सुखमीशोऽस्मायते ॥ ३८ ॥ योगसाधनमाचरम चेतोयोगीयं मन्यो मुहुः । पावस योगिनां चात्र महत्वं परमोत्कृष्टं ॥ ३९ ॥ गीतायां तत्र कृष्णेन, सोऽद्भुतं महात्मना । तपस्वि- भ्योऽधिको योगी इति स्पष्टेन वर्णितम् ॥ ४० ॥ अनेकयोगपरायणसिद्धो दीर्घसिद्धिदीर्घम् । कुत्रऽपि च न कश्चेत्, योगी कर्मिप्रवर्हेतः ॥ ४१ ॥ अतो योगी महत्तरिप ज्वलते भारते चकी । स्वनिवेशैरारोपकुममाई तथा ॥ ४२ ॥

जीवादिसङ्ख्यां सङ्ख्यातुमुत्सुका ज्ञानिना वरा । तेभ्योऽप्यस्ति महान् योगी, तथा कर्मकरादपि ॥४३॥ अतोऽर्जुन ! भव त्व हि, योगी योगात्परो न हि । योगयुक्तो विशुद्धात्मेत्यादिश्लोकेन वर्णितम् ॥४४॥ श्रीमत्कृष्णेन महता, चार्जुनाय विदे मुहु । तदाशयश्चेत्थमस्ति, ज्ञातव्यो योगवित्तमै ॥ ४५ ॥ आत्मजेतेन्द्रियाहर्ता, तथा भूतेषु भावना । स्थापनीया समा शश्वदिति शास्त्रमत सदा ॥ ४६ ॥ योगी जन कर्म कुर्वन्निष्कर्मैव स जायते । अर्थात् कर्मलेपनाच्च, न कदापि स लिप्यते ॥४७॥ यथाऽम्भसि गतं पद्म, न स्पृशेत्तज्जल क्वचित् । तथैव योगसम्पन्ना, न लिम्पन्ति च कर्मभि ॥ ४८ ॥ एवमेव च सम्प्रोक्त, जैनशास्त्रेऽपि न्यायत । [अग्ग च मूल] चे त्यादिज्ञेय स्याद्वदक पुन ॥ ४९ ॥ मूलकर्म्माऽग्रकर्म्मणो, भेद ज्ञात्वा विवेकत । एव ज्ञात्वा सुकर्माऽपि, निष्कर्मा साधको भवेत् ॥ ५० ॥ निष्कर्मकारिणा चेत्थ, न भवेच्च कदाचन । उपाध्युत्पातक चेति, लौकिक सर्वकर्म च ॥ ५१ ॥ केवल दर्शनार्थाय, दृश्यते चेदृश क्वचित् । योगयुक्तात्मन काय, योगक्षेत्रस्य वाहकम् ॥ ५२ ॥ भवेदय च योगो हि, चिरकालात्समागत । प्रवर्तकश्चास्य योगस्यानादे ऋषभो जिन ॥ ५३ ॥ तीर्थकृतामादिभूत, श्रीमानृषभदेवक । जिनराजोऽभवद्योगी योगिना प्रवरो मुनि ॥ ५४ ॥ मनोनिग्रहणाऽऽदेशो, निर्दिष्ट पूर्वमेव च । तेनाज्ञा च प्रदत्ताऽत्र, सर्वोधिक्येन ज्ञानत ॥ ५५ ॥ बहुजीवनिकायाना, सन्मुख जगत परम् । दृष्टिमात्रेण यत्क्षोभ, मन प्राप्त च यन्मुहु ॥ ५६ ॥ भूत्वाऽक्षुब्ध पुनश्चात्मसमुख यत्प्रवर्तितम् । पुनस्तदेवानन्तं च, लब्ध्वा प्रत्यक्षमेव वा ॥ ५७ ॥ करोत्यनुभव तस्य, मनसोऽतो निरोधनम् । कर्तव्य हि तदेवास्ति, योगो योगविदा मते ॥ ५८ ॥ इदमेव हि योगस्य, लक्षण प्रोक्तवानिति । पतञ्जलिमुनिश्चापि, योगसूत्रेण ज्ञायताम् ॥ ५९ ॥ **चित्तवृत्तिनिरोधाख्यो**, योगश्चोक्त पुरातन । अत्युत्तमस्य योगस्य, पात्र हि स्त्रीनरादय ॥ ६० ॥ चतुर्वर्णाश्रमाणा च, लोकानामत्र चास्ति वै । अधिकारश्च योगस्य, साधनेनास्ति निर्णय ॥ ६१ ॥ योगेनैव यशस्तेजो, वर्धते योगिना मुहु । योगतश्चरूपद्ध च, मित्वोर्ध्वं याति साधक ॥ ६२ ॥ निर्वाणपदमागत्य, जरामरणवर्जित । अतोऽत्र निर्णयो नास्ति, योगे जातिभिदो मुधा ॥६३॥ जातिभेदात्मको भेदो, नावश्या प्रविचारणा । चाण्डालजातिसम्पन्नो, जनोऽपि योगवित्तम ॥६४॥ भवितु शक्यते योगी, महात्माऽपि स्वतन्त्रत । पञ्चविंशतिशतात्पूर्वं, हरिकेशी मुनीश्वर ॥ ६५ ॥ स च चाण्डालजातीयो, जातश्चेति तथाऽपि च । योगतो

सव्यवस्तून्तं पदं महात्मनां मुखम् ॥ ६६ ॥ सोऽथापकुल्यं संभूतकेतुष्व सुनि-
पुङ्गवे । तथाप्यतोऽस्य विशेषमाश्रमानुमतोऽभवत् ॥ ६७ ॥ हरिकेशी मुनिर्योगः,
सर्वोऽपि परमी गतः । तथाप्यत्र प्रोक्तं, "सफलं तु [चेति] विरलं" ॥ ६८ ॥
तत्रोऽर्थं च विशेषो योगमाहारम्यमुत्तमम् । प्रसन्नं दृश्यते यत्र यदि चाति-
विचारणा ॥ ६९ ॥ हरिकेशी योगी चाण्डाले जाता चातीत्रिलोचन । परन्तु
योगहस्तौ सर्वत्रैव पिबति च ॥ ७० ॥ तामसीदृशितुष्मतां योगसिद्धिं च्या-
वन । मन्दिरं लभते तस्माद्योग्ये योगविज्ञानतम् ॥ ७१ ॥ दुग्धक्षीरादिकं नित्यं
भोजनं सात्त्विकं परम् । समस्ता इच्छन्तेऽपि गीतायामुक्तमीदृशम् ॥ ७२ ॥
सात्त्विकानां जनानां तु रसयुक्तं मधु स्थिरम् । इदं मोक्षमार्गस्यार्थं सात्त्विकं
त्रिकमात्मन ॥ ७३ ॥ आयुष्यमनुसारीणां वर्धनं जायते यतः । परस्वविकारि-
णां चैतस्मादीनां न त्यजेत् ॥ ७४ ॥ तामसानां पदार्थानामुपभोगं क्वापि च ।
मद्यमन्तं च कर्तुं तीव्रं न चान्यं तिक्तभोजनम् ॥ ७५ ॥ परित्याज्यो योगी
सम संयोगसाधने ॥ ७६ ॥ रजसापस्तत्वे हि नाधिकं वचनं वदेत् । प्रयोजनं
विना योगी मौनमेव समाचरेत् ॥ ७७ ॥ अन्यथा चान्यथे चाथे विकारत्वं
प्रपद्यते । योगे विचारतो मूलमिति योगविदो विदुः ॥ ७८ ॥ योगसाधनमि
ज्ञानं पुरुषार्थं महात्मनाम् । सम्प्रसारणार्थकिया ज्ञात्वा तथा तत्क्रिया यतिः
॥ ७९ ॥ योगसिद्धौ पवित्रे च सर्वोऽन्ते विविधैर्ने । देशे योगक्रियां विशेषतस्त
निरिपवादे ॥ ८० ॥ एकान्तादिरिक्ते च स्थाने नैव प्रतिष्ठति । यत प्राचीन-
कालीना पुरुषा महतो मुदा ॥ ८१ ॥ यत्राधन्यनिष्पन्ना दृष्टा अत्रानुसारिणः-
दृताः । पर्वतादाश्रमाणापि तथा सुपक्वाः पुनः ॥ ८२ ॥ तत्राप्यवस्थापनं
योगसाधनविशेषक्रियाम् । मनाविस्तारिणां अस्पृष्टस्पन्दनस्य तथा ॥ ८३ ॥ महा-
स्मृतं तदारणानिष्कृता परितः मुनि । तत्परत्वं चैव तत्र स्थानं प्रकल्पयेत्
॥ ८४ ॥ तत्र स्थले निवसतां भवत्यर्थं विराग च । मनःशान्तं सर्वोक्तिं
तत्रैव यस्तां सुष्मम् ॥ ८५ ॥ जलवदसमानं येनामनुरूपं सदा प्रियम् । सत्युपे
तपभक्ते धर्मयुक्ते तथा पुनः ॥८६॥ यत्रापि मान्यते तत्र सुखं मनाग यदि
मित् । सत्कल्पानुसर्तं दृष्टधिमधविरलोपके ॥८ ॥ ईदृशीयं हिमाद्रये पतने यत्र
दृश्यते । नाम्नस्तत्र क्वापि स्वपानव्यानुभवस्या ॥ ८८ ॥ योगिन्यमिति
देशेष स्वासेषु वसनं परम् । नारमेन सदाभिषेकतत्त्वार्थ योगमम्यते ॥८९॥ तत
तत्रापरतैव, मान्यतो रमणीयके । तास्तवसिद्ध्यनुषु, वसन्तं न च दृश्यते ॥९० ॥

योगाभ्याससिद्धिस्तत्रैव खलु जायते । यत्सुखं वीतरागस्य, मुनेरेकान्तवासिन । तत्सुख देवराजस्य, चक्रिणो न कदाचन ॥ ९१ ॥ नासनेन विना सिद्धिर्जायते न रजोवृते । रह स्थाने चेदासनस्य, ज्ञेयमावश्यक मुहु ॥ ९२ ॥ दर्भासन प्रशस्तं स्याद्योगिना च मुदे पुन । कम्बलेन तदाच्छाद्य, सर्वथा योगधारकै । एतादृशे साधकानामासने शक्तिरुज्वला । जायते ननु कायस्य, विद्युत्कोटिसमप्रभा ॥ ९३ ॥ बुद्धिरत्युत्तमा वेति, नो विशेत्सूत्रकासने । तत्रासने साधनत्वे, योगो निष्फलता व्रजेत् ॥ ९४ ॥ भगवत्यादिसूत्रेषु, प्रोक्त दर्भासन शुभम् । **'दब्भ संथारगं'** चेति, सूत्रार्थेनोपवर्णितम् ॥ ९५ ॥ गणधरस्य मुनेश्च, गौतमस्य तथा पुन । केशिस्वामीत्यादिना च, स्वागतार्थं समाहितम् ॥ ९६ ॥ आगन्तुकेभ्यो नितरा, सुदर्भासनमेव हि । प्रदत्त चोपवेशार्थमित्येवं च तदासनम् ॥ ९७ ॥ प्रशस्तं सर्वासनेभ्यो, सुदर्भासनमुच्चकै । जैनाना च तथा रीतिरेषा दर्भासनार्पणे ॥ ९८ ॥ तदभावे प्रशस्त स्यात्कम्बलासनमेव च । दर्भासनोपरिष्टात्तु, कम्बलासनमिष्यते ॥ ९९ ॥ तत पद्मासन बद्ध्वा, मनसोऽप्यनुकूलत । पुनरासनेदृशे च, साधनं समुपविश्य च ॥ १०० ॥ साधयेच्छुद्धमनसा, योग योगस्य सिद्धये । दिशि पूर्वे चोत्तरे च, मुख कृत्वा समभ्यसेत् ॥ १०१ ॥ तदेवोक्त **'पुरत्थाभिमुहे' 'सपलियंकनिसण्णया'** इत्येव कथित सर्वमासन क्रमतो जिनै ॥ १०२ ॥ कमलाख्ये वा पर्यङ्के, स्थित्वा चाप्युत्तमासने । मुख पूर्वदिशि कृत्वा, वामहस्ते च दक्षिणम् ॥१०३॥ करं धृत्वा कटिं तद्वत्कण्ठे चैव च मस्तकम् । सदैकपङ्क्तौ सस्थाप्य, साधयेदप्रमादत ॥ १०४ ॥ स्थाप्य श्मश्रुविभागेऽधो, हनौ स्वन्तर्गते पुन । ईदृगासनमारूढो, योगी याति परं शमम् ॥ १०५ ॥ प्रातर्दिनान्ते च पुनर्निशाया, पूर्वे परे याममये च काले । मध्याह्नवेलासुसमाहित सन्, योगी सदाऽनेन मदासनेन ॥ १०६ ॥ करोतु योगस्य सुसाधन वै, यद्येकयामान्तसुखेन योगी । भूत्वा स्थिरो जातु सदा सुशक्यस्तदा च ज्ञेया विजयोपलब्धि ॥ १०७ ॥ जातासने चासनसिद्धिरुग्रा, विनासनाद्धि विजयो न योग । सिद्ध्येत्पथो प्राणशरीरवृत्तौ, तदा सुदृष्टौ विजयोऽपि लभ्य ॥ १०८ ॥ प्राणेन्द्रिये वापि तनौ सुदृष्टौ, प्राप्नोति योगी विजय समन्तात् । सदेत्थमेव च विना न योगमात्मोपलब्धिर्भवतीति ज्ञेयम् ॥ १०९ ॥ अतो नितान्त श्रमतो गुरोश्च, युक्तेर्विशेषेण च प्रापणीय । जयोऽप्यजस्र खलु स्वासनस्य, जानन्तु सर्वे मुनयो नितान्तम् ॥ ११० ॥ जितासनानन्तरमेव शश्वद्यमादिनियमादिजयोऽपि लभ्य । जितासनानन्तरसाधकेन, सल-

न्नवेऽनेकविधपविशेषा ॥ १११ ॥ जितावमर्न रशिजितपविमस्कमावरकपूर्ण
मम्पर् । इतेनवस्तिरमनेति मत्वर्च नमप्रपिचार्न न मवेति पूर्वम् ॥ ११२ ॥
निमपमेपैर्भवतीह रशिसेनेव योगस्य फले मरिताम् । योगेऽपि मावरवपेक्ष्यं च
सुपम्यापि योक्षमपेतरस्म ॥ ११३ ॥ कम्मवमेयापरिमिरिवमवे मवाकमासंकमवे
मुहुप । संमिदये भारवमुरपार्थं जितवर्मीरह पठ रशिपुरे ॥ ११४ ॥ माक-
र्निमय च मुनिदसवाचक, सिवाऽऽम्ने योक्षपेक्ष्यापवम् । नाथः यमवास्-
रवस्पाम्तरे, निमाय तस्य मपुर्म रागोवम् । संस्पारमीर्य वरितो ववेयम् ॥११५॥
मिनावस्नेनेति च योगसिरि योवे मिना नाऽऽरमनसिद्धिनेति । इतोः भ्यवृत्ति-
निरोधमं साहृथैर्निरोधाद्ध समपिरिरिति ॥ ११६ ॥ समपित बावसमुक्षोपस्-
थिवातो मुमुक्षु समुपैति मुक्तिम् । मुक्ते तदा मवमि सौनमाये कर्मक्षीने च
मिभाति योगी ॥ ११७ ॥ ताद्योमके रशिवमवनीवा किमिव माने हि वराधु-
पाव । मेमाविनिमप्पमवि येतराभुपाने मवाऽऽरम्भविवमपपाते ॥ ११८ ॥ तव
मावर्क मोक्षयेतसमके यदा स सिवरत्नं मवेत्पवमम्पे । स्वेर्व मना पाम्पवार्थं
प्रमाति मुमेवोंपतो पाऽभवत्र पुनिरेप ॥ ११९ ॥ चतुर्भिमन्तोऽप्रमिनन्दनाके
सम्योगपेयमुपमनिपातम् । न योपनीयं किल मारके च ममो मिमेयव सदे
रवोऽपि ॥ १२ ॥ न स्वाल्पपापमिवचने पिधाने कृते प्रवासे यथा मामितरम ।
समर्पितैर्मपेयमुसिनं पेतसा स्थापनीयं प्रयतिर्वेय स्वात्मयोगे मुमीन्द्रम् ॥१२१॥
मरिवा पद्मीलवेऽपिव परम पंक्तिमिस्या मवेयेतरा पूर्णपमम् । महामर्यरूपं
मुपतॊमितवमा रशिरस्मये योगिपर्यैमुनीनैः ॥ १२२ ॥ यदा मवेयं च प्रमाति
रशियारा तदा तस्य च तापकस्य । स्थानमरमामतिभिमैरण्णेऽपि मिचार्ये महशिर
स्वैयं मिरापेः ॥ १२३ ॥ यदा यदा येनमपि रशिपार्य तवक्षयावनमवोऽपि
यामिन । स्वायपवे रशिवमे मनोऽपि वान्तं ववचापि मवेमि तस्य ॥ १२४ ॥
वैभानतरे परमपदी निवार्य मुमेरस्मानयेदृशिरेवं मिभारम् । मतः समेतुके
मुपर्व च तत्समुद्र प्राके रशियतो मिमेय ॥ १२५ ॥ इमं मातर्क यत्र यार्त
स योगी मुवम्पवनावमे मिसमो मिभाति । मिरसकमिपा मावर्ग पीतलीयं
तथा प्रमिनी मावराको मिपमे ॥ १२६ ॥ मुमेर्व विना मानवोपस्य सिद्धं
महापुरुषता मिवमीय प्रभमाव् । मुखोर्वपम्यावमेशोकर्मयमुपर्यमनमन
पंचायवनम् ॥ १२७ ॥ विनयामिमाने मिरेः कमनीया यमोऽपूर्वमपेऽभव
स्थापनीय । प्रतीर्मिवाम्या पवाहे शिवस्य कुमसाव पावक पंकलमीय

॥ १२८ ॥ अयञ्च प्रयासो यदा वृद्धिमेति, प्रकृतिप्रत्येक पदार्थान्तरेऽपि, । तदा प्रेमवृद्धि प्रयात्येव नून, तथा सृष्टिप्रत्येकमशेऽपि ज्ञेया ॥ १२९ ॥ मुदा वीत-रागत्वमुत्कृष्टताया , प्रभावस्य स्याद्वर्तनं योगसिद्धौ । प्रयत्नोऽपि स्यादुत्कटत्वेन शश्वत्तदानीं मुहूर्तान्तमुत्थापनीय ॥ १३० ॥ तत सृष्टिभागेऽपि स्याच्चेत्सुदृष्टि - सुख स्थापयित्वा च तत्रैव सृष्टि । स्थिरीभावमागत्य कायस्य स्वस्य, स्वपिण्डादिनि , सृत्य दु ख पुनश्च ॥ १३१ ॥ मुहु प्लायते तादृशावस्थया, सुखं साधके नाप्यते शीघ्रत । प्रभुनाम्नो मुहुर्भावनानामक, जप प्रेमतो योगजन्य पुन ॥ १३२ ॥ तदा प्रारमेतेच्छया शब्दकोच्चारण ॐ नमो जापमेव जपेत् । अनेनार्हदेव भजे-त्प्रेमत , सर्वकाले तदा ॐ पदं लुप्यते, पुन शश्वदेव स्वयं नामत ॥ १३३ ॥ ततश्चात्मनि प्रेमतश्चार्हति, प्रभावैकाकारासुवृत्तिस्तत । स्वय सक्षण जायते प्रेमतो, यथा चावकाश परं तत्वत ॥ १३४ ॥ चलश्चोपशान्त्या भ्रमन्वा विशन्सदोत्तिष्ठ-मान शयानोऽपि च । तथा जाग्रतो भुञ्जमानश्च तत्र ध्यान कदाचित्स्मरेत्कायतः ॥ १३५ ॥ निशान्ते दिनान्ते च मध्यान्हके, निशाया सुयोग क्रियामारमेत ॥ सदाऽजापजाप जपेत्सस्मरन्नेकतो योगद्वारैव सद्भावना, दृढत्व भवेद्योगतो नान्यत ॥ १३६ ॥ जापमेव जपेत्प्रेमभावेन च, तथा हि द्वय साधन सर्वतो । मिलित्वा मन शान्तभाव व्रजेन्मनोऽश्वो भयकारको दु खद ॥ १३७ ॥ तथा साहसाधाररूपं भवेन्मनो रूपकाश्वस्तथा चेन्द्रिय, घोटकोऽस्ति वलिष्ठ इति ज्ञायतां, परं चेदृशेन प्रयासेन च ॥ १३८ ॥ ततो मत्तता याति तेषा वहि । ततस्ते भवेयु प्रशान्ताः पुन ॥ ततश्चेदृशेन प्रकारेण च, भवेत्साधकाना विवेकान्विता ॥ १३९ ॥ तथैव च दृष्टिश्च सूक्ष्मा मुहु , सहैवानयेदात्मिकानन्दकम् । इद साधन स्याच्च सन्तोषकहेतुस्तदा साधका स्वस्य च, प्रवृत्ति निवृत्ति च सपश्यत ॥ १४० ॥ आत्मान सारथिं विद्धि, शरीरं रथमेव तु । इन्द्रियाणि हयानाहुर्मन प्रग्रहमेव च ॥ १४१ ॥ परावृत्य यत्राटकं वाह्यवृत्या, कृत तच्च कुर्वन्तु वाऽभ्यन्तरीया । शुभ त्राटकं दृष्टितो योगसिध्यै, भवेद्योगिना साधने सम्प्रवृत्ति ॥ १४२ ॥ श्वासोच्छ्वासकयोर्दृष्टि , पूर्वं स्थाप्या प्रयत्नत । वहिर्याति यदा श्वासस्तदा 'सो' शब्द इर्य्यते ॥ १४३ ॥ जाते चाभ्यन्तरे शश्वदह शब्द स्वभावत । जायते च द्वयो-र्योगे, 'सोहं' मित्युपयुज्यते ॥ १४४ ॥ जाप विनैव सत्सिध्येदजपाजापमुत्तमम् । तेनैवाथापवर्गस्य, प्राप्तिर्भवति योगिनाम् ॥ १४५ ॥ ध्यानेन तत्र सम्पश्येद्यदा श्वासोऽभिजन्यते । यत्र लीनो भवेच्छ्वासस्तत्र वृत्तिप्रयासत ॥ १४६ ॥ स्थापये-

ह्यभ्यन्तरीमामेवं पूर्वं समाभ्येत्। प्रयासे चैकदैवात्र शान्तिः सम्पद्यते दृढ ॥ १४७ ॥ आभ्यन्तरीयाऽऽभ्यास स्याद्विशेषोत्तरोत्तरा। मिश्रिताऽऽनिर्वि कैकमिथ्यासमासम्भवम् ॥ १४८ ॥ यद् वर्तं च तथा समपूरणेोक्रमम यात्मवे। देवपूर्ययोम्मन्तरा श्वासो नैकोऽपि हास्येत् ॥ १४९ ॥ 'सोऽहं' जापवपे चाऽते इतिः संसीपदे समम। तत्र श्वासे विनाऽऽयासं सहसैव निनिमेष ॥ १५ ॥ श्वासप्रश्वासमगात्वे च ध्याने सिद्धे सुखावहः। हृदयस्थे मध्यगतो हृति संस्था-प्यैतेभ्युः ॥ १५१ ॥ प्रयासोऽपि प्रवर्तेत इति योगविदो विदुः। श्वासस्य सोऽपि नैव यतः स्यात्पदम क्रिया ॥ १५२ ॥ स्थिरैर्वं स्यापरा इतिर्देहस्याऽ पास्यैकिम्। वायुसोत प्रयाति हृदयोऽस्यः समन्ततः ॥ १५३ ॥ यस शान्तिमपरस्या, श्वासप्रश्वासनत । इतोपि पूर्व कस्यापि सविचारानुगताय। न चात्र तथा भ्यानं सिद्धं या द्वारं पुनः ॥ १५४ ॥ मध्यमैकैकेऽपि विचार पीया इतिच तत्समुचितिभावे। वात पुनस्तदूध्वें च पीत्वा, कण्ठस्थमपीऽ-पि तथा व्याप्य संस्थाप्यैनैव विचारणात् ॥ १५५ ॥ मान्यं दृशिसे च पुष्कले च तत्तविशुम्भा परिचारमीय। इतिव सर्वत्र सुखावहेन (संस्थाप-नीया) तत्र शान्तिर्मनसश्चिन्तयेत्पाम् ॥ १५६ ॥ मध्ये च सिद्धे स्थिरतातिरेवं पास्य तत्र तत्र मस्तुरप्रवत्। स्यादिसुखमानस्वरूपं तत्र तविसुखेगोऽत्र प्रभवते च ॥ १५७ ॥ तदर्थने साधकोपवैपुरपारमानन्दसुखं प्रयाति। तत्र वतीनु प्रवर्तनेन योगेन योगासकसेवनम् ॥ १५८ ॥ तथा कपालेऽपिकमिवर्तनं उत्पद्यते मारकमपि तत्र। यत्र स्थिते सर्वस्मिन्दुर्दर्शनं योगी यत्र पश्यति सर्व-वैलम्यम् ॥ १५९ ॥ तथा निपुणो प्रविशस्तमेव शरीरे विन्दोरपमोक्ष्यं स्यात्। तदर्थमानन्तरसाधकानां मनस्तूत्र निम योगिविदिता ॥ १६ ॥ पवनेपरकमु निनासमस मनोऽनुपमास्थितिरमणोऽया। निर्जोव कन्दर्पमनेव यत्र मीनाङ्-गमन्दतुर्योपमोऽत्रम् ॥ १६१ ॥ आत्माऽपिच कैकर एव मानससमर्थं वेत्थार्थं पयोऽपि। निरोध कन्दर्पमनस्तुलं आस्थामर्क चतुर्दिशं तुर्येषम् ॥ १६२ ॥ पाचे हृदिन्दोरवलोकने च भृकुटीमध्ये नाभि सुखावहम्। तथैव संसेवन-मन्माचे मयैव योग्यमतोऽवसम्मनम् ॥ १६३ ॥ एतस्य योगाभ्यमिदं यद्यपि सुखायमं सम्पूर्णतोपमोऽत्रम्। तदा वपुस्संसमदमयालं धर्मं मनोदक्षमिदं प्रथार्थम् ॥ १६४ ॥ विन्दोविशुद्धमासपत्नोपमानन्दे यथा यथा साधकसत्वमयनम् ॥ स्वर्गेऽय-पक्षे हि निवेपतो मुदा, तथा तथा विन्दुनिरोधस्य च विपश्यते सर्वमपि विदां

मुदे ॥ १६५ ॥ अन्ते च विन्दावतिलीनभाव, व्रजेच्च सिद्ध प्रतिभाति योगी। शान्तौ च नादानुभव च याति, विन्दोरपेक्षा तु विशेषनादे ॥ १६६ ॥ श्रीविन्दोरवलोकनेऽनुदिवस जाते ततश्चैधते, शक्तिर्योगधिया ततश्च श्रवण नादस्य जज्ञन्यते। पश्चादात्मसुखं स्वय विलसति श्रीसाधकानां ततो, वैव शून्यगुहा निवद्धमनसा मुक्ति कराव्जे स्थिता ॥ १६७ ॥ नादोऽनेकविधोऽस्ति शास्त्रविहित सश्रूयते योगिभिर्घण्टानादसमस्तथास्ति निनद शङ्खस्य वीणारव। वेणूत्तालरवश्च चक्रसदृग शाङ्गर्यादि शब्दस्तथा, एव विन्द्ववलोकनादनुमुहुर्नाद समुत्पद्यते ॥१६८॥ योगामृतस्य पानेन, नादस्य श्रवणात्पुन। विन्दुदर्शनतो योगी, जरामरणवर्जित ॥ १६९ ॥ नादानन्दे समुत्पन्ने, विन्दुर्गौणतमो भवेत्। नादस्य चाविशेषेण, जायते श्रवण मुहु ॥ १७० ॥ घनगर्जनतोऽन्यूनं, श्रूयते गर्जन वहु। दिव्यनादप्रभावेणाऽप्यन्ते योगी प्रलीयते ॥ १७१ ॥ नादे ध्वन्यनुभवस्य, सर्वाधिक्येन वर्धनम्। तदा स्यात्साधकजनो, भ्रमणे चलने तथा ॥ १७२ ॥ उपविश्यासने चैव, स्थित सर्वक्रियासु च। नादानुभवमेवास्ति, नान्यो भाति विशेषत ॥ १७३ ॥ नादानुभवतो लोके, सङ्गीतस्य प्रचारक। योगिभिश्च कृतोऽजस्रं, यथा नाद प्रियकर ॥ १७४ ॥ मुञ्चन्ति रोदन वाला, क्रोध मुञ्चन्ति पन्नगा। मृगा प्राणान् विमुञ्चन्ति, **नास्ति नादसमो रसः** ॥ १७५ ॥ साधकाना तथा लोके, सङ्गीतोऽतिप्रियकर। अत सङ्गीतगानेन, मनोधृत्वा सदैकताम्। साधक प्रव्रजेच्चाग्रे, शनैर्नून प्रयासत ॥ १७६ ॥ वस्तुतो नादो वाद्योऽभूत्सङ्गीतस्य प्रसाधने। वाद्यनादस्य द्वारेणाऽभ्यन्तरो नादमेलनात् ॥ प्राप्तु च शक्यते योगी, नात्र कार्यं विचारणम्। यदा साधकजनो नादैर्वृद्धिमेति तथाग्रत ॥ १७८ ॥ तदा तस्य च यत्राऽभून्नादोऽनुभवमेव हि। तदा भ्रमरगुहायां तु, शङ्खाकार प्रतीयते ॥१७९॥ तदूर्ध्वं प्रेमभावेन, चैक शुद्ध प्रदृश्यते। तस्य शिखरमध्ये तु, महानेको विराजते ॥ १८० ॥ ततश्चोर्ध्वं पश्येद्भ्रमरसुगुहा यत्र रवित, शशाङ्कादर्भेर्वाऽप्यधिकबहुतेजोऽस्ति विततम्। तदा विन्दोर्नादश्रवणविलय यात्यनुदिन, सदा योगी लीनो भवति नितरां यत्र सुखत ॥ १८१ ॥ तस्य चानुभवं नित्य, कुर्याद्योगी विशेषत। प्रकाशकपदार्थोऽय, वर्तुलाकार इष्यते ॥ १८२ ॥ अधो मुखातपत्रेण, सम सम्भ्राजते यत। छत्राकारमिद तद्वत्सहस्रदलसम्भृतम् ॥ १८३ ॥ सिद्धिशिलारूपकेऽत्राऽजरामरणचक्रके। शिरोऽग्रभागलोकस्य, चाग्रभागोपरिस्थितम् ॥ १८४ ॥ अजरामरचक्रेऽत्र, वृत्तिलीनादनन्तरम्। साधकानामखण्ड चाऽ-

योगिमनन्यमेव च ॥ १८५ ॥ योगिनोऽनुभवन्तीत्थं वर्तते स्वात्मनिश्चम्। यत्र
योऽयमनन्तो वीरः भगवन्तपियते मुहुः ॥ १८६ ॥ अपूर्वोऽनन्तस्त्वन्योऽनुभवो
वर्तते सदा। भाषीते (भविते) सर्वं तस्य प्रसरो भावतेऽव्ययम्
॥ १८७ ॥ सर्वोत्तमानन्दस्वयोऽ सर्वं सर्वत्रकेऽव्ययम्। अन्योन्याऽनन्दसर्व
सर्वं सूक्ष्मं विभाव्यते ॥ १८८ ॥ अनन्तवाऽव्यया यो हि, सर्व स्वपरवोतम्।
विहाय योगी सिद्धस्य विवेकोऽपि तथा पुनः ॥ १८९ ॥ महत्स्य योगमुख्य
सम्पद्ये योगवित्तमे। महात्मनवीरस्य वैराग्यनिर्भरा स्त्वे ॥ १९ ॥ यत्र
यत्र प्रसरति तत्र तत्राऽध्यात्मीकिम्। दिव्यानन्दानुभवं करोति सत्यवोत्तमः
॥ १९१ ॥ जनपदे यते स्त्वे तथा वसुमतीं स्त्वे। राजस्त्वे पद्मने गज-
गामिमुखस्त्वे ॥ १९२ ॥ एतत्स्थानेषु सम्पूर्णं दृश्यिर्भवति महात्मनाम्। तत्र
तत्र स्त्वे नित्यमानन्दानुभवात्मकम् ॥ १९३ ॥ सर्वत्राऽऽत्मेवरज्ञ च तथाऽ-
नुभवत सदा। इत्थमात्मप्रान्तेषु भावेऽभावे स चरति ॥ १९४ ॥ सत्यतो
वीतरागस्य योगी भवति निश्चलः। कृतकृत्योऽपि विहाय यावत भावतस्तवन
॥ १९५ ॥ योगिनामीदृशानां च दर्शनं योग्यतावताम्। कुरुते सततं योग्यमेव
वैव निश्चलतम् ॥ १९६ ॥ यथाऽन्यन्तरराभेद्यं द्वारेणापि यथोपदे। सम्बन्धे
प्राप्ते स्वदृशा स चाप्यमागतः ॥ १९७ ॥ नामेकसर्वत्रमनो च स्थापनीयो निवे
वत्सः। यदा तत्र भवाते तु, पश्यते नामिमध्यके ॥ १९८ ॥ वस्तुस्वतत्त्वं येषे
दृश्यते चानुवृत्तः। तथा नामिमध्ये यदि विहाय स्वयोर्गुह्यः। स्थापनीय
प्रत्येक मध्यमागे भ्रूमध्यतः ॥ १९९ ॥ ततो नासिकाग्रे स्थापयेच्च
ध्यानतः। नासिकाग्रनिरुद्धं तु, तत्रैव प्रसरणपात्रे ॥ २ ॥ भवरामरत्वमस्य
विधाः निर्विशिष्ट च। ततोऽप्यनुभवे पश्येत्सम्मार्ये च प्रवर्तते ॥ २ १ ॥ अने-
रेवं महत्त्वं च सामर्थ्यं लभ्यते परम्। भवत्या योगपदं प्रेम वैवेकस्या महत्स्वे
॥ २ २ ॥ सम्यग्विज्ञानतत्सम्यग्योगेपरि निश्चरणम्। धर्मानुभवं सम्भीरत्वं
योगीमिदं पुनः ॥ २ २ ॥ स्वरूपात्मस्वभावीर वर्तते तथैवमय। एतस्मिन् पीठे
वीरश्री यत्र पद्मासने स्थित ॥ २ ३ ॥ विचारयति वशिष्टचित्ते स्थिरत्व मन-
स्तत्त्व। परन्तु मानसोपम्यो विचारो योगसाधने ॥ २ ४ ॥ सम्यक्सम्यक्प्रयास
सर्वं सात्त्विकमेतत्पुनः। विचारधारा ध्यानतत्त्वमेव प्रशाम्यति ॥ २ ५ ॥
विचारप्रशमितः पश्चात्स्थापनमनस्मीतीकिम्। आनन्दानुभवो यदि ततोऽधिक-
मपोपरि ॥ २ ६ ॥ निमर्गविविक्तस्य स्वरूपं तथैव वरदम्। स्वात्मन्येव योगप्राप्त

स्वयं स्वस्मिन्प्रजायते ॥ २०७ ॥ भावनोद्यते शश्वत्सिद्धेषु प्रेमवर्धिनी । यदा यदा प्रयासश्च, वर्धते च तदा तदा । आभ्यन्तरे विशेषेणानन्दस्य जागृतिर्भवेत् ॥ २०८ ॥ मूलाधारं समुद्घाट्य, चक्र चक्रान्तरं नयेत् । नाभ्या वक्ष स्थले कण्ठे, त्रिकुट्यामलिगह्वरे ॥ २०९ ॥ शिखरस्थगुहान्ते च, ब्रह्मरन्ध्रे मेलयेत् । भित्त्वैव ब्रह्मरन्ध्र च, योगी निर्वाणता व्रजेत् ॥ २१० ॥ न ह्येतावन्मात्रं हि, प्रत्युत बाह्यतोपि वा । आनन्दस्यैवानुभवो, जायते नु क्षण पुन ॥ २११ ॥ पूर्णानन्दमयश्चान्ते, भूत्वा सर्वत्र भावना । ईश्वरे स्थापयेन्नित्य, भूत्वा प्रेमप्रयोगत ॥ २१२ ॥ पश्येदहर्निश नित्यं, महानन्दो विकासने । वीतरागस्ततो याति, विज्ञेय योगवित्तमै ॥ २१३ ॥ पूर्वोक्तप्रकारेण, प्रमाणमनुसारत । साधकार्थं स्वल्पमयी, प्रक्रिया कथितार्थिभि ॥ २१४ ॥ एव विचारकरणात्तथोक्तस्य प्रकारत । भवेदलभ्यलाभश्च, मननात्स्मरणादपि ॥ २१५ ॥ तथाऽपरिमित चेत्थ, सामर्थ्यं लभते मुहु । अत्यन्तो योगविषयो, विशालो गहनस्तथा ॥ २१६ ॥ विना गुरुपदध्यानान्न कश्चिद्योगसाधक । योग शिक्षयितु योगी, न भवद्योगवित्तमम् ॥ २१७ ॥ योगश्चतुर्विध प्रोक्तो, मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभि । हठयोगो मन्त्रयोगो, लययोगस्तथैव च ॥ राजयोग इति ख्यातश्चतुर्धा योगसाधने ॥ २१८ ॥ यमो नियमश्चासन, प्राणायामस्तथा पुन । प्रत्याहारो धारणा च, ध्यान चैव समाधिक ॥ २१९ ॥ स चेत्यष्टाङ्गयोगोऽस्ति, विज्ञेयो मुनिभिर्मुदा । तत्रास्त्यपेक्षा चैकस्य, उत्तरोत्तरत पृथक् ॥ २२० ॥ प्राणायामो बहुविधो, दृश्यते योगशास्त्रके । तदवान्तरभेदश्च, कथ्यते शास्त्रसम्मत ॥ २२१ ॥ परन्तु तत्र मुख्योऽस्ति, पूरक कुम्भकस्तथा । रेचको भस्त्रिकाद्यस्ति, प्राणायामोपयोगकम् ॥ २२२ ॥ प्राणायामसहायार्थं, नेतिर्धौतिश्च नौलिका । वस्ति कपालभातिश्च, गजकर्णीत्यादिरस्ति च ॥ २२३ ॥ प्रक्रिया हठयोगस्य, वह्व्य सन्ति पृथक् पृथक् । नासिकारन्ध्रत सूत्र, प्रवेशान्तर्वहि पुन ॥२२४॥ मुखान्नि सारयेद्बाह्य, नेति सा कीर्त्यते बुधै । वस्त्रमुत्तार्य जठरे, मल निस्सारयेद्बहि ॥ २२५ ॥ धौति क्रिया च कथिता, योगे साहाय्यकारिणी । भ्रामयित्वा नल योगी, नित्यप्रति मुहुर्मुहु ॥ नोलिक्रियेय सम्प्रोक्ता, योगाभ्यासविशारदै ॥ २२६ ॥ गुदास्थानगत तद्वन्मलं सम्मार्जयेद्बहि । वस्तीक्रियेति विज्ञेया, योगसिद्धिकरी मता ॥ २२७ ॥ कपालभातिर्विज्ञेया, गजकर्णी तथैव च । हठयोगे क्रियाश्चैता, योगविद्भिर्निदर्शिता ॥ २२८ ॥ खेचर्येका महामुद्रा, सर्वमुद्रोत्तमा

मत्य । तथा चरमावर्तं प्रोक्तं, योगप्रथमकारणमिति ॥ २२९ ॥ वेत्तीति महाप्रभु,
महावाक्यार्थी तथा । चरमेति निरास्य मुग्धा मोक्षाः मुक्तये ॥ २१ ॥
अथ मुग्धा मार्गयोग्यी गुरुदेवमस्थयत । मार्गं प्राप्तोऽपि योगात्ते नान्यथा भविष्यति
सुखम् ॥ २११ ॥ प्राणायामविचारोऽपि कर्मयोगेऽशुभमप्युत । यस्तु योगमपि
योगेऽस्मिन् ज्ञानमपि विशेषतः ॥ २१२ ॥ अतो बहुसमयमन्ते तिष्ठन्
क्रियादिकाः क्रियाः । संसारे योगतो यान्ति यथा मोक्षाय सिद्धये ॥ २१३ ॥
यो योगं कुरुते नित्यं, स याति परमास्पदम् । निर्मलं कर्मसम्बन्धात्
मुच्यते नात्र संशयः ॥ २१४ ॥ इत्युक्तेऽप्यनुसारेण ज्ञानं मोक्षप्रसिद्धिः ।
अन्तरेऽपि यतः कर्मो बहुप्रकारा मतौ ॥ २१५ ॥ इत्यन्ते च तथाऽन्यथापि
कर्मं तेषां प्रयोजनः । पुण्यकर्मं तैर्स्ते वीर्यं पूर्वं तत्र च ॥ २१६ ॥ --पुण्या-
त्मकं कर्म कषायान्ते तेन जायताम् । परस्पर च योगेभ्यो तत्र कुर्वे चिर-
स्थरम् ॥ २१७ ॥ यथावित पुण्यवीर्यं ते भविष्यन्ति सुखेतराः । कर्मं पुण्य-
मर्यं तेषामन्ते साक्षात्र संशयः ॥ २१८ ॥ इत्थं यत्र सुखी मुक्त पापिनोऽपि
भवे भवत् । पापानुबन्धिपुण्यस्मा ज्ञातव्यं जगतीतले ॥ २१९ ॥ तत्र सर्वे
दैत्या सर्वपुण्यप्रभावतः । यावन्ते सुखिनो यथापुण्यिनोऽपि समन्ततः ॥ २४ ॥
वर्तमाने पापयोगात्पापिनोऽपि तथा परम् । इत्यन्ते सुखिनोऽप्येवं ज्ञातव्यं तत्त्व-
निश्चये ॥ २४१ ॥ धर्मात्मानो यथा केचित्सन्ति लोके सुखार्थिनः । किन्त्वे
पुण्यभोक्तारः पापपुण्यसमानतः ॥ २४२ ॥ किन्त्वत्र सुखावरा दुःखोदयमजा-
नतः । एवं दुःखसमासौ च सुखोदर्कं प्रजायते ॥ सुखभोगसमासौ तु, दुःखो-
दर्को प्रजायते ॥ २४३ ॥ अतश्च सुखिनामपि भविष्यन्ति नरास्तताः । ईदृशम-
पुण्यं चात्र पुण्यानुबन्धिपापिनः ॥ २४४ ॥ सन्ति अथाप्यस्मिन्पूर्वपापप्रभा-
वतः । दुःखयन्ति तेऽत्र यावोर्थं वर्तमाने तथा पुन ॥ २४५ ॥ पुण्योदयवशात्
च भविष्ये सुखभोगिनः । ज्ञातव्यं दुःखमोगं तथा सुखदुःखं पुनि ॥ २४६ ॥
तत् किं यथावस्तव वर्तमाने च पापिनः । भविष्येऽपि तथा सन्ति निरयोऽ-
न्यचित् विपरीतय ॥ निरयोऽपीतरावचापि यथात्र वस्तो भुवि । पूर्वपापवशा-
त्स सुखित्व दीर्घायुषाः ॥ २४७ ॥ येऽन्यजन्मान्तरेऽन्त्ये च, सुखिनो मनुष्या
पुनः । वीरवचनमान्यत्र, च योऽपि परस्तु वा ॥ २४८ ॥ पापानुबन्धि-
पापिनो ज्ञातव्यं चात्समायतः । पूर्वजन्मार्जितानां च, दुःखानां भोगिनोऽ-
त्र ॥ २४९ ॥ इदानीं कुरुते पापं तत्तोऽप्यग्रे भविष्यति । निर्वाणतो
निष्पाप, यावोऽन्यादि प्रमाणतः ॥ वर्तमाने दुःखं भुंक्ते, भविष्येऽपि पुनः तथा,

। २५० ॥ योगोऽनघो महत्तत्वप्रापकोऽस्त्यमरद्रुम । तस्य सेवनमात्रेण, याति योगी परम्पदम् ॥ २५१ ॥ भवितु शक्यते चेत्थ, भूतकाले च ये नरा । प्राणिना सुखदातारो, बन्धयित्वाऽतिपुण्यकम् ॥ २५२ ॥ तेनात्र सुखसम्पन्ना, पुण्यमेवाश्रयन्ति ते । भविष्येऽपि पुनस्तद्वत्पुण्यस्यैवानुबन्धनम् ॥ २५३ ॥ एतादृशजनस्यात्र, शास्त्रे पुण्यानुबन्धकृत् । पुण्यवान्कथ्यते लोके, पूर्वपुण्यप्रभावतः ॥ २५४ ॥ सुखी भूत्वा स चेदानीं, वर्तमाने करोति चेत् । पुण्य भविष्यकालेऽपि, पश्चादपि सुखी भवेत् ॥ २५५ ॥ कर्मणा चतुष्टय चेत्थमनुबन्ध भवत्यद । विशेषश्चानुबन्धार्थो, बन्धनं शास्त्रसम्मतम् ॥ २५६ ॥ भुक्ते च तत्फलमग्रे, शुभाशुभानुबन्धने । अस्त्येव च सुखीदानीमशुभेन च दु खभाक् ॥ २५७ ॥ **पापानुबन्धिपापश्च, पापानुबन्धिपुण्यकृत् । पुण्यानुबन्धिपापश्च, पुण्यानुबन्धिपुण्यवान्** ॥ २५८ ॥ चतुर्विध सुविज्ञेयमनुबन्धस्य साधकै । समयेऽत्र सुख पश्चादग्रेऽपि सुखप्रापणम् ॥ २५९ ॥ इत्थं कर्मफल दु खमथवा सुखसभव । परन्त्वव्याधिमोक्षस्य, सुखस्यापि कदाचन ॥ २६० ॥ समाप्तिर्न भवेच्चैवमध्यात्मिकसुखाप्तये । कायिके सुखभोगश्च, हेय सर्वत्र सर्वदा ॥ २६१ ॥ अर्थाच्चपुण्यपापाना, क्षय नीत्वाऽऽत्मरूपके । स्थातव्यो मनसाऽग्रे च, कीदृशोऽप्यनुबन्धनम् [**न बन्धनीयो हेयश्च, नयविद्भिरिहोच्यते**] ॥ २६२ ॥ यत्तालुमूलात्स्रवतेऽमृतं हि, योगी जनस्तत्पिबति प्रध्यानात् । तेनैव तृप्तिश्च तथा विमुक्ति , सञ्जायते योगिजनस्य नित्यम् ॥ २६३ ॥ **बन्धव्योऽस्त्यनुबन्धश्चेत्पुण्यस्यैवानुबन्धनम् । पापानुबन्धं नो कुर्याद्धेय एवास्ति सर्वदा** ॥ २६४ ॥ कृत पुण्यानुबन्धस्य, बलादेव फल भवेत् । यत स्यात्कर्म्मनिर्जरा, न पुन कर्मसम्भव ॥ २६५ ॥ स्वतन्त्रतायाश्चैतद्धि, द्वितीय द्वारमिष्यते । ज्ञात्वैव च विवेकेन, साध्यो योगश्च साधकै ॥ २६६ ॥ **योगान्नास्त्यपरः कश्चिन्मुक्तिसिद्धिकरोऽधुना । तस्माद्योगमुपाश्रित्य, याति योगी परम्पदम्** ॥ २६७ ॥ योग. कल्पतरुर्विपत्तितरणिरज्ञाननाशोद्यतो, येन स्याच्च जराऽपमृत्युहरण योगार्थिना दु खहा । तृप्ति स्यादचलाऽऽत्मनि प्रवितते यस्मात्परा निर्मला, योगे निर्मलचेतसा हृदि मुहुर्मुक्तिश्च वा भ्राजते ॥ २६८ ॥ **योगो हि निर्मलादर्शो, यत्रात्मा च प्रदृश्यते । लोकस्यान्तर्गतं वस्तु, निशामय गुरोर्मुखात्** ॥ ॥ २६९ ॥

इति वीरयोगतरङ्गः समाप्तः ॥

भावार्थः—प्रत्येक प्राणी सुखकी इच्छा प्रकट करता है, इतना ही नहीं बल्कि सुखकी प्राप्तिके लिये अनेक उपाय करता है। उन उपायोंसे जब वह सफलीभूत होता है और अनन्त सुखको पाता है तब वह सर्वथा कृतकृत्य हुआ समझा जाता है। सुखको पानेके लिये अनेक साधनोंमें धर्म सर्वोत्कृष्ट साधन है। वर्तमान समयमें अनेक मत पंथ वाड़ाबंदी सम्प्रदाय पेचाड़ा जत्था टोल्या पार्टीबाजी आदि जो धर्मके नामपर चलकर अमर शहीद बनने जा रही हैं, वे सब सुखके साधनसे विमुख बनकर अपने शिष्योंको सुखका साधन प्राप्त करानेमें असमर्थ ही हैं। मात्र अपनी सम्प्रदाय और टोलेको निभानेके लिये अमुक अमुक क्रियाएँ रच रक्खी हैं। उन्हींको परम्पराके अनुसार अपने शिष्योंको भी बताते रहते हैं और वे शिष्य भी उस परम्पराके अरघट्ट चक्रके अनुसार उन क्रियाओंको उनके इशारेपर नाच नाचकर करते रहते हैं। ऐसी स्थितिमें जो क्वचित् क्वचित् सुखकी इच्छावाले प्राणी हैं उनको सन्तोष नहीं होता। सन्तोष न होनेसे ऐसे भद्रपरिणामवाले जीवोंको सुखके साधनके लिये खून पसीना एक करना पड़ता है। बहुत कुछ धूल खाक छाननेपर भी सुखके सच्चे साधन समयपर मिलते हैं और नहीं भी मिलते। इस प्रकार जनकी दयनीय स्थितिपर साफ समझा जा सकता है कि स्वामी सुखके वास्तविक और सच्चे साधनोंके प्रचार करनेकी जगतके लिये पूरी आवश्यकता है।

सुखके साधनोंमें योग सबसे भारी और अद्वितीय चमत्कारिक तथा सर्वमान्य साधन है। यदि इन साधनोंका गुरुगम द्वारा उपयोग किया जाय तो अवश्यमेव अल्प समयमें सनातन अक्षय सुखकी प्राप्ति हो सकती है। योग एक ऐसी वस्तु है कि वह अपने आप नहीं सीखा जा सकता अतः किसी महात्मा योगनिष्ठ आत्मनिष्ठ पुरुषके द्वारा सही सीखना चाहिये। आजकल योगी पुरुष इस भारतमें जब चाहे नहीं मिलते अतः सतत प्रयास द्वारा योगियोंकी खोज करनी पड़ेगी परन्तु नकली योगियोंसे तो सावधान ही नहीं बल्कि दूर रहना चाहिये और किसी सच्चे योगीको खोजकर साधनकी साधना करनी चाहिये। एवं इतना स्मरण रहे कि योगकी साधनाके बिना सच्चा सुखको कोई भी नहीं प्राप्त कर सकता परन्तु वह सच्चा सुख अपने पास और अपनी आत्मामें ही है, और योग अन्तर्दृष्टिके अभ्यास द्वारा वही बड़ा

सकता है। जिस मनुष्यको सनातन सुख अभीष्ट हो उसे योगकी साधनामें लगना चाहिये। योग और योगीकी महत्ता बडी ही ऊंची है। श्री गीता भगवतीमें श्रीकृष्णचन्द्रने कहा है कि—

तपस्विभ्योऽधिको योगी, ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी, तस्माद्योगी भवार्जुन॥

(अध्याय ६, श्लोक ४७)

भावार्थ—उपवासादिक अनेक प्रकारके लम्बे-लम्बे तप करनेवालोंसे योगी बडा है। नय, निक्षेप, देवादिकी आयुष्यके भग (भागे) तथा जीवादिकी सख्याकी गणना करनेवाले वाचाल ज्ञानियोंसे भी योगी बडा है, आवश्यकादि कार्य करनेवालेसे भी योगी बहुत बडा है। अत हे अर्जुन! तू योगी बन।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा, विजितात्मा जितेन्द्रिय·।
सर्वभूतात्मभूतात्मा, कुर्वन्नपि न लिप्यते॥

(गीता अध्याय ७, श्लोक ५)

भावार्थ—आत्म-विजेता, इन्द्रियजित् और सब भूतोंपर समभाव रखनेवाला योगी पुरुष कर्म करनेपर भी निष्कर्म्म समझा जाता है। अर्थात् कर्म लेपसे लिप्त नहीं होता।

इसी प्रकार जैन-दर्शनमें भी कहा है कि—

"अग्गं च मूलं विलं च विगिं च धीरे।
पलिच्छिन्दियाणं णिकम्मदंसी॥"

(आचारांग)

अग्रकर्म और मूलकर्मके भेदको समझ कर विवेक द्वारा कर्म कर। इस प्रकार कर्म करनेपर वह साधक निष्कर्मा कहलाता है।

अकम्मस्स ववहारो ण विज्जइ। कम्मुणा उवाहि जायइ॥

(आचाराग ३-१-२)

भावार्थ—निष्कर्मके जीवनमें उपाधि या उत्पात नहीं होता। इसी प्रकार लौकिक टीपटाप और दिखाव बनाव भी नहीं होता। इसका शरीर मात्र योग क्षेत्रका वाहन होता है, इत्यादि।

यह योग अनादि कालसे चला आ रहा है, और इसके आदि प्रवर्तक आदिनाथ अर्थात् आदि तीर्थंकर श्रीऋषभदेवजी जिनराज हो गये हैं। उन्होंने मनो निग्रहका आदेश सर्व प्रथम देकर यह समझाया है कि अविनश्वर सुखसे भोगोंके सन्मुख वृत्ति द्वारा क्षोभ प्राप्त मन अनुकूल होकर आत्माके सम्मुख प्रवर्तित होता है, और वह फिर अनन्त सुखका साक्षात्कार पाकर उसका अनुभव करता है अतः मनका निरोध करना ही योग है। भगवान् पतञ्जलिने भी योगका यही लक्षण बताया है।

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।' 'चित्तवृत्तिका निरोध करना योग है।'

इस अत्युत्तम योगके पात्र सभी पुरुष या चारों वर्णके लोग हैं। योग साधनामें जाति भेदकी कोई आवश्यकता नहीं है। चाण्डाल जाति भी योगसे महात्मा हो सकता है। २५ जन पूर्व हरिकेशी मुनि जातिके चाण्डाल थे तथापि योगके द्वारा महात्मा पदको पा गये। यथा—

सोवागकुलसंभूओ, गुणुत्तरधरो मुणि। (उत्तराध्ययन)

भावार्थ—चाण्डाल कुलमें जन्म लेनेपर भी हरिकेशी मुनि उत्तम गुणके धारणकरनेवाले मुनि थे गुणज्ञ।

सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो न दीसई जाई विसेसु कोई।
सोवागपुत्तं हरिएससाहू, जस्सेरिसा इड्ढि महाणुभागा॥
(३७ उत्तराध्ययन १२)

'योगका महात्म्य आँखों अपने प्रकाशमें दीख पड रहा है जिसमें जातिकी कोई आवश्यकता विशेष नहीं है। हरिकेशयोगी चाण्डाल जाति है। परन्तु इसके योग ऋद्धिके सामने सबकी आँखें चौंधिया गई हैं।"

परन्तु तामस वृत्तियोंसे योग साधना नहीं हो सकती। अतः योग क्रियाके जिज्ञासुओंको भी दूध तेल प्राशुक भोजन आदि सात्विक आहारका उपयोग करना चाहिये। यथा—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः।
(गीता श्लोक १७ अध्याय ८)

रसयुक्त चिकना स्थिर हृद्य आहार सात्विक जनोंको प्रिय हैं, क्योंकि इससे आयुष्य बुद्धि बल आरोग्य सुख और प्रीतिकी वृद्धि होती है।"

परन्तु अधिक मिरचें, अति तेल, अति खटाई आदि तामसी पदार्थोंका उपयोग कभी भी न करना चाहिये। इसके उपरान्त आवश्यकतासे अधिक न बोलकर अधिकाश मौन रहना चाहिये। निकम्मा वाग्व्यय करनेसे योगमें विकार आ जाता है। योग साधना करनेवाले महात्मा पुरुषके पाससे योगकी तालिका सीखकर उसकी साधना करनेके लिये एकान्त तथा पवित्र विजन प्रदेशमें जाना चाहिये। पहाड, पर्वत आदि एकान्तप्रदेशके अतिरिक्त अन्य किसी स्थानमें जैसी चाहिये वैसी अच्छी रीतिसे योगकी साधना नहीं कर सकता। इसीलिये प्राचीन कालके पुरुष अनेक पहाडोंमें जहा नाना सात्विक वनस्पति होनेसे तथा वहा अनेक महात्माओंके शुद्ध रज कण होनेकी स्मृति रहनेसे, वातावरण भी एकान्त और पवित्र रहनेसे उस स्थलपर एकदम शान्त और अचपल मन हो जाता है। अत वह स्थान उनका मनपसद है। बडे राजमहल या धर्म स्थानमें जिस आनन्दका स्वप्नमें भी अनुभव न हुआ हो उस आनन्दका अनुभव कुछ और शिमले तथा इस तीर्थके वर्फानी पहाडोंमें जानेसे होता है। अत योगीको किसी ऐसे ही प्रकारका स्थान पसन्द करना चाहिये। यदि कारणवश इन स्थानोंपर न जा सके तो जहा तक अपनी ही वस्तीमें रहता हो उसके आसपास किसी रमणीक वनस्पतिवाले उपवनको चुनना चाहिये, और वहीं योगाभ्यास करना चाहिये। धूलपर बैठकर योगकी साधना नहीं की जा सकती वल्कि बैठनेके लिये आसनकी भी आवश्यकता है।

योगिओंके लिये दर्भासन अत्युत्तम है, और दर्भासनपर कम्वलासन बिछाना चाहिये। दर्भासन तथा कम्वलासनमें साधकके शरीरकी विद्युत्-शक्तिको टिकाये रखनेकी शक्ति वडी ही उत्तम है। इसीलिये सूतके कपडेपर योगी अपने योगाभ्यासकी साधना न करे।

भगवती आदि सूत्रोंमें भी कई स्थानोंपर दर्भासनका पाठ ही दिया गया है। यथा—

"दब्भसंथारगं संथरइत्ता।"

इसीकी पुष्टिके लिये उत्तराध्ययनमें **केशी मुनि** और **गौतम गणधर** जहा मिलते हैं वहा वे आगन्तुक मुनिका स्वागत **"कुश तणाणिय"** दर्भाके आसनसे करते हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि—**जैन जातिमें भी आदानप्रदानके प्रसङ्गमें पहले सर्वत्र दर्भासनका ही रिवाज था।**

दर्भासनके अभावमें कंबलासन बिछाना चाहिये। दर्भासनके ऊपर कम्बलासन बिछाकर उसपर पद्मासनसे अथ पर्यंक आसन लगा कर तथा स्थिर होकर पूर्व या उत्तरमें मुख करके बैठना चाहिये। सूत्रोंमें पद्मासन लगाकर पूर्वमें मुख करना बताया है।

"'पुरत्थाभिमुहे' सपलियंकनिसण्णे"

पर्यंकासन या पद्मासनसे बैठकर पूर्वमें मुख रक्खे। पद्मासन लगाकर बायें हाथकी हथेलीपर दाहिना हाथ सीधा रखकर कमर, गर्दन मस्तकको एक पंक्तिमें रखकर बैठना चाहिये और हाथोंको हृदयसे चार अंगुलके अन्तरपर रखते हैं। इस आसनसे सबेरे सांझ या मध्याह्नमें तथा रात्रिके पहले और पिछले पहरमें सतत अभ्यास करना चाहिये। एक पहर यदि आसनसे स्थिर होकर बैठ सके तब समझो कि आसनपर विजय प्राप्तकर ली गई है। आसनपर विजय पानेके बाद प्राण और शरीर तथा इन्द्रियपर विजय पाना चाहिये। परन्तु आसनपर विजय पाये बिना योग सिद्ध नहीं हो सकता। इसके बिना आत्म साक्षात्कार अर्थात् सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः सतत प्रयास द्वारा गुरुमुखसे पाई हुई युक्तिके अनुसार आसनपर जय पा लेना चाहिये। आसनके जयमें यम और नियमपर जीत प्राप्त करनी चाहिये।

आसनको जीतनेके पश्चात् साधकगण अनेक प्रकारकी क्रियाएँ सीख सकता है। परन्तु आसनको जीतकर दृष्टिको जीतनेकी पूर्ण आवश्यकता है। दृष्टि अचपल पलक अनिमेष लोचनका न मीचना है। इससे मेषोन्मेष रहित हो जाती है। योग परिभाषामें इसे त्राटक कहा जाता है। सूत्रोंमें भी मेषोन्मेष रहित होनेके कई जगह प्रमाण मिलते हैं।

दृष्टिको जीतनेकेलिये या त्राटकमुद्राको सिद्धकरनेकेलिये सबेरे और सांझमें साधकको सीधे आसनपर बैठकर अपनेसे सवा हाथके अन्तर पर किसी वर्णकी गोलीको बनाकर रख देना चाहिये और उस पर बने बिन्दुकी नोकपर दृष्टि जमाये रहे। अमुक समयके अनन्तर आंखोंमें पानी आयगा। आरंभमें थोड़ आनेपर त्राटक रोक देना चाहिये। चार या आठ दिन तक आंसुओंको पोंछते रहना चाहिये और त्राटक आरंभ रखना चाहिये। प्रयास ऐसा करना चाहिये जिससे पलक बन्द न हो सके और इस प्रयासमें शान्तिपूर्वक प्रति दिन वृद्धि रखना चाहिये। जब एक घड़ीसे अधिक पलकको जीत लेवे तब

कई नवीन बातोंके अचरज साधकपुरुष स्वयं देखने लगेगा, और ज्यों ज्यों इससे भी अगाडी बढेगा त्यों त्यों उस साधकको अलौकिक आनन्दकी अंश अंशमें प्राप्ति होगी। ज्यों ज्यों दृष्टिको जीतता जायगा त्यों त्यों उसका मन शांत होता जायगा और दृष्टिके जयमें मनका भी जय होता है। अधिकतर आजकी भवोंपर दृष्टि रखना इसीलिये सूत्रोंमें भी बताया है।

"**एग पोगलनिविट्ठदिट्ठि।**" 'एक पुद्गलपर दृष्टिकी स्थापना करे।"

इस प्रकार ध्यानकी प्रक्रियाएँ महात्मा पुरुषोंके पास सीखनी चाहिये। जब एक घंटा तक दृष्टिविजयका अभ्यास हो जाय तदनन्तर साधकको चाहिये कि दिनके पहले भागमें किसी सुन्दर पहाडके शिखरपर या वृक्षकी चोटीपर दृष्टि जमाना चाहिये। रात्रिमें चान्द या शुक्र तथा मंगल तारेपर नजरको जमाना चाहिये। यह प्रयास ज्यों ज्यों बढेगा त्यों त्यों प्रकृतिके प्रत्येक पदार्थकी ओर पवित्र प्रेम उत्पन्न होगा, और सृष्टिके प्रत्येक अंशमें वीतरागताका प्रकटीकरण होगा। परन्तु यह प्रयास भी एक घंटा तक रखना चाहिये इसके अनन्तर सृष्टिके चाहे जिस भागपर दृष्टि डालोगे तब एकदम वह वहीं स्थिर हो जायगी, और शरीरके कोथलेमेंसे दुःख निकल कर भागेगा, इस कक्षापर पहुंचनेपर साधकको तुरन्त प्रभु नामका भावना नामक जाप परम प्रेम पूर्वक शुरू कर देना चाहिये। जापमें इच्छानुसार शब्दोच्चार या 'नमो अरिहंताणं' जपना चाहिये। परन्तु कुछ समयके पश्चात् नमो पद आपसे आप उड जायगा, और आत्मा अर्हन् प्रभुमें एकाकार हो जायगा। प्रति समय यथावसर पाकर हिलते, चलते, उठते, बैठते, सोते, जागते वह ध्यान दिमागसे न निकल सकेगा। सांझ, सवेरे, मध्यान्ह और रात्रिमें योगकी क्रियाका आरम्भ रखकर जाप जपते रहना आवश्यक है। एक ओरसे योग क्रिया द्वारा सद्भावनाकी दृढता और दूसरी ओरसे जाप, इन दो साधनोंके मिलनेसे मन एकदम शान्त हो जायगा। क्योंकि—"**मणो साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो।**" मनरूपी घोडा साहसिक और भयंकर दुष्ट है। "**इन्दिय चवल तुरंगो**" इन्द्रियोंके घोडे अधिक बलवान् होते हैं, परन्तु इस प्रयाससे उनकी मस्ती निकल जाती है, और वे शान्तिमय हो जाते हैं। इस प्रकारके संयोगोंमें साधककी विवेक दृष्टिमें अत्यन्त सूक्ष्मदृष्टि हो जायगी तथा साथ-साथ आनन्दकी वृद्धि भी। यह साधना सन्तोष जनक होनेपर साधकको अपने योगकी

दिशा बदल देनी चाहिये। अर्थात् जो मारक बहिर्रेचक किया जाता था उसके स्थानपर अन्तर्रेचक मारक करना चाहिये। प्रथम श्वासोच्छ्वासमें दृष्टि रखनी चाहिये। और जो श्वास बाहर जाता है तब 'सो' और अन्दर आते समय 'हं' का उच्चारण ही उच्चार होता है। तब दोनों मिलकर "सोऽहं" अजपाजाप बिना ही जपे होता रहता है उसपर ध्यान देना चाहिये। अर्थात् श्वास जहांसे उठता है और जहां जाकर लय होता है वहां तक उसके अन्दर दृष्टि रखनी चाहिये। इस प्रकारसे एकदम शान्ति होने लगेगी और अन्तरके आनन्दमें उत्तरोत्तर वृद्धि होगी। दिनरातमें सामान्य रीतिसे २१६ श्वासोच्छ्वास चलते हैं। इनमेंसे उपयोग बिनाका एक श्वास भी न जाने देना चाहिये। 'सोऽहं' के जापका सतत प्रवाह होनेके पश्चात् लक्ष-वृत्ति नादमें रहने लगती है। नादमार्गमें इस प्रकार आत्मका ध्यान सिद्ध होनेपर साधकको हृदयके मध्य भागकी वृत्ति स्थिर करनेका प्रयास करना चाहिये। जब हृदयकी वृत्ति स्थिर होगी तब हृदयमेंसे अलौकिककान्तिका स्रोत प्रकट हो जायगा। जिस कान्तिका साधकको अब तक इससे पहले किसीके पास अनुभव नहीं हुआ था। जब हृदयका ध्यान सिद्ध होता है तब नाभीके एक देशमें वृत्तिको स्थापन करे। वहांकी सिद्धि होनेपर उसे पुनः हृदयमें ले आना चाहिये और वहांसे कंठके मध्यमें ला छोड़े। नाभि हृदय और कंठमें कान्तिका अनुभव होनेपर मनोवृत्तिको त्रिकुटी मध्यमें स्थापन करे। त्रिकुटी ध्यानका प्रकाश होनेपर और वहांकी स्थिरवृत्ति होनेपर मस्तककी राह मिलने एक बिन्दुका साक्षात्कार होता है, और वह बिन्दु अतिशय चमत्कार होता है। बिन्दुके दर्शन होनेपर साधकको अपार आनन्द मिलता है। इस नादबिन्दुके दर्शन होनेपर सिद्धियां भी साधककी सेवामें उपस्थित हो जाती हैं। रूपस्थमें अधिक सिद्धि प्राप्त हो जाती है। इसका कारण यह है कि जब त्राटकर त्रिकुटीमें योग बिन्दुके दर्शन ही हैं, और यह योगकी सिद्धी द्वारा बिन्दु दर्शनके रूपमें समझाया गया है। बिन्दु दर्शन होनेपर साधकको अलौकिक ज्ञानकी प्राप्ति होती है और जन्म जरा मृत्युके विनाशकी तैयारी हो जाती है। बिन्दु दर्शन ही शंकरका (आत्मारामका) तीसरा नेत्र है। प्रत्येक आत्मा शंकर ही है, और उसके स्वभावतया दो नेत्र तो हैं ही और तीसरा बिन्दु दर्शन रूप ज्ञाननेत्र प्रकाश द्वारा चमकता है, बिन्दु दर्शनके पश्चात् योगीको

मृत्युका भय नहीं हो सकता, और साधकके सशय शल्योंका नाश हो जाता है। इसीको समझनेके लिये कहा जाता है कि शंकरका तीसरा नेत्र उघड आता है। तव सशय शल्यरूप विश्वका प्रलय हो जाता है।

त्रिकुटीमें विन्दु दर्शन होनेपर साधक ज्यों-ज्यों विशेष प्रयास करता है त्यों-त्यों वह विन्दु विशेष प्रकाशित होने लगता है, और अन्तमें साधक उस विन्दुमें इतना विलीन हो जाता है कि उस शान्तिमें उसे नादका अनुभव होने लगता है। तव विन्दुकी अपेक्षा नादमें विशेष आनन्द आनेसे विन्दु गौण होने लगजाता है, और नाद विशेषातिविशेष श्रवणगोचर होता है। नाद भी अनेक तरहका सुनाई पडने लगता है, और वह चक्की, सितार, सरगी और नौवतखानेसे भी अधिक और उत्कृष्ट होता है। मेघकी गर्जनासे भी अधिक गर्जना सुनाई देने लगती है। अन्तमें दिव्य नादका अनुभव होनेपर साधक उस नादमें अत्यधिक लीन हो जाता है। इस ध्वनिका अनुभव इतना अधिक वढ जाता है कि साधककी हिलने, चलने, उठने, वैठने आदिकी क्रियाओंमें भी नादका अनुसन्धान रहा करता है। **नादके अनुभवसे ही जगत्में संगीतका प्रचार योगी लोकोंने किया है**। जिस प्रकार नाद साधकको प्रिय है उसी भाति जगत्कोभी संगीत प्रिय है। अत सगीत (गुणगान) द्वारा मनको एकाग्र वनाकर साधकजन आगे वढ सकते हैं। वास्तवमें सगीत वाह्य नाद हो गया है, और इस वाह्य नाद द्वारा अभ्यन्तर नादको मिलाकर पाया जा सकता है। साधक जव नादमें और भी आगे वढता है, तव उसको नादका अनुभव जहा होता है वह भ्रमर गुफाके ऊपर शंकुके आकारकी एक पोली प्रतीत होगी, और उस पोलके शिखरपर एक महान् प्रकाशवाले पदार्थका अनुभव होगा। यह प्रकाशमान पदार्थ गोलाकार और उलटे छत्रके आकारकी तरहका जान पडेगा। यह छत्राकार सहस्र दल कमल सिद्धशिला रूप अजरामर चक्र शिरके अग्रभागमें—लोकके अग्रभागपर है। इस अजरामर चक्रमें वृत्तिके विलीन होनेपर साधकको अखण्ड अलौकिकमय आनन्दका अनुभव वर्धमान रूप होता है। वह आनन्द वढता भी इतना अधिक है कि साधक योगी उसमें एकदम लीन हो जाता है, और अलौकिक आनन्दका अनुभव अपने उस समस्त शरीरमें प्राप्त करता है अर्थात् स्वय जो आनन्दरूप है उस अलौकिक आनन्द स्वरूपको स्वय सर्वाङ्ग अनुभव करने

जाता है। इस अवस्थामें यह साधक उससे मिलकर सिद्ध, योगी विदेही महात्मा जीवन्मुक्त कहलाता है। उस योगीकी दृष्टि देहसे अन्य स्थलपर जहाँ जाती है वहाँ वहाँ वह अलौकिक दिव्य आनन्दका अनुभव करता है। जलस्थान स्थलस्थान राजस्थान वनिकस्थान पहाड़स्थान आकाश स्थान आदि जिन जिन स्थानोंपर उस महात्माकी दृष्टि होती है वहाँ वहाँ वह आनन्दका ही अनुभव करता है। सब जगह अभेद रूपसे अलौकिक अनुभव करनेसे द्वैत भावकी प्राप्ति न रहनेसे वह वीतराग कहलाता है। ऐसा योगी पुरुष ही कृतकृत्य और सिद्ध है। ऐसे योगीके दर्शन भी जगत्को पावन करते हैं।

जिस प्रकार अभ्यन्तरवृत्ति द्वारा हम योगके सम्बन्धमें समझ सके हैं। उसी दृष्टिसे बाहरके मार्गमें नाभिके ऊपर स्थापन करनेमें आता है, और जब उस प्रयासमें नाभि और नाकके बीचमें एक चमकनेवाली तेजकी लकीर अखंड रूपसे दीखने लगे तब नाभिसे दृष्टि हटाकर छातीके मध्य भागमें स्थापन करनी चाहिये और वहाँ भी जब इसी भांति तेजकी लकीर अखंड दीखने लगे तब नासिकाके अग्रमें स्थापन करे। नासाग्रसे त्रिकुटीमें वहाँसे भ्रमर गुफामें होते हुए अजरामर चक्ररूप सिद्धशिलामें और वहाँसे आत्म-अनुभवमें पहुँचा जाता है।

इस अनुभव मार्गमें भक्ति है, वह एक महान् साधन है, भक्तिसे प्रेम प्रकट होता है और प्रेमके द्वारा भी आत्माका साक्षात्कार हो सकता है। किसी शास्त्रके श्लोकपर विचार करते-करते गंभीर तहमें उतर जाता है, और उसके द्वारा भी आगे बढ़ सकता है।

एक ऐसी भी रीति है कि जिसमें पद्मासनसे बैठकर जो विचार आवें उनको तटस्थ बैठकर देखा करे, परन्तु विचारोंको भटकने न दे। अभ्यासके प्रबल प्रभावसे विचारधारा अपने आप ही थकने लग जाती है और अन्तमें एकदम शान्त हो जाती है। विचारोंके शान्त होनेपर साधकको अलौकिक आनन्द होने लगता है। तब अखिल विश्वपर विकास और उसका प्रेमकी दृष्टि हो जाती है। समान भाव तो उसमें रहने लगता है। उसमें आपमें ईश्वर भावका उदय होने लगता है। ज्यों-ज्यों यह प्रभाव बढ़ता है, त्यों-त्यों अन्तरमें आनन्दकी विशेष जागृति हो जायगी। इतना ही नहीं बल्कि बाहर भी सब जगह आनन्दका ही अनुभव होने लगेगा। और अन्तमें वह पूर्ण आनन्दमय

वन जायगा। सब जगह ईश्वरभावको स्थापन करता हुआ अति प्रेममय वनकर, प्रेमकी दृष्टिसे विश्वका दिन रात अवलोकन करनेसे सहजानन्द प्रगट होता है, और वह वीतराग हो जाता है।

पहले कहे गये प्रमाणानुसार साधकोंके लिये थोडी सी प्रक्रियाएँ सक्षेपमें वताई गई हैं। इन्हें विचारकर तथा उसी प्रकार मनन करनेसे अवश्य अलभ्य लाभ होगा। तथा अपरिमित सामर्थ्य पा सकेगा। योगका विषय अत्यन्त विशाल और गहन है, और इसे गुरुगमकी साक्षी विना सीख भी नहीं सकता। हठयोग, मत्रयोग, लययोग और राजयोग इस भाति योग चार प्रकारोंमें विभक्त है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये योगके आठ अग है, और इनमें प्रत्येकको उत्तरोत्तर एकको एककी अपेक्षा है। प्राणायाम कई प्रकारोंसे हो सकता है, परन्तु उनमें पूरक, कुभक और रेचक मुख्य हैं, भस्त्रिका आदि प्राणायाम भी उपयोगी हैं। प्राणायामको सहायता देनेके लिये नेति अर्थात् नाकमेंसे डोरा पिरोकर मुखद्वारसे निकालना; तथा धोती अर्थात् कपडेको पेटमें उतारकर मलका निकालना, नौली अर्थात् नलोंको घुमाकर फिराना, वस्ति यानी गुदासे मल साफ करना, तथा कपालभाति गजकरणी आदि हठयोगकी अनेक क्रियाएँ होती हैं। इसी प्रकार खेचरीमुद्रा, महाबन्धमुद्रा, वज्रमुद्रा इत्यादि मुद्राएँ गुरुगमके विना न कर सकनेके कारण प्राणायाम आदि की वातें फिर वताई जायँगी, क्योंकि वे वस्तुएँ भी विशेष ज्ञेयरूप हैं। अत उनको महात्मा पुरुषोंकी सगतिमें रहकर सीखना चाहिये। योगसे वढकर ससारमें कोई अन्य विद्या उत्तम नहीं है। जो पुरुष योगकी साधना करेंगे अन्तमें वे परमपदको पायेंगे, और कर्मोंसे मुक्त होंगे। अत उनको कर्मवधके चार प्रकार समझना चाहिये जिनके ये प्रभेद हैं।

कर्मवन्धके ४ प्रकार और दु:ख सुख

इस समय अनेक मनुष्य नाना पाप करते देखे जाते हैं तथापि वे सुखी क्यों हैं?

उन्होंने पुण्यरूपी वीज वोये थे, इसीलिये आज वे उनके सुखरूप फलोंको खा रहे हैं, परन्तु इस समय अन्य जीवोंको दु ख देकर पापके वीज वोते हैं, इससे भविष्यमें इसके अनन्तर उनके फल उन्हें दु खरूप होंगे। इस प्रकार जो मनुष्य सुखी होकर भी पापिष्ठ होता है वह मनुष्य

"पापानुबंधी पुण्यवान्" समझा जाता है। इसीलिये कि इस समय पूर्वपुण्यके कारण सुखी है और वर्तमान पापके कारण भविष्यमें दुःखी होगा।

कितनेक मनुष्य धर्मी होते हैं, धर्मके कार्य करते हैं, पुण्य भी करते हैं, तथापि दुःखित क्यों है?

इसका कारण यह है कि पहले उन जीवोंने पाप किये थे अतः वर्तमानमें दुःख भोगते हैं इतनेपर भी शुभ कर्म करते हुए इस समय पुण्य बांध रहे हैं। अतः वे आगे सुखी होंगे। ऐसे मनुष्योंको शास्त्रमें 'पुण्यानुबंधी पापी' कहा है। इसीलिये कि भूतकालके पापके कारण दुःख भोग रहे हैं, परन्तु वे वर्तमानके पुण्य कार्यके द्वारा भविष्यमें सुख भोगेंगे।

तब क्या वर्तमान कालमें कोई मनुष्य दुःखको भोगता हो और उसे भविष्यमें भी दुःख भोगना पड़े क्या ऐसा भी कोई नियम है?

हां हां क्यों नहीं बहुतसे मनुष्य पूर्वके पापके कारण इस समय दुःखोंको भोगते हैं इतनेपर भी इस समय अन्य जीवोंको दुःख देते हैं तो वे आगेके जन्मोंमें भी दुःखी ही होंगे।

ऐसे मनुष्योंकी शास्त्रमें क्या संज्ञा बताई है?

वे 'पापानुबंधी पापी' अर्थात् पूर्वजन्ममें पाप किया था उसका फल तो भोग रहे हैं, और इस समय पाप करते हैं अगाडी उसका दुःखरूप फल भी भोगेंगे।

तब क्या यह भी हो सकता है कि इस समय सुखी हो और आगे भी सुखी ही रहे?

हां यह भी हो सकता है भूतकालमें जीवने अन्य प्राणियोंको सुख देकर पुण्य बांधा है वे अब सुखी हैं, और अब पुण्य बांधकर भविष्यमें भी सुखोंका ही उपभोग करेंगे।

ऐसे पुरुषको शास्त्रमें क्या कहा है?

इसे 'पुण्यानुबंधी पुण्यवान्' कहा है क्योंकि पहले पुण्य करनेसे अब सुखी है और वर्तमानमें पुण्य करता है जिससे आगे भी सुख ही पावेगा।

सार—यों कर्मोंके चार प्रकारके अनुबंध होते हैं अनुबंध का अर्थ यह बंध है जिसका फल आगे भोगा जाता है। अच्छा अनुबंध होनेपर

अगाडी सुखोंका उपभोग करेगा। अशुभ अनुबंध हो तो अगाडी दुःख भोगना पडेगा।

(१) **'पापानुबंधी पाप'** इस समय दुःख और पीछे भी दुःख।

(२) **'पापानुबंधी पुण्य'** इस समय सुख और पीछे दुःख।

(३) **'पुण्यानुबंधी पाप'** इस समय दुःख और फिर सुख।

(४) **'पुण्यानुबंधी पुण्य'** इस समय सुख और फिर भी सुख।

इस प्रकारके कर्मोंसे या तो दुःख मिलता है या सुख मिलता है, परन्तु मोक्षके अव्याबाध सुख जो कि कभी समाप्त नहीं होते, ऐसा आत्मिक सुख पानेके अर्थ शारीरिक सुखोंका भोग छोडना चाहिये। अर्थात् पाप पुण्यका क्षय करके आत्मस्वरूपमें रहना सीखिये, और किसी भी प्रकारका अनुबंध न बांधना चाहिये। यदि अनुबंध डालना हो तो पुण्यका ही बांधना चाहिये। पापका अनुबंध तो बिल्कुल ही न डालना चाहिये क्योंकि पुण्यके अनुबंधसे कुछ ऐसा बल प्राप्त करता है कि जिससे कर्मोंका क्षय भी कर सकता है।

॥ अथाऽऽलोचनापुष्पाञ्जली योगस्य पुष्टये ॥

वीतरागोऽसि विज्ञानमयो गुरुवरोऽसि त्वम्। गुणागारोऽसि देवेश! सदा भव्यावने रतः ॥ १ ॥ इत्थं ते स्मरणान्नित्यं, नरा यान्ति भवाम्बुधेः। पारं सुखेन श्रीवीर! नान्योपायोऽस्ति भूतले ॥ २ ॥ शुभाऽऽनन्दस्य केलिस्त्वं, गुणोत्तमगृहं जिन! सुरासुरनरैस्त्वं हि, सेव्योऽस्यवनिमण्डले ॥ ३ ॥ त्वदीये चरणाम्भोजे, मतिर्मे स्यादकामतः। सर्वोच्चकोऽसि सर्वज्ञो, रक्ष संसार-सर्प्पतः ॥ ४ ॥ महोदधिः कलाबुद्धेरादर्शस्त्वं शुभस्य च। आचारस्याऽनवद्यस्य, संसृतेर्दुःखभञ्जकः ॥ ५ ॥ वैद्यो लोकत्रयस्यैव, रत्नाकर! जयोऽस्तु ते। श्रीशो जिनवरोऽसि त्वं, कृपाकर! दयानिधे! ॥ ६ ॥ कर्मघ्नो जातसर्वज्ञ! विज्ञप्तिर्मे त्वयि प्रभो! वीतरागमयोऽसि त्वं, दुर्बुद्धेर्मे निशामय! ॥ ७ ॥ विज्ञोऽसि हे प्रभो! देहि, वरं चाभयदं शुभम्। पित्रोरग्रे शिशुः स्पष्टं, नोच्चारयति किं? पुनः ॥ ८ ॥ मोदाय तस्य किं लीला, न भवेत्त्वं विचारय। हे मन! स्ववृत्तं च, रीतिं चैव स्वकीयकीम् ॥ ९ ॥ नम्रो भूत्वा स्वयं प्रीतिं, विभो कुरु मुदाऽनिशम्। भवेऽस्मिन्नह शुद्धेन, मनसा दत्तवान्नु किम् ॥ १० ॥ दानं किञ्चित्सदाचारो, ज्ञानं नैव तपश्च मे। पवित्रं नो मनो मेऽलं, कथमाराधये विभुम् ॥ ११ ॥ अद्यापि वासनाहानिर्न जाता पुद्गलेषु च। भ्रमान्मे

भ्रमणं मिथ्या संसाराब्धौ दयानिधे ! ॥ १२ ॥ क्रोधाग्निना प्रदग्धोऽहं, विष
रात्रि समाकुले । लोभोरगेण सन्दष्टो वेद्मि मे ज्ञानमेधनम् ॥ १३ ॥ अभि-
मानमहास्तम्भवाचालनवतो मम । जायते न गुरो ! ज्ञानं कल्पषतत्त्वचेतसः
॥ १४ ॥ कपटेन मया किंचित् कृतं परहितं विभो ! लोकसामरसमस्त सर्वं
मे स्मरणं किल ॥ १५ ॥ मारयाम परमात्म कर्तं जन्म सुखेन च ।
मन्यतां पूर्वदैवे कल्पनिबन्धेन ! मयस च ॥ १६ ॥ दर्शनं च त्वया दत्तं
साम्युवसैन निर्मलम् । अश्रितो भवतश्चित्ते मदीये जायते क्षणम् ॥ १७ ॥
कामक्रोधसमभो न मयि त्वत्कर्तमम् । ममास्ति हृदयं वज्रसमं चात्मीति
सन्निध ! ॥ १८ ॥ दुर्लभं च मया प्राप्तं ज्ञानरत्नं दयाकर ! भ्रमणे बहुविध
चास्ते न चित्तं मनो मम ॥ १९ ॥ गर्वो मे भ्रमरतं च सदाऽऽत्मसमा-
वृतः । कामाग्निमुपयमन्त्य तत्त्वीमि मुहुर्मुहुः ॥ २० ॥ कामतो क्षणमात्रेण,
वैराग्यं विहितं मया । हास्यमर्गो मयि जातं कर्मकैर्व न कल्पनात् ॥ २१ ॥
मदीये रसनाभे च विषं वसति निर्मल । तथापि कल्पो नित्यं ज्ञानाभिगुण-
भाषकः ॥ २२ ॥ तथापि विपरीतित्व चास्लोऽहं तेन मे रतिः । हास्ये मम
स्थिते चैव जायते च महत्भ्रमो ! ॥२३॥ भ्रमन्नोऽपि वेदेऽस्मिन् जगज्जीवो
हि निशाघ । अतोऽस्य चाक्रमो लोके सुखं कार्यं निवारय ॥ २४ ॥ सदाऽऽ
त्मानुगमिताऽहं, सम्यै कामुकनिर्मलम् । परदापमिकार्येभ्यैर्भ जाये नेने च
मैकको ॥ २५ ॥ परनिन्दारसलसेन चित्त मे मलिनं गुरो ! कल्पांकितं मयेऽस्मेऽप
न चार्थं विमलं मनः ॥ २६ ॥ गुप्त वै वाक्ष्मी चैव तर्केवे रतिपोऽर्दकः ।
मध्यस्थिता तदागता कदापि न च तिष्ठति ॥ २७ ॥ करोमि प्रथमं दुर्गं
कथां तीर्थां गुरोऽग्रना । त्वया तु दायत्वं सर्वं कमण्ज्मी दयानिधे ! ॥२८॥
गुरोर्वैभवमसमर्थं मनः कार्यं च हे प्रभो ! तथा सम्यगकावर्गं मिथ्या सुख्य
सिद्धं परम् ॥ २९ ॥ दुष्कर्मनिरतो नित्यं दुरात्मा च तथैव हि । मिथ्यात्वप-
संक्लिष्टमनसं विद्धि मां गुरो ! ॥ ३० ॥ मतो प्रभो न मे गत इति वैर विना
गुरो ! सर्वं लज्जा न त्वां देव ! निश्चितं भवकारणम् ॥३१॥ जडानतं च मे
पापं दृढात्मजनवासतो ! तात्मरक्षा कालोऽप्येषेति मति मो सुखम् ॥३२॥
मत्तामोहकपाल्ये मे ज्ञानं वज्रदर्शितम् । यथा ज्ञातं तथा सर्वं प ज्ञातः
मौरविनेयएः ॥ ३३ ॥ सम्यक्त्वं मनोहारि दृढाऽभिगुणमेघवे । इति त्वमि
परे कर्म मम्नो चार्चं कामिच मे ॥ ३४ ॥ सम्यक्त्वं च निगमान्तमिथि

श्रुत्वापि नो भयम् । संसारतारकं श्रुत्वा, ज्ञात नो कारणं मया ॥ ३५ ॥ स्वाङ्गस्य मयि नो भामो, जातेश्च सुमनोरम' । गुणौघश्च मयि स्वामिन्! विमला नो रतेः कला ॥ ३६ ॥ प्रभुत्वं न च मे जात, स्वप्नेऽपि दृश्यता प्रभो! तथापि गर्वसर्वेशात्करिष्येऽहं कथं हितम् ॥ ३७ ॥ प्रतिक्षणमायुर्ह्रसते, मनस्तापो न यात्यसौ । दु खदा च जराऽवस्था, सम्पन्ना विषयादरात् ॥ ३८ ॥ निवर्तते न चाद्यापि, तस्मात्त्वच्छरणागत । भेषजेच्छा मदीयाऽस्ति, धर्मवृत्तौ न मे मति ॥ ३९ ॥ मोहरूपग्रहाविष्टो, न शिष्ट' कोऽपि चाधुना । चैतन्येन समाविष्टो, लभते पदमव्ययम् ॥ ४० ॥ इत्याद्यमन्यमानोऽहं, गुरो! रक्षा मयि कुरु । सन्मुखे त्वं मदीये हि, स्थितो दैन्यविमोचक- ॥ ४१ ॥ तथापि दीनवाक्यानि, श्रृणोमि तव संन्निधौ । धिक्कारं मे दयागार! मुधा मे जनन भवे ॥ ४२ ॥ जिनसेवा कृता नैव, सविधिगृहसेवनम् । तथा कर्म कृतं धर्मपालनं न क्वचित्कृतम् ॥ ४३ ॥ दत्त नो दानमत्युग्र, न चित्ते स्मरण तव । केवल त्वयि सलभो, यथायोग्यं निशामय ॥ ४४ ॥ नृदेह दुर्लभं प्राप्य, तन्नाशश्च मया कृत । यथैकाकी नरोऽरण्ये, रोरवीति मुधा तथा ॥ ४५ ॥ प्रत्यक्षफलदातृत्वाद्धर्म्मं जैन शुभं मतम् । तत्र जाता च नो प्रीतिर्मदीया दु.खनाशिनी ॥ ४६ ॥ महामौर्ख्यं च मे पश्य, यतो जातं भय मुहु । कल्पवृक्ष तथा कामदुघा प्राप्य द्वय मया ॥ ४७ ॥ सहसा दु खसमूह च, सहमानेन नाशितम् । दुर्लभ जन्म प्राप्याशु, न मया साधितं तप ॥ ४८ ॥ रोगदु खे निरुद्धे नो, दृष्टौ च सुखभोगकौ । इति मे ह्यपराध च, क्षमस्व कृपया गुरो! ॥ ४९ ॥ अपमृत्युभयापत्तिनाशार्थं न कृतं क्वचित् । कान्ताजनसमासक्तो, धनादे सङ्ग्रह कृत ॥ ५० ॥ कारागृहसमा नारी, नरकागारखलग्रहा । तत्रासक्तमनाश्चाह, न जिन ध्यातवान् पुन- ॥५१॥ नो साधित च साधुत्व, सद्वृत्तिर्नो धृता मया । अतुला नार्जिता कीर्तिर्न परेषु दया कृता ॥ ५२ ॥ परदु ख प्रहाणेच्छा, तथा दीनजने दया । स्वप्नेऽपि नोपकारश्च, कृतं न गुरुसेवनम् ॥ ५३ ॥ रत्नकल्पं नृजन्मादिग्रामीणजनसेवया । नष्टं जातं मुधा विद्वन्! तद्रक्षस्वाधुना गुरो! ॥ ५४ ॥ वैराग्ये च समायाते, शास्त्रज्ञानं न जायते । कोपाविष्ट दुर्जनस्य, वाक्य मा सोढुमर्हसि ॥ ५५ ॥ आध्यात्मिकी च विद्या नो, नास्त्युत्तमकलाऽपि च । कथ भवाब्धे- पारं च, गमिष्यामि सुबोधय ॥ ५६ ॥ भवान्तरे चोत्तम कर्म, न कृत किञ्चिदुत्तमम् । जन्मान्तरे करिष्यामि, नास्त्याशा मे गुरो! किल ॥ ५७ ॥ जिनदेवेदृश चाहं,

कर्तुं न समर्थो न हि। योऽयमो यो मयारम्भे नाथ सोऽपि प्रसादतः ॥५८॥ यदिमं चानेकविधं कर्म हेयं मयाऽऽत्र। मदीयममलं वृत्तं न मुञ्चे ते मया प्रभो! ॥ ५९ ॥ जयजयजयस्तवं प्रयामानि प्रभो! शुभम्। मार्गदर्शनिता त्वं हि, मयोऽभिमतमिदम् ॥ ६० ॥ त्वत्समो नास्ति हे नाथ! परो शुभप्रधायकः। दुरापसामर्थ्यं प्राप्य यो नाथोऽप्यन्यमासतपि ॥ ६१ ॥ कर्मणोपार्जितं कर्म नाथ त्वत्तो भयावहम्। विपदो जगदीशा! प्रार्थनीयं मयाधुना ॥ ६२ ॥ सर्वदुःखान्तरार्थं च हर! ज्ञानं मदीयंतम्। परिशेषिर्विते मिते पसुरत्नं शुभगुणे ॥ ६३ ॥ कल्पकल्पताप्रभिधे रम्ये महीमें शुभ्या मवेद्। यतो जन्मजन्मोघे परं याचामि सततः ॥ ६४ ॥ यदिते पुनाम्यो न मितत्ते प्रभोक्तः। प्रार्थं करोमि सर्वेश! नैवान्यनाथेपना मवित ॥६५॥ वथा नित्यप्रसाद समतना कुरु महामते! जन्मद्वयं न मे चास्ति तथा पित्र-कन्दनम् ॥ ६६ ॥ हंसपक्षो गतो यत्र स पठेदिदमन्वया। वैरोहितदेयक-शोभते वत्सरे निर्मिता स्थितम् ॥ ६७ ॥ वीरस्तुतेरध्यायस्य टीका च पुण्य सिद्धया। रचिता चेतनमयः वीरस्वामि शुभे ॥ ६८ ॥ गुरुसेवीयोऽस्ति फकीरचन्द्रो नाम मया सम्पमिदं पतम। दोष च सम्भवा सुविद्यां करोमि ततोऽ*मरत्वं च भवेच्छुद्धं मे ॥ ६९ ॥

इति श्रीमज्ज्ञातपुत्रमहावीरजैनसङ्घीयमुनिश्रीफकीर-चन्द्रशिष्यपुप्फभिक्षुविरचिताऽपूर्वधामचिदा-ऽऽलोचना पुष्पावली समाप्ता।

भगवान् महावीरकी वैराग्य भावना

हो निर्ग्रन्थ भव महावीर महावीर, हररम हो बनो पर धर्मवीर महावीर। आत्मजमी प्रिया स्वामी तपवीर महावीर करदानकी जू स्वामी दानवीर महावीर। आत्मके लिए मनकीके धर्मवीरवपद शुभिमानेलिए मतलप दशयरे दर्शित ॥ १ ॥ एक बार महावीर पूर्वो पर नगर जाना इस हविए गमनगम पता अपने साया। हर योगेमवीरत्व मा हुआ सबसे सम्पूर्ण जैसे गमत्ती स्वामी रहती है कुलाम। क्या मानना जिस मानमें

---

* क्षेत्रमिलापः।

क़ुदरतकी झलक थी, क्या जात थी जिस जातमें फ़ितरतकी चमक थी ॥ २ ॥ महसूस हुआ जव इसे दरपेश सफर है, मजिल है कडी राहमें गुमराही का का डर है। दुनिया जिसे कहते हैं वह इक खानए शर है, आराम कहां दर्दोमुसीवतका यह घर है। सोचा के यह क्या है के हू खुद में भी इसी में, नाफ़हमी से माखूज हू राहते तल्वी में ॥ ३ ॥ जव ग़ौर किया हस्तीए अशिया नज़र आई, दर असल अजव सैर सरापा नजर आई। वच्चोंका घरोंदा सा यह दुनिया नजर आई, मिट मिटके भी होती हुई पैदा नजर आई। जौहरके अरजका नहीं कुछ ठीक ठिकाना, गिरगटकी तरह रंग वदलता है ज़माना ॥ ४ ॥ **वेसवाती (अनित्यता)** हर रंगेजहा अस्लमें विजलीकी चमक है, जो शक्ल हवेदा है वह शोलेकी लपक है। गुंचोंकी चटक है न वह फूलोंकी महक है, इक हस्तीएमोहूमकी यों ही सी झलक है। पल भरमें न वह शक्ल न वह शान न सूरत, था वहमे नज़र आखने देखी थी जो मूरत ॥ ५ ॥ हर चीज के जिस चीजपै होनेका गुमा हो, वेहरक्तो वेजान हो या साहिवेजा हो। इक शक्ल हो तस्वीर हो हस्तीका निशा हो, कमज़ोर हो शहजोर हो वातावोतवा हो। वक्त आए तो फिर जोर किसीका नहीं चलता, वह हुक्मेक़ज़ा है के जो टाले नहीं टलता ॥ ६ ॥ कहते हैं जवानी जिसे वचपनकी फना है, पीरी जिसे कहते हैं जवानीकी क़ज़ा है। हर अहदमें इक लुत्फ है हर लुत्फ जुदा है, इक लुत्फ़में सौ दर्द हैं हरदर्द सिवा हैं। फिर दर्द के राहत कोई कायम भी कहीं है, क्या है जिसे "है" कहिए के है भी तो नहीं है ॥ ७ ॥ **वेपनाही (अशरणता)** मादर पिदर व दुख़्तरो फर्ज़िन्दो विरदार, याराने वफादार रफ़ीक़ान दिलावर। ओरंग कुलाहे मही सदकाने जवाहर, इन्सानोंकी फ़ौजें हों के देवोंका हो लश्कर। होनी कभी टलती नहीं आपहुचे जव इज़ाम, हर सुवहके दामनसे है वावस्ता यहा शाम ॥ ८ ॥ कमजोर हो मजवूत हो वाशानो असर हो, मुफ़लिस हो गदा हो कोई या साहिवेज़र हो। जगी हो फिरंगी हो कोई रश्के क़मर हो, हो खारेनजर सवका के मंज़ूर नज़र हो। वक्त आया तो फिर नोए दिगर हो नहीं सकता, यमराजके पजेसे मफर हो नहीं सकता ॥ ९ ॥ मरता है पिसर वापसे रोका नहीं जाता, मां रोती है दम वेटेका थामा नहीं जाता। मुंह तकते हैं सव वापसे वोला नहीं जाता, भाईसे भी भाईको वचाया नहीं

जाता। तकदीर किसी तरह किसीसे नहीं बदलती मौत ऐसी बला है के
जो टाले नहीं टलती ॥ १ ॥ सदमा कोई देता है के कुछ रोजगार हो
पड़ता है अक्सर कोई के फकीर हुआ हो। कहता है फकीरोंसे के कुछ
ऐसी दुआ हो इस किसी सूरतसे कभी खुशवक्त हो। होगी भी मगर कोई
हुआ है न दुआ है जो होगा है आखिरको वही होके रहा है ॥ ११ ॥
किसरतका तमाशा है के होकर ही रहेगा जो जिसने किया है वही भोगेगा
सहेगा। कुछ डर नहीं आखिर जो मुझ कोई कहेगा जिस तरहसे कहा
जाता है हमेशा वह रहेगा। हामी कोई बंदा है किसीका न खुदा है सब
रद है सभी फेअल जो जिसने किया है ॥ १२ ॥ अजलतपसे दुनिया
(संसारसता) इस पर भी तो दिल अपने तमाम न तमाम है राहत जिसे
कहते हैं मयस्सर ही वह कम है। इक आरजू जो रंजो मुसीबतका सबब है,
और इसमें अभी है फिर एक एक गजब है। वह कौन है! जो शौक
का सेवा नहीं होता जिस दिलमें यहां अंदेशा नहीं होता ॥ १३ ॥
मुफलिसको अगर गम है के ऐसी नहीं करमें परवार है मुजवर हमेशे
दौलतको करमें। इक दर्दसे फकीर है इक चीजके फिकरमें राहत न इसे
है न उसे आठ पहरमें। इक बाप तो फर्जन्दके अरमानमें गम है, औला-
दकी कसरतसे कहीं नाकमें दम है ॥ १४ ॥ आराम तमन्ना है कोई मालके
धनको अपने फिर फिरता है कोई हुकूमतके जोर। ऐसा है कोई जरके
संदूकनमनको तामीर कराता है कोई गुम्बदोदरको। यह मेरा है मैं इसका
हूं यह मान रहा है, दुख दर्दके सामानको सुख जान रहा है ॥ १५ ॥ दिल
दोलतसे रंजूर है और शौक फिरा है, बाजोंमें जो गम है किसी अरमानका
हू है। राहत जिसे कहते हैं वह इक कमोदेश है हाल बायना मगर
फुरसतेमसा से कहूं है। इक आरजू पूरी हुई तो दूसरी पैदा आराम
किसी शखसे मिलने नहीं पाता ॥ १६ ॥ दुनिया और बहम हमदर्दी
(अन्यत्वता) हर आत्मा दुनियामें अकेली है अपनी। फानी तमाशा
है मगर बंद सबकी। मर मरके कहीं-कहती है यह कैद हमकी इक गुस्तोखी
कहीं हुई जाती है सबकी। बीमारीमें आखिर रही दरमां तकलीफें जब
करती है तो पाती है दुखदर्द सबहीसे ॥ १७ ॥ सब छोड़ें मालूम है फकत
समय उमरत अपनेकी मालूम है दिलवालोंकी रिफाकत। बीमारी हो या

मौत हो या दौरे मुसीबत, मुमकिन ही नहीं उसमें किसी गैर की शरकत। मुंह तकते हैं हैरतसे मदद कर नहीं सकते, मा बाप भी बेटेके लिए मर नहीं सकते ॥१८॥ **अलेहदगी बेहलायकी और तनहाई (एकत्वता)** ये महलोमकां हमने जो तामीर किए हैं, यह ऐशका सामान के दम जिसपे दिए हैं। यह लालो गुहर औरोंसे जो छीन लिए हैं, औलाद के जिसके लिए मर-मरके जिए हैं। हम जायँगे ये साथ न जायेंगे हमारे, ये हमसे जुदा हैं यहीं रह जायँगे सारे ॥१९॥ यह रूप यह रंग और यह नकशा ये खत व ख़ाल, है नूरके साचेमें ढला आइने तमसाल। गो रूहसे मखलूत नज़र आता है फिल-हाल, लेकिन है जुदा जानसे यह जानका जजाल। यों आत्मा इस पैकरे-ख़ाकी में बसा है, है आइनेमें अक्स मगर उससे जुदा है ॥ २० ॥ **नापाकी और गिलाज़त [अशुचिता]** यह पैकरेखाकी के हर इक जिसपे फ़िदा है, हर शख्सको मजूर नज़र जा से सिवा है। कुछ गोश्त है कुछ खून है बलग़मसे भरा है, इक ज़रफ़े गिलाजत है जो झिल्लीसे ढका है। बोल और निजासतके सिवा ख़ाक नहीं है, नापाक है इतना के कभी पाक नहीं है ॥२१॥ मशहूरे जमाना हो जो हुस्ने नमकीं से, दिल छीन लिया करता है जो शक्ले-हसीं से। उसके हो कोई जख्म फटे जिस्म कहीं से, फ़व्वारह छुटे पीपका और खूका वहीं से। देखे न नज़र च्वाहनेवालोंकी पलटके, मक्खीके सिवा गैर कोई पास न फटके ॥ २२ ॥ **आमद-ज़रीते अमल [आस्रवता]** कर देते हैं ज़रीते अमल रूहको नाचार, फल देके ही टलते हैं ये अगयार सितमगार। गो कर्म हैं दो क़िस्मके बदकारो निकोकार, होना ही मगर इनका है सद बाइसे आज़ार। इक इक नुक़्ए रूहपे बैठे हैं हजारों, उठता है अगर एक तो आजाते हैं लाखों ॥ २३ ॥ जो टलता है वह खूब झलक अपनी दिखाके, गेजो गज़बो किब्रसे दीवाना बनाके। अज़बो कशिशे ज़गे अमल हदसे बढाके, खुद छोडता है लाखके फदोंमें फँसाके। भ्रमती है योंही रूह इस आमदसे अमलकी, गर्दिश नहीं मिटती के यह है रोज़ अजलकी ॥ २४ ॥ **सदेबाव [संवरता]** अब जब कभी इस मोहका कुछ ज़ोर घटा हो, खुश तालईसे दुश्मनेजा ज़ेर हुआ हो। उस वक्त कोई रहबरे हक राहनुमा हो, तब रूहका कुछ होश ठिकाने हो बजा हो। जाने ही न दे ध्यानको गैरोंकी फिज़ामें, रोके रविशेइल्मको खुद उसकी जियामें ॥ २५ ॥ **ज़रीते अमलका इखराज [निर्जरा]** काफ़ूर शबे कुफ़ हो मिटजाए जहालत, ताबां

हो कुदूरते रस्म बने नूरेसदाकत। मन हो हमासीपे हो दिल मालेरियाकत कुछि कुमति बीज हो सन्तोष हो आदत। यह बारहसे सरगरदगी फिर-आप ही उठ जाएँ बरौते अमल इसके दुखोंसे निकलजाएँ ॥ २६ ॥ बालिम भी इसे कहे यदि समक इसमें भस जाए, कीसे इसे हम इसम इसमें समजाए। ये योर भी मविराफ बया फूलने लगजाए, हर आसमा लगने ही मये लहने लगजाए। फिर अपना तमाशा हो और अपनी ही नजर हो अमियारसे अमियारकी सोद बरसे इबर हो ॥ २७ ॥ आलिमे असबाब [संसार] यह यहाँ कायी जिसे सब कहते हैं संसार, अजसाम रहते हैं यह इक बाकसर इसरार। कायम कोई हमल न कोई मालिके सर्दार पैदा कभी होते हैं न मिटते हैं ये निरूदार। ये से कभी कम और जिया हो नहीं सकते जमते हैं बिगड़ते हैं फना हो नहीं सकते ॥ २८ ॥ पाँच इनमें हैं बेहोश तो इक साहिबे अदराक पाँच इनमें मबी एक मबी खाली बजबाक। चार इनमें सूरत रहते हैं बेमीस सदा पाक जो मिलते हैं आपसमें तो हो जाते हैं नापाक। इक आदह इक सब जब हो जाते हैं यकजहत सोसी न सके ऐसी गिरह लगती है मजबूत ॥ २९ ॥ पाँच ऐसे के जिसकी कोई रंगत है न सूरत इक ऐसा के हर दिलके है यह बाइसे लज्जत। कहते हैं उसे मादह सब अहले बसीरत जब सबसे मिलता है तो यह होती है हालत। जो रूह तो यह जिस्म है और बंद बमस है जो जाहे बह के लिए लम्हार अजब है ॥ १ ॥ यह आप गुनाहोंकी यह अबर जो तनी है यह सोच नज़र को सरी जमिन छिपती है। बेनूर यह सबसे को नाकुदरती है दर सूरतेरियाकत इन्हीं दोनोंसे बनी है। मदहूश है इसको नज़रे एक बजसने पड़ती हुई फिरती है गरीब अपने जमसमे ॥ १ ॥ इन्सान भी हैवान भी और दूरो परी भी यह जमन यह अरबाह यह धरती भी तरी भी। गुमराह ये और बोइसे हर ध्यान पड़ी भी जो कहते हैं सामने पोथी भी वरी भी बेजान भी जीवन भी अपने पे दुरे हैं, उनसे इन्हीं हो के हैं के आपोंमे दबे हैं ॥ ११ ॥ यह अमल दे दुनिया की यह आलमकी हकीकत कमालमें है बीस असारकी मजमून हाँ पार मजुल इसमें मजुल इसकी है गुमराह सतोंके लिए है यही मैदान अमीरत। ये हम यही आना करीब अजरी है आजाद न मरमरता है इस बैकवरे हे ॥ ११ ॥ दुसरे इस्म सादी की दुश्वारी [बोधि दुर्लभ] अच्छोंकी कमी उन दिखाया नहीं जाता यथा बोध किसी दिखाने बताया नहीं जाता।

वेशक्को अगकालमें लाया नहीं जाता, बुज कदफजमीरी उसे पाया नहीं जाता। इन्कार मगर रूहकी हस्तीसे गुता है, हर शैको फम्त इल्मने मालूम किया है ॥ ३४ ॥ होशो खिरदो इल्म फकत रूह की है जात, जुज रूह किसी और को हासिल नहीं ये बात। लिपटी है अजलसे जो उसे वदकी आफात, इनके ही सवव वहकी हुई फिरती है दिन रात। फिर भी सिफ्ते जात कभी जा नहीं सकती, वे होशको होश और खिरद आ नहीं असकती ॥ ३५ ॥ सव जड हैं मगर आत्मा है ज्ञानका भडार, जो ज्ञान है और इल्म है चेतनका चमत्कार। खुद इल्म भीमालूम का वाहोशो खवरदार, उस जातमे मुमकिन ही नहीं शरकते अगियार। पुद्गलने मगर ज्ञानको आवरण किया है, खुद भूलमे अपनी ये गिरफ्तारे वला है ॥ ३६ ॥ इक वार अगर भूल कोई इसकी मिटादे, शक्ल आइनेमें इसकी कोई उसको दिखादे। खुद ज़ातका इसकी इसे दीदार करादे, यह वद अमल काटसे फिर दममें उडादे। जाथिदनो मुरदनकी वला इक आनमें टलजाए, आजाद हो जू इल्मकी वदिशसे निकल जाए ॥ ३७ ॥ दुनिया है अजव चश्म फरेव आइना खाना, सौ वार यहा मिलके छुटा ऐशो खजाना। यार ऐसे वफादार के वेमिस्लो यगाना, वह हुस्नके जिस हुस्नका मुश्ताक जमाना। मिल जायँ यह आसान है दुश्वार नहीं है, मुश्कल तो फकत ज़ातका अपनी ही यकीं है ॥ ३८ ॥ **रूहानियत या सिफ्ते ज़ाति [धर्म]** कहते हैं जिसे धर्म वह कुछ और नहीं है, वस जातका अपनी ही कफत इल्मोयकीं है। लरेव है इसमें न चुना और चुनी है, सच ऐसा के रोशन सिफ्ते मेहरेमवीं है। भटकी है जो आपेसे वही रूह है नाशाद, और सुहवते यकजाईसे है गैरकी वरवाद ॥ ३९ ॥ **परिणाम**—यह राजकी सूरत थी जो पावन्द हया थी, अव उठ गया पर्दा तो वही जल्वहनुमां थी। गो इल्म सरीहीकी अभी जू न ज़िया थी, लेकिन वरके दहरकी तफसीर तो वा थी। देखा तो इन ओराक पै यह साफ लिखा है, भूला है जो आपेको वह कर्मोंसे वधा है ॥ ४० ॥ **भगवान् विचार**—भगवान् महावीर थे दर असल महावीर, मति-श्रुति-अवधिज्ञानकी थी रूहमें तनवीर। पढते ही यह समझे वरके दहरकी तहरीर, है भूल खुद अपनी सवव जिल्लतो तहकीर। सोचा के अव इस मोहको निर्मूल करूगा, फिर जन्म न हो जिससे वह चारित्र धरूगा ॥ ४१ ॥ हू ज्ञान फकत ज्ञानकी जू वनके रहूगा, मै होश हू वेहोश का पावद न हूगा। आज़ाद है फितरत मेरी आजाद वनूगा.

हूं पाक तो अब गैरकी बरकतसे कहूंगा। यह ज्ञात हूं रखता हूं मैं जो अपनी छाया में है ममलकियत चीज़ हर इक मेरी ज़िया में ॥ ४२ ॥ वह है जिस्से प्यास मिटाई नहीं जाती मुझसे किसी तरह दबाई नहीं जाती। सौ बंध बनें फिर भी छुपाई नहीं जाती वह आग वह एजाज़नुमाई नहीं जाती। इस पर मिरी दलीलें हैं इक हरफ़ इक आयत, और ऐसा के सिवाय कोई दूसरा है न आयत ॥ ४३ ॥ जी मुझ के था महवे तमाशाए बहार में फिरता था तबस्सुमे हमेशा बला में। आराम था जो कुछ था इस मस्तिये में यकबस्त वो ममन्ना ही न था उसी ज़िन्दगी में। आया है जो अब होश तो बेहोश न हूंगा निकूए हूं निकूए ही में मगन रहूंगा ॥ ४४ ॥ अशयाके तग़य्युर जो बज़ाहिर थे सिर हुए। दिल उसीसे मजबूर व ज़ुहूरातसे मामूर। था आलमे वस्ती ही जिस्से उसे पुरनूर जो कुछ बनावट था वह था सभी मंज़ूर। अपने को तसव्वुर था अहिंसा की रविश थी फ़िलहक़ वह इक रूह थी और उसमें सिफ़त थी ॥ ४५ ॥ वह और जो था सारे मुक़ाबिल रूप था उसका जो रूप था अजल से वो बना था। अवतारमें जो था और वह ख़ामोश हुआ था इस ज्ञानके सागरमें करार आया हुआ था। ख़ामोश जो हुआ आप तो आप आपही ऐसी आग उसमें धधकने लगी जो चीज़ थी वैसी ॥ ४६ ॥ वह हुस्न सदीदी था अब इक शमा था रौशन हरतरफ़ा निखर आया हुस्न कमाल आइन। हर सूरत-शक्ल हर इक आब व नमक है उसमें नया भी न था पर्दा कोई हायल। सदीक दमकता हुए ज्या सबसे जुदा था जो आतिशे अस्बाब में था आप लिया था ॥ ४७ ॥ हुस्न अपना ख़ुदा एक नये ख़ानसे निकली थी सबकी आवाज़ मगर ज्ञानसे निकली। वह ज्ञान भी बेहतर कहीं अफ़सानेसे निकली मसरूर सौहर आतिशे अरमानसे निकली। जिसपर उसे इस्तेमाल भी करते थे तुम्हें भी जिस्तरहकी ज़िया थी वह हक़ीक़तकी झलक थी ॥ ४८ ॥ क़ाबिल हयात जुम्म यकसक्ल था अमर बोध विरदेसही जब सबमें था करने हरसू बोध। हर तरफ़ नया होशमा आने लगा सन्तोष जिसमेंसे मुझे मिलो मगर बोध करे बोध। हां मेरे महावीर इस ज्ञानके सदके, इस आगम मानता हूं इस संसारके सदके ॥ ४९ ॥

(फ़क़ीर माधव)

मङ्गलाचरणम् ।

सर्व एव हि जैनानां, प्रमाणं लौकिको विधिः ।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न, यत्र न व्रतदूषणम् ॥ १ ॥

रत्नत्रयपुरस्काराः, पञ्चापि परमेष्ठिनः ।
भव्यरत्नाकरानन्दं, कुर्वन्तु भुवनेन्दवः ॥ २ ॥

[अर्हन् परमेष्ठी] ॐ निखिलभुवनपतिविहितनिरतिशयसपर्य्यापरम्परस्य, परानपेक्ष्यापर्य्यायप्रवृत्तसमस्तार्थावलोकलोचनकेवलज्ञानसाम्राज्यलाञ्छनपञ्चमहाकल्याणाष्टकमहाप्रातिहार्य्यचतुस्त्रिंशदतिशयविराजितस्य, षोडशार्धलक्षणसहस्राङ्कितदिव्यदेहमाहात्म्यस्य, द्वादशगुणप्रमुखमहामुनिमनःप्रणिधानसनिधीयमानपरमेश्वरपरमसर्वज्ञादिनामसहस्रस्य, विरहितारिरजोरहःकुहकभावस्य, समवसरणसरोऽवतीर्णजगत्त्रयपुण्डरीकखण्डमार्तण्डमण्डलस्य, दुष्पाराजवजवीभावजलनिमज्जज्जन्तुजातहस्तावलम्बपरमागमस्य, भक्तिभरविनतविष्टपत्रयीपालमौलिमणिप्रभाभोगनभोविजृम्भमाणचरणनक्षत्रनिकुरुम्बस्य, सरस्वतीवरप्रसादचिन्तामणेर्लक्ष्मीलतानिकेतकल्पानोकहस्य, कीर्तिपोतिकाप्रवर्धनिकामध्ये नीरवीचिपरिचयखलीकारकारणाभिधानपात्रमन्त्रप्रभावस्य, सौभाग्यसौरभसंपादनपारिजातप्रसवस्तवकस्य, सौरूप्योत्पत्तिमणिमकरिकाघटनविकटाकारस्य, रत्नत्रयपुरःसरस्य, भगवतोऽर्हत्परमेष्ठिनो भूयो भूयः स्मृतिं करोमीति स्वाहा । अपि च—

नरोरगसुराम्भोजविरोचनरुचिश्रियम् ।
आरोग्याय जिनाधीशं, करोम्यर्चनगोचरम् ॥ १ ॥

[सिद्धपरमेष्ठी] ॐ स्वपरसमीचीनचारित्रविचारगोचरोचित-हिताहितविभागस्य, अत एव परनिरपेक्षतया स्वयमेव सलिलमनु-कान्तमिव उपलादिव च जीवनमदेवात्मनः कारणविशेषोपसर्पण-वशादाविर्भूतमखिलकर्मविस्मयकारमसमानमसमसहायकमनवधीरित-न्यसंनिधिमव्यवधानमनवधिमयत्नसाध्यमनसितातिशयसीमानमात्मस्वरूपै-कनिबन्धनमनन्तप्रकाशमध्यासितवन्तमनन्तदर्शनमैश्वर्यविशेषसाक्षात्कृ-तसकलवस्तुसर्वस्वमनवसानसुखसमर्पयन्तवीर्यमचाक्षुषसूक्ष्मावमास-मत्यक्षाभिनिवेशावगाहमस्पृष्टमपदेशमपगतबाधापराकारसंक्रममतिवि-शुद्धस्वभावतया, निराकृताशेषशारीरव्यापारतया च, मनाङ्मुखपूर्वकसान्त-रभरूपरसगन्धशब्दस्पर्शमशेषसुखमाधिरशेखरायमाणपदविभ्रमस्वरूप-शान्तसकलसंसारदोषप्रसरं, परमात्मानमुपेयुषो गुरूणामपि प्रतिपन्नगुरु-भावस्य रत्नत्रयपुरःसरस्य भगवतः सिद्धपरमेष्ठिनो भूयो भूयः स्मृतिं करोमीति स्वाहा अपि च—

प्रशस्तकर्मविनिर्मुक्तान्सूक्ष्मकर्मविवर्जितान् ।
यतः संस्तुवे सिद्धान्, रत्नत्रयमहीपतः ॥ २ ॥

[आचार्यपरमेष्ठी] ॐ पूज्यतमस्य अर्हदिगेतोदितकुन्दकुन्दगुरु-परम्परोपात्तसमस्तैतिह्यरहस्यसारस्य, अध्ययनाध्यापनविनियोगविनयनि-यमोपनयनादिक्रियाकाण्डनिष्णातचित्तस्य चातुर्वर्ण्यसंघसंवर्धनधुरंधरस्य, स्थितिविचारसप्रभावबोधनविभूतैरिकम्पयैत्याशक्यस्य, सकलकलागमसम-यसमाचारविचारोचितवचनप्रपञ्चमरीचिविनिर्गतनिःशेषजनतारविन्द-नीमिथ्यात्वमोहान्धकारपटलस्य ज्ञानतपःप्रभावप्रकाशितजिनशासनस्य शिष्यसम्पदाशेषमिव भुवनगुरुवर्गस्य भगवतो रत्नत्रयस्य पुरःसर स्वाचार्यपरमेष्ठिनो भूयो भूयः स्मृतिं करोमीति स्वाहा । अपि च—

विचार्य सर्वमैतिह्यमाचार्य्यकमुपेयुषः ।
आचार्य्यवर्य्यानर्चामि, सञ्चार्य्य हृदयाम्बुजे ॥ १ ॥

[उपाध्यायपरमेष्ठी] ॐ श्रीमद्भगवदर्हद्वदनारविन्दविनिर्गत-द्वादशांगचतुर्दशपूर्वप्रकीर्णविस्तीर्णश्रुतपारावारपारङ्गमस्य, अपारसम्प-रायारण्यविनिर्गमानुपसर्गमार्गणानिरतविनेयजनशरण्यस्य दुरन्तैकान्त-वादमदमषीमलिनपरवादिकरिकण्ठीरवोत्कण्ठकण्ठारवायमाणप्रमाणनय-निक्षेपानुयोगवाग्व्यतिकरस्य, श्रवणग्रहणावगाहनावधारणप्रयोगवाग्मि-त्वकवित्वगमिकशक्तिविस्मापितविततनरनिलिम्पाम्बरचरचक्रवर्तिसीम-न्तप्रीतपर्य्यस्तोत्तंसस्रक्सौरभाधिवासितपादपीठोपकण्ठस्य व्रतविधानव-द्यहृदयस्य भगवतो रत्नत्रयपुरःसरस्य उपाध्यायपरमेष्ठिनो भूयो भूयः स्मृतिं करोमीति स्वाहा । अपि च—

अपास्तैकान्तवादीन्द्रानपरागमपारगान् ।
उपाध्यायानुपासेहमुपायाय श्रुताप्तये ॥ १ ॥

[सर्वसाधुपरमेष्ठी] ॐ विदितवेदितव्यस्य बाह्याभ्यन्तराचरण-करणत्रयविशुद्धित्रिपथगापगाप्रवाहनिर्मूलितमनोजकुजकुटुम्बाडम्बरस्य अमराम्बरचरनितम्बिनीकदम्बनदप्रादुर्भूतमदनमदमकरन्ददुर्दिनविनो-दारविन्दचन्द्रायमाणोदितोदितव्रतव्रातापहसितार्वाचीयकामनचरित्रच्यु-तविरञ्चिविरोचनादिवैखानसरसस्य, अनेकशस्त्रिभुवनक्षोभविधायिभिर्म-नोगोचरातिचरैराश्चर्य्यप्रभावभूमिभिरनवधारितविधानैस्तैस्तैर्मूलोत्तरगुण-ग्रामणीभिस्तपःप्रारम्भैः सकलैहिके सुखसाम्राज्यवरप्रदानावहितायातावत-रीरितविस्मितोपनतवनदेवतालकालिकुलविलुप्यमानचरणसरसिरुहपरा-गस्य निर्वाणपथनिष्ठितात्मनो रत्नत्रयस्य पुरःसरस्य भगवतो लोके सर्व-साधुपरमेष्ठिनो भूयो भूयः स्मृतिं करोमीति स्वाहा । अपि च—

योधापगाप्रवाहेण, मिथ्याज्ञानगतस्य यः ।
मिथ्यात्वाम्भोमुचः सन्तु, ज्ञानपोताय साधवः ॥ १ ॥

[सम्यग्दर्शनम्] ॐ जिनजिनागमजिनधर्मजिनोक्तजीवादित्व स्वारधारणद्गयनिर्मुम्भितविरतिनयाभिनिवेशाभिधानासु मग्नाधिगम स्वभावाभ्यासवशसमुद्भवतादिनस्योञ्चरासु, प्रशमसंवेगानुकम्पाऽऽस्ति क्यसमसमुद्भूतासु, स्थितिकरणोपगूहनवात्सल्यप्रभावनोपपरिणतस्वस पर्य्यासु अनेकनिरस्तनिःशेषनिमारितभूमिकासु, सुकृतपदप्रासादपर म्परासु कल्याणमिहापरमपि च, मविमर्गान्महासुनिमलनयोपिपरिचि तमनोरमरवैराग्यविवेकवर्परपक्षवर्तिभूषणमिवुर्द्वन्द्व, अमरेश्वर मतिदेवताप्रासादप्रकल्पवल्लीपरत्न, अमरनरलोकदर्शनकमण्डल, अपवर्ग पुरप्रवेशागम्यपप्पारमसाक्षात्करणसत्यकारं, मनुजत्वदुर्लभपदुर्लभे ऽपि मनुष्यु, ज्योतिर्लोकादिगतिगर्तपातनमकाण्डमेदनमागमन्वि मर्नाथिपमस्य संसारपादपोच्छेदप्रथमकारणस्य सकलमङ्गलविधायिन पञ्चपरमेष्ठिपुरस्सरस्य भगवतः सम्यग्दर्शनरत्नस्य पुनः पुनः शुद्धिं करामीति स्वाहा । अपि च—

मुक्तिलक्ष्मीलतामूलं, मुक्तिश्रीवल्लरीघनम् ।
भक्तितोऽहामि सम्यक्त्वं, मुक्तिचिन्तामणिप्रदम् ॥१॥

[सम्यग्ज्ञानरत्नम्] ॐ यस्मिन्निखिलभुवनतत्त्वविलोपने, आत्मीय तादृशविशेषभ्यासास्याववोधसमासादितसमीचीनमावं, अधिगमसम्य क्त्वरत्नोत्पत्तिस्थानं, अस्मिन्नपि यथासु शेषस्वभावसाम्राज्यपरम अम्बुजम अपि च यस्मिन्निदानीमपि गर्दीस्थातयेतोभिः सम्यगुपाहितो- पयोगसमाधाने पुनर्विमलमिवर्पण इव साक्षाद्भवन्ति ते ते भावैकसम्प त्स्याः समावबोधसमयविपर्यर्पणोऽपि भावावस्थास्वप्रमभीवन्समय

हेतुविहितविचित्रपरिणतिभिः, मतिश्रुतावधिमनःपर्य्यायकेवलैः पञ्च-तयीमवस्थामवगाहमानस्य सकलमङ्गलविधायिनः पञ्चपरमेष्ठिपुरसरस्य भगवतः सम्यग्ज्ञानरत्नस्य पौनःपुन्येनादरण करोमीति स्वाहा। अपि च—

नेत्रं हिताहितालोके, सूत्रं धीसौधसाधने ।
पात्रं पूजाविधेः कुर्वे, क्षेत्रं लक्ष्म्याः समागमे ॥ १ ॥

[सम्यक्चरित्रम्] ॐ यत्सकललोकालोकावलोकनप्रतिवन्ध-कान्धकारविध्वसन, अनवद्यविद्यामन्दाकिनीधरं, अशेषसत्वोत्सवानन्द-चन्द्रोदय, अखिलव्रतगुप्तिसमितिलतारामपुष्पाकरसमयं, अनल्पफल-प्रदायितरु कल्पद्रुमप्रसवभूमिमस्मयोपशमसौमनस्यधृत्तिधैर्य्यप्रधानैरनु-ष्ठीयमानमुशन्ति सद्धीमना परमपदप्राप्तेः प्रथममिव सोपान, तस्य पञ्चतयात्मनः सर्वक्रियोपशमानिशपावनस्य, सकलमङ्गलविधायिनः पञ्चपरमेष्ठिपुर सरस्य भगवतः सम्यक्चरित्ररत्नस्य सम्यगवधारण करो-मीति स्वाहा । अपि च—

धर्मयोगिनरेन्द्रस्य, कर्मवैरिजयार्जने ।
शर्म्मकृत्सर्वतत्वानां, धर्म्मधीर्वृत्तमाश्रये ॥ १ ॥
जिनसिद्धसूरिदेशकसाधुश्रद्धानबोधरत्नानाम् ।
कृत्वाष्टतयीं स्मृतिं विदधामि ततः स्तवं युक्त्या ॥ २ ॥

अथ ममाक्रन्दनकाव्यम् ।

श्रीमद्बन्ध्यपदारविन्दयुगलो ध्यानैकवेद्योऽस्ति यो, व्याप्तं येन चरा-चरात्मकमिदं क्षीरं यथा सर्पिषा । यद्भासा तरणिर्विभाति दहनश्चे-न्दुर्निशान्धापहस्त वन्दे मनसा गिरा च शिरसा जैनेन्द्यमीश जिनम्

॥ १ ॥ संसारारण्यैनतेयमरूतो विज्ञानबोधान्मयः, कलमुणविनाश येन धुतमुग् ज्वालाप्रयतासन । यस्में धर्मेनरोध्य विधयास्यो योतो-ऽस्मि यरसेविनां, प्रेमम्र मुनया मनन्तु नितरामानन्दचन्द्रास्पद ॥ २ ॥ पयक्षानिरागरासरमनिर्विज्ञानपारामुधिमन्यामीश्वरतत्रपूरण विधौ धैर्यन्तचिन्तामणि । मग्नमेलिनसापुमविनमिनीन्याभहेतु दय साऽस्माकं पुरन्मालपायणामनं श्रीमैजिनेन्द्र प्रभु ॥ ३ ॥ जैना भिक्षुवरा । पितामस्मि परमोऽस्माकं हि धीरा जिना, यो दीपो-त्सवसंज्ञक नुमदिने निर्वाणमामातवान् । सोऽस्त्वे मो निगमागमादि कनिवज्ञानात्मक चक्षुषी, प्रादात्संयमिनो विषाय सुखदं ध्यानन्तव तम्र विभुम् ॥ ४ ॥ धर्मज्ञानपरिप्रसंयमतपोयोगान्नमामानराय, यो नो जैनमतावरोपनक्रमसर्वसमार्थ विभु । हित्वा सोऽस्य वय मवाम्भि-पतिता किंचित्र कनु क्षमाक्रमादुखविषौ समाद्विसधियो यक्ष च कुर्मो मुद् ॥ ५ ॥ मायाजात्ममपास्य चात्मनि मनस्संस्थीयते योगिभि-र्योगाभ्यासतपोऽपरिग्रहसमस्तत्रसम्रते संवराय् । ते विभा जिनवर पथरत्नम सेवानुरक्तस्य च तस्मात्तान् परिहास्य चित्तकरणे चेतस्स-माधीमताम् ॥ ६ ॥ चक्र प्रसिस्था तपोवस्मवो दत्वा तपस्मान्नि-शान् द्वारा गुप्तथिया विवेकपटवो मान्य विरक्ता यत । क्षीसदे निस्माध्य चेतमगुणैरात्मसिपभावात्रमास्मावात्मविचारणे मुनिवरा ययाऽऽप्तसिद्धिमतम् ॥ ७ ॥ स्याद्वादो विदुषां हिताय गदितोऽनेकान्त-वादस्तथा सिद्धान्तप्रतिपादनं मतमिदां येनात्मम भासते । सर्व तथा विहाय मोहजलधौ ममा मवं दुस्तरे, रागद्वेषमलाकुले च मुनयो सम्यं कुतो नो भवेत् ॥ ८ ॥ मायानिर्मितशोकभारविषये वैराग्यसेवाममं,

१ मिथ्यात्मावकषायमत्ताप्रमयोपलक्षणव ।

दत्वा नश्च महाव्रतादिनियमानष्टप्रवाक्याँस्तथा । संसारे जिनदेवधर्म-
तरणिं प्रादादथो सयमान्, त साधु सुखसागरं प्रतिपदं ध्यायन्त्वतिप्रे-
मतः ॥ ९ ॥ अहिंसा तथा सत्यमस्तेयमाहुर्महद्ब्रह्मचर्यं सुनिर्वाणहे-
तुम् । यतस्तत्वबोधस्समुत्पद्यते च, ह्यतो रक्षणीयाश्च ते भिक्षु-
वर्यैं ॥ १० ॥ यस्यामोघात्मशक्तिं प्रबलगुणगणैर्नो प्रवक्तुं समर्थो,
नास्माक साधुबोधस्तदनु च कथने तत्स्वरूपस्य तत्वम् । तस्य
ज्योतिःप्रवाह प्रबलगुणकरं वक्तुमीशाः कथञ्चिन्नो वा घाता-
ख्यशक्तौ मतिरपि सुतरा नेदृशी तादृशी च ॥ ११ ॥ श्राम-
ण्यप्रतिपालनाय सुधिया जातावतारा वयं, कामक्रोधविमोहलोभमम-
तामानावरोधाशयाः । चेत. सघपदारविन्दयुगले जित्वेन्द्रियग्रा-
मक, ससारानृतभोगरोगशमने विद्यामये धार्य्यताम् ॥ १२ ॥
कामक्रोधविमर्दनेन च पुनर्लोभः समुत्पद्यते, तस्मान्मोहसमुद्भव. स्मृति-
हरो विज्ञाननाशस्तत । पश्चाद्धर्म्मविपर्य्ययोऽनृतमयी भोगैषणा
जायत, इत्थ दु खमये विचित्रविषये जीवोऽनिश वध्यते ॥ १३ ॥
आदाविन्द्रियनिग्रहे च विषया नश्यन्त्यनायासत., कार्ये चारुपरिग्रहादि-
शमने ज्ञानोदयो भासते । पश्चात्कर्म्मसमुच्चयप्रणशन धर्म्मे प्रवृत्तिः
स्थिरा, तस्मादिन्द्रियसंयमे हि मुनिभिश्चेत प्रदेय सदा ॥ १४ ॥
तच्छक्तेरात्मयोगात्सकलगुणमय. स्यात्मतापोदयश्च, तस्याग्रे चोत्थि-
तायाः प्रचलति नितरा वर्द्धमाना समस्ता. । जाते शीले महत्वे सक-
लगुणविधे. सुप्रवाह नियुज्य, वीर्य्यं चान्तेऽवरोध कृतमतिविमलं
नो मन. शान्तिमत्वम् ॥ १५ ॥ चित्तं मे विमलायतं जिनवरे लग्नं
गुरोर्भावनात्, सेवाभाववलं च सयमवल प्रोत्कृष्टमग्रेऽकरोत् । रक्ष्यं

१ समितिगुप्तिरूपान् । २ साधुसाध्वीश्रावकश्राविकामय सघ. । ३ श्रुतमये ।

संपन्नक मतापसहित कार्ये सुगमस्यार्पनमीर्षोद्धर्मवत्त विधेतवक्मठं तस्मात्स्वक धार्मिकाम् ॥ १६ ॥ धैर्येण क्षमया विभान्ति मुनयः कर्मै र्यथाभ्यासया, सत्यासत्यविमर्शनेन विषमासक्तं मन भ्राम्यति। तच्छान्ते सकलेन्द्रियाणि विषमाच्छाम्यन्त्यसम्रापनात्, साक्षात्कारवरं मयेवृद्धि पुना रूप परस्यात्मन ॥ १७ ॥ तस्यातस्यमिश्रात्पवारणकरे मेलमुखमेतसा, सौमा सभारितामृतादिविभ्रमच्छामामये सीमताम् । चार्वाचारविचारसारपटवो येनास्तिकाऽभीष्टवा, तस्मिन् ग्रामभये जगत्-मुदिन सत्संयमैरन्विता ॥ १८ ॥ रुवं सर्वमनर्थक मगवत हिंसात्मकं मर्त्य, साधूनां भवसरिनाशनकरं साध्वीगणानां तथा । तीव्र यावद्-पापफलादिशमन तत्पानुरूप महद्धीर्भं स्थापितवान् सत्यमविमित सार्वं समेव कृत्स्नम् ॥ १९ ॥ तत्कालीनगुणानुरूपमभिधां बोधात्मिकी नूतनां, संमे संस्थितिमिकत्वां सुमधुरां कृत्वा सधर्मोर्मिनि । योऽमरत्वं समये विभाय हृदये यात्या यतो योगिन, सूत्रोक्ते वचने कुरुम्बन-नित्य विभासमेव मुदु ॥ २० ॥ येनोद्यातम्बकं च हिंसकमध पूर्णा त्वमा सम्मुखो भूत्वा नश्वरं कृत्व सुमनस्य र्स्वं च मिथ्यामतम् । गुणमावकर्माविभ्रमगम्यम संस्थाप्य तीर्थं शुभ, धीतीर्थङ्करम्यम सं मुलस्थि सार्वत्र्यमेवाकरोत् ॥ २१ ॥ तत्काले मनस्य सधर्मनिरता सदे सदा सम्मता मार्गैक्यस्य रसस पानमसाम्यतापित प्रेमका । भाषा विभाहिता सुबोधजननी संसारिणाऽभ्यस्ता, धैर्यं सौम्यमपा-रमम्य सुमव यथाविठ मो हृदे ॥ २२ ॥ पैय्यादिर्विकभारपं च विषयासक्तेन्द्रियाणां गण, रुद्धा योगतपोऽसिना च जगतो यस्य महा-नर्थदम् । दु सापामकरे समोऽपहरणे ज्ञाने मनो वीमतां, साक्षिपं

१ विमर्शं वार्त मनस्पात । २ सत्यज्ञ प्रभात सौमा ।

सकलेन्द्रियैः सह ततः शान्तं प्रयासं विना ॥ २३ ॥ पश्चाच्छान्तिगत मनो न विषये लग्नं कदाचिद्भवेत्पूर्वाचार्य्यवरैः सुसंयमरतैरित्येवमुक्त पुरा । साधूना जगदन्तरायशमने मोक्षाप्तये साधन, हित्वाऽशान्तिकरान् समस्तविषयाश्चेतो गिरौ स्थाप्यताम् ॥ २४ ॥ कामिन्याः कनकात्कषायविषयाद्ये साधवो बिभ्यति, जीवात्राणकरादसत्यवचनाद्ज्ञानकृष्णोरगात् । स्वाद्वन्नाशनत. परिग्रहरताच्चे भव्यभावाशया, लोके भव्यजनानवन्ति सतत सद्बोधतत्वामृते ॥ २५ ॥ तेजस्तस्य प्रकाशता गतमदो भव्याशयाना हृदि, काण्ड भीषणवत्त्वमत्र गहन संस्थापितं संयमे । जैनाचार्य्यवरैः परस्परमथो संस्थाप्य चैक्य बल, सयुक्ताखिलशत्त्यमोघसहिता संघादिविद्युत्प्रभा ॥ २६ ॥ विद्युच्छक्तिरिवारविन्दहृदये प्रोद्भासिता येन न., सङ्घे शक्तिमदोच्चयोऽतिकृपया जाता यतश्चैकता । ता विस्मृत्य च मोहमानममताक्रान्ता वय दु खिनस्तासुद्भावयितुं मुहुर्यतिवरा यत्ने मनो धीयताम् ॥ २७ ॥ पूर्वाचार्यगणै' परस्परमदश्चैक्य सुसस्थापित, शक्त्यानन्तप्रवाहसङ्गतडितः शक्ति· समुत्पादिता । वीरं शासनमेत्र निम्नपतित येनोद्धृत शान्तित, एतावन्नहि किन्तु शासनवरं सवर्द्धित न्यायत ॥ २८ ॥ योगासक्तधियो जिनेन्द्रमृदुलाम्भोजाङ्घ्रिसेवारता, मिथ्यात्वादिनिरस्तसर्वविषया. कारुण्यवन्तो दयाम् । धृत्वा चेतसि वो निधाय च गुरोर्निर्द्वंद्वपादाम्बुजं, व्याख्यानाय निबन्धरूपममल ह्याक्रन्दनाख्य ब्रुवे ॥ २९ ॥ ॥ इति प्रस्तावना ॥ अथाऽन्यमयेक्षते च महती हानि समाजस्य च, भाग्यान्मन्दमयादुतावरयुगाद्यच्छासनाख्य बलम् । क्षीणत्व प्रतिपद्यतेऽनुदिवसं न ज्ञायते कारण, द्वन्द्वारम्भविधौ च कष्टमधिक संवर्धते हानिकृत् ॥ ३० ॥ ईर्षाकारणतो न कोऽपि कमपि श्रुते न सम्मन्यते, द्वन्द्वेव

मतभेदकारकमिव चेतस्ततो भासते । विषयाऽपि हसते तथाप्यनवतो धर्मो विशुद्धो भवेन्न्यायान्यायविचारदुर्बलतरो जाताऽधुना दुष्कवास् ॥ ११ ॥ जातोऽथ मतभेदमेवकवशाद्वाचारभेदोऽपि च, संस्था निश्चितिरोऽपि आतमभिक किं वर्णयामो वयम् । साम्प्रदायिकभेद वेषकरणाद्याचारभेदोऽपि च, शास्त्रैव समसाम्येऽनुदिवसं धर्मे मनु-ष्मिमि ॥ १२ ॥ हन्त्रेम विषम च कस्य न मनस्तोद हितेच्छावतां, माभोत्पन्तमनन्तशासनवतां केषां मनस्तोषकाम् । यास्यधीरतया च हेति सुमहच्छल्य' समुत्पद्यते, जाते सत्यपि साधुचेतसि पुनर्नोत्पद्यते भावना ॥ १३ ॥ सर्वैर्नम्रमहत्तरै म कुरुते मत्येकमत्रान्तरे, सर्वेषां मनसा निषारकरणे नो भेदभावोऽधुना । वार्ता नो कुरुते परस्परमहो सम्मेलन नैकतां, नान्येषां हितमीहते शुभधिया कश्चिन्नरः मेमत ; यथा भोजनक एव परजनस्वार्थं भवेद्दुर्बन्ध ॥ १४ ॥ केषां ग्रामोपकण्ठिमर्म भवति सुतरां मानि शिवोपलब्धिपरस्परश सेवापि नित्या निष्ठमुनिचरणाम्भोजयो साधुवर्ग्ये । सेवाधर्मोपकारोऽजमि जनहृद्यमात्मप्रसुप्तो नराणां, कोपाविष्टेष किम मतिदिनमस्ति सम्भूत पितृसे ॥ १५ ॥ योऽन्येषां धर्मलोपे भवत्यत्मभो धार मित्रा मार्ग, मातु शिक्षाविभागे मधुरसमकर संविभर्तु समर्थ । सोऽनर्थं स्फोटयित्वा रिपुदलगहन वगुणमिस्वरूप, कार्य तस्यामि नित्य वितरति समये नाभिमानप्रयोगः ॥ १६ ॥ सम्मेलने विलय गते च किमसी सम्भावना दुर्वचा, जातोऽद्य पतितो भवे च किमती चाभावसंवेदना । यस्मा मे महती पुनीमवपनी कान्ताद्भिदुग्लावरा, हा किमिमत्रि मखि पद्मिगम्न्य कार्ये मसिद्ध एति ॥ १७ ॥ मान-लोपपरिग्रहोत्कथमभाद्दर्मक्षमो जायते, सक्षीणे जिनदेवशासनवले हसा

समुत्पद्यते । तद्ध्रासे च कलङ्कितं जिनमत निष्ठा ततो भावना, तस्माद्दोष-समुच्चयापनयने चित्त समाधीयताम् ॥ ३८ ॥ अस्माकं यदि बोधमस्त्य-वनतेर्मानापमानस्य च, पातस्यैव च वाऽवहेलनजनेर्जाता पराकाष्ठता । लब्धज्ञानवलेऽपि कुम्भश्रवसो निद्रालयाः शेरते, विद्युत्तेजसमग्निजं किमु पुनर्भानूदये तिष्ठति ॥ ३९ ॥ अत्याचारसमुद्भवे च निखिल नष्ट च भव्यात्मनां, सर्वापारमयी क्रियापि विपुला नष्टा तथा भावना । शास्त्राणां पठन प्रणष्टमधिक जैनावतारे मुनौ, कि कर्तव्यमतः परं मुनिवराः सञ्चिन्तयध्वं हृदा ॥ ४० ॥ शिक्षार्थं बहुशो जनैर्विरचिताः पाठालयाः कालया, नो वा साधुगणैश्च विश्वविदित सस्थापित वा क्वचित् । विद्यापीठमनल्पकं यतिवराश्छात्रा पठेयुर्मुदा, ज्ञानाभ्यासकरा नयन्ति सकल धर्मादिकं श्रेयसे ॥ ४१ ॥ धर्मे नाभिरुचिर्गुरौ न नियतिर्विद्या-श्रमे नो मति , तत्सूत्रे पठनादरो न हि रतिः सङ्घे मुनीनां तथा । न्यायान्यायविचारणे न च गतिर्योगाश्रमे नादर', श्रेयो नश्च कथ भवे-दनुदिनं चेतः परं क्षुभ्यति ॥ ४२ ॥ मोहेनाधिकतृष्णया च महति सञ्जायते नः क्षतिः, वर्द्धन्ते ममतादयोऽहितकरा ज्ञान ततः क्षीयते । तत्क्षीणे जिनधर्म्मशर्म्म विलयं यास्यत्यथो भावना, निष्ठा सूत्रसमुद्भवा सुरगुरौ लोके कथ स्यात्स्थिति' ॥ ४३ ॥ रागद्वेषविवर्धनेन च मनो न स्यात् स्थिरं चञ्चल, तद्रोधानयन विना न विपया शाम्यन्ति योगा-श्रया । यावत्कर्म्मनिरोधन न हि भवेत्तावत्कथं भावुक, ज्ञात्वैव परि-हृत्य रागविषय साधं बल सेव्यताम् ॥ ४४ ॥ गर्तेऽशान्तिमये वयं निपतिता कश्चिवत्प्रबन्धो न हि, सर्वाधारजिनेश्वरोपकरणे नो विस्मृति-र्योग्यता । दत्त तेन ततोऽखिलं च विपय सलब्धवन्तो मुदा, तत्सर्वं कथमन्यथापहरण कुर्वन्ति चान्ये नराः ॥ ४५ ॥ सामाजस्य सुरक्षणं

च भवतामाधीनतामागमवेव धात्मुदयोऽपि मिथुकमता ज्ञात्वा मुधो
रवमम् । संयुक्तेश्वरं विना न हि भवेद् स्वरूप मात्मसात्, संयुक्त-
म्युदयमवापमम्ना वैभवादिक माप्नुयात् ॥ ४६ ॥ पूर्वं देशमवेक्षता
हि किमसीमस्तुमर्वि माधवान्, सोऽसेऽप्यभिवासिनो हि नितरां स्वार्थ-
मिमाने रता । तैमत्येन बलेन सज्जनजना कुर्वन्ति निष्कण्टकं, राज्यं
छत्रधराश्च भोगनिरता नैकाधिपत्ये स्थिताः ॥ ४७ ॥ देशेऽस्मिन्
दुरवस्थता प्रतिदिनं परिगता पश्यत, अत्रस्था भिन्नोपभोगनिरता
मया पराधीनताम् । ऐक्याभावपरा न संयमकरा मे दूरदर्शेऽप्यगो,
रागेर्ष्यादिस्वसंयुताश्च सुतरां विज्ञानशून्याशया ॥ ४८ ॥ वार्षिण
सुसेवरा जनपदा साहाय्यमाप्यान्यतः, तत्र चान्यजनेन बलमनिशं
सन्त्यार्प्यते दुःखवः । यस्मान्मोऽप्यमदुर्दशा च महती सुगमा पराधीनता,
यथाः शृंखलया बध परवशाः स्वातन्त्र्यहीनास्तथा ॥ ४९ ॥ पूर्वस्य
मनुजाः स्वतन्त्रनिरता राज्यं महत्स्याधिपाः, भयसाहसमनुस्यकेन
निवता सम्भ्रमाणेन च । येषय चाधिगताः स्वधर्मविस्मा विन्मक-
सेवा पराः, कालेन समयादिक न हि भवेत्सार्व्व कदापिम्वहि ॥५०॥
जाते वस्तुनि रोदनादिकरणं मिथ्यैव होचारण, पश्चात्तापनिवेशने न
हि पुनर्नेवानुपात शुभम् । सुखारादिविपिकरणम किम सुधा सर्वे व्यतीय
स्वकेप्सीमहीरनिमाद्युमासनवरं चोरमाम्यतां भीषम ॥ ५१ ॥ वीर
स्वाम्यनुशासनानुसरणं संधिमयता सेवन, सुभागापमदोषभेद्य परम
प्रमभिम्परामनम् । कलामावपस्मारम विनमुनी सेवापर्णे प्रेमत,
अन्यस्याभि सुभार्दिनामनुदिन मेय कराम्यमतः ॥ ५२ ॥ मूलमात्र
रस्य दैवसमुत्थस्योत्थाप्य कार्यतां, मयेकेन समाजकेन समये साम
म्यमाता न हि । वीरत्वेन च समरकरणे चेतः पमालीमतां मार्वं

निश्चयमाविधाय मनसः शुद्धिर्विधेया पुनः ॥ ५३ ॥ रागैश्चापि परिग्रहैरनुदिनं मुक्त्वा भवन्त्वादरात्, सर्वानिष्टकरैर्ममत्वबलिभिः सङ्गः परित्यज्यताम् । स्वश्लाघाकरणे ममत्वकरणे दोषो महाञ्जायते, सर्वस्माद्विषयान्मनोपहरणं श्रेयस्करं स्यात्ततः ॥ ५४ ॥ शास्त्रे वस्त्रे शिष्यवर्गे शरीरे, ग्रामे देशे श्रावके चान्यकार्ये । शोकं मोहं सम्परित्यज्य नैजं, स्वायत्तायां नैव ग्राह्यं कदाचित् ॥ ५५ ॥ बोधार्थं जनताहिताय सकलो ग्रन्थो मुदा ह्यर्प्यतां, न स्थाप्यो निकटे कदापि मनसो भारावहं नित्यशः । त्यज्यन्तां प्रियवस्तुनोऽपि नितरां नो कार्यता सञ्चयो, नित्यैकं वसनं निधाय सुखदं स्वे जीवने रक्षणम् ॥ ५६ ॥ ग्राह्यं मृण्मयमेव भाजनमथो नोऽनल्पमूल्यात्मकं, चैकं चाम्बरमेव धारणवरं नान्यन्महर्घं क्वचित् । धार्य्यो नान्यपरिग्रहश्च शयनं भूमिस्थले शोभनं, नो वाच्यं परुषाक्षरं क्वचिदथो जातापमानैरपि ॥ ५७ ॥ नो भोक्तव्यमनुत्तमं रसरसैर्युक्तं सदन्नं क्वचित्, गार्हस्थ्यैर्मनुजैर्न सङ्गतिरदः कार्या शुभाकाङ्क्षिभिः । स्वातन्त्र्यं शुभशासनैः शमदमक्षान्त्यादिभिः संयुतैरेव जैनमुनिं समुन्नतपदारूढं भवेन्नान्यथा ॥ ५८ ॥ स्वातन्त्र्यं समवाप्य चात्मनिहिता शक्तिः समाश्रीयतां, चारित्रं च निरीहता सरलता सत्यं निवासं वने । एवं संयमता क्षमत्वमनिशं सत्याग्रहत्वं तथा, इत्यादेर्बलमुद्विभाव्य सकलं स्वातन्त्र्यसञ्चिन्तनम् ॥ ५९ ॥ यत्रानन्तसुखं भवत्यनुदिनं तां पद्धतिं गच्छत, श्राद्धानां भवनं त्यजन्तु मुनयोऽरण्यं गुहां चेच्छत । स्थित्वा तत्र सुसंयमं प्रकुरुत नान्योऽस्ति पन्थाऽपरः, सर्वस्मिन् विषये भवन्तु निपुणाः पारंगताः स्युः पुनः ॥ ६० ॥ भगवद्वीरजिनस्य जन्मभवनं नित्यं भ्रमन्त्वाहिताः, शीताद्यन्वितदेशमार्गपथिको भूत्वा महावेदना । सोढव्या च महोष्णदेशज-

नित शीतोष्णादिकं वा तथा, सेव्यं साधुजनस्य सम्मतमिव देय गृहिणो-
मने ॥ ६१ ॥ साध्वीस्त्रीगणसंगते न च पुनर्नो दर्शयेत्स्थानं, संभलो-
क्तिके मनो मुहुरयो सन्दीयतां मेमत । तथाप्युत्तरशेखरे स्थिरमिदं
मनेन संलीयतां, सन्तो भिक्षुवरा समाजविषये सन्नीरव धार्य्यतास्
॥ ६२ ॥ सम्यक् जैनमत सदुक्तविधिना स्वाध्यायचिन्तार्पण, तत्सूत्रोक्त
विमर्शतत्त्वमननं स्वभक्तिताऽऽध्यायकम् । कर्तव्यं प्रतिवासरं मुमुक्षवो
हित्वा कषायादिकं, शास्त्रेऽन्यमते (परसमये) सुबोधकरणे कस्मन्तु
सद्बुद्धिभिः ॥ ६३ ॥ शास्त्रोच्चारणतोऽनुरक्तमनसः मत्यन्तदेयमति,
मा गन्तव्यमसत्करोऽथ विषयान्तो चिन्तयन्न हृदि । सचित्तैर्विसस्वगृह
सु धनिनां देयं तथा चूरतो, तस्मात्प्येन समन्वितं च वयसा स्याद्य
सदभ्यासनम् ॥ ६४ ॥ शीतोष्णादिकमन्यदापसहनं मौनं मिताभाषण,
मेन स्वात्मनतोपकारसुखदं वाक्यं च धार्यं हृदि । गन्तव्यं गहनं गिरौ च
विहितं सत्कन्दरामन्दिरं, मोक्षस्य विरसादिकं च वसनं धृत्वा यथार्थं
मुदा ॥ ६५ ॥ योगाभ्यासपरायणो गुरुपदाम्भोजार्चनासक्तधीः, सदा-
भ्यासरतो यमादिसहितः सम्मानसंयुतः । वादारोपकशायको चित-
महापदुगवचतुर्थर , समस्या परिपूर्णशान्तहृदयो योगाश्रमे वशी
॥६६॥ नो वै वेषविधानमात्रकरणात्किम्पो भवेत्कर्हिचित्स्वयमन्त धर्मरतं
गुणान्वितस्वान्तं संशयमेतदीक्षया । नाम्नाप्यशनविचारमोक्षकमन्यस्त्वकिंचनो
दुःसहम्, एतादृगुणवत्तरो यतिमिमः शिष्योत्तमेभ्यो गुरुः ॥ ६७ ॥
हे भिक्षुप्रवरा मयाऽत्र समये सन्दश्यते संसृति , ये केचित् गृहिणो
गृहादिरहिताश्चायान्ति मठे वने । दुःखार्ताश्च बुभुक्षवो हि भवता-
माराद् पिपासाकुलाः, तो हत्वा च परीक्ष्य पुनरयो शीघ्रं ददस्यादा-
राद् ॥ ६८ ॥ तेभ्योऽन्योऽन्यतरेभ्य शीघ्रमयतो सन्दीयते वा दया-

द्दीक्षामात्रविधानकेन नियता मन्त्र प्रदत्वा मुदा । किञ्चिद्भाषणयुक्तिशक्तिसहिता भाषात्मिका दीयते, दशवैकालिकनन्दिसूत्रविषय उत्तीर्णता चेद्भवेत् ॥ ६९ ॥ नो वैराग्यरतो विचारकरणेऽदक्षो न विद्यान्वितः, क्षिप्रं श्राद्धजनाय मोहकरणेऽविद्यावशः सत्कथाम् । नो वा जैनमतानुसारचलनो भक्त्या विरक्त्या युतः, (नैवं शिष्यगणोऽतिदीक्षणपरो नो भावशुद्धौ रतिः) अन्येभ्यो हठवञ्चनाय नितरा शिष्योऽप्यनिष्टः स्मृतः ॥ ७० ॥ न्यायप्राकृतजन्यकाव्यविषयं सच्छाब्दिकं वा पुनर्दद्याज्ज्ञानमनन्तरं सुमुनये शिष्याय दीक्षामपि । येन स्यात्समितौ सुयोग्यगणना लब्धप्रतिष्ठो भवेन्नो चेत्कर्म्मविगर्हितं च भवता निन्दालयो जायते ॥ ७१ ॥ दृष्ट्वेमा घटना बुधो हृदि महत्कष्ट मनस्तोदद, हास्यं वा विदधाति रोदनमथो वाञ्छार्थमेषो जनः । हीन योग्यतया जनो न मनुते सत्कारमातन्यते, जन्मान्धस्य दिवाकर· प्रकथन नामात्यनर्थप्रदम् ॥ ७२ ॥ ज्ञानं नैव विभाति यस्य हृदयेऽज्ञानान्धकारापह, नो शिक्षा विशदा सता न मुखरो भूत्वाऽन्यथा वञ्चनम् । लोकान् वञ्चयितु करोति विविधा धृत्वा मुखे वस्त्रिकां, जैनानां मतदूषण प्रकुरुते न स्थापनीयो जन· ॥ ७३ ॥ साङ्गोपाङ्गतया च सूत्रविषये स्याद्वादज्ञाने तथा, छन्द शास्त्रसमन्वितेऽन्यविषये ज्ञानं प्रदायाथवा । साधुभ्यश्च परीक्षणं सुनियत सस्कारयित्वा पुन , पश्चाद्वीरपदानुसारवशतो दीक्षा प्रदेयाऽन्यथा ॥ ७४ ॥ व्याख्यानप्रतिभाप्रबन्धरचना शिक्षाप्रणाली ततो, धर्माख्यानपरं च भाषणमयी सद्भावना जायते । ज्ञान न्यायकर -समस्तजनताकल्याणकृद्भाव्यत, एवं रीतिमुपाश्रयेद्यदि मुनिर्धर्मप्रवाहोदय ॥ ७५ ॥ अर्हद्वीरनिमित्तधर्म्मसरणीमाश्रित्य देशान्तरं, भ्रान्त्वा विश्वहिताय धर्म्मत-

रणीं हिंसापमतास्तिकाम् । यस्मादनेकविवादवादनपरं निभृतं बोधाय्ये, तिष्ठेतानिलरक्षणमासनपरा ध्याने परे निष्ठमा ॥ ७६ ॥ देवैश्च धर्मं सुसंयमरताः संसेवयामो मुदा, तामागूढमयत्यद्भुतप्रतिदिनं संस-रसाद्रवत्तकम् । मूरवा च प्रमयं तु निष्फलमहो कुर्मो विरामः सदा, तेषां धर्मपरा महानुकरणे याता मनुष्या इह ॥ ७७ ॥ चित्तं देव-बन्धोस्यता च गृहिणो विश्वसमासाद्य च, युष्माकं मनसा विना ये सुतरां तिष्ठन्ति सेवाभवे । ध्यानैश्च तथाविर्योज्ज्वलपरीषहीस्तापयष्ट मुखं, मोक्षेमिपसरं पसन्ति बहुधा कम्प्यास्पदाद्भुते ॥ ७८ ॥ मानस्या भवने च पुस्तकचयं संस्थाप्य साधूनमाध्वदाकरणे धमक-लसक पघविप्रेम तथा । वस्त्रामूपणयोर्मपेतरजना: कुर्वन्ति सङ्कल्पं, सुज्ञानां चमन सदा च मुनिभिः कर्तव्यमभ्रास्ये ॥ ७९ ॥ षड्ध्री-रसुयर्मरोषकरम भयुक्तकं भवति, नो तद्भावमसत्कर्तं च मुनिना लभ्ये-मसे सर्वदा । यत्र क्षीरसिंचनेनादिविषयं सद्रससस्पष्टतां, सामाद्या-दिकमात्मनेव हितकृत् प्राय शुभाकांक्षिभिः ॥ ८० ॥ येन ज्ञानवि-वर्धनं च भवतां सञ्जायते मोक्षसाधोम्य च हिताय योऽनुदिवसं प्राय बुधे सस्पतः । पूर्वापरेनुवर्जन च कथनं मालोऽस्ति यथापि वा हिंसामात्रपरिग्रहमकथनं हेयं सदा साधुभिः ॥ ८१ ॥ सद्वार्ये-करे सुसंयमहरं ग्रामस्यादिविशेषदं, न भाष मनसेदवं च मतिनियोगे च विभ्रमकम् । येनाप्यापननमर्मधर्मविकसत्सद्बोधयुक्तोदमसद् प्राय च यत्नवदपि ममसतां मोगार्थिना श्रेयसे ॥ ८२ ॥ युष्माकं परिप्र-हिक्येमवरा वच्छालसुखादिके, मोहाधिमवकायतेऽधिकतरं दृष्ट कर्मोदसते । येनाप्मुनिपात्म च नितरां कुर्वन्ति हे मिश्रवः । पाने वाऽम्भवपामारे च ममता सन्तमतेऽन्यैर्मनैरवासादमविर्ष प्रय-

दिविषये मोह समुज्जृम्भते ॥ ८३ ॥ तत्किं हीर्न हि जायते भगवतां दीक्षार्थिना लोकतो, लोकाना च धनार्जन परजनश्रेयस्करं ज्ञायताम् । युष्माक परिरक्षितं गतपटं न श्रेयसे पुस्तक, ज्ञात्वैवं ममता जहत्व-नुदिन भव्य भवेद्येन च ॥ ८४ ॥ विद्याऽध्यापनकार्यलुसमधिकं तत्रापि पाठ्यक्रमो, हा वो हानिकरी विभाति कियती सख्या विरामस्य च । नोऽवस्था सुव्रतग्रहस्य नियता नो वा व्रतादेस्तथा, न स्वस्यापि गुरो-र्विचारमनन कुर्वन्ति काऽन्यत्कथा ॥ ८५ ॥ यच्छास्त्राणि च पुस्त-कानि पठने चोपक्रमात्पाठने, तानीर्षाममतावशाद्गृहिगृहे ग्रंथि विद्या-याग्रत' । नष्टप्रायगतानि विश्वजलधौ नोद्घाटयन्त्यालसात्, शिष्येण प्रतिवासरं च गुरवोऽन्योन्य प्रयुध्यन्त्यत. ॥ ८६ ॥ वैरं भावगताः परस्परमहो प्रेमोच्चकाध'पतन्, लोकान्तानि निजानि सकलुषयन् यान्त्या विनायासतः । ज्ञात्वेमां च दशां मदीयमनसि स्याद्दुःखसङ्ग पुनर्जैनाचारसुशास्त्रतत्वमननात्स्वाध्यायवृद्धिर्भवेत् ॥ ८७ ॥ नीतिन्या-यप्रमाणतत्वनिखिलात् सर्वं विरुद्ध मतं, कोऽपि प्रीतिपुरःसर न कुरुते कर्माखिल सज्जनः । तेनाधःपतन मतादिविहितं धर्माच्च यायान्मुहु-स्तेनाऽहं च करोमि चिन्तनमहो धर्मस्य वृद्धिः कथम् ॥ ८८ ॥ शवालयगतौ यद्वत्सारमेयौ परस्परम् । युध्यन्तः साधवस्तद्वत्, युध्यन्ति प्रीतिमन्तरा ॥ ८९ ॥ अतोऽस्माकं च साधुत्वं, गत नास्त्यत्र भावना । दुर्दशा कीदृशी जाता, स्वधर्मो निधन गत. ॥ ८९ ॥ येनास्माक वर्धते ज्ञानशक्तिर्यस्याधारान्नीतितत्वाववोध । स्वाध्यायस्या-मूल्यरत्न वदन्ति, शान्तिर्दान्तिर्ज्ञानरूपे परेशे ॥ ९० ॥ तच्चेदानीं नाशभाव प्रयाति, नो वा शुद्धि सयमादेश्च प्राप्तिः । तद्वारा वा नैव बोधो न भावस्तस्माच्छास्त्र साधवोऽप्यात्मपार्श्वे ॥ ९१ ॥ तद्ग्रन्थाँल्लो-

कल्याणहेतोर्लोके धर्म्मप्राप्तये वै महन्तु । येन स्यात्तो रक्षण सर्वे मार्दवेन साध्यानि कार्यसिद्धौ मुनीशा ॥ ९२ ॥ सभास्सर्वान् भारती-गेहमध्ये, सन्तो भव्यान् स्थापयन्तु प्रयत्नात् । येन स्याद्वै सर्वलोकोप-कारो, शास्त्रैव वै नो विकर्म हि कर्म्मम् ॥ ९३ ॥ शुद्धस्फाटिक-वत्सरोजाङ्कयो विद्याकल्पवारिधिर्मोम्पत्तापत्रयापहो गुणनिधि शिष्ये-प्रकाममत । यथेतादृक्समावधारणकर स्याद्वेघ्गुरुः क्षिमद्यः, शिष्या-रिष्टनिवारणं च भवतामास्यत्र सन्देहक ॥ ९४ ॥ एव भिक्षुवराश्च शिष्यरचने क्षेत्रमत्ता वः यथा, य कश्चिद्भवति प्रवीक्षमपरः स्यात्तस्य दीक्षेच्छया । कायात्पारदवद्वहिःप्रसरते वार्त्ता स्फुटामित्यतः, सुसा-ऽनेकपरिग्रहसाधुचतुरा स्त्वास्तात्त्वरन्त्वप्सु च ॥ ९५ ॥ मर्वनाथमत-च्छिद्रो यदि भवेन्मे साक्षर शिष्यकल्पस्यापि प्रभवेत्सुशीक्षनपरं लोके च मन्यो जनः । अन्ते सिद्धिकृतेऽन्तरसपटको दुर्वासमां वर्जयेत्, नाध्यार्य समये सुसंयममभाक्षिस्य यतन्ते मुहुः ॥ ९६ ॥ संभाद पुस्त-कानां यो, दोषो वर्णादि तद्विराम् । शिष्याणां करणे त्वन्मात्, दोषो हि जायते ॥ ९७ ॥ मातापित्रोर्भिनाज्ञां च, त्यज दीक्षोत्सवे बहु । अपव्ययमपि कर्तुं, प्रेरयन्ति मुहुर्मुहु ॥ ९८ ॥ भिक्षवः शिष्य-तृष्णार्ता, नश्यन्ति धर्मकर्मतः । स्वगौरव मर्व चापि, नाशयन्ति मुधा त्वत ॥ ९९ ॥ रोगस्यास्येममस्तीह, शान्ति श्रीस्वामिनो वरा । महावीरस्य संघस्य, सेवा सर्वार्थसाधिनी ॥ १०० ॥ सम्यक्प्रमाद्गुरो-र्वेन, संयमादेश सेवनम् । गच्छवाद गुरोर्वाद, शिष्यवाद विवर्ज-येत् ॥ १०१ ॥ भारतस्यास्तिकस्यैकगुरुस्याचार्यो भवेद्ध्रुवम् । भूत्वा तस्यैव शिष्यास्तु, स्वार्थां पालयन्तु च ॥ १०२ ॥ य कश्चिदीक्षय

---

१ धर्मकर्मविधुरमनाभ्ये ।

प्राप्तुं, समीहेत मुदान्वितः । स्वदेशे सयमं दीक्षा, निर्वेदेन च धारयेत् ॥ १०३ ॥ तदा व्यवस्था सन्मार्गे, गत्वोन्नतपद तत । गच्छेच्च शिवसम्प्राप्तिं, सर्वेषा नो भविष्यति ॥ १०४ ॥ सङ्घे चैक स्थापनीयो गणेशे, सर्वानर्थान् वेदितु य समर्थः । येन स्यान्नः सम्प्रदायानुरोधाद्धर्म्मे वृद्धिश्चिन्त्यतां भिक्षुवर्य्यै ॥ १०५ ॥ कश्चित्समाजस्य महत्पदास्पदं, विभर्तुमिच्छेत् किल तस्य वागुराम् । कर्तुं करे स्वस्य सदेषणास्ति वा, प्रगृह्यता चेद्वरिवर्ति शक्तिः ॥ १०६ ॥ कश्चित्स्वयं सर्वसमाजकार्यकर्ता तथा धारयिता बुभूषु । तथा व्यवस्थापि समाजशक्तौ, स्वशक्तिमास्थापयितु प्रवृत्त. ॥ १०७ ॥ कस्यापि चेच्छास्ति समाजनेता, सदा भवेय च सुशासकोऽपि । एतद्धितेच्छा च प्रवर्धतेऽनिश, सर्वस्वमेवास्तु मयि प्रपन्ने, ॥ १०८ ॥ यदीदृशीच्छा परिवर्तते तदा, समाजलोपोऽपि भवेद्धि शीघ्रम् । इत्थं समाजस्य च दुर्दशा भवेद्विचिन्त्यता जैनमुनिप्रवीणैः ॥ १०९ ॥ कृच्छ्रादासपदोन्नताद्धि पतन निम्नं समाजस्य च, एवं गौरवनाशतां परिव्रजेत् सर्वे भवेयुस्त्वरम् । दु खार्ता जिनदेवभक्तिनिरता धर्मोऽपि नाशं व्रजेत्, ज्ञात्वैव जिनशासनोऽनुदिवसं तद्रक्षणे स्थीयताम् ॥ ११० ॥ रोगोऽनेन समाजभोगविषये वृद्धिंगतो नित्यशः, साधूनामहमात्मिकाविक्रतितो नष्टाऽधुना सभ्यता । सर्वेषां हि महत्वतत्त्वविषये जातैषणा सर्वतो, मानं चातपभावने निपतित मिथ्यापलापो मिथ ॥ १११ ॥ भिक्षूणामभिमानभावमधिकं काषायससेविनामेतस्यापणमार्गभागविषये जातं महर्घं ध्रुवम् । योग्यायोग्यविचारणापि विलय याता समाजस्य कि, तेनैवास्ति समाजकोऽपि नितरां पिष्टस्ततो घुणवत् ॥ ११२ ॥

---

1 संघस्य प्रधानाचार्य

दुःखाब्धोगमयाम्रवन्तु सुगमचैतन्यमायाः पुरः, सर्वेऽन्योन्यगताश्च लोक
सुखावेक गुरु कुर्वताम् । तावच्चं सफलागमैश्च हितकृत् सम्मान्यतो
मेऽमत्वा, निर्भिन्ना ममता मुनीन्द्रमनयो हीमां मयका गताः ॥११३॥
यो दीक्षासविरोऽथवा मुत्वरो या सचरित्रे रतो, यो वा योगकरो
समाधिनिरवद्य सेवयन्त्यादरात् । भक्तिं तत्र वहन्तु जैनमुनय प्रेम्णा
तथाऽन्यैर्जनैः, प्रेमोत्पन्नमयैः सुधारसमयो कुर्वन्तु सद्भावनाम् ॥११४॥

॥ इति समाकन्दमकाव्यस्य पूर्वार्द्धं समाप्तम् ॥

समाकन्दमकाव्यस्योत्तरार्द्धम् ।

नत्वा *जिनेन्द्रमवचस्य च तत्त्वराजं, संसारतापभयतापहरं वरेण्यम् । आत्मोदयाय मुनिधर्मविवर्द्धनाय, भक्त्या करोमि सरलं च निबन्धमेनम् ॥ १ ॥ अये ! साधो ! वैराग्यसमरसशरीरस्य सुभग, महावीरं सेव्यामृतचरणमाधिमर्दनम् । भवाम्भोधौ घोरे विषमसुगतृष्णापहरणं, भवन्ते नो कल्पपरिवरसुखध्यानलसनम् ॥ २ ॥ भिक्षार्थिनो मुनिवराः समयेऽत्र कल्पधर्मोपदेशकरणे न च दूषणैः । सन्ति क्लेशकरणाजिनपुस्तकानां, श्रीवर्धमानकरुणाकरशुभकीर्तिम् ॥ ३ ॥ समाजसर्व परिपक्त्वा यथा, भवन्ति तेषामुपकारदृष्टया । सुमाननीया शुभकृत्यसफलस्यैव चापुष्पतिरथ कार्या ॥ ४ ॥ स्वस्वसम्मेलनसुभवारे, सहायता चापि सुवैव देया । स्वसम्प्रचारे निःस्वार्थपरिमितैर्योऽभिमानादिपरिग्रहश्च ॥ ५ ॥ स्वस्वधर्मसेवामनिशं विश्वमुर्धासमावाय भवेदुरेवम् । मानापमाने न च तापदर्शी, कुर्वन्तु जैनाश्रमवासिनश्च ॥ ६ ॥ नेष्वेसुरम्यत्र च भगान्मे, यो मानपोऽ-

* पापापचेत यो चमति स जिन 'पापविवृतिसुग्धालम्बो भव' इत्युक्ते ।

भिरुचिं विदध्युः । लोकान्तरप्राप्तिनिमित्तभूतसज्ज्ञानकर्मादिकरा भवन्तु ॥ ७ ॥ अत्रान्तरे मानवल त्यजेयु., सत्साधुसेवा नितरां निशेषा । सत्वात्मिका वृत्तिमनूपसृत्य, मनश्च स्वाध्यायवले नियुज्य ॥८॥ स्वजीवनेनाद्यसमाजसेवा, रश्मिं गृहित्वा परिरक्षणीया । निश्चित्य चित्तेन समाजवृन्दे, साहाय्यदान करणीयमाशु ॥ ९ ॥ अथाभ्याख्यानप्रहरणम् ॥ सन्दृश्यते भिक्षुवरा [१] मयाद्य, किञ्चिद्विकारान्वितसाधुभावाः । तेषां च जाते परिवर्तनादिक, कुत्सान्वितं तेन विचारणीयम् ॥ १० ॥ दुष्टस्वभावान् कथयन्ति चान्यान्, कुर्वन्ति स्वस्यैव प्रशसन च । विद्वत्सु दोष परिभावयन्ति, गुण पिधायाथ गुण स्वकीयम् ॥ ११ ॥ प्रकाशयन्ते च स्वकीयदोष, पिधाय ते सयमिनः वरिष्ठाः । निन्दन्ति ते दुष्कृतिनोऽभिमानात्समाजभाजः प्रवदन्त्यसिद्धान् ॥ १२ ॥ यदापहर्तुं वरिवर्ति शक्तिस्तदेतरस्थान् गुणदिव्यसंघान् । आच्छिद्य सिद्धप्रवरा भवेम, इति प्रजल्पन्ति विचारशून्याः ॥ १३ ॥ मदीयेऽत्र काये यदि शक्तिरुग्रा, जगन्मात्रजातान् गुणानाविच्छिद्य । स्वकीये तनौ स्थापयित्वा वरिष्ठो, भवेय तदा सर्वतो माननीयः ॥ १४ ॥ परन्त्वस्ति भव्य न चेदृग् वल वा, न विज्ञानशक्तिर्विधातु कुतः स्यात् । परेषा च निन्दाभिधान मुखेन, परं मन्यते शाकपत्रादिकल्पम् ॥ १५ ॥ अयेऽन्यत्र निन्दे ! न लब्ध पद ते, विहाय स्थल साधुसघे प्रवेशः । कुतस्ते न जाने सदा दूरतस्त्वा, त्यजेयुर्जना मानवन्तो मनस्तः ॥ १६ ॥ अये पापिनि त्वत्कृते धर्मनाशे, भवेन्निम्नपातश्च नो धारयत्वम् । अतस्तैर्मुख नीलवर्णं च नाश', समाजाद्वहिस्त्व गता चेद्वरेण्यम् ॥ १७ ॥ अयेऽनिष्टभावे ! पिशाचस्वभावे ! मुनीना समाजात्त्वमन्यत्र गच्छ । न भव्यं भवेत्तत्र समे-

छने च सुजाते सुरम्ये कुक्षेऽत्र पासः ॥ १८ ॥ सदा सर्वत्रमर्त्य ते न भवेदो, यत्र यस्थिता ज्ञानिनोऽप्यतवधा । मुखं पश्यतेऽग्रे च संभेव्न नो, भविष्यत्यनामासवभावमेरे ॥ १९ ॥ न चापेऽतिरिक्तं समागमान्मुनीनां, मनो मे मसक्त समागमसङ्गे । भतो धारणीयं मनस्तस्य सिद्धौ, यतो मो भवेद्धर्मलाभो मुनीशा ॥ २० ॥ वयं चाव (स) मोगान्मुदोत्सयिष्यामहे ग्रामवासान्, सदा प्रेममावात् । अरण्ये निवासाय यत्र विधाय, तमावेकवर्षं मुहुधारणीयम् ॥ २१ ॥ सदा निर्मितं पात्रमेकं सदैव मुव धारणीयं गृहस्थे समं नो । कदाचिद्धि भेयाऽशुभा सान्तिध, एक मेपण वर्जनीय तथैव ॥ २२ ॥ सुसाधाधिदेतोश्च कर्तव्यमेव मिताहारमेकत्र काले वरीयः । मिलित्वा च सांवत्सरं पर्वमेक, वयं चालितस्य साधवो मतवध ॥ २३ ॥ सदाऽऽचार्यवर्य्योऽभिमना मुनीनां, मुधैको भवेच्छिष्यवर्गसमवायी । स्वके सुविचारे च न भेदभाव, करिष्यामहे ज्ञानविज्ञानवादम् ॥ २४ ॥ अहो ज्ञानरूपेऽत्र गम्भवादे, सदुत्साहशक्ति च कुर्मोऽप्रतिवर्णव । समानेऽत्र सर्वे मिलित्वा स्वकीय बहिष्कारमेनं करिष्यामहे च ॥ २५॥ यदा ते भवेन्मूलमनोऽग्य निन्दे ! कथ त्व समास्ने च तिष्ठेर्मदेनैः । यदा ते च्युतिस्त्वधिकारमवेपेत्, तदा ते क यान भवेद्भूरि क्षिप्रम् ॥ २६ ॥ सुसम्येस्तनस्य प्रसंगे भवेत्, बहिष्कारभावो न जातः कदाचित् । नर ! त्वं सुख माचरमेके स्वकीय, स्वकीय तथा नैव सन्दर्शयामि ॥ २७ ॥ तथा नैव केनापि सार्कं वदामि, सदा मौनमाधाय तिष्ठामि यावत् । गत्र वैमनस्य शरीराच भेऽप्य, त्वयि निन्दनीये गते वैनसंधात् ॥ २८ ॥ यदा मोहबुद्धिस्तदा ते मिथ्यात्वोऽन्यथा त्वं भवाहीति संघान्मुनीनाम् । कदाचिद्धि मो विविधस्य भिन्दे ! निष-

तेस्व तूर्णं वने पर्वते वा ॥ २९ ॥ इतः पेपण ते करिष्यन्ति लोका, अतोऽन्यत्र गन्तव्यमेव विचार्य । न वा भद्रमत्राधिवासे वलिष्ठे, जगत्ते करिष्यत्यहोऽनादरं हि ॥ ३० ॥ भवद्भिर्मुखात्स्वाच्च त्याज्या वरिष्ठैस्तपस्यावलं सयमादेर्वल च । तथा संघसेवा वलं चात्मनोऽपि, भवेन्नष्टमेवं हि सर्वस्वनाशः ॥ ३१ ॥ मया निश्चय दीयतेऽद्य भवद्भिः, परित्यज्य निन्दा सकर्तव्यतां हि । तथेर्प्याभय क्रोधमात्सर्य्यमेव, समाहृत्य धर्म्म चरेयुर्विरक्तिम् ॥ ३२ ॥

[अथाऽपलापविषये] यदा कश्चिदायाति पार्श्वे स्वकीये, तमुत्थाप्य हस्तेन चोर्द्धं (हर्म्ये) नयन्ति । तथैकान्तगेहे च तेनैव वार्ताऽपलापं प्रकुर्वन्ति मोदै. प्रमोदै. ॥ ३३ ॥ विनाज्ञानसम्पन्नमेक स्वशिष्य, विधायाथवा द्वारपाल स्वकीयम् । विनोदेन कुर्वन्ति कार्य्यं विगर्हमहो वर्तते कीदृशी साधुवृत्ति. ॥३४॥ मुखे चानने चक्षुषा चक्षुरेवं, तथा कर्णके कर्णवृत्तिं निधाय । करोत्याहितः किञ्चिदात्मानुकूलामनिष्टप्रदां सर्वनाशाय वार्ताम् ॥ ३५ ॥ निन्दा यस्य मुखेऽस्ति तापसजना. सत्कर्म्मतो धर्म्मतो, भ्रश्यत्यत्र च तस्य नश्यति तपो ज्ञानं पुनः संयमः । तस्माच्चा परिहृत्य सयमपरैश्चित्तं समाजे मुहु । सस्थाप्योत्तमकर्म्मसेवनपरैर्जैने मते दीयताम् ॥ ३६ ॥ यदैकस्मिन् स्थाने निवसति मुनिस्तत्र न परान् । समाजस्थान् साधून् न हि हितकरानाहितधियः ॥ निवासार्हान् रागान्निजनिकटतो दूरयति च । तथा वार्तालाप तैः सह हृदा नैव कुरुते ॥ ३७ ॥ समानीतं तैश्च मधुरजलमन्नं न मनुते । न वाऽऽतिथ्य तेषां न च किमपि सत्कारकरणम् ॥ परं चैवं ज्ञात्वा परमतरताञ्छून्यहृदय । अह वै पश्यामि व्रतमपि च तेषा मतिहरन् ॥ ३८ ॥ यथा श्वाऽन्यश्वान परमनिजकोपेन निकट ।

ममास्य मस्मांश्च किमपि न हि याञ्चा भवतु ॥ विचार्येवं सद्बुद्धिभि-
रमलमनसा पूरयति च । मुनीनां संघेऽस्य भवति कलहो द्वेषभवता
॥ १९ ॥ यथाऽयं इह मठे भवति कश्चिन्मुनिवरस्तथाऽन्योन्य
द्वेषं विषममतिभोत्साय कुरुते ॥ पशुष्वेवं नीतिर्न हि न हि न जाने
कथमगात् । इतः मेषच्छाग कपिरपि कपोताश्च सुखिन ॥ २० ॥
मिलित्वेमेऽन्योन्यं समयमनसा रममहो । सदा कुर्वन्त्यन्ये विषय
सुखभोगेऽपि निरतम् ॥ सहत्वा यान्ते इति मनसि निश्चित्य
भवतो, (परं द्वेषा मुक्ताः सुमधुगुणवन्तो मुनिवराः) विजृम्भन्ता
स्तस्मा विषयगुणभोगैकनिपुणाः ॥२१॥ [अथ शान्तिकाष्टकम्]
न वा साधुवृत्तिर्न वा कोपशान्तिर्न वा संयमाप्तौ प्रवृत्तिर्मुनीनाम् । न
हि ज्ञानसिद्धिर्न विद्याप्रवृत्तिः, कथं जैनसंघे निवृत्तिर्जनानाम् ॥ २२ ॥
गता संयमवृत्तिर्गताविरोधो गतं चारुतत्त्वं गतं पुण्यभागम् । इदा-
नीन्तनानां मुनीनां प्रवृत्तिः, सुखे श्रावके शासने शिष्यवर्गे ॥ २३ ॥
गताऽभ्यासविद्या गताऽनन्तवृत्तिर्गता साधकवृत्तिर्गता संघभक्तिः ।
गता भिक्षुसेवा गता धर्मवृत्तिर्गता शान्तभावा निवृत्तिः शुभा न ॥२४॥
गत ज्ञानगम्यं परं धैर्यरूप, मतो मत्सरोऽसौ मदैर्दुर्मदानि । कथं
साम्प्रतम्भोधिपारं मुनीशा, विना सत्क्रियां चिन्तमस्य प्रसक्तः ॥२५॥
सदा शिष्यलोभानुमे मः प्रवृत्तिर्न वा चिन्तन कोविदानां च शर्मे ।
अनेकान्तसिद्धान्तस्वाध्यायहीना, मनोरोचने नो गतिर्वा कथं स्यात्
॥२६॥ गता जैनसंघात्प्रया साधुमार्गानुगो न्यायसिद्धान्तमन्थो विचारः ।
सुसम्यक्त्वमानन्दकन्दात्मकं नो, धृतं नैव चित्ते कदाचिन्मुनीन्द्रैः
॥ २७ ॥ अशाम्याप्यतोऽज्ञानतिमिरसमावृतं ध्येयरूपं सुसम्यक्त्व
रूपम् । सदा चिन्त्यते केन मर्म मर्मभेदका मेच्छतीर्थ ।सदा संघ-

साम्यम् ॥ ४८ ॥ न वाऽरण्यवासो न वा त्यागशक्तिर्न वा चावनं धर्मतत्वस्य शश्वत् । वरीवर्ति चिन्तोदरार्थं सदैव, अतोऽहं तपाम्यात्त-भाव यतीशाः ! ॥ ४९ ॥ भजन्त्वाहिता देवदेवं जिनेश, यतो जायते दु.खमूलस्य भगः । तथा सवृतौ प्रेमभावो निवृत्तिर्भवांभोधितो ज्ञायतां साधुवृन्दैः ॥ ५० ॥ गता मोक्षप्राप्तिर्गता लब्धिशक्तिर्गता रे गता रे जिनेशस्य भक्ति. । मुनीनामिदानींतनानां प्रवृत्तिः, सुखे शायके चाशने शिष्यलोभे ॥ ५१ ॥ गत वस्तपो योगचर्य्यापि नास्ति, गतो ध्यानस्वाध्याययोगोऽपि दूरम् । गतः सूत्रपाठो गतं न्याय-सूत्रं, न स्याद्वादवादे रुचिर्वा कदाचित् ॥ ५२ ॥ गतोऽध्यात्मवादोऽ-स्पितो जैनसंघो, गतं रे ! गतं रे ! गतं प्राकृतत्वम् । इदानींतनानां मुनीनां प्रवृत्ति , सुखे शायके चाशने शिष्यलोभे ॥ ५३ ॥ [**अथापाय-निवृत्तेरुपायः**] रे चित्त ! चिन्तय जिनाम्बुजपादरेणु, पारं गमिष्यसि सुखेन यतो भवाब्धेः । शिष्यादयोऽन्यजनता न हि ते सहायाः, सर्वं विलोकय मुने ! मृगतृष्णिकाभम् ॥ ५४ ॥ संसारसागर-मगाधमगम्यपारं, श्रीमज्जिनेन्द्रचरणाम्बुजश्रद्धया वा । उल्लङ्घयिष्यति सुखेन च ते प्रयासस्तस्मात्कुरुष्व मुनिभक्तिमघौघहर्त्रीम् ॥ ५५ ॥ सुखे दु खे किञ्चिन्न भवति समाजान्तरमुने', सहायो रागान्धो निज-हठधरो द्वेषनिरत । तथा विद्याभ्यासं प्रतिपदवमन् द्वेषमनिशं, घृणा तद्वल्लोके निजमतिविरोधेन तनुते ॥ ५६ ॥ जना उच्चैर्हासं विदधति घृणापात्रमिति वो, न वा संघप्रीतिर्न च सहनिवासं प्रकुरुते । अतो मोहस्पर्द्धैर्निखिलमतके नैव भवतां, सुजातं बन्धत्वं दृढतरसुरज्वा मुनिवरा ॥ ५७ ॥ यदा वृद्धिर्मोहावृतिरपि कथ शान्तिरधुना, न वा जाताशा न' पुनरपि सहावासकरणे । निवृत्ते-

मोहस्य कथमस्तिलोकानुसरणे, विचार्यैव सन्त कुरुत मनसो मोह शमनम् ॥ ५८ ॥ कुरीतीनां मार्गो भवति हि च क्लेशेरपि तथा, सहावास पश्चादनुभवबविशाममभवत् । तथा मैण्यीऽन्योन्ये सह वमशमादे सुकरण, अनाधारे यैने निवसति सदा विप्लवभयम् ॥५९॥ स साम्योत्कर्षे वा भवति सहवासस्य चनकं, परं च शान्तिस्तोरूकमपि सस्माखि फलदम् । यदाऽभ्यासासक्त मुनिमपि यदन्त्यादितरना, समं केन स्पर्धा निगमसकलाऽभ्यासमविदुषा ॥ ६० ॥ सुविचायु समर्थ यदि मनसि चिन्ताऽभ्युदयते । तदा स्पर्धाविनिस्मि्मुनिसरि विमसति । तदा विद्याल्पमो भवति मुनिवृन्दैरधिगता । मवे विख्यातिः स्वालिजनिजमताधारस्थत ॥ ६१ ॥ विना स्पर्धा न्यापि प्रसरति समुत्साहविषय । सहावासे चैवं न स्फुरति मनसंचस्तया । विमान्तः स्वाध्याये न वसति विधो वृत्तिरवसम । ततो विद्याभमा भवति विदुषां मोदसहित ॥ ६२ ॥ सहाध्यायिन वा सहावासिन वा, विनाधीत विद्याविनोदमचार । सहाचारिणं मान्सरा मो विचारी, तथो मा मवे व्वाघसंवालोष ॥ ६३ ॥ तथा गावलोको गवेष्याखवर्गा, विना तत्कृते नैव पुष्टिं प्रयाति । न काठिन्यक स्वायिमाव सदैव, निरं चित्तभित्तौ मुदुश्चिन्समभ्यम् ॥ ६४ ॥ तथाऽप्यमनस्वोऽम्यापकाद्वा विचा रात्मसुत्यपतेऽपूर्वसक्तिप्रवाह । यदैकत्रवासो मिलित्वाऽखिलानां तदा यत्र येषां प्रवसोऽधिकोऽस्ति ॥ ६५ ॥ मवीनोऽथवा वै विरोधापि कारी सहाचारिणे वा सहाध्यायिने च । सहावासिने वा मवीनं करोति मवेत्तस्य सौख्यं नितान्तं मुनीनाम् ॥ ६६ ॥ स्वकीयेन तुल्य च याम्यं विधाय, समाजे समुत्रेमना वै करोति । अतो भेदमाव परित्यज्य शक्ति, स्वकीयां तथा योग्यतां सन्तनोतु ॥ ६७ ॥

चरित्रं सुविद्या परस्मै ददातु, सुवक्तृत्वबोधोऽस्ति केषां-विशेषः। तदा तत्कला चापि देया परस्माययं नो विचारो हृदा धारणीयः ॥६८॥ स्वविद्या मया दीयते चेत्परस्मै, तदा तस्य लोके प्रतिष्ठाऽधिका स्यात्। तथा योग्यता वृद्धिरेव प्रयाति, विचारं च नैव कदाचित्करोतु ॥ (पठित्वा च विद्या प्रदानेऽधिका स्यात्) ॥ ६९ ॥ तदा ज्ञानवृद्धिश्चरित्रप्रवृत्तिर्गरिष्ठो जनेऽथो भवेस्त्व विचार्य्य। परस्मै कुरुष्वार्पणं स्वं गुणाना, समाजे प्रवृत्तिर्विधेया सुखेन ॥ (तथाऽनन्यभावेन प्रीतिं विधाय) ॥ ७० ॥ यथा यश्च यस्मै विधत्ते च भावं, तथैवेतरोऽपि करोत्यात्मभावम्। धिया प्रेमभावो विचार्य्यैव कार्यो, यतोऽन्योन्यसमेलन स्यात्सुसौम्यम् ॥ ७१ ॥ न याचे गुरोः पादसेवातिरिक्तं, विरक्तिं तु वाऽऽध्यात्मविद्याप्रशक्तिम्। परं प्रेमतः साधुभाव प्रयाचे, समाजोन्नतिर्येन मे तद्विधेहि ॥ ७२ ॥ त्रिधा तापतप्तोऽहमस्मिन् भवाब्धौ, कथ मे निवृत्तिर्भवेद्धु खराशे। अतो मेऽभिलापामिमा पूरयस्व, गुरो! स्वा दया मे विधायाथ भावात् ॥ ७३ ॥ जीवत्राणकरीं निधाय विशदामास्येऽनिश पट्टिका, काये चोलपटं विलुचितशिख कक्षे सितां मार्जनीम्। विद्याशून्यमुखारविन्दहृदयः श्राद्धादिकैर्गीयते, लोकान् शिक्षयितु सुवेशरचना यस्यास्ति तस्मै नम ॥ ७४ ॥ उपर्युक्तमर्थं हृदा धारयित्वा, सुविद्याविनोदे मनो धारणीयम्। न हास्य भवेत्ते सभायां मुनीश! यतो विद्यया सर्वमान्यो भवेस्त्वम् ॥ ७५ ॥ परं भावुकत्व च सद्वृत्तिरेव, सदाचारता चोच्चता भावनाया। तथैवोन्नतत्व चरित्रस्य भावि, जना प्रेमदृष्ट्या प्रतिष्ठा प्रकुर्य्यु ॥ ७६ ॥ प्रतिष्ठाऽपि ससारमध्येऽधिका स्यात्समाजेऽपि विद्वान् भवेच्चोपदेष्टा। तथा वक्तृतादायको ग्रन्थकारः, प्रजाते महावीरदेवस्य शिक्षाविभागेऽधिका चोन्नतेर्वर्धिका

स्यात् ॥ ७७ ॥ भवेत्काचिदिह जने योग्यता च, तथा शक्तिमा-
नोऽस्ति यस्मिन् विशेषः । भवेयशवान्ये नरे भक्तिरथ, मुनिज्ञान-
ध्विनिरूपा शक्तिरद्वि ॥ ७८ ॥ तथकेरूपा योग्यतायां च विनो-
पयोगस्य वृद्धौ च संयुक्तवीर्ये । ध्रुवं योजनीय ध्रुव योजनीय, तथि
पस्य शंका निरासस्य लोके ॥ ७९ ॥ [अथ परोपकृतिः] शिक्षा-
मेमपरा पवित्रहृदया भिक्षार्थिनो ध्यान्तो, शायन्तां यतिशीलकर्म-
समये स्वस्यासमिन्दु मुहुः । मतानन्तपरोपकारकरणे ग्रुरा भवन्त्वा-
हिता, स्वस्य नैव कदापि विस्मृतिपथं कर्तव्यमेव विदुः ॥ ८० ॥
धर्मे लोकहितकार्यगौरवप्रधानान्यत्रोपे कृतः, येन स्वाद्युपकारकेऽनु-
दिवसं लोकोपकारी भवेत् । न स्यान च कश्चिदपेयमशुना मेवस्य
मानस्य च, सामान्ये विचरन्तु कार्यपरता ध्यात्वा द्रुतं भिक्षुकाः ॥ ८१
साहाय्य च भवेदनान्तरमुदेऽन्योन्यं विचारेण च, यतो स्वाद्युपका-
रक विचरणादेक विचारस्य वा । तन्माहात्म्यवशं भविष्यति पुनः
स्वाधुनस्तस्मेन हि, संयुक्तस्य बलस्य वर्द्धनमतो सात्तोऽयमेनोंसिस्ता
॥ ८२ ॥ एकस्मान्यसहायकोऽनुदिवसं भूत्वा स्वकार्यं कुरु, स्यान्ते
वासकराय देयमस्त्विह भो वा विचारो मुने ! विधेय च समाजके
प्रसरति लोकोपकारव्रतो, शास्त्रा सर्वमिदं विचारनिरता श्रेयस्करा
बुध्यताम् ॥ ८३ ॥ [अथाऽऽधुनिक सम्यक्त्वादानस्तुतिः]
अथास्मयमवे च भिक्षुकवरेण्याधीनिबैनेषु च सम्यक्त्व मविभाय मार्ग-
स्थितः शिष्य साकीय तथा । मर्क पञ्चपरं विनेतुमसत्यं सदिर्विनिर्मिता
यता । मीरवा सार्वमिय मधुहितक वाक्या स्वरूपेण च ॥ ८४ ॥
मूकस्योऽप्यमितीव शेषविषमाङ्गीमो मुनीनीरतो । वृक्षाणामिव संततेम
नितरां स्वापेन गाधो मुहुः ॥ सम्यक्त्वस्य यथान्वयपविस्तम्पू-

द्धाऽपि नोत्पद्यते । अन्यत्रापि न भक्तिभावसहितप्रेमोपकारादिकम् ॥ ८५ ॥ गुप्तिभावसहानुभूतिरपि च जजन्यते नो मुनौ, तस्यैव ग्रहणे सदा हि निरतो भक्तोऽपि दासोऽपि च । सम्यक्त्वस्य वितानतोत्तरमद. सञ्जायते वा ततः, सम्यक्त्वाच्च तथास्तिकत्वमपि च माध्यस्थ्यकत्वं पुनः ॥ ८६ ॥ वैषम्यं च भवेद्यतोनुदिवस दूरं तथा निष्ठता, सत्वस्याऽप्यनुवर्तन सरलता चायाति सौजन्यता ॥ आत्मीयत्वमथो गुणग्रहणता सत्यं सुसेवा परा। (ज्ञातव्य सफल मदीयसुमते! सम्यक्त्वकस्याधुना,) दृश्यन्ते प्रतिकूलता गुणगणा ज्ञातव्यमेवं बुधैः ॥ ८७ ॥ आत्मज्ञानपरायणाः सुजनतासक्ता जिनोपासका, कामक्रोधविवर्जिताश्च शमतो रागादिशून्याशयाः । सज्ज्ञानाभिनिविष्टधर्मरसिका. सद्दानशीलानुगास्त्यक्तेर्षाश्च परोपकारनिरता जैना भवन्तीदृशा. ॥ ८८ ॥ कालेऽस्मिन्नहि दर्शनस्य विषय. कण्ठी यथा स्याद्गुरोरातङ्को विषमत्वकस्य सुतरामाच्छादयत्याशु नः । भूकम्पोऽपि च पक्षपातविषये चायात्यनायासतो, रागद्वेषसमाजवृद्धिरतुला निन्दा तथान्यस्य च ॥ ८९ ॥ बीजारोपणकारकस्स्वमनसा सद्दर्शने वा गुरुर्भक्तं स्वस्य च सेवक पुनरहो कृत्वा वदत्यादरात् ॥ पश्येतो वचने मदीयरचने ध्यान कुरुष्वाहित., शिष्यस्त्वं मम साधकोऽसि च गुरुरद्यावधि ज्ञायताम् ॥ ९० ॥ मत्तोऽन्य न हि मन्यतां गुरुवरं साधुर्वरो ज्ञायता, सन्त्यन्ये यतिपार्श्वगाश्च भवता सन्दृश्यता ध्यानतः । नान्यस्मिन्नमने शिरस्तव मया त्यक्तं मदीयानुगे, मत्पादाम्बुजवन्दनं प्रतिदिन भक्त्या कुरु प्रेमत. ॥ ९१ ॥ व्याख्यानं न हि चेतरस्य मुखतः संश्रूयतां वा क्वचित्स्वक्षेत्रे न च दीयतां निवसन तेभ्यश्च नो स्थाप्यताम् । चातुर्मास्यमत न तैरपि सह कर्तव्यमेव भिया । मानीय न च सौजन्यं

पुनरयो तेऽम्यश्च देयं कश्चित् ॥ ९२ ॥ नेद सर्वमपस्मृति कुरु म स्त्रेऽत्सर्गेऽपि न स्याद्गतिधर्मे मोक्षपथ च नाऽन्मयता सतैव पाणी स्विरम्। आनन्त्येवमहं शुभोऽस्मि निखिलादन्येऽपरा सन्ति च, अद्वेय परिज्ञायतामविरत स्यादन्यकारावृताः ॥ ९३ ॥ अस्त्यन्योऽपि महाव्रु भावविषय सम्यात्मतां विचर, सम्यगदृष्टयत्कमन्यमुनिमिस्त्वत्ता च तस्य पुन । सम्यक्त्व च मवाय नैव कुरुते सर्वोऽस्य मानवः, केचित्स्तत्र समीपके च रहसि संक्लिश्यता मुदा ॥ ९४ ॥ संम्यक्त्वोत्तम भावकेण सदक्षो नामाङ्कितं पुस्तक । तीर्थस्यास्य सकीयपक्षनिर्वर्ने संक्लिश्यते नाम च ॥ यात्रार्थ च जनाः प्रयान्ति निसरां तेषां यथा मतत्सद्गुजैनमतावसम्यक्परा कुर्वन्ति कुत्सान्विता ॥९५॥ कठोरा लिकायाञ्च निन्दास्वंवाचा, मनुष्येच सजायते कुमदलम्। ममतान्ध कारेण संछादर्भ स्यात्तया रागद्वेषादिकम्बाममेलद् ॥ ९६ ॥ सम्यक्त्व संयुक्तवले च सम्यक् मन्यत्सममात्मतामितो विभिन्नत्यम्। मर्वोयसम्यक्त्वव कस्य मूल, संछिद्यते कुत्सितया च रीत्या ॥ ९७ ॥ मतोऽस्य रोगस्य चिकित्सकर्त्व, कर्तव्यमेवं कुमयमापादः। तदेकदेशस्य मर्त्य विधाय, मर्म ममहारि च रोगयत्या ॥ ९८ ॥ रोगो यमोत्पत्तया करोति, विकारवामास्यतृतीमकेऽन्व । महानमर्थो भवतीति ज्ञेयं, गृहस्थरागासक्तद्रष्टिमयः ॥ ९९ ॥ विधाय दोष परिता करोति, तथाऽप्तिर्म पुत्तलिकेव दृष्या। सवर्तयन्त्यत्र विवर्द्धन च, वैचम्यभावस्य निशम्य योगिन्! ॥ १०० ॥ सकीयवालस्य महाधिकारं, सद्गोदयैव सब च सम्यक् । स्वदीयवालेन विशन्ति लोका., कुतश्च लोके मविवेक मुख्या ॥ १०१ ॥ जानन्ति सर्वे च बराबरं वा, विपरस्यारस्व करोति भावन् । मावन्ति ते चान्यपरम्परातो, दूरं परं श्रोत्रयितं

वरिष्ठा ॥ १०२ ॥ कृते चाभिमाने तपस्याविनाशः, समाजोन्नतौ जायते विघ्नसघः । अतश्चाभिमानं न वै धारणीयं, न वै धारणीयं न वै धारणीयम् ॥ १०३ ॥ महापक्षपाताभिमानाभिभूताश्चरन्त्यात्मनः कुपथा लोकगर्हाम् । समुत्पद्यते योगिनी मोहमाया, ततो बध्यते तत्कृते भोगजाले ॥ १०४ ॥ मुनिजनहृदि भानुर्ज्ञानरूपी यदैति । सकलदुरितनाशो जायते चाप्रयासात् ॥ विकसति यदि पद्मं ज्ञानचारित्ररूप । भवति मनसि शान्तिर्योगसिद्धिस्ततः स्यात् ॥ १०५ ॥ गृहस्था न चास्मिन्महामोहजाले, निबद्धु त्वदीये समर्था भवन्ति । महावीरसघे मिलित्वा च सर्वे, भवेयुश्च श्रद्धालवो जैनश्राद्धाः ॥१०६॥ सदा सघसम्बन्धमात्रेण सर्वं, स्वकीयं विदित्वा कुरुष्वात्मरूपम् । [अथ शरीरसाहाय्यदानम्] यदा रोगयुक्तो भवेत्कोऽपि साधुः, कचित्कश्चिदेव च देशान्तरस्थः ॥ १०७ ॥ न चेच्चानुकूल्य जलं वायुरेव, न तेषा सुखाधायको देश एव । चिकित्सालय नास्ति तद्देशमध्ये, न वा साधन किञ्चिदन्य विदित्वा । तदा तत्र देशे विहारे प्रवृत्तैर्मुदा साधुवर्य्यैश्च ही दोलिकायाम् ॥ १०८ ॥ समारोप्य वा स्कन्धमारोपयित्वा, समानीयतामन्यदेशेऽनुकूले । यदा सम्प्रदायस्य भेदो हि छिन्नस्तदैव भवेन्नान्यथा वै शुभ स्यात् ॥ १०९ ॥ केचित्स्वार्थपरायणाश्च मुनयः केचित्स्वकुक्षिभरा, सन्त्यन्ये श्रुतसञ्चयेऽपि निरताः केचित्स्वधर्मच्युताः ॥ विद्यारत्नसुवञ्चिताल्पमतयो मूढाश्च केचिद्ध्रुव, केचित्साधनसारशून्यहृदयास्ते वै कथ पारगाः ॥ ११० ॥ मुनिः सेवनाख्ये निजे धर्मवृद्धेर्मुहुश्चान्तरात्मातिपूतो विभाव्य । सुशय्यंभवैः सूरिभिर्वर्णित च, महत्त्व भवे भव्यभावेन सिद्धः ॥ १११ ॥ ततस्तस्य सम्बन्धभावो महान् हि, यतस्तेन सेवाख्यधर्मप्रचारः । नन्नाङ्क नाम

पुत्रो धनेनैव शुद्धो, मुधा कारितः साधुसेवामपार ॥ ११२ ॥ एव मात्सर्यं भवतो विभाव्यों, यथा तस्य सत्यस्य नाम्नो मुनीशाः । गृहीधार एव कदा माहकृत्वाभिराणा मवेसुप पंकेन युक्तास् ॥ ११३ ॥ पुनः साधुसेवा सुभमेन कार्या, सुतेप्यप चित्तेन वाचा विसृस्य । स्वधीर्मं परं चेति भेद विहाय, सर्व रागद्वेषान्विते भेदवाद्यः ॥ (न चाऽन्यत्र भेदोऽप्यमेव विभाव्य, करोत्वसौ साधुसेवा मतत्वः) ॥११४॥ यसुधैव कुटुम्बकमित्युक्तिभरितार्थता । कर्मण्यासक्तभावेन, मवाब्धिर्मर्मसिन्धुभिः ॥ ११५ ॥ मदर्थं भवतो मित्यवरयुत पीयूषकस्य यथा-भोपूर्णा हृदयान्धकारहरण व्याख्यानमेकप्रभुः । व्याख्यानात् उभयागमादिवनितत्वानेन्दुना भूषितो, ये श्रवणन्त्युपदेशमेकमनसा भोक्तृन् विदुषान् मरान् ॥ ११६ ॥ व्याख्यानस्य सुगन्धमपि शिरसि मद्धि शुभमां सुधुर्णवसुद्धिमस्तेवस मुनिगणाख्याय व्याख्यानकम् । मध्ये व्यय सुभावयन्ति मनसा महता मयत्नेन च । श्रोतारं परिकम्प्यतेऽनुदिवसं भेऽस्योपदेशं शृणु ! ॥ ११७ ॥ यः कश्चित्परदेशगोऽपि चारो विद्वान् समायां मवान् व्याख्यान च कथा सर्वाबमुक्तस्त्व मामथा कव्यादिव हि । श्रोतव्या च सदैव भेऽत्र मुखतः सम्यार्धमेतां प्रेमद, पथ ते कथयन्ति साधुनिपुणा ये दासमार्ग गताः ॥ ११८ ॥ देशान्तरगतः साधुः, सम्यक्पंथेरः पुनः । समाचारी मभिन्ना वा, मदेशे च समागत ॥ ११९ ॥ मध्ये मे कथा कर्तुं, समर्थो न च भूमतास् । किन्तु मथाजया किंचिद्बोधमाचरितुमीश्वर ॥ १२० ॥ बहुसत्त विचारोऽर्थं, मदेशान्तरमो मवेत् । सर्वे न हि स्यादेवं, मतिश्च नैव चामय ॥ १२१ ॥ भावकर्मा च सौभाग्यं, मयमान्युकसावरः । मवाश्रितः समायान्ति, तेषां व्याख्यानमुत्तमम् ॥ १२२ ॥ श्रोतव्यमय

कर्तव्यमिति निश्चीयते यदा। साम्प्रदायिकधर्मस्य, मोक्षस्य शुल्कदा-यकाः ॥ १२३ ॥ कलहं कुर्वतेऽन्योन्यं, मत्क्षेत्रे स्थानके तथा। मदाम्नाये तथा लोके, देशान्तरागतो मुनिः ॥ १२४ ॥ व्याख्यानं न हि कर्तुं च, समर्थो जायते क्वचित्। ममापमानं भवति, प्रतिष्ठाहानि-रेव च ॥ १२५ ॥ यो वीतरागोऽस्ति मुनिर्विवेकी, स्वसाधनासक्तधि-योऽपि रागात्। सोऽप्यन्यव्याख्यानवरातिदुःखं, प्राप्नोति ताप च महद्धि कष्टम् ॥ १२६ ॥ तथोदरं ताडयतीति दुःखाद्धा! शब्दम-त्रापि करोति नूनम्। न वा तपस्वी न च संयमी वै, न वास्ति जैना-श्रितधर्मरूढ ॥ १२७ ॥ धिगस्तु न. कुत्र गतः स कालः, श्रीगौ-तमः केशिमुनिश्च यत्र। परस्परं प्रेमसरित्प्रवाहो, वाह्यो महाधर्मरतैक-तश्च ॥ १२८ ॥ क्व चाद्यकालीनगतः स साधुर्यश्चोपदेशे हि करोति तापम्। श्रुत्वाऽन्यसाधोश्च न भाति चित्ते, श्रोताद्य कुर्य्याश्च महत्स्व-पापे ॥ १२९ ॥ श्रुतं त्वया चाद्य मतान्तरस्थसाधोर्मुखाद्धर्मविरुद्ध-वाक्यम्। व्याख्यानरूपं च करोति शान्ति, न ते भवेच्छ्रेय इति प्रधार्य ॥ १३० ॥ श्रद्धानक नष्टमिति प्रधार्य्य, तथास्तिकत्वं च गतं भवेच्चे। अतो न साध्वन्तरतो सुधीश? न श्राव्यमेवं च वदन्ति सन्तः ॥ १३१ ॥ हे भिक्षुकाश्चेदृशरोगयोगान्नष्टा भवन्तश्च मृत. समाजः। तद्द्वेषरागाच्च महत्त्वहानिमुत्थापयन्तीति विचारणीयम् ॥ १३२ ॥ एवं न कर्तव्यमथो दया च, समाजसघे कुरुत प्रयत्नात्। प्रेमाभिला-षेऽभिरतश्च लोको, भवेच्च प्रेम्णा समतोपनद्धः ॥ १३३ ॥ सदैक्य-भावे न बुभूषुरेव, यत्र स्थितास्तत्र विदेशगानाम्। आगन्तुकानां च मुनीश्वराणा, देयं भवद्भिश्च निवासयोग्यम् ॥ १३४ ॥ सुस्थानकं स्वीयसहाधिवासी, स्वाद्येन भावेन कुरुध्वमेवम्। एकासने चाप्युपविश्य

सुधा-, शृण्वन्तु व्याख्यानमनन्यमावाम् ॥ १२५ ॥ पंथाद्रेकन्तोऽपि सुधासन मर्द, तन्वन्तु यथाच सबोपदेशम् । कुर्वन्तु वृद्धि च मथास मस्य, सुसागस चापि सदैव सुधा ॥ १२६ ॥ साध्य सुधमनेकमेव सुनय सर्वे मिलित्वा द्रुवा । साधार्य परिकल्पयन्तु सुधिय श्रियाच रित्रात्मकम् ॥ येन स्वाच समानकोमलसितस्ता श्रियाविभागस च । मो चेद्धर्मविपर्ययस्य समयो यातोऽथमार्ग्य सुधे ॥ १२६ ॥ संस्थाप्या किल मारतस जनता पोले च संघात्मके । सिद्धान्ते नगरे सुधारचरिता संस्थापयन्त्वादिताः ॥ पक्षान्तकरणेन याति भवतां भार तिक वैदिक । सर्व कार्यमवश्यमेव उविपन्मासक मनोदीपसम् ॥१२७॥ सार्वर्द्ध च कायावन्त्यमधुना जानयतु चारमा पुनर्लोके मम मवेपतोऽनुमित्य चारमानुसन्धामरु ॥ एव धर्मपरायणो यदि मवेच्छे स्याच कीर्ति परा । तस्मात्स्वपविमर्षनाय भवतां साम्येऽभ्युपिच्छुमा ॥११८॥ [अथ क्षमाऽभ्यर्थना] भवान् वीरपुत्रोऽस्ति सान्त्वासमूर्तिरहिंसा तपसान्वित सत्यमाही । तथा चारमनोऽप्यन्तसुधारकोऽस्ति, धुनर्नि सरायानुकारं करोति ॥ ११९ ॥ मयनेन्दुपंस्मोचरके प्रवस्त, विना वमित्र कुरुते घपस्यास् । भवत्स्वपसिमवरोऽस्ति लोके, प्रोपाधि-कार्यस्ति विचारणीयम् ॥ १४० ॥ स्वशुद्धतो विमतिचर् च ममम्ब न स्वस्त्रमतिर्न मेऽस्ति । स्वात्मानुमावोऽपि न समरेद्, व्याख्यान दानेऽपि न मेऽस्ति शक्ति ॥ १४१ ॥ मसिद्धवच्चापि न चास्मि विद्वान्, किन्त्वस्म्युधियव यस्मोऽहम् । सद्भावक्ये मिवधामि सेवां, तथाऽस्मि संयुक्तममिमषी ॥ १४२ ॥ रागपंक्ति मै विषी र्दमि मन्द, मतो यदि स्खलनस्याऽपसानम् । चार्त सेवा विस्मृतिराप्राभवता हि शुद्धान्तरमावनासु ॥ १४३ ॥ क्षमा विधेयमादितस्य-

नुरागात्, समाप्तिमेतस्य हि संकरोमि । परन्तु प्रष्टु यतते मदीया, बुद्धिः प्रसन्नोऽसि च पृच्छयते मया ॥ १४४ ॥ मदीयवार्ता कटु-कास्ति किन्तु, लघ्वा भवेन्नात्र विचारणीयम् । यदा मदीया कटुकाऽस्ति वाणी, ज्ञातव्यमेव च मदीयरोगा ॥ १४५ ॥ शाम्यन्ति कट्वौषधि-सेवनेन, शीघ्रं भवेद्रोगनिवृत्तिरेवम् । भुक्त्वा च कट्वौषधमुग्रतेजो, रोगी ध्रुवं पावयतेऽतिशीघ्रम् ॥ १४६ ॥ तद्रोगशान्तिर्भवतीति ज्ञात्वा, मदीयवार्तामपि संसहस्व । स्वकीयभावान्न हि रोद्धुमस्ति, शक्तिर्मदी-येति विभावनीयम् ॥ १४७ ॥ महानुभावोऽस्ति च दुर्बलोऽस्मि, तथाऽसमर्थोऽहमिति प्रधार्य्य । क्षमा विधेया च महात्मनस्तु, भवन्ति क्षान्तेश्च सुभाजनानि ॥ १४८ ॥ गुरुर्मदीयोऽस्ति फकीरचन्द्रो, ज्ञानं मया लब्धमिद यतश्च । बोध च लब्ध्वा सुक्रियां करोमि, ततोऽमरत्वं च भवेत्स्फुट मे ॥ १४९ ॥

इति समाक्रन्दनकाव्यम् ॥

ज्ञातृपुत्र-महावीरका सिद्धान्त

(१) जगत्में दो द्रव्य मुख्य [substances] हैं, एक जीव [soul] दूसरा अजीव [non soul] । अजीवके पुद्गल [matter] धर्म [medium of motion to soul and matter] जीव और पुद्गलके चलनेमें सहकारी । अधर्म medium of rest to soul and matter जीव और पुद्गलके ठहरनेमें सहकारी । काल Time वर्तना लक्षण-वान् और आकाश Space स्थान देनेवाला । इस प्रकार पांच भेद हैं ।

(२) स्वभावकी अपेक्षा सब जीव समान और शुद्ध हैं, परन्तु अनादि-कालसे कर्मरूप पुद्गलोंके सम्बन्धसे वे अशुद्ध हैं, जिस प्रकार सोना खानसे मिट्टीमें मिला हुआ अशुद्ध निकलता है ।

(३) इस कर्मबन्धके कारण इस जीवको नाना योनियोंमें अनेक संकट भोगने पड़ते हैं और उसीके नष्ट हो जानेपर यह जीव अनन्तज्ञान-अनन्त दर्शन-अनन्तसुख और अनन्तशक्ति आदिको जो कि इसकी निजी सम्पत्ति है और जिसे मुक्ति कहते हैं वह प्राप्त करता है।

(४) निराकुलता अक्षयसुख मोक्ष सुखकी प्राप्ति इस जीवके अपने निजी पुरुषार्थके अधिकारमें है किसीके पास मांगनेसे नहीं मिलता।

(५) पदार्थोंके यथार्थ यह सम्यक् श्रद्धान [Right belief] सम्यग्ज्ञान [Right knowledge] और सम्यक् आचरण [Right conduct] ही यथार्थमें मोक्षका साधन है।

(६) वस्तुमें अनन्त धर्मस्पर्शी स्याद्वाद ही उनके प्रत्येक धर्मका सापेक्षतासे प्रतिपादन करता है।

(७) सम्यक् आचरणमें निम्नलिखित बातें वर्णित हैं, यथा—

[क] जीव मात्र पर दया करना, कभी किसीको शरीरसे कष्ट न देना वचनसे दुःख न कहना और मनसे बुरा न विचारना।

[ख] क्रोध-मान-माया-लोभ और मत्सरतादि कषायभावसे आत्माको मलिन न होने देना उसे इनके प्रतिपक्षी गुणोंसे सदा पवित्र रखना।

[ग] इन्द्रियों और मनको वश करना एवं इस संसारमें लिप्त न होना।

[घ] उत्तम क्षमा-निर्लोभ-सरलता-मृदुता-सत्य-शौच-संयम-तप-त्याग ज्ञान ब्रह्मचर्यादि दशलक्षण धर्मको धारण करना।

[ङ] द्यूत-चोरी-कुशील आदि निन्द्य कर्मोंसे ग्लानि करना।

(८) यह संसार अनादि सिद्ध अर्थात् अनादि अनन्त है इसका कर्ता हर्ता कोई नहीं है।

(९) आत्मा [soul] और परमात्मा [God] में केवल विभाव और स्वभावका विशेष है। जो आत्मा उपर्युक्त विभाव को छोड़कर निज स्वभावरूप हो जाता है उसे ही परमात्मा कहते हैं।

(१०) ऊंच-नीच-छूत-अछूतका विचार मनुष्यका निजका किया हुआ विचार है वैसे मनुष्यमात्रमें प्राकृतिक भेद कुछ भी नहीं है।

शुद्धिपत्रम्

कृतेऽपि भूयसि संशोधनप्रयासे काश्चिदशुद्धयोऽवशिष्टा एवेति ता कृपया अधोनिर्दिष्टसङ्केतानुसारं संशोध्यैव पठन्तु पाठयन्तु भव्यजनाः श्रावका मुनयश्चेति सविनयमभ्यर्थयतेऽयं लघुतम पुष्पभिक्षु ॥

पृष्ठाङ्काः	पङ्क्तयः	अशुद्धम्	शुद्धम्
१६	११	जैनतरमतावलम्वी	जैनेतरमतावलम्बी
१९	५	०	अनन्तशक्ति
२१	१५	सम्यग्दर्शनका	सम्यग्दर्शनकी
२८	४	मेल	मेल
२७	२३	भावन	भावना
३९	५	निशकसे	नि शकसे
४८	११	नस्वर	नश्वर
,,	२१	कार्माण	कार्मण
५२	२५	वुद्धिष्शक्तिने	वुद्धिशक्तिने
७३	१६	तेओ	ते
९०	११	कल्माषास्रवकारणम्	कल्मषास्रवकारणम्
९१	२२	पुरुपेष्त्रयि	पुरुपेष्वपि
१००	११	वहभी	वह भी
१००	२२	इनकि	इनकी
१०१	२	कि	की
१०३	२३	इत्यभिघानप्यदीपिका	इत्यभिघानप्पदीपिका
१०४	३	सवशदोंम	सव शब्दोंमें
,,	२५	सेट्ठे	सेठ्ठ
१०६	५	तेन	तेने
१०९	१०	धुनीका मताः	धुनिका

पृष्ठाङ्काः	पङ्क्तयः	अशुद्धम्	शुद्धम्
,,	६	प्रोवेश	पोवश
	११	महावीरस्वामी	महावीरस्वामी
११३	१४	सामर्मिरोहः	सामर्थर्मिरोहः
११८	२१	प्रमानिताः	प्रतिमाम्बिताः
,,	२२	धनसपवनत्वात्	धावक प्रवासत्वात्
१२२	१६	मापरासूमर्क	मापराङ्गुमर्क
१२७	१७	एतैर्वर्यैः	एतैर्वर्यैः
११	९	र	२
	१५	श्रीवत्सनन्दनम्	श्रीवत्सनन्दनम्
१३२	११	रक्षामि	रक्षा मी
,,	१७	की	कि
१४२	१३	प्रतिभार	प्रतीकार
१४४	२२	पक्षिमें	पक्षीमें
१४५	१२	अभि	अभियी
१४६	१७	क्योंकी	क्योंकि
१५६	१	इसपर	
१८७	४	कथना	कथाय
१९३	१	पूज्यनीय।	पूजनीय।
,,	२	मार्वभवार्थ	मार्वभय
२	५	यथाविकृतयेवत्यिति	यथाविकृतयवत्यिति
२ ७	१७	इत्यर्थक	यथा इव
२२१	१५	मावमी	माव भी
२२२	१	पुत्रोध	बोध
,,	६	इत्ये	हीये
२२६	१	वर्ष	
२४०	८	तथाऽन्यं च	तथाऽन्यच्च

पृष्ठाङ्काः	पङ्क्तयः	अशुद्धम्	शुद्धम्
२४०	८	छि	च
२९२	२१	धर्मा	धर्मा
२९४	२	जिय।	जीव।
२९६	१२	निजा	निजा
,,	१९	नश्यति	नश्यति
२९९	२०	यगस्त्येक्षा	नमस्त्येतक्षा
३०५	४	ऽश्नाति	ऽश्नाति
३१३	२४	दश्यते	दृश्यते
३१८	२०	चेतना	चेतना
३१७	१७	स्वगन्	श्वगन्
३२०	१८	मस्नुते	मश्नुते
,,	२२	ऐसा	ऐसे
३२९	२५	धीनाना	दीनाद्य
,,	२८	चलते	चलति
३३०	२७	श्वेदं	श्वेद
,,	२९	शंकटान्	सकटान्
३३१	१२	वेतिति	वेनेति
३३६	९	प्रयागमण्डल	प्रयागमण्डले
३४१	१९	निसेवनम्	निवेशनम्
३४७	२९	मादिनियमादि	यमादिकानां वि
३४८	२८	जनोप्यू	जनैरू
३५२	१४	न भवयोगवित्तमम्	न भवेद्योगवित्तम
३६९	२५	तद्रक्षस्वाधुना गुरो।	रक्षमामधुना गुरं
३७०	९	जगज्जलाम्भोधे	जगज्जलाम्भोधे
,,	१९	पुष्पाजली	पुष्पाञ्जलि.
३७१	२१	विरदार	विरादर

पृष्ठाङ्काः	पङ्क्त्याः	अशुद्धम्	शुद्धम्
१७१	२२	आपया	अपया
"	२५	अन्यतत्र	अन्यत्र
१७३	३	एकत्वाच	एकत्व
१८१	९	तवः	तव
१८४	११	बोधार्थिमथी	बोधार्थिमर्थं
१८७	२१	धर्मिरप्रवन्यो	धर्मिरप्रवन्यो
१९९	९	धीमतेऽथ	धीमते पद्

गच्छता स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः ।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः ॥

विवृतिकारः

दानी पुरुषोंकी नामावली

१) से धनजीवन महता मु झरिया १) सेठ मगनलाल महावीरप्रसाद सुपुत्र सेठ प्यारेलालजी राजा कटहर कलकत्ता १) से शिवलाल गोपाल पेमजी झरिया १) से मनोहरलाल जैन कान-पुर, १) से अमरचंद मालू, कलकत्ता १) से सुमानमल पचालाल कलकत्ता १) से गोपीचंद हीराचंद कलकत्ता ११) से चांदमल मूथा कलकत्ता ११) से ईश्वरलाल चारण कलकत्ता १४) से एव अम्बी बरडिया कलकत्ता ७) से सांभीलाल बोरदिया सरदार

पुस्तकें मिलनेका पता—
मन्त्री–ज्ञातपुत्र महावीर जैनसंघ,
मु पो पाटोदी [स्टेट]
जि गुड़गांव (पंजाब)